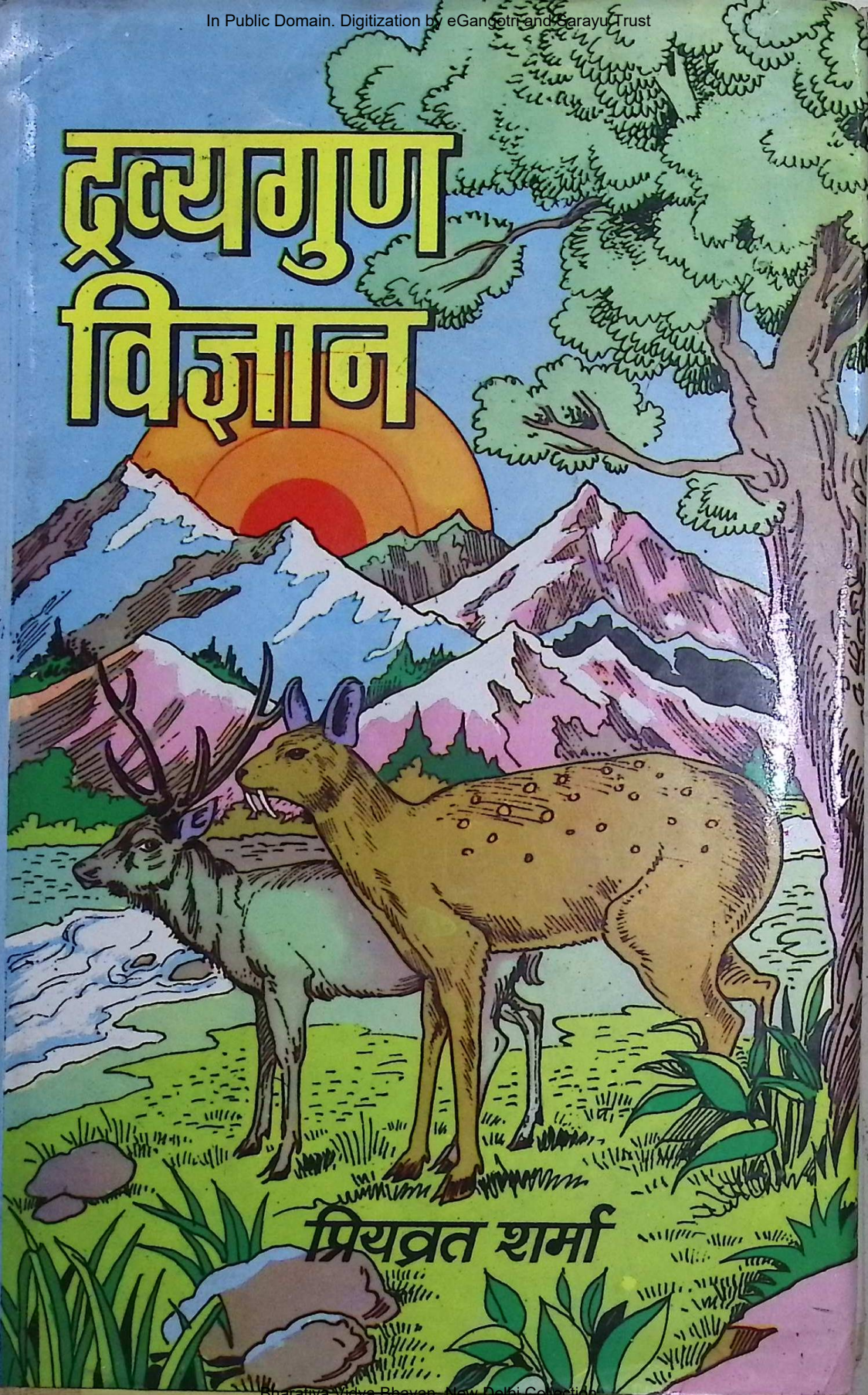


द्रव्यगुण विज्ञान



प्रियव्रत शर्मा

चौखम्भा ऑरियन्टलिया

पो. बॉ. नं. 2206

बंगलो रोड, 9-यू.वी., जवाहर नगर, किरोड़ीमल कॉलेज
(कमला नगर के पास) दिल्ली - 110007

फोन : 23351617, 23858790

॥ श्री ॥

वि. आ. ग्रन्थमाला

३



द्रव्यगुण-विज्ञान

चतुर्थ भाग

(वैदिक औद्धिद द्रव्य एवं द्रव्यगुण का इतिहास)

लेखक

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

भूतपूर्व अध्यक्ष, द्रव्यगुण विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी



चौखम्भा भारती अकादमी

आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक

पो. ऑ. बॉक्स नं. १०६५

‘गोकुल भवन’ के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

प्रकाशक

चौखम्भा भारती अकादमी

आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक

पो. ऑ. बॉक्स नं. १०६५

गोकुल भवन' के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन,

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

टेलीफोन : ०५४२-३३०३४९, ३३०३४५ (आ.)

३३२७०२, ३३२६३७ (नि.)

© चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी

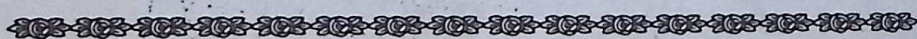
पुनर्मुद्रित : २००३

मूल्य : २२५.००



१. द्रव्यगुण-विज्ञान (मौलिक सिद्धान्त) प्रथम भाग
२. द्रव्यगुण-विज्ञान (औद्भिद औषध-द्रव्य) द्वितीय भाग
(चित्र पृथक्) द्वितीय भाग
३. द्रव्यगुण-विज्ञान (जांगम, पार्थिव ओषध-द्रव्य एवं आहार-द्रव्य) तृतीय भाग
४. द्रव्यगुण-विज्ञान (वैदिक औद्भिद द्रव्य एवं द्रव्यगुण का इतिहास) चतुर्थ भाग
५. द्रव्यगुण-विज्ञान (द्रव्य-विमर्श) पंचम भाग

(सम्पूर्ण १-५ भाग सचित्र)



अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्भा विश्वभारती

भारतीय संस्कृति तथा साहित्य के प्रकाशक एवं वितरक

पो. ऑ. बॉक्स नं. १०८४

के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

मुद्रक: सुरभि प्रिंटर्स, वाराणसी।

V. AYURVEDA SERIES

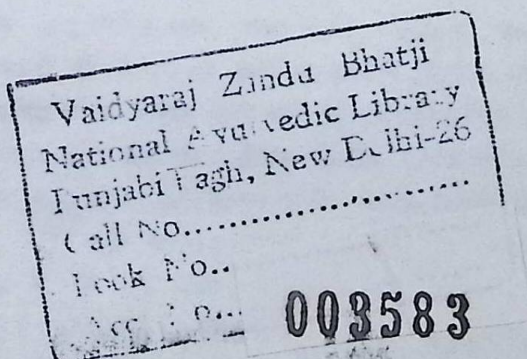
3

DRAVYAGUṆA-VIJÑĀNA

(Vedic Plants & History of Dravyaguṇa)

Prof. P. V. ŚARMĀ

Ex. Senior Professor & Head of the Department of
Dravyaguṇa, Institute of Medical Sciences,
Banaras Hindu University
Varanasi



CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY

Publishers & Distributors of Monumental Treatises of the East

P.O. Box No. 1065

'Gokul Bhawan' K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI-1 (INDIA)

Publishers:

CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY

Publishers & Distributors of Monumental Treatises of the East

P.O. Box No. 1065

'Gokul Bhawan' K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI-221001 (India)

Phone : (0542) 330349, 330345 (O.)

332702, 332637 (R.)

© Chaukhambha Bharati Academy, Varanasi

All Rights Reserved

Reprint : 2003

Also can be had of :

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Oriental Publishers and Distributors

P.O. Box No. 1084

K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI-1 (India)

भूमिका

वैदिक काल में लोक का जीवन वनस्पति-मय था। वन्य प्रदेशों में तो वनस्पतियों का बाहुल्य था ही, ग्रामीण क्षेत्रों में भी उनकी अधिकता थी। इस कारण मनुष्य अपनी दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति उसीके माध्यम से करता था। दन्तधावन से लेकर आहार तक तथा शय्या से लेकर रथ तक सभी में वनस्पति का ही प्रयोग था। वस्त्र एवं आच्छादन भी इन्हींसे प्राप्त होते थे। स्नान, अनुलेपन, अंगराग, तेल आदि भी इन्हीं से बनते थे। स्त्रियाँ अपने शृंगार-प्रसाधन में इनका उपयोग करती थीं तो पुरुष अपना शर-सन्धान इससे करते थे। गृहनिर्माण में वनस्पतियों का प्रभूत उपयोग था तो गृह के नाना उपकरण, पात्र आदि इन्हीं से बनते थे। लेखन कार्य में भी पेड़ों की महीन छाल का कागज के रूप में तथा अनेक रंजक वनस्पतियों के रस का स्याही के रूप में प्रयोग होता था।

यज्ञों में वनस्पतियों का विशेष उपयोग था। यज्ञशाला के निर्माण से लेकर यज्ञ की परिधि, यूप तथा विविध पात्र तक में विभिन्न वनस्पतियों का व्यवहार था। सोम तो यज्ञों में एक प्रधान द्रव्य था ही जिसके कारण इसे औषधिराज का विशेषण प्राप्त हुआ है। इसके अभाव में प्रतिनिधिभूत अन्य द्रव्यों का भा भी प्रचलन था।

इन प्राकृत प्रयोजनों के अतिरिक्त विकार के निवारण के लिए भी वनस्पतियों का प्रयोग होता था। यज्ञ के लिए निर्दिष्ट अजा, अश्व आदि पशुओं के रुग्ण होने पर उनकी चिकित्सा करनी पड़ती थी जिसमें इन द्रव्यों का उपयोग होता था क्योंकि रुग्ण पशु का याग में प्रयोग निषिद्ध था। मनुष्य स्वयं अपने विविध व्याधियों के निराकरण के लिए इनका प्रयोग करता था। इस प्रकार वैदिक कालीन मानव के योगक्षेम में वनस्पतियों का महत्वपूर्ण स्थान था। यही कारण है कि वैदिक वाङ्मय में औषधि-वनस्पतियों की स्तुति में अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद का औषधि-सूक्त तो प्रसिद्ध है ही, अथर्ववेद में भी ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ मन्त्रद्रष्टा महर्षि वनस्पतियों की स्तुति करते नहीं अघाते। वनस्पतियों का लोक-जीवन में महत्व होने के कारण अनेक स्थानों एवं जनपदों के नाम वनस्पति के आधार पर प्रचलित हुये यथा वरणावती, मुंजवान्, कारस्कर, शिग्रु आदि।

वैदिक मानव ने प्रकृति के साहचर्य से वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त किया। सभ्यता के विकास के साथ जैसे-जैसे उसकी आवश्यकतायें उभरने लगीं वैसे-वैसे वनस्पतियों

के प्रयोग का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। इस कार्य में सर्वाधिक सहायता उसे पशुओं से मिली। पशु-पक्षी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन वनस्पतियों का उपयोग करते थे उनका प्रयोग मनुष्य ने अपने लिए भी करना प्रारम्भ किया। पशुओं की प्रयोगशाला में वह अनेक वनस्पतियों का अनुसन्धान कर उन्हें प्रकाश में लाने में सफल हुआ।^१ यद्यपि उस समय आज के समान तकनीकी यन्त्र-उपकरण नहीं थे तथापि सूक्ष्म पर्यवेक्षणशक्ति (दिव्य दृष्टि) के बल से उन्होंने सब कुछ सिद्ध किया। इस ज्ञान-साधना में पशु-पक्षियों के धनिष्ठ एवं महत्वपूर्ण योगदान होने के कारण ही हम देखते हैं कि अनेक औषधियों के नाम पशु-पक्षियों पर आधारित हैं।

वनस्पतियों का वर्गीकरण

वैदिक वाङ्मय में वनस्पतियों का वर्गीकरण विस्तृत रूप में मिलता है जिससे उनके स्वरूप तथा गुणकर्म पर पूरा प्रकाश पड़ता है।^२ प्राचीन महर्षियों ने पत्र, पुष्प,

१. वराहो वेद बीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।

सर्पा गन्धर्वा या बिदुस्ता अरुषा भवसे हुवे ॥

याः सुपर्णा आंगिरसीर्दिव्या या रघटो बिदुः ।

चयांसि हंसा या बिदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः ॥

मृगा या बिदुरोषधीस्ता अद्मा भवसे हुवे ।

यावतीनामौषधीनां गावः प्रारनन्ववता यावतीनामज्जावयः ।

तावतीस्तुभ्यमौषधीः शर्म यच्छन्वामृताः ॥—शौ० ८।७।२६-२५

२. इस संबन्ध में देखें ऋग्वेद का औषधिसूक्त (१०।९७।१-२३) तथा अथर्ववेद के संबद्ध स्थल (शौ० ८।७।१-८, ११।६।१६-१७) विशेषतः निर्गनांकित मन्त्रः—

वा फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः ।

बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्स्वंहसः ॥ ऋ० १०।९७।१५

औषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः ।

अरुवा इव सुजिस्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः ॥—ऋ० १०।९७।३

वा चञ्जवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः ।

असिषनीः कृष्णा औषधीः सर्वा अचङ्गावदामसि ॥—शौ० ८।७।१

प्रस्तृणतीः स्तम्भिषनीरेकशृंगाः प्रतन्वतीरोषधीराचदामि ।

अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्यामि ते ।

वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥—शौ० ८।७।४

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनोरफला उत ।

संभातर इव दुहामस्मा अरिष्टतातये ॥—शौ० ८।७।२६

(३)

फल, काण्ड आदि अवयवों, अन्य रचनात्मक विशेषताओं, उद्भवस्थानों तथा गुणकर्मों का सूक्ष्म निरीक्षण कर उनके आधार पर वनस्पतियों को विभिन्न वर्गों में स्थापित किया है। सामान्यतः स्वरूप के अनुसार औद्भिद द्रव्य वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध् तथा औषधि इन चार वर्गों में विभाजित किये गये हैं। चरकसंहिता में भी ऐसा ही वर्गीकरण उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में वानस्पत्य शब्द नहीं मिलता, इसके स्थान पर वनिन् शब्द प्रयुक्त हुआ है। सायण ने इसका अर्थ पलाश आदि वृक्ष किया है। अथर्ववेद में उपर्युक्त चारों विभाग स्पष्ट रूप में मिलते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में औषधि, वनस्पति और वानस्पत्य शब्द मिलते हैं किन्तु ऋग्वेद का 'वनिन्' शब्द नहीं मिलता तथा 'वीरुध्' भी नहीं है। 'वृक्ष' शब्द मिलता है। इसी प्रकार उपनिषदों में औषधि और वनस्पति तो मिलते हैं किन्तु वानस्पत्य और वीरुध् नहीं हैं। वृक्ष का प्रयोग हुआ है। सामान्य रूप से छोटे पौधों के लिए "औषधि" तथा बड़े वृक्षों के लिए 'वनस्पति' शब्द का प्रयोग प्रारंभ काल से होता रहा है तथा इनका युग्म रूप औषधि-वनस्पति समस्त वानस्पतिक जगत् का बोधक रहा है।^१ ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में वनस्पतियों के यही दो विभाग रहे होंगे

या रोहन्त्याङ्गिरसाः पर्वतेषु समेषु च ।

ता नः पयस्वतीः शिवा औषधीः सन्तु शं हरे ॥—शौ० ८।७।१७

आथर्वणीराङ्गिरसी मनुष्यजा उत ।

औषधयः प्रजायन्ते यद्यत्वं प्राण जित्वसि ॥—शौ० ११।४।१६

न तथा तरन्त्योषधयो ब्राह्म्याः पर्वतीया उत—शौ० १९।४।१६

अवकोक्षा उदकात्मान औषधयः । व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णश्रृंगयः ॥

—शौ० ८।७।९

१. वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।

द्विपाञ्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥—शौ० ८।८।१४

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः ॥—शौ० ११।६।१

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ॥—शौ० ११।९।२४

तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानु व्यचलन् ॥

—शौ० १५।६।२

२. तमोषधीश्च वनिनश्च—ऋ० ७।४।५

औषधिवनस्पतयः—शौ० ४।१५।३ (सा०)

श०—१।५।२।४, १।५।४।५, १।७।२।१९, २।२।४।३, ३।२।३।१९, ३।६।२।२६, ४।३।१।१४, ४।६।९।१६, ६।१।१।१३, १०।३।३।४, १०।५।४।१, १०।६।४।१,

(४)

जो आगे चलकर पुनः दो-दो विभक्त होकर चार हो गये। औषधि का ही गुल्म, लता जादि विशिष्ट संस्थान का बोध कराने के लिए वीरुध् एक वर्ग हो गया। उसी प्रकार वनस्पति का एक विभाग वानस्पत्य हो गया जो अपेक्षाकृत छोटे वृक्षों का बोधक है। कल्पसूत्रों में भी औषधि-वनस्पति का प्रयोग है।^१ पाणिनि ने 'विभाषीषधिवनस्पतिम्यः' (८।४।६) में इसका निर्देश किया है। पातंजल महाभाष्य (५।१।११९) में भी औषधि-वनस्पति का उल्लेख है।

वनस्पति^२

यास्क ने इसका अर्थ किया है वनों का पति (स्वामी, पालक)। सायण ने भी इसी आधार पर इसका अर्थ किया है औषधिवनस्पतिरूप वनों का पालयिता।

११।५।३।७, १२।१।४।१, १२।४।१।७, १२।८।२।३६, (वनस्पतय द्रुधमः औषधय आहुतयः)

गो०—१।१।१३, १।२।९, २२

ऐ० उ०—१।४, २।४, छा०—५।१०।६, या०—८।५

औषधियों को लोभ तथा वनस्पतियों को केश कहा गया है—वृ० ३।२।१३

इसके अतिरिक्त, तै० ब्रा०—१।७।१

यो देवा अग्नो यो अप्सु यो विश्व भुवनमाविवेश।

य औषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥—श्वे० २।१७

औषधीषु शाक्यादिषु वनस्पतिष्वश्वस्थादिषु—शंकर

१. कौ० सू०—३।२।६, ७।४।२६, हि० श्री०—२६।२।६३, २६।३।६२, २७।१।२६, २८।१।८, बो० गृ०—१।५।६, आ० गृ०—२।७।३, गो० गृ०—१।४।९, आप० ध०—१।२।७।४, १।३।१।५, १।५।१६।१५, १।५।१७।१९, २५, २।१।२।४, या०—८।५

२. निघ०—५।२, या०—८।३ (एष हि वनानां पाता पालयिता वा), वनस्पतिः वनस्य पालयिता वृक्षसमूहः—ऋ०—१।१६६।५, वनस्पतीन् खदिरपक्षाशदिलक्ष्णान् वृक्षान्—ऋ०—३।३४।१०, वनानामौषधिवनस्पतिरूपाणां पतिः पालयिता—ऋ०—१।९१।६, वनस्पतयो वृक्षाः—ऋ०—८।२०।५, (सा०), वनस्पतिभ्यः सारवद्भ्यो वृक्षेभ्यः—शौ० ६।१२५।२, वनस्पतीन् वृक्षान्—शौ० १।१।१।२४, १।२।१।५, काठ० गृ०—५।१७।१५, गो० गृ०—१।४।९, १।५।१५, १।८।१६, आ० गृ०—२।४।३, सा० गृ०—२।६।४, जै० गृ०—१।१, १८, चौ० गृ०—१।५।६, शं० लि० ध०—१।६, शौ० वृ०—१।१०९, ३।२६

(५)

इससे वह खदिर पलाश आदि वृक्षों का ग्रहण करते हैं। कहीं कहीं 'वनस्पति' शब्द से यूप (ऋ० १०।११०।१०) यूपानि (ऋ० २।३।१०), वनस्पतिनिमित्त रथ (ऋ० ३।५।३।२०) तथा औषधियों के स्वामी सोम (ऋ० ९।१।२।७) का ग्रहण करते हैं। अथर्ववेद में इससे सारवान् वृक्षों का ग्रहण करते हैं (शौ० ६।१२।५।२) संहिताओं में फलग्रहि वनस्पतियों का भी उल्लेख है (यो वै वनस्पतीनां फलग्रहितमः स एषां वीर्यवत्तमः यथा वेणुः—मे० ३।१।२, क० २९।८, ३६।१, काठ० २३।४, तै० ५।१।१।४, ५।२।५।६)

शतपथब्राह्मण में यह कहा है कि हेमन्त में वनस्पतियों के पत्ते झड़ जाते हैं^१। यह यज्ञ में उपयोगी होता है, यदि यह न होता तो यज्ञ कैसे होते^२? सोम को भी वनस्पति कहा गया है^३। वसन्त में वनस्पतियां परिपक्व होती हैं^४। वनस्पतियों से रथचक्र तथा उलूखलमुशल आदि बनते थे^५। वनस्पतियों में कार्मर्य, अश्वत्थ, उदुम्बर, प्लक्ष, रज्जुदाल, पीतुदार, बिल्व आदि श्रेष्ठ माने गये हैं तथा वेतस निकृष्ट माना गया है^६। वनस्पतियों में अनेक सन्धिशाखायें होती हैं^७। ऐतरेय ब्राह्मण में वनस्पति को प्राण कहा है^८। वनस्पतिचतुष्टय में न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ और प्लक्ष परिगणित हैं^९ (ऐ० ब्रा० ८।१६)। कल्पसूत्रों में भी वनस्पति का प्रचुर प्रयोग मिलता है। पाणिनि के वनस्पत्यादि गण (६।२।१४०) में वनस्पति का उल्लेख है। वार्तिककार (२।४।१२) ने वनस्पति का उल्लेख किया है जिसका उदाहरण भट्टोजि ने 'प्लक्षन्यग्रोधो' दिया है। पातंजल महाभाष्य (२।४।१२) में भी यह है।

१. १।५।४।५, हिमेश पर्णा मुषिता वनानि—शौ० २०।१६।१०

२. वनस्पतिर्यज्ञियः—श० ३।२।२।७, न हि मनुष्या यजेरन् यद् वनस्पतयो न स्युः—श० ३।२।२।९ तस्माद्वेतस आम्नश्चनाद् वनस्पतयोऽनु प्रजायन्ते—श० ३।६।३।१५

३. सोमो वै वनस्पतिः—श० ३।८।३।३३, ५।३।१।४,

४. वसन्ते...वनस्पतयः पच्यन्ते—श० ४।३।१।१४,

५. वानस्पत्यानि चक्राणि रथ्यानि—श० ५।४।३।१६

६. श० ३।८।२।१७, ३।८।३।१२, १२।७।१।९, १३।४।४।६—८, ९।१।२।२४

(वैतसो वनस्पतीनामनुपजीवनीयतमो यातयामा हि सः)

७. श० ११।६।१।८

इसके अतिरिक्त श०—६।२।२।३७, ७।५।१।१५, ८।४।३।१७, १२।४।१।७

८. प्राणो वै वनस्पतिः—ऐ० ब्रा० २।४, १०, और देखें—५।२३, ७।३९

९. वनस्पतयो वै द्रुः—तै० ब्रा० १।३।९।१

(६)

वानस्पत्य

छोटे वनस्पतियों को वानस्पत्य या वृक्ष कहते हैं। ऋग्वेद में 'वानस्पत्य' शब्द नहीं है इसके लिए 'वनिन्' या 'वृक्ष' शब्द प्रयुक्त हुआ है। एक स्थल पर (ऋ० ५।५।४।६) 'वृक्ष' शब्द है जिसका अर्थ सायण ने मेघ किया है—(वृश्च्यते विदार्यत इति वृक्षो मेघः) अथर्ववेद में 'वानस्पत्य' और 'वृक्ष' दोनों शब्द आये हैं। शतपथब्राह्मण में 'वानस्पत्य' शब्द वनस्पतिविकार अर्थ में प्रयुक्त है। पलाश, विकंकत, कार्ण्य, विल्व, खदिर तथा उदुम्बर इन्हें यज्ञिय वृक्ष कहा गया है, विकंकत यज्ञपात्रीय वृक्ष है। (फल) का भी निर्देश है (१।१।१।१०)।

उपनिषदों में भी 'वानस्पत्य' शब्द नहीं है। इसके स्थान पर 'वृक्ष' शब्द आया है। बृहदारण्यक उपनिषद् (३।१।२८।१-६) में 'वनस्पति' के साथ 'वृक्ष' शब्द प्रयुक्त है। शंकराचार्य ने वनस्पति को 'वृक्ष' का विशेषण कहा है किन्तु वस्तुतः 'वृक्ष' शब्द वानस्पत्य का द्योतक प्रतीत होता है^१।

कल्पसूत्रों में भी 'वानस्पत्य' शब्द वनस्पतिविकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।^२ 'वृक्ष' शब्द का ही इस अर्थ में प्रयोग हुआ है।^३ विवाहकर्म में पुंनामा वृक्षों का प्रयोग है।^४ फलवाले वृक्षों को 'फलवृक्ष' या फलेग्रहि कहा गया।^५ पाणिनि (२।४।१२, ४।३।१३५) में 'वृक्ष' का उल्लेख है। पातंजल महाभाष्य में 'वनस्पतीनां समूहो

१. ऋ०-७।४।५, १०।६।६।९, ५।५।४।६, शौ०-१।२।३०, ८।८।१४, ११।१।२४

११।१।२७, १२।३।१८, १५।६।२०,

वानस्पत्य—ऐ० ब्रा० ७।३३, ८।१६, श०-१।१।४।७, १०, ५।४।३।१६

११।१।७।२, १४।२।२।५३, ५४

वृक्ष—श० १।३।३।२०, २।२।४।१०, २।६।२।१७, ४।५।२।१३, ९।३।३।६

११।१।८।६, १४।६।९, ३१, ३३, ३४

वृ०-३।१।२।८।१-६, छा०-६।९।१, २, ६।१।१।१, श्वे०-३।९, ४।६०, ७०

तै० १०।१, मु०-३।१।१, २

वृक्षो ब्रश्चनात्, वृक्षा चां तिष्ठतीति वा, चा क्षियतेर्निवासकर्मणः—

या० २।६०, १२।२९

२. बौ० श्रौ०-२।१२, हि० श्रौ०-३।३।५, काठ० गृ०-४।६।८, अ० गृ०-२.६।६

३. बौ० श्रौ०-३।२।१५, बि०-३७।२४

४. श्रां० गृ०-१।१३।६

५. स्ना० गृ०-२।२।५

(७)

वानस्पत्यम्' (४।१।८५) है । इसके अतिरिक्त, वृक्ष 'शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है ।^१ इसके उदाहरण में शिक्षा दिया है ।

ओषधि

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में 'ओषधि' शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है । सायण ने इसकी निरुक्ति तथा व्याख्या अनेक प्रकार से की है यथा:—

१—ओषधिः प्रियंगुव्रीह्यादिः—ऋ० १।१६६।५, ४।५७।३, ६।३९।५

ओषधयो व्रीहियवाद्याः—शौ० ४।१५।२, ११।६।१७, ११।७।२०, ८।२।२२

२—ओषधयः फलपाकान्ताः—ऋ० १।९०।६

ओषधयः फलपाकान्ताः लताः—ऋ० ८।२७।२

ओषः फलपाकः अस्यां धीयत इति ओषधिः—शौ० १।२३।१

ओषः पाकः आसु धीयत इति ओषधयः सर्वा वीरुधः^२—शौ० ६।९५।३

३—ओषधीः तृणानि—ऋ० १०।१६९।१

ओषधीः पक्कफलसंयुक्तास्तृणगुल्मादिकाः—ऋ० ३।३४।१०

४—ओषधीः अन्नानि—ऋ० १।१६३।७, ऋ० ५।८४।१० (अजीजन ओषधी-भोजनाय)

५—ओषन्ति माद्यन्ति अनेनेति ओषः सोमः स धीयते निधीयते येष्वित्योषधयो ग्रावाणः—ऋ० १०।१६९।१

६—ओषधीः ओषध्यभिमानिनो देवान्—ऋ० ६।२१।९

इस प्रकार ओषधि के फलपाकान्त लता, तृण, अन्न, ग्रावा, देव आदि अर्थ किये गये हैं ।

यास्क (१।२७) ने इसकी निरुक्ति की है—'ओषधयः ओषध्यन्तीति वा । ओषत्येना धयन्तीति वा । दोषं धयन्तीति वा' । अर्थात् जो शरीर में शक्ति उत्पन्न कर उसका धारण करे या जो दोषों को दूर करे ।

ओषधियां ग्राम्य और आरण्य दो प्रकार की कही गई है (शौ० ११।६।६) ग्राम्यः पुनः दो प्रकार की होती है :—कृष्टपच्य और अकृष्टपच्य^३ । कल्पसूत्रों में सात

१. पा० म०—१।१।४५, ६४, १।३।९, २।१।५७, ४।३।१६३, ५।१।२

२. ओषं धयेति तत्त ओषधयः समभवंस्तस्मादोषधयो नाम—शौ० १।२।३।५

३. शौ०—१।६।१३, २।२।३।५, ७।२।४।१७, १८ उभययो (ओषधयः) ऽस्मै स्वधिताः पचन्ति कृष्टपच्यश्च अकृष्टपच्यश्च—तां ग्रा० ६।६।९, द्वि० शौ०—१।१।६।४५. (सप्त ग्राव्याः ओषधयः सप्ताण्याः—तिलाभावाः व्रीहियवाः प्रियंगुवृक्षो गोधूमाश्चेति

(८)

ग्राम्य तथा सात आरण्य औषधियों की गणना की गई है। कात्यायन श्रौतसूत्र में (१४।११०-११२) में सप्तदश अन्नों में ब्रीहि-यव, तिल-माष, अणु-प्रियंगु, गोधूम, मसूर, खज्व और खलकुल^१ ये दस ग्राम्य और शेष आरण्य कहे गये हैं (१४।११३)। हि० ब्र० (२६।७।३९) में “शम्योषा” शब्द आया है जिसकी व्याख्या की गई है कोशीधान्यानि माषमुद्गचणकादीनि ।

ब्राह्मणग्रन्थों में औषधि को आहुति, बहि, या लोम-श्मश्रु, नख, और वनस्पति को इधम या केश कहा गया है जिससे उनके स्वरूप का तुलनात्मक ज्ञान होता है^२। आरण्य औषधियों को प्रशस्त माना गया है^३। औषधियाँ रसवती कही गई हैं^४। औषधियों को वस्त्र के समान आच्छादक मानते हैं, संभवतः पृथ्वी का आच्छादन करने के कारण ऐसी मान्यता है^५। इनके मूल के ग्रहण का विधान है क्योंकि अग्रभाग शुष्क होने पर भी इनका मूल आर्द्र रहता है^६। हेमन्त में औषधियाँ म्लान हो जाती हैं^७। औषधियाँ प्रचुर परिमाण में होती हैं^८। औषधियाँ मूलिनी कही गई हैं जिन्हें पशु खाते हैं—और जिनसे दूध उत्पन्न होता है^९। वर्षा से इनकी उत्पत्ति होती है। फलिनी औषधियों का भी निर्देश है^{१०}। इनका विकास ऊपर की ओर होता है^{११}। जल के साथ इनके सेवन का विधान है^{१२}। वसन्त में औषधियाँ

सप्त ग्राम्याः, वेणुश्यामाकनीवारा जर्त्तिष्ठा गभीधुका, मर्कटका गार्मुताश्चेति सप्तारण्या
औषधयः—व्या०), १२।६।५, १३।२।२१

१. देखें—बृहदारण्यक उपनिषद् ६।३।१३
२. औषधयो बहिर्वनस्पतय इधमा—ऐ० ब्रा० ५।२८, श०—१।८।२।११, ७।४।२।११, १२, १।३।१।४, १२।१।४।१, बृ०—१।१।१, ३।२।१३
३. श०—१।१।१।१०
४. श०—१।२।२।२
५. श०—१।३।१।१४
६. ता इमा आर्द्रमूला औषधयस्तस्माद् यद्यपि शुष्काण्यप्राणि अवन्त्यार्द्राण्येय मूलानि भवन्ति—श० १।३।३।४
७. तस्मान् हेमन् ऋष्यान्त्यौषधयः—श० १।५।४।५
८. तस्मादिमा अतिरिक्ता असंमिता औषधयः प्रजायन्ते—श० १।१।२।३०
९. श०—२।३।१।१०, २।६।३।७, १२।४।१।७,
१०. सु०—१।५।१, कौ० गृ०—१।१।४।८, शौ० गृ०—१।२।२।१०, पा० गृ०—१।१।५।६
११. ऊर्षा औषधयो जायन्ते ऊर्षा वनस्पतयः—श० ३।२।३।१९
१२. वृ०—३।६।१।७

(९)

उत्पन्न होती हैं तथा शरद् में पक जाती है^१। औषधियों की पशुपति संज्ञा है^२। इन्हें देवपत्नी भी कहते हैं^३। अप्सरा भी इन्हें कहा गया है^४। औषधियां कहीं सोम्य और कहीं आग्नेय कही गई हैं इसका कारण संभवतः उनकी अग्नीषोमीय प्रकृति है^५। यज्ञ का शिर कट जाने पर जो रस गिरा उससे औषधियों की उत्पत्ति बतलाई गई है^६।

उपनिषदों में औषधियां जल का सार कही गई हैं^७। कल्पसूत्रों में औषधियों का निर्देश विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है^८। पाणिनि ने 'औषधि' का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है^९। वार्तिककार ने औषधि के प्रसंग में नीली का उल्लेख किया है (नीलादोषधी) तथा "फलपाकशुषामुपसंख्यानम्" वार्तिक के द्वारा इसके फलपाकान्त स्वरूप का भी संकेत किया है। पातंजल महाभाष्य में

१. वसन्त ओषधयो जायन्ते शरद्वर्षम ओषधयः पच्यन्ते—श० ४।३।१।१४, १७
शरच्छृता अस्यामोषधयो भवन्ति—या० ४।२५
२. श०—६।१।३।१२,
३. ओषधयो वै देवानां पत्न्यः—श० ६।५।४।४
४. अग्निर्गन्धर्वस्तस्योषधयोऽप्सरसः—श० ९।४।१।७,
५. सौम्या ओषधयः—श० १२।१।१।२, जै० ब्रा०—१।३।५४ आग्नेययो ह्योषधयः—
ऐ० ब्रा० १।६
६. श०—१।४।१।२।१९
७. एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधयः ओषधीनां पुष्पाणि
पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः—बृ० ६।४।१, ५, छा०—१।१।२,
मुं०—१।१।७, २।१।५, ९, तै०—१।७।१, २।१।१
८. ब्रा० श्रौ०—१।१।१।४, ५।२।४ (गन्धवतीमिरोषधीभिः) ब्रीहयः शाक्यो मुद्गाः
गोधूमाः सर्षपास्तिलाः । यवाश्चौषधयः सप्त विपदो हन्ति चारिताः ॥
कर्मप्रदीप (गो० गृ० १९।१६ की टीका में उद्धृत), कौ० सू०—८३।११,
अ० प०—७०।६।१, बौ० गृ०—२।९।१९, चो० पि०—१।६।१, हि० गृ०—२०।८।२
(श्रवणपक्षे ओषधीषु जातानि हस्तेन पौर्णमास्यां वाऽध्यायोपाकर्म),
पा० गृ०—२।१०।१, आ० गृ०—४।१।१२, शा० गृ०—४।५।२ (ओषधीनां प्रादुर्भावे
हस्तेन श्रवणेन वा जुहुयात्), ४।६।३, १।२।८।२३, काठ० गृ०—३।४।३,
बौ० ध०—१।१०, ९, ३।२।१५, बि० ध०—३।७।२४
९. पा०—४।१।१३५, ५।४।३७, ६।१।१३२, ८।४।६, दासीभारादिगण (६।२।४३)

(१०)

औषधि के उदाहरण में “ब्राह्मी” दिया है (६।४।१७१) इसके अतिरिक्त, धान्य और तृण का भी निर्देश है जिसके उदाहरण क्रमशः ‘ब्रीहियवम्’ और ‘कुशकाशम्’ दिये गये हैं (२।४।१२) । इससे स्पष्ट है कि पतंजलि वनस्पति को तो मानते थे किन्तु वानस्पत्य के स्थान पर वृक्ष का प्रयोग किया । औषधि के अन्तर्गत उन्होंने तीन विभाग किये—(१) औषधीयगुणसंपन्न यथा ब्राह्मी (२) आहारद्रव्य (धान्य) यथा ब्रीहियव (३) तृण-अन्य क्षुद्र वनस्पति ।

वीरुध्

‘वीरुध्’ शब्द ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर आया है । सायण ने इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं :—

१—वीरुध्मु औषधीषु—ऋ० १।६७।५, २।३५।८, १०।४०।९, १०।४५।४,
१०।९१।६ विरोहणशीलानां औषधीनां—शो० ११।८।१५, वीरुधः
विरोहन्त्यः—ऋ० १०।९७।३, शो० १।३२।१

२—वीरुधां वनस्पतीनाम्—ऋ० ९।११४।२

३—वीरुधं लतारूपां—ऋ० १०।१४५।१

वीरुधः विरोहणशीला लतारूपा आरण्याः—शो० ११।६।१७, विरोहणशीलाः
लताः—शो० ११।९।२१

४—विरुधन्ति विनाशयन्ति रोगान् इति वीरुधः औषधानि—शो० २।९।३ विरुधः
औषधानि च—शो० २।९।४

५—अरण्यजा वीरुधः—शो० ११।७।२०

विरुधः विरोहणशीला आरण्या औषधि-वनस्पतयः—शो० ४।१५।३

सायण इस प्रकार “वीरुध्” से औषधि, वनस्पति और लता सभी का ग्रहण करते हैं । “लिवुजा” शब्द भी आता है जिसका अर्थ व्रतति या वल्ली किया गया है^१ ।

ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में इसका उल्लेख नहीं मिलता । परवर्ती वाङ्मय में इसके अन्तर्गत लता, गुल्म आदि का ग्रहण किया गया है । कल्पसूत्रों में लता, वल्ली, गुल्म शब्द आये हैं^२ । पाणिनि के न्यक्वादिविगण (७।३।५३) में वीरुध् का निर्देश है ।

१. ऋ०—१०।१०।१३, (व्रतति), १४ (वल्ली), ऋ०—८।४०।६, शो०—७।९५।१
(व्रतति)

२. अ० प०—२।१४।१, शो० ध०—३।३।५, १५, वि० ध०—३।७।२४

(११.)

वनस्पतियों का नामकरण

वनस्पतियों के नाम अत्यन्त प्राचीनकाल से चले आ रहे हैं। निरुक्त में इन संज्ञाओं की निरुक्ति देकर उनका आधार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु वह तो एक प्रयासमात्र है। वस्तुतः आदिम मानव ने इन वनस्पतियों का जो नाम दे दिया वही प्रचलित हो गया। संभव है, ऐसा करते समय उसके स्वरूप और कर्म का ध्यान रक्खा हो किन्तु अनेक संज्ञायें छूट भी हुईं। जो यौगिक थी वह भी कालान्तर में रूढ़िग्रस्त हो गई। विद्वानों की मान्यता है कि वनस्पतियों के नामकरण पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव भी कम नहीं था। प्राचीन सभ्यताओं ने स्वभावतः परवर्ती सभ्यताओं को प्रभावित किया। भारतीय वनस्पतियों के अनेक नाम असीरियन नामों से मिलते जुलते हैं। किसने किसको प्रभावित किया यह निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है किन्तु अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि अतिप्राचीन काल में भारत से इन देशों का संपर्क था और भारतीय सभ्यता से ये सभ्यतायें प्रभावित थीं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि ओषधियों के नाम भी उनके व्यवहार के साथ साथ वहां भारत से ही गये^२।

१. R. G. Harshe : Sivakosa, Introduction, PP. XLX-LII.

२. Nothing was known about synchronism of civilizations in sumer and India till recent times. The discoveris of Mohenjo Daro and Harappa opened new vistas into the field of oriental research. We know now that India was well known in sumer. Between Mohenjo Daro and sumer a close trade connection is proved by the fact that seals of exactly the same type as those found in India have also been found in Babylonia" Hall and Haddon have already advanced the opinion that the people of sumer probably came from India. In fact the migration of the Sumerians from India seems to be implied by Gebesis and confirmed by Berosus. A Babylonian chronicle mentions the name of Andubar as of an Indian who taught astronomy to the early inhabitants of Mesopotamia. The Indian tradition about trade relations between India and sumer is recorded in the Baberu Jataka. We cannot doubt at present about the frequent

वैदिक काल में जो नाम मिलते हैं उनमें कुछ तो ज्यों के त्यों अब तक चले आ रहे हैं यथा उदुम्बर, अश्वत्थ आदि । कुछ नाम ऐसे हैं जो कालक्रम से परिवर्तित हो गये यथा गुल्गुलु-गुग्गुलु, काष्मर्य-काश्मर्य आदि । तीसरी कोटि में ऐसे नाम हैं जो आगे चल कर लुप्त हो गये और उनके स्थान पर नये नाम प्रचलित हुये यथा जङ्गिड, खलकुल आदि ।

अनेक शब्द जो आजकल वनस्पतियों के नाम में प्रयुक्त हो रहे हैं वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं किन्तु अन्य अर्थ में यथा द्रवन्ती, (ऋ० ५।४।१।५), ज्योतिष्मती (ऋ० १।४।६।६), त्रिवृत् (ऋ० १।१४।०।२), विश्वभेषज (ऋ० १।०।६।०।१२, १।०।१३।७।३) । इसी प्रकार आथर्वण शान्तिकल्प में अमृता, ब्राह्मी, गायत्री, ऐन्द्री, अपराजिता, अभया महाशान्तियों का उल्लेख है जिनके आधार पर आगे चलकर औषधियों की संज्ञायें निर्धारित हुई । “अतस” शब्द ऋग्वेद में काष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त है जिससे ‘अतसी’ शब्द बना । ‘अरणी’ शब्द अग्निमन्यन काष्ठ की संज्ञा थी जो बाद में एक औषधि का नाम हुआ । करंज और अरलु ऋग्वेद में राक्षसों के नाम हैं जो बाद में वनस्पतियों के नाम हुये । इसी प्रकार “कृतव्यधनी” “कृतवेधन” हुआ और घृताची लाक्षा का पर्याय बना । “जीवन्ती” को अथर्ववेद में औषधित्व प्राप्त हुआ । “रास्ता” शब्द जो रशना (मेखला) के अर्थ में प्रयुक्त होता था बाद में औषधिविशेष का वाचक बना । इट ऋग्वेद (१०।१७।१।१) में एक ऋषि का नाम है जो वनस्पतिविशेष का भी बोधक है । महाबला अ० प० (७।१।१७।७) में देवताविशेष का बोधक है जो बाद में औषधिविशेष में रूढ़ हुई । इसी प्रकार मुचकुन्द एक महामुनि थे (खि० २।१।७) जो कालान्तर में एक वृक्ष हुये ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पशुपक्षियों से औषधियों के ज्ञान में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है अतः स्वाभाविक ही था कि उनके नामकरण में भी इनका योगदान हो । निम्नांकित उदाहरण इस संबन्ध में पर्याप्त होंगे :—

१—बाराही	६—हंसपदी
२—नाकुली	७—मृगादनी
३—सर्पगन्धा	८—अजशृंगी
४—गन्धर्वहस्त	९—मेषशृंगी
५—काकमाची	१०—अश्ववार

intercourse existing between both countries from very ancient times.—R. V. H. Heres, S. J., the kingdom of Magan, B. C. Law vol. I, PP. 546-547.

(१३)

वैदिक औषधियों का नामकरण भी साधार है जिसके कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं :—

१—स्वरूपवाचक—अणु, आण्डिक, तीक्ष्णशृंगी, निततनी, न्यग्रोध, पुनर्नवा, विषाणका

२—अवयववाचक—

पर्ण—उत्तानपर्णी, चित्रपर्णी, पर्ण, पृश्निपर्णी, बाणपर्णी, सहस्रपर्णी, स्नेकपर्ण, हिरण्यपर्ण,

फल—फलवती

पुष्प—हिरण्यपुष्पी, विषपुष्प, शंखपुष्पी

कुन्द—कान्दाविष

३—उद्भववाचक—क्याम्बू, शीतिका, मण्डूकी, वर्षाहू

४—गुणवाचक—

रूप—अर्जुन, असिकनी, पीतदारु

रस—मधुक, मधुला, रसा

गन्ध—अश्मगन्धा, औक्षगन्धि, पूतिरज्जु, सर्पसुगन्धा, सुगन्धितेजः

५—कर्मवाचक—सामान्य—अपामार्ग, अमला, उदोजस, ऊर्जयन्ती, सहमाना, जीवला, त्रायमाणा, रोहिणी, विकंकत

विशिष्ट—केशहंहणी, केशवर्धनी, क्लीबकरणी, मशकजम्भनी, सुभंगकरणी, संवननी, शेषहर्षणी, सरूपकरणी ।

रोगपरक—ईर्ष्याभेषज, किलासभेषज, क्षेत्रियनाशिनी, विषदूषणी, हरितभेषज, बलासभेषज ।

६—प्रशस्तिवाचक—पूतदु, भद्र, अर्क ।

वनस्पति के अवयव

वनस्पति के विभिन्न अवयव यथा काण्ड, शृंग, पर्व, पत्र, पुष्प, फल और मूल का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होता है । प्राचीन महर्षियों ने अपुष्पा तथा सपुष्पा और अफला तथा फलिनी औषधियों का विभाजन अत्यन्त सूक्ष्मता से किया था । पत्र की विशिष्ट रचना, आकृति आदि पर भी उनका ध्यान गया था । फल तथा मूल की प्रधानता के अनुसार क्रमशः फलिनी तथा मूलिनी औषधियों का भी निर्धारण हुआ था । शृङ्गाकार फल को देखकर “तीक्ष्णशृङ्गी” आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ । फल के लिए “पिप्पल” शब्द प्राचीन वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है और सपिप्पला औषधियों की प्रशस्ति की गई है ।

(१४)

अथर्ववेद में (८।७।१२) सुन्दर शैली में सभी अवयवों का उल्लेख है। पयस्वती-रोषधयः से औषधियों के धीरे का संकेत होता है। शतपथब्राह्मण (१०।३।३।३) में अर्क के प्रसंग में विभिन्न अवयवों का निर्देश किया गया है यथा पर्ण, पुष्प, कोशी, समुद्ग, धाना, अष्टौला, मूल। मूल के संबन्ध में अन्यत्र लिखा है कि औषधियों के अग्रभाग यद्यपि शुष्क हो जाते हैं तथापि उनके मूल आर्द्र रहते हैं।

न केवल बाह्य रचना का अपितु आभ्यन्तर रचना का भी वर्णन उपलब्ध होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (३।१।१-६) में पुरुष के अवयवों एवं धातुओं के समानान्तर वनस्पतियों तथा वृक्षों की रचना का वर्णन निम्नांकित मिलता है :—

पुरुष	वनस्पति
१-लोम	१-पर्ण (Leaves & hairs)
२-त्वक्	२-वह्निस्त्पाटिका (Epiderm)
३-रक्त	३-निर्यास (Latex)
४-मांस	४-शकर (Mesoderm)
५-स्तायु	५-किनाट (Endoderm)
६-अस्थि	६-आभ्यन्तरकाष्ठ (Heartwood)
७-मज्जा	७-मज्जा (Pith)

तना काट देने पर मूल से पुनः प्ररोह निकलते हैं किन्तु मूल काट देने पर वृक्ष का पुनरुद्भव नहीं होता। बीज से उत्पन्न होने वाले वृक्षों को धानारुह कहा है। बाह्य त्वक् से वनस्पतियों की रक्षा होती है।

परवर्ती वाङ्मय में भी पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि अवयवों का उल्लेख हुआ

१. मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुषां वभूव ।

मधुमत्पर्णं मधुमत्पुष्पमासाम्—शौ० ८।७।१२

यद्यपि शुष्काण्यवायमाणि भवन्त्यार्द्राण्येष मूलानि भवन्ति—श० १।३।३।३

औषधो मूलिन्यः—श० २।३।१।१०

द्वयो वा औषधयः पुष्पेभ्योऽन्याः फलं गृह्णन्ति, मूलेभ्योऽन्याः—

तै० ब्रा० ३।८।१७।४

एतद्वै तासां समृद्धं रूपं यत् पुष्पत्रयः सुपिष्पलाः—श० ६।४।४।१७

तेजो ह वा एतद् वनस्पतीनां यद् बाह्याः शकलः, तस्माद् यदा बाह्याशकलमप-
तच्चणवन्त्यथ शुष्यति—श० ३।७।१।८

(१५)

है^२। पाणिनि ने पर्ण, पुष्प, फल, मूल, बाल का उल्लेख किया है (४।१।६४)। वार्तिककार ने 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' (४।३।१६६) में पुष्प और मूल का उल्लेख किया है। फल का अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है^३। पातंजल महाभाष्य में वृक्ष के मूल, स्कन्ध, फल और पलाश का निर्देश है^४। इसके अतिरिक्त, वृक्ष के क्षीर और कण्टक का भी उल्लेख है^५।

वनस्पतियों का उद्भव एवं विकास

अथर्ववेद में कहा गया है कि वनस्पतियों का पिता अन्तरिक्ष तथा माता पृथ्वी हैं और इसके मूल समुद्र में रहते हैं। इससे अन्तरिक्ष में फैलनेवाली या दिव्य ओषधियों, पृथ्वी पर होनेवाली तथा समुद्री वनस्पतियों का संकेत होता है^६। पृथ्वी पर होनेवाली वनस्पतियों के भी दो वर्ग हो गये एक पर्वतीय प्रदेश में होने वाली दूसरी समतल भूमि में होनेवाली^७। अथर्ववेद में एक स्थल पर इन्हें क्रमशः पर्वतीय और बाह्य कहा गया है^८। त्रिकुट पर्वत पर आंजन की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसी प्रकार विष की उत्पत्ति भी पर्वत पर कही गई है^९। वातबहुल (जांगल) प्रदेश में होनेवाली वनस्पतियों का भी उल्लेख है^{१०}। जल में होनेवाली वनस्पतियों का भी निर्देश है जो शेवाल से आवृत रहती है^{११}। ऋग्वेद के ओषधिसूक्त में ठीक ही कहा है कि ओषधियों के सैकड़ों उद्भवस्थान हैं^{१२}। इनमें भूमि सर्वोत्तम मानी गई है^{१३}।

१. गौ० ष०-७।१२, बौ० ध०-१।१०।९
२. पा०-४।३।१६६, २।४।१२, ५।२।१२१
३. वृक्ष इत्युक्ते—अथोऽपि कश्चिद् गम्यते मूलस्कन्धफलफलाशबान्, एकस्वं च—पा० म० १।२।४५, १।४।२१
४. क्षीरिणो वृक्षाः, कण्टकिनो वृक्षाः—पा० म० ५।२।९४
५. यासां शौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीक्षणां बभूव—शौ० ८।७।२
६. या रोहन्त्यांगिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवाः ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥—शौ० ८।७।१७
७. देवांजन त्रैककुट परि मा पाहि विश्वतः । स्वा तरन्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत ॥—शौ० १२।४४।६
८. सर्वे ते वध्नयः कृताः वध्निरिविषगिरिः कृतः—शौ० ४।६।७
वध्निः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम्—शौ० ४।६।८
९. देखें—बिभीतक (ऋ० १०।३४।१)
१०. अवकोषवा उदकात्मान ओषधयः । व्यबन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्गयः ॥—शौ० ८।७।९
११. शतं वो अश्व धामानि सहस्रमुत वो रुहः—ऋ० १० ९७।२
१२. इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समुजग्रभम् ॥—शौ० ६।२।१।१

(१६)

वनस्पतियों का विकास मुख्यतः जल और अग्नि इन दो तत्वों से होता है । अग्नीषोमीय सिद्धान्त के अनुसार जीवजगत् के संचालक ये ही दो प्रमुख तत्व हैं^१ । इन्हीं के आधार पर औषधियां सौम्य और आग्नेय कही गई हैं । शीत और उष्ण वीर्य का निर्धारण भी आगे चलकर इसी आधार पर हुआ । जल पोषक तत्व का प्रतीक है जो अग्नि के द्वारा रूपान्तरित होकर वनस्पति शरीर को विकसित करता है ।

पयस्वतीरोषधयः (शौ० १८।३।५६) औषधियों के सौम्य स्वरूप का संकेत करता है । शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थलों पर औषधियों में जल की स्थिति का निर्देश हुआ है^२ । इसी प्रकार वनस्पतियों में अग्नि की स्थिति का भी उल्लेख है^३ ।

‘वनस्पतियों के विकास का सुन्दर वर्णन उपनिषदों में मिलता है’ ।

वनस्पतियों में चेतना की उपस्थिति का भी निर्देश उपलब्ध होता है^४ ।

वनस्पतियों का उपयोग

शतपथ ब्राह्मण में जो यह कहा कि वनस्पतियों न होती तो यज्ञ कैसे होते वह नितान्त अर्थपूर्ण है । जैसा कि पहले कहा गया है, शाला के निर्माण से लेकर मनुष्य

१. शौ०—३।१३।५, राजानो वा एतौ देवतानां यद् अग्नीषोमौ—
तै० २।६।२।१, २, शौ० ६।५४।२
२. आपो हि एतासां रसः—श० १।२।२।१, ३।६।१।७,
औषधयो वा अपामोद्म यत्र ह्याप उन्वन्त्यस्तिष्ठन्ति तदौषधयो जायन्ते—
७।५।२।४७
सौम्या औषधयः—श० १२।१।१।२,
अपां रसाः औषधिभिः सचन्ताम्—शौ० ४।१५।२
३. य आ विवेशोषधीयो वनस्पतीस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमश्वेनत्—शौ० ३।२।१।१, २
अग्निर्द्भूयामोषधीवग्निसापो विभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोव्दश्वेवग्नयः—शौ० १२।१।१।९, १९३।२
अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स भावतु—शौ० ५।२४।२
४. वृ०—३।२।१।१, एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसः, अपामोषधयो रसः,
औषधीनां पुरुषो रसः—बृ० ७० १।१।२
तै० ७०—२।१।१
५. ऋ०—१०।९७।२१, शौ०—१।१।६।१०
शिरीषोऽधः स्वपिति, सुवर्चश्च आदिश्यमनुपर्वेति—पा० म० ३।१।७

(१७)

को आहार एवं औषध तथा विभिन्न उपकरणों एवं पात्रों^१ के लिए वनस्पतियों का ही सहारा लेना पड़ता था। यज्ञ में यूप, परिधि, दण्ड आदि तथा स्पय, स्रुक्, स्रुव आदि उपकरण वनस्पतियों से बनते थे तथा इनके लिए विशिष्ट वनस्पति निर्धारित थे। उदुम्बर की चार वस्तुयें होती थीं जिन्हें चतुरौदुम्बर कहते हैं^२—स्रुव, चमस, इष्म और उपमन्यनी। स्रुवा विकंकत की बनती थी। उपनयन में दण्ड वर्णानुसार विभिन्न वृक्षों के लिये जाते थे। यज्ञ में उपयोगी वृक्षों में बिल्व, खदिर, पलाश, रोहीतक, उदुम्बर, काश्मर्य, रज्जुदाल, सुगन्धितेज न आदि प्रमुख हैं। कृषि के उपकरण भी वनस्पतियों से ही बनते थे। हल का फाल खदिर से बनता था^३।

औषधीय प्रयोग

आहार तथा अन्य लौकिक उपयोग के अतिरिक्त औषधियों तथा वनस्पतियों का औषधरूप में प्रयोग महत्वपूर्ण था। जब से मनुष्य ने शरीरधारण किया, रोगों का प्रादुर्भाव हुआ और तभी से इस विघ्न के निराकरण के लिए औषध का प्रयोग प्रारंभ हुआ। यह स्वाभाविक ही था कि वन्य प्रदेश में रहने वाले महर्षियों का ध्यान अपने वातावरण में वर्तमान वनस्पतिजगत् की ओर आकृष्ट होता जिससे पशु-पक्षी भी रूग्णावस्था में लाभ उठाते थे।

पाश्चात्य मनीषियों की ऐसी धारणा है कि वैदिक काल में केवल अग्निविश्वास के आधार पर जादू-टोने के रूप में ही औषधियों का व्यवहार था उनका कोई सयुक्तिक प्रयोग नहीं था किन्तु यह तथ्य के विपरीत है। वेदों में आयुर्वेद के मौलिक तत्व निहित हैं और चिकित्सा का आधार भी सूत्ररूप में निर्दिष्ट हैं। विशेषतः अथर्ववेद के काल तक तो यह बहुत कुछ व्यवस्थित रूप धारण कर चुका था। त्रिदोष के स्वरूप^४ भी निर्धारित हो रहे थे जिनके द्वारा शरीर के प्राकृत एवं वैकृत प्रक्रियाओं की व्याख्या

१. बौधायन धर्मसूत्र (१।८।३०-३४) में तीन प्रकार के पात्रों का उल्लेख है—
दारव, वैगव और ऋमय।

२. चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बराः स्रुवः औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इष्म औदुम्बरा
उपमन्यनी—वृ० ६।३।१३

३. शौ० १०।६।८

४. यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो—शौ० १।१२।१, ३, १।२४।१, ५।२८।३
य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे—शौ० १।१२।१

इन्द्र त्रिधातु वारणं त्रिवरुधं स्वस्तिमत्—शौ० २०।८३।१

२ द्र० च० भू०

(१८)

की जा रही थी। वैश्वानर अग्नि^१, वायु^२ तथा जल^३ के मानवशरीरस्थ कार्य का भी अध्ययन हो रहा था। शरीरान्तर्गत अग्नियों के कार्य के अतिरिक्त अग्नि के रक्षोष्ण स्वरूप की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी^४। इतना होते हुए भी मनुष्य दैवी शक्तियों के प्रति भी विश्वास बनाये था। इस प्रकार रोग-निवारण के लिए वह दोनों प्रकार के उपाय काम में लाता था, औषधियों के द्वारा दोषों का शमन करता था तथा साय-साथ राक्षसों का भी विनाश करता था। तत्कालीन भिषक् रक्षोहा तथा अमीवचातन^५

१. आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तूनवांशन् ।

अग्ने तौलस्य प्राणान् यातुधानान् विलापय ।—शौ० ११७२, ५१८२

तनूनां सकलप्राणिशरीराणां जाठराग्निरूपेण वशयितः—सा०

वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्—शौ० ६१७१३,

अग्निः प्राणान् संस्पृधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः—शौ० ३१३११ ,

(अग्निः अशितपीतपरिणामहेतुः अन्तरवस्थितो जाठररूपः—सा०)

अग्निः पचन् रक्षतु स्वा पुरस्तात्—शौ० १२१३१४ वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा—

शौ० ८१११११ (विश्वेषां नराणां संबन्धी जाठरोऽग्निः—सा०) विश्वं सर्वं

प्राणिजातं विभर्ति अनुप्रविश्य अशितपीतादिपचनेन पोषयतीति विश्वंभरो

जाठराग्निः (सा० शौ० २११६५); एवं भिषक् भेषजस्यासि कर्ता स्वया गामश्चं

पुरुषं सनेम—शौ० ५१२९१

२. उत्समचित्तं व्यचिन्ति ये सदा च आसिंचति रसमोषधीषु ।

पुरो दधे मरुतः पृश्निमातृस्ते नो मुंचन्स्वंहसः ॥—शौ० ४१२७२-५

३. आपो हि ह्य मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन । महे रणाय चक्षसे ॥

उशतीरिष मातरः ॥

यो यः शिवतमो रसस्तस्य आजयतेह नः ।—शौ० ११५११-२

आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः । आपो विश्वस्य भेषजीः—शौ० ३१७५

जलाभमेषज—शौ० २१२७६, ६५७२

भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अक्ष्णा वदामसि—शौ० १११२३,

इद्भापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्—शौ० ७१९४३

४. शौ० ८१३१-२६

५. यत्रौषधीः समश्मत राजानः समिताविष ।

विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः ॥—ऋ० १०१९७६

उप प्रागाद् देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः—शौ० १२८११

अमीवाः सर्वाश्चातय जहि रक्षांश्शेषधे—शौ० १११३४१

(१९)

दोनों या । यही दोनों परम्परायें आगे चलकर क्रमशः दैवव्यपाश्रय एवं युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा कहलाई । रोग भी दो प्रकार के निर्दिष्ट हैं—शपथ्य और वरुण्य^१ । पहला संभवतः शापादिजन्य तथा दूसरा प्रज्ञापराधजन्य है । पहले में दैवव्यपाश्रय तथा दूसरे में युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग है । केशवपद्धति में भी लिखा है कि व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं—आहारनिमित्त और अन्यजन्मपापनिमित्त । प्रथम प्रकार की चिकित्सा आयुर्वेदीय विधियों से तथा दूसरे प्रकार की चिकित्सा अथर्ववेदोक्त विधियों से होती है^२ । निज तथा आगन्तु रोगों का भी क्रमशः 'रोग' तथा 'आस्त्राव' शब्द से अभिधान है । रोग दोष-प्रकोपजन्य विकार है तथा आस्त्राव (रक्तस्त्राव आदि) अभिघात आदि से व्यथापूर्व उत्पन्न होता है । रोग के साथ-साथ 'आस्त्राव' शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण है^३ ।

अग्नेः शरीरमसि पारगिष्णु रक्षोहासि सपरन्हा ।

अथो अभीवचातनः पूतद्रुनाम भेषजम् ॥—शौ० ८।२।२८

१. मुचन्तु मां शपथ्यादयो वरुण्यादुत—शौ० ६।९८।२

वरुण राज्यभिमानी तथा जलाधिरति देवता हैं । रात्रि अन्धकार रूप होने से अज्ञान (प्रज्ञापराध) का प्रतीक है ।

मुञ्चाभि र्वा हविषा जीवनाय ऊमज्ञातयचमादुत राजयचमात् ।

—शौ० २०।९६।६

या ते प्राणमिया तनूयौ ते प्राण प्रयेसी ।

अथो यद् भेषजं तत्र तस्य नो धेहि जीवसे ॥—शौ० ११।४।९

२. तत्र द्विविधा व्याधयः, आहारनिमित्ता अन्यजन्मपापनिमित्ताश्च । तत्राहार-निमित्तेषु चरकवाहटसुश्रुतेषु—व्याध्युपशमनं भवति, अशुभनिमित्तेषु अथर्ववेद-विहितेषु शान्तिऋषेः व्याध्युपशमनं भवति—के० प्र० देखें—अथर्ववेदभाष्य (होशियारपुर), भाग १, पृ० ३२

३. एवा रोगं आस्त्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज हत्—शौ० १।२।४

सायण ने यहाँ रोग से उवरातीसारादि तथा आस्त्राव से मूत्रातीसार किया है किन्तु रोग से इसके पृथक् अभिधान में दी गई युक्ति सबल नहीं है । व्यवहारतः भी वृणपंचमूल मूत्रातीसार में लाभकर नहीं होता । अन्य स्थलों में भी जब ऐसा प्रयोग आता है तब इसके विशिष्ट प्रयोग की ओर ध्यान जाता है । इस संबन्ध में देखें—शौ० २।३।२-५

'तदास्त्रावस्य भेषजं तद् रोगमनीनशत् ।'

कुछ लोग इससे अतीसार लेते हैं, देखें प्रिक्रिध (शौ० १।२।४)

चिकित्सा के तीसरे प्रकार 'सत्वावजय का भी संकेत पर्याप्त है। रोगी की धैर्य दिलाना जिससे वह रोग पर विजय प्राप्त कर ले और मृत्यु से भयभीत न हो इसका मुख्य प्रयोजन था। ऐसे अनेक स्थल अथर्ववेद में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त, ईर्ष्या, क्रोध आदि के शमन का भी विधान है। इन चिकित्साविधियों से चिकित्सक को इतना आत्मविश्वास रहता था कि मृत्यु के मुख से भी रोगी को लीटा ले।

अथर्ववेद में अनेक औषधियों का प्रयोग रूपसाधर्म्य के आधार पर हुआ है यथा हरिद्रा का कामला में, लाक्षा का रक्तस्राव में आदि; किन्तु यह प्रयोग परम्परा से भी परिपुष्ट होगा इसमें कोई सन्देह नहीं। परम्परा में प्रयुक्त औषधियों को ही शास्त्र में समय समय पर निबद्ध किया गया है। इससे संकेत भी मिलते हैं। मन्त्रों का तात्पर्य यह नहीं है कि केवल मन्त्र पढ़ने से ही रोगी अच्छे हो जाते थे प्रत्युत औषधि-सेवन के साथ मन्त्र पढ़ने से उसकी शक्ति बढ़ जाती थी और रोगी पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता था। उदाहरण के लिए, कामला में हरिद्रोदन का (शी० १।२२) तथा शिवत्र में नीली आदि का (शी० १।२३) प्रयोग। इस सबन्ध में कौशिक सूत्र का भैषज्य-प्रकरण अवलोकनीय है। जिन वृक्षों के मणि के धारण का विधान है वह भी

१. प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा—शी० ५।३०।५

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा—शी० ५।३०।८

पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननाश्चि ।

यं जीवमश्नवामहे न स रिष्यति पुरुषः—शी० ६।१०९।२

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः—शी० ८।२।२५

कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं बध्नीः—शी० ८।२।५

२. देखें :—ईर्ष्यामेषण (शी० ७।४६।१), ६।१८।१-३, ७।४५-१-२,

३. शी० ६।४२।१-३, ६।४३।१-३—दर्श मृत्युशमन कहा गया है।

४. यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीन एव ।

नमा हरामि निजृतेरुपस्थादस्पाशमेमं शतशारदाय ॥—शी० २०।९६।७

५. त्वया पूर्वमथर्धाणो जघ्नु रक्षांस्योषधे ।

त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥—शी० ४।३७।१

अश्विबद्धं क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।

अगस्त्यस्य ब्रह्मसं पिप्पल्यहं क्रिमीन् ॥—शी० ५।२३।१०

यद् ब्रह्मभिर्यद् ऋषिभिर्यद् देवैः विदितं पुरा ।

यद् भूतं भव्यमासिष्वत् तेना ते वारये विषम् ॥—शी० ६।१२।२

(२१)

प्रतीकमात्र है। उसका अर्थ यह है कि वह द्रव्य परम्परा में औषधरूप में व्यवहृत था। इन्हीं सब कारणों से आयुर्वेद ने अथर्ववेद में अपनी भक्ति प्रदर्शित की है^१।

औषधियों के रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव की भी स्थापना हो चुकी थी और अनेक पक्षों से इनका अध्ययन हुआ था^२। फिर औषधियों के खनने के समय तथा प्रयोग के समय मन्त्रोच्चार होता था^३। अथर्ववेद में एक बड़ा ही रोचक प्रसंग है कि कि कैरातिका कुमारी औषधि खनती है और युवा भिषक् आकर उसका विनियोग करता है^४। औषधि-खनन के बाद भूमि के क्षत के शीघ्र रोहण के लिए प्रार्थना भी की जाती थी^५।

औषधियों की संख्या हजारों में थी और उसके जानकार भी बहुत थे। ज्ञानपूर्वक औषधियों का जो प्रयोग करता था वही योग्य भिषक् माना जाता था^६। इसके बाद भी

१. च० सू० ३०।१९

२. औषधयः सोमराज्ञीर्वह्नीः शतविचक्षणाः ।

बृहस्पतिप्रसूनास्ना नो मुञ्चन्वंहसः ॥

शतविचक्षणाः शतविददर्शनाः। रसवीर्यविपाकेन नानाविधज्ञानोपेता इत्यर्थः—

(सा०); वनस्पतीनामुत वार्याणि—शौ० १।३५।३, नानावार्या औषधोर्या-
विभर्ति—शौ० १२।१।८

३. इमां खनाश्वोषधि वीरुधां बलवत्तमाम् ।

यथा सपथनीं बाधते यथा संबिदन्ते पतिम् ॥—शौ० ३।१८।१

और देखें—शौ० ६।१३७।१, ७।३८।१

४. कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम् ।

हिरण्ययीभिरभिभिर्गिरीणासुप सानुषु ॥

आयसगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजिनः ।

स वै स्वतस्य जसमनः उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥—शौ० १०।४।१४-१५

५. यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।

मा ते मर्मं विमृश्वरि मा ते हृदयमर्मिमम् ॥—शौ० १२।१।३५

६. अधोतीरध्यागादयमधि जीवपुरा जगन् ।

शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥

देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः ।

चीर्तिं ते विश्वे देवा अविदन् भुश्यामधि ॥

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।

स एव तुभ्यं भेषजानि कृण्वद् भिषजा शुचिः ॥—शौ० २।१।३-५

(२२)

बहुत सी औषधियाँ अज्ञात रह जाती थी^१ ।

प्रयोगभेद से औषधियाँ चार प्रकार की मानी गई हैं—आथर्वणी, आगिरसी, दैवी और मनुष्यजा । शान्ति-पौष्टिक कर्मों में उपयुक्त औषधियाँ आथर्वणी कहलाती थीं उच्चाटन, मारण आदि घोर कृत्यों में प्रयुक्त औषधियाँ आगिरसी थीं । देवों के समान अजर-अमर बनाने वाले रसायन आदि औषधप्रयोग दैवी तथा सामान्यतः रोगनिवारण के लिए प्रयुक्त मनुष्यजा कहलाती थीं ।^२

इसी प्रकार अथर्ववेदीय औषधविज्ञान पर्याप्त विकसित था और यह दीर्घकालीन प्रयोग एवं अनुभव का परिणाम था^३ ।

कुछ भारतीय विद्वानों की भी धारणा है कि अथर्ववेद में जादू-टोना (Charm System) या और कौशिक सूत्र से औषधप्रयोग (Drug system) हुआ ।^४ यह यथार्थ नहीं है । जैसा कि ऊपर कहा गया है, अथर्ववेद-काल में युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा प्रचलित थी ।

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।

तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामधि ॥—शौ० ८।७।२६

औषधयः सं वदन्ते सोमेन राज्ञा ।

यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥—ऋ० १०।९।७।२२

१. याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।

अज्ञाता जानीमश्च या यासु चिदम् च सभृतम् ॥

सर्वाः सप्रग्रा औषधीर्बोधन्तु बचसो मम ।

यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥—शौ० ८।७।१८-१९

२. आथर्वणीराङ्गिरसीदैवी मनुष्यजा उत ।

औषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राणं जित्स्वसि ॥—शौ०. ११।४।१६

३. It is clear beyond all doubt that the Science of Medicine as revealed in the Atharvavedic texts is far from being in a state of infancy, It presupposes a good deal of experiments and observation, and seems to be based on a wide generalisation.

—Majumdar, Vanaspati, P. 160.

४. Karambelker : The Atharvaveda and the Ayurveda, P. 51-59.

(२३)

भगवान् बुद्ध के काल (६ ठीं शती ई० पू०) में भी औषधियों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त किया जाता था ।'

निम्नाङ्कित कर्मों में औषधियों के प्रयोग मुख्यतः मिलते हैं :—

- १—मूत्रजनन (शी० १।३।१-९, की० सू० २५।१० (प्रमेहण)
- २—गर्भप्रसावन (शी० १।११।१-६)
- ३—गर्भाधान (शी० ५।३५।१-१३, ६।८१।१-३, ६।१८।१-४, ३।२३।६)
- ४—गर्भदोषनिवारण (शी० ८।६१-२६)
- ५—वाजीकरण (शी० ४।४।१-८, ६।१०।१२, ६।७३।३, जै० ब्रा०—१।१६१
१६९, ३।१५।१, २९९)
- ६—विषघ्न (शी० ४।६।१-८, ४।७।१-७, ६।१००।१-३, ७।५६।१-८, ८।७।१०)
- ७—सर्पविषनिवारण (शी० ५।१३।१-११, ७।८८।१, ६।१२।१-३, १०।४।१-२६)
- ८—रक्षोघ्न (शी० ५।२९।१-१५)
- ९—केशवर्धन (शी० ६।२१।३, ६।१३७।१-३)
- १०—केशदृंहण (शी० ६।१३।१-३, ६।२१।३)
- ११—वशीकरण (शी० १।१३९।१-५)
- १२—मशकजम्भन (शी० ७।५६।२)
- १३—किमिनाशन (शी० ४।३७।१-१२, २।३२।१-६, ५।२३।१-१२)
- १४—कासहर (शी० ६।१०८।१-५, की० सू० १०।१, ५।७।३१)
- १५—मेधाजनन (शी० ६।१०८।१-५, की० सू० १०।१, ५।७।३१)
- १६—क्लीबकरण (शी० ६।१३८।१-५)
- १७—सौभाग्यवर्धन (शी० ६।१३९।१-५)
- १८—रसायन (शी० ३।५।४, ३।११।१-८, ११।६०।१-२)
- १९—निद्राजनन (शी० ४।५।१-७)
- २०—कृत्यादूषण (शी० ८।७।१०)
- २१—बल्य (शी० १९।४६।१-७)

१. As Jivaka got exceedingly Proud, the Buddha humiliated him by showing his great knowledge of medicinal plants. Jivaka, Therefore, became a devoted disciple of the Buddha.

—R. C. Majumdar, Historical materials in Gilgit manuscripts,
B. C. Law Vol., Pt. I, P. 139.

(२४)

२२—दीपन (शौ० ४१११३)

२३—रोहण, सन्धान (शौ० ४१२११-७)

२४—हलेमसहलेषण—शा० आ० २११, ६१२)

२५—स्वरवर्णकर—या० शि० ३६

मुख्यतः निम्नांकित रोगों में औषधियों के प्रयोग मिलते हैं :—

१—पर्बशूल (शौ० ११२१२)

२—शिरोरोग (शौ० ११२१३)

३—कास (शौ० ११२१३)

४—हृष्योत (शौ० ११२२११)

५—हृदयामय (शौ० ५१३०१९)

६—हरिमा (शौ० ११२२११)

७—किलास (शौ० ११२३११-४, ११२४१२,)

८—पलित (शौ० ११२३११-२)

९—तक्मन्^१ (शौ० ११२५११-४, ५१४११-१०, ५१२२११-१४, ७१२१११-२)१०—क्षेत्रियरोग^२ (शौ० २१८११५, ३१७११-७, ४१८११-८)

११—कुष्ठ (शौ० ५१४११-१०)

१२—अंगज्वर (शौ० ५१३०१९)

१३—अक्षिरोग (शौ० ६१६११-४)

१४—रक्तलाव (शौ० १११७११-३)

१५—जलोदर (शौ० ९१८१११)

१६—वातीकृत (शौ० ६१४४१३) ९१८१२० (वातीकार)

१७—गपची (शौ० ६१८३११-३, ७७४११-४, ७१७६११-६,)

१८—क्षिप्त (शौ० ६११०९११-३)

१. यह हरित रोग का जनक माना गया है :—रुदुर्नामासि हरितस्य देव स नः
संविद्वान् परि वृद्धिं तक्मन्—शौ० ११२५१२

तक्मन् रोग का आई बलास, बहन कासिका तथा आतृव्य पाप्मा कहा गया है :—

तक्मन् आत्रा बलासेन स्वस्वा कासिकया सह ।

पाप्मा आतृव्येन सह गच्छासुं मरणं जनम् ॥—शौ० ५१२२११२

२. क्षेत्रे परक्षेत्रे पुत्रपौत्रादिशरीरे चिकित्स्यः क्षयकुष्ठादिदोषदूषितपितृमात्रादिशरीरा-
क्षयवेभ्यः आगतः क्षयकुष्ठापहमारादिरोगः क्षेत्रिय इत्युच्यते । 'क्षेत्रियश्च परक्षेत्रे
चिकित्स्यः (पा० ५१२१९२) इति क्षेत्रियशब्दो निपात्यते—सा०

(२५)

१९—विद्रध (शी० ६१२७१)

२०—बलास^१ (शी० ६१२७१), ५१२२१२, ६१४११-३, ६१२७१, ८१७१०
१११३४१-१०)

२१—विसत्पक (शी० ६१२७१)

२२—लोहितरोग (शी० ६१२७१)

२३—कुनख^२ (शी० ७१६५३)

२४—क्रिमिरोग (शी० २३२११-६, ४३७११-१२, ५१२३११-१३)

२५—जायान्य^३ (शी० ७१८०३-४, ७१८११,)

२६—राजयक्ष्मा (शी० ३१५११)

२७—अश्मरी (शी० ११३७४)

२८—उन्माद (शी० ६११०११-४)

इसके अतिरिक्त, विभिन्न अवयवों के अनेक विकार निर्दिष्ट हैं^४ जिनमें औषधियों का प्रयोग होता था ।

वैदिक वाङ्मय

संप्रति वैदिक वाङ्मय का पूर्ण रूप उपलब्ध नहीं है । वैदिक वाङ्मय वटवृक्ष के समान विशाल है और समस्त ज्ञान-विज्ञान को अन्तर्भूत किये हैं । यह वाङ्मय सामान्यतः संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् और वेदांग इन चार खण्डों में विभक्त है । संहिताओं की अनेक शाखायें हैं और प्रत्येक शाखा की अपनी विशिष्ट परम्परा है । इन शाखाओं के विशिष्ट ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् निर्धारित हैं । चरणव्यूह में इनका विस्तार से विवरण है । चिकित्साशास्त्र का उपजीव्य मुख्यतः अथर्ववेद है जिसकी ९ शाखायें हैं :—पैप्पलाद, तोद, मोद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य । इनमें अनेक पतंजलि के काल (२ री शती ई० पू०) तक उपलब्ध थी ऐसा महाभाष्य के वचनों से प्रमाणित होता है^५ । संप्रति शौनकीय तथा पैप्पलाद शाखायें उपलब्ध हैं । अथर्ववेद के पांच कल्पसूत्र हैं :—कोशिक, वैतान,

१. बलं शारीरम् भक्ष्यति क्षिपताति धलासः कासश्वासादिः (सा०)

२. श्यावदता कुन्तलिना बण्डेन यत् सहासिम ।

अपानार्गं खया वयं सर्वे तदप मृज्महे ॥ ७१६५३

३. निरन्तरजायासंभोगेन जायमानः क्षयरोगः—सा०

४. ऋ०—१०१६३११-६, शी०—२०१६११५-२३, ९१८११-२२

५. उद्गान् मौषपैप्पलादम्—पा० म० २१४३, ४१११, ४१२६६

नक्षत्रकल्प, आंगिरसकल्प तथा शान्तिकल्प । इसका ब्राह्मण गोपथब्राह्मण तथा उपनिषद् प्रश्न, मण्डूक तथा माण्डूक्य हैं । अथर्ववेद का महत्त्व इसीसे प्रतिपादित है कि इसे ब्रह्मवेद की संज्ञा दी गई । यहां तक कहा गया है कि जो ब्रह्मवेद में उपनीत है वह सब वेदों में उपनीत है और जो इसमें उपनीत नहीं है वह सभी में अनुपनीत है । अन्य वेदों का अध्ययन कर जो अथर्ववेद का अध्ययन करना चाह उसे पुनः उपनयन कराना होगा । 'ब्रह्म' शब्द यहां ज्ञानविज्ञानपरक है और वेद के सभी प्रयोजनों की सिद्धि इसका द्वारा होती है । व्यावहारिक उपादयता के कारण यह समाज में भी प्रतिष्ठित हुआ और अथर्ववेद के ज्ञाता राजकाज में भी अपेक्षित होने लग । गुरु पुरोहित और मन्त्री अथर्ववेद होना चाहए ऐसा उल्लेख मिलता है ।^२

आयुर्वेद का विशेष सम्बन्ध अथर्ववेद से स्थापित किया जाता है । इसका कारण यह है कि इसमें रागों की चिकित्सा का अन्य संहिताओं की अपेक्षा विस्तार से किया गया है और भेषज के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति का भी विधान है जो वस्तुतः ब्रह्मपद ही है । इससे भी अथर्ववेद का ब्रह्मवेदत्व सिद्ध होता है ।^३

अथर्ववेद, भृग्वज्जिरस तथा अथर्वगिरस के रूप में प्रसिद्ध रहा है ।

अथर्वज्जिरस की उत्पत्ति का आख्यान गोपथ-ब्राह्मण में अत्यन्त स्पष्ट रूप में मिलता है^४ । अश्विनी के समान यह युग्म भी चिकित्सा की दो प्रचलित पद्धतियों का संकेत करता है । अथर्वन् मुख्यतः दैवव्यपाश्रयचिकित्सा करते थे और आंगिरस अंगों के रस से संबन्ध रखने के कारण युक्तिव्यपाश्रय से संबद्ध थे । ऐसी भी मान्यता

१. यो वै ब्रह्मवेदेषूपनीतः स सर्ववेदेषूपनीतः, यो वै ब्रह्मवेदेष्वनुपनीतः स सर्ववेदेष्वनुपनीतः ॥ अन्य वेदे द्वित्रो यो ब्रह्मवेदमधीतुकामः स पुनरुपनेयः । देवाश्च ऋषयश्च ब्रह्माणमूचुः, को नो (इमो) ज्येष्ठः, क उरनेता, क आचार्यः, को ब्रह्मत्वं चेति । तान् ब्रह्माऽब्रवीत्—अथर्वा वा ज्येष्ठो ऽथर्वोपनेताऽथर्वाऽचार्योऽथर्वा ब्रह्मत्वं चेति ॥—चरणव्यूह

२. यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः ।

निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धेत निरुपद्रवम् ॥

तस्माद् राजा विशेषेण अथर्वानं जितेन्द्रियम् ।

दानसंमानसरकारैर्नित्यं समभिपूजयेत् ॥—अ० प० ४।६।१, ३

३. यद् भेषजं तद् अमृतं यद् अमृतं तद् ब्रह्म—गो० ब्रा० १।३।४

औषध के द्वारा ब्रह्मपद की प्राप्ति का ही चरम उत्कर्ष रसेश्वरदर्शन में हुआ ।

४. एतद् वै भूषिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वज्जिरसः । येऽज्जिरसः स रसः, येऽथर्वानस्तद् भेषजम् । यद् भेषजं तद् अमृतम् । यद् अमृतं तद् ब्रह्म ।—गो० ब्रा० १।३।

(२७)

है कि अथर्वन् शान्तिकपौष्टिक आदि सौम्य कर्म करते थे जब कि आंगिरस घोर कर्मों में प्रवृत्त थे। व्यवहार में वस्तुतः वे क्रमशः सोम और अग्नितत्त्व का प्रतिनिधित्व करते थे।

ऐसा भी संभव है कि आथर्वण तथा आंगिरस संप्रदाय क्रमशः आत्रेय तथा धान्वन्तर संप्रदायों का मूल स्रोत हो। ये वैज्ञानिक शोधकर्त्ता थे। स्मरणीय है कि अथर्वी ने ही अग्नि का अविष्कार किया।

वेदांग ६ हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। कल्पसूत्रों में श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, पितृमेधसूत्र, तथा शुल्बसूत्र हैं। इस प्रकार विभक्त विस्तृत वाङ्मय उपलब्ध है। व्याकरण भी अनेक हैं किन्तु प्रस्तुत अध्ययन में पाणिनीय व्याकरण (अष्टाध्यायी, वार्त्तिक एवं महाभाष्य) का आकलन किया गया है।

वैदिक वाङ्मय का काल

वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अभिलेख है। इसके काल के संबन्ध में विद्वानों में मतभेद है, कुछ इसे बहुत आगे तथा कुछ बहुत पीछे ले जाते हैं। लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष के आधार पर इसके कालनिर्णय का प्रयास किया है। कृत्तिका नक्षत्र के आधार पर शतपथब्राह्मण का काल ४००० वर्ष पूर्व (ई० पू० २०००) निधारित किया गया है। इसी प्रकार मृगशिरा तथा पुनर्वसु के नक्षत्र के आधार पर ऋग्वेद का काल (ई० पू० ४००० या ६०००) रक्खा जाता है।

ऐसी मान्यता है कि भगवान् बुद्ध के आविर्भाव (६ ठी शती ई० पू०) तक वैदिक वाङ्मय अपना पूर्णरूप ले चुका था।^१ वेदांगों का क्रम अवश्य कुछ बाद तक चलता रहा जो शुंगकाल तक प्रायः पूर्ण हो गया। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय का काल ईस्वी सन् के पूर्व ही समाप्त हो जाता है।

अथर्ववेद के काल के विषय में भी मतभेद है। कुछ लोग इसे अन्तिम संहिता मानते हैं और कुछ लोग इसे प्राचीनतम मानते हैं क्योंकि ऋग्वेद में भी अथर्वी का अग्नि के आविष्कारक के रूप में निर्देश उपलब्ध है^२। अथर्ववेद अथर्वीङ्गिरस के नाम से प्रसिद्ध रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् के मधुविद्या-प्रकरण (२।५) में अश्विनीकुमार दध्यङ् आथर्वण से शिक्षा प्राप्त करते देखे जाते हैं। अश्विनीकुमारों के चिकित्सा तथा अन्य क्षेत्रों में चमत्कार के अनेक प्रसंग ऋग्वेद

१. Winternitz : History of Ancient Indian Literature, Vol. I

२. त्वांभग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।

सूक्तों विश्वस्य वाधतः—ऋ० ६।१६।१३

(२८)

में दृष्टिगोचर होते हैं। इससे भी वह सिद्ध होता है कि आथर्वण संप्रदाय उसके पूर्व से प्रतिष्ठित था। ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्वान्तरिक का ही पूर्णरूप अश्विनो में प्रतिफलित हुआ और वे भिषग्विद्या के प्रतीक बने।

आयुर्वेद किस वेद का उपवेद है इस संबंध में मतभेद है। चरणव्यूह में यह ऋग्वेद का उपवेद माना गया है तो अन्यत्र अथर्ववेद का। कोई इसे उपांग की एक स्वतंत्र कोटि में रखना चाहते हैं। इसके आधार पर विद्वानों की ऐसी भी धारणा है कि आयुर्वेद लोकविद्या (Folk Lore) के रूप में अत्यन्त प्राचीनकाल से अन्य वेदों के समानान्तर चलता रहा जो शास्त्रविद्या (Culture lore) के रूप में समाज में प्रतिष्ठित थे। इसी प्रकार अथर्ववेद लोकपरम्परा में आदि काल से प्रचलित था जिसे आगे चल कर अपनी उपादेयता के कारण समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से अथर्ववेदीय सामग्री ऋग्वेद के समकालीन ही है।^१

मनीषियों की ऐसी धारणा है कि अथर्ववेद के अन्तिम दो (१९ वां और २० वां) काण्ड प्रक्षिप्त हैं जो बाद में जोड़े गये हैं। जो भी हो, अथर्ववेद ने क्रमशः समाज तथा वैज्ञानिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया।

कश्यप इसे अथर्ववेद से उत्पन्न होने पर भी पञ्चम वेद के रूप में सभी वेदों का उपजीव्य मानते हैं^२ इसका रहस्य भी यही है।

१. 'As for the Atharvaveda it seems to be a specialised collection of certain items and incidents in the folklore of the age of which the culture lore was collected in the three other Samhitas'. 'Normally speaking, we should hold that the material of the Atharvaveda is as old as that of the Rgveda'.

—B. K. Sirkar : the Positive Background of Hindu Sociology, BK, I, Ch. V.

२. Whitney : Atharvaveda (Eng. Tr.), Introduction, p. cxli.
Griffith : " " Preface, p. viii.

अथर्ववेद प्रातिज्ञाख्य में इन काण्डों का उल्लेख भी नहीं है।
३. कं च वेदं श्रयति ? अथर्ववेदमित्रवादः, 'सर्वान् वेदानिरूपेके, पद्यगद्यकथ्यगोयविद्या-श्रयादिति; न चैतदेवं, आयुर्वेदमेषाश्रयन्त वेदाः। तद्यथा—दक्षिणे पाणौ चतसृगाम-गुलोभासंगुष्ठ आधिपत्यं कुरुते, न च नाम तामिः सह सन्नतां गच्छति, एकस्मिन्श्च पाणौ भवति, एवमेवायमृगवेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदस्यः पञ्चमो भवत्यायुर्वेद इति।

—वि० १११०

कुछ विद्वान पुराणों के आधार पर अथर्ववेद का काल १५०० ई० पू० निर्धारित करने हैं। परीक्षित का उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है। विष्णुपुराण (४।२।४।३२) के अनुसार परीक्षित के जन्म तथा मगधसम्राट् नन्द के बीच की अवधि १०१५ वर्षों की है। भागवतपुराण (१।२।१।२।२६) के अनुसार यह १११५ वर्षों की और वायु, मत्स्य तथा ब्रह्माण्डपुराणों के अनुसार १०५० वर्षों की है। इस प्रकार परीक्षित का काल लगभग १५०० ई० पू० ठहरता है।^१

वेदों की भाषा रहस्यमय तथा प्रतीकात्मक है जो सामान्यतः बुद्धिगम्य नहीं होती।^२ परम्परागत परवर्ती वाङ्मय के आधार पर टीकाकारों ने मन्त्रों की व्याख्या करने का प्रयास किया है। अथर्ववेद के व्याख्यान में कौशिकसूत्र से सर्वाधिक सहायता मिली है जिसमें सूक्तों के विनियोग विस्तृत तथा स्पष्ट रूप में दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त, नक्षत्रकल्प, अथर्वशान्ति, वैज्ञानसूत्र तथा अथर्वपरिशिष्ट में भी सूक्तों के विनियोग हैं। विद्वानों की धारणा है कि अन्य वेदों के विपरीत अथर्ववेद का ब्राह्मण (गोपथ ब्राह्मण) कौशिकसूत्र के बाद निर्मित हुआ जिससे इस परम्परा में भी ब्राह्मणग्रन्थ का अभाव न हो।

सायणभाष्य का मूल्यांकन: वनोषधियों की व्याख्या की दृष्टि से

वैदिक वाङ्मय के पुनरुद्धार का श्रेय अधिकांश सायणाचार्य को है। यदि उनकी व्याख्या उपलब्ध न होती तो वेदों की भाषा का अर्थ लगाना असंभव सा था। शब्दों के व्याकरणसम्मत अर्थ निकालने के साथ साथ प्रकरणग्रन्थों की सहायता से उनका सही सही प्रयोग का भी प्रतिपादन उन्होंने किया जिससे समस्त वाङ्मय सार्थकता के प्रकाश से आलोकित होने लगा। सायण व्याकरण, निरुक्त आदि वेदांगों के ज्ञाता तो थे ही, वैदिक परम्परा में भी निष्णात थे जिसके कारण शब्दों की अनेक प्रकार से निरुक्ति कर प्रकरणगत अर्थ निकालने में वह सफल हुये। किन्तु उनकी यह विद्वत्ता वनोषधियों को स्वरूप स्पष्ट करने में कहां तक सहायक हुई यह विचारणीय है।

सायण का काल १४ वीं शती है। आयुर्वेदीयवनोषधिशाल के अध्येता जानते हैं कि मध्यकाल के प्रारंभ में ही वनोषधियों का स्वरूप अस्पष्ट होने से उनमें से अनेक सन्दिग्ध हो गई। डल्हन (१२ वीं शती) की व्याख्या से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि एक नाम से अनेक वनस्पतियां उस समय प्रचलित थीं और उनका स्वरूप

१. Filliozat : the Classical Doctrine of Indian Medicine, p. 83-84.

२. Griffith : op. cit.

(३०)

सन्दिग्ध था। अतः यह स्वाभाविक है कि ऐसी परिस्थिति में सायण भी इससे ऊपर नहीं उठ सकते थे विशेषतः जब वह इस विषय से विशेष परिचित नहीं थे।

उदाहरणार्थ, आदार को उन्होंने कहीं मध्यदेश-तृण (श० ४।५।१०।५), कहीं लताविशेष (श० १४।१।२।१२) और कहीं क्षीरयुक्त वल्लीविशेष (ते० ब्रा० १।४।७।५, ६) लिखा है। इससे स्पष्ट है कि इसका स्पष्ट परिचय उन्हें नहीं था। इसी प्रकार जङ्गल के विषय में लिखा है कि उत्तर प्रदेश और वाराणसी में प्रसिद्ध है (शौ० २।४।१-६, १९।३।१-५) किन्तु इसका कोई स्थानीय नाम या परिचय नहीं दिया। मधुष (शौ० ६।१०२।३) के भाष्य में इससे मधूक वृक्ष या यष्टिमधुक का ग्रहण किया है किन्तु ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं जिनमें शब्दसाधर्म्य होने पर भी स्वरूप एवं गुणकर्म में अन्तर है। पुनः दूसरे स्थल (१।३।४।४) पर इसका अर्थ मधुस्रावी पदार्थ किया है। जीवन्ती, सहमाना आदि शब्दों का पाठा का पर्याय बतला कर कहा कि ये पृथक् पृथक् औषधियाँ भी हो सकती हैं (शौ० ८।३।६)। यह उनके अनिश्चय का द्योतक है। कहीं कहीं पर साधारण बुद्धिगम्य अर्थ को भी उन्होंने अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन से जटिल बनाकर मधवा की टीका बिड़ौजा कर दिया है। पिप्पली क्षिप्तभेषजी कही गई है, इससे सीधा अर्थ यही निकलता है कि यह क्षिप्त (आक्षेप) की औषध है किन्तु सायण ने जो इसकी व्याख्या की है वह दर्शनीय है^१। इन सब उदाहरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वनीषधियों के सन्दर्भ में उनकी व्याख्या सर्वत्र प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती और पाठक को विवेक से काम लेकर अर्थ का निर्णय करना चाहिए।

कतिपय सन्दिग्ध वनस्पतियाँ

जैसा पहले कहा गया है, वेदों की भाषा दुरुह होने के कारण उनका सम्यक् अर्थ करना कठिन था। जिन प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इस दिशा में प्रयत्न किया वे सभी संस्कृत भाषा के तो पण्डित थे किन्तु वनस्पतियों के ज्ञाता न थे। अतः मन्त्रों के अन्तर्गत सूत्ररूप संकेत के द्वारा निर्दिष्ट वनस्पतियों के स्वरूप को स्पष्ट करना उनके लिए संभव न था। विभिन्न विद्वानों ने एक शब्द से भिन्न-भिन्न वनस्पतियों का ग्रहण

१. क्षिप्तभेषजी क्षिप्तानि तिरस्कृतानि अन्यानि भेषजानि यथा सा तथोक्ता, यद्वा क्षिप्तस्य वातरोगविशेषस्य भेषजी। नवसंस्कारिका।

क्षिप्तस्य सुदुर्मुहुरवयवक्षेपणशूलस्य प्राक्षेपकनाशनो वातरोगविशेषस्य।

—शौ० ६।१०९।१-३

(३१)

किया है जिससे वह अभी तक सन्दिग्ध बनी हुई है ; प्रस्तुत प्रकरण में इन्हीं में से कुछ महत्वपूर्ण वनस्पतियों की समीक्षा की जायगी ।

अजशृंगी—शीनकीय अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड के ३७ वें सूक्त में तीन मंत्र अजशृंगी के संबन्ध में हैं । अराट्की और तीक्ष्णशृंगी इसके पर्याय बतलाये गये हैं । इन मंत्रों में यह औषधियों तथा वीरुधों में वीर्यवती तथा अपनी गंध से अप्सराओं, गंधर्वों तथा राक्षसों का नाश करने वाली कही गई है । इससे संकेत मिलता है यह कोई वीरुध (लता) या क्षुप जाति का उग्रगंधवाली औषधि है ।

अन्यत्र रोगनाशन वनस्पतिदेवतय सूक्त (६।४४।१-३) में विषाणका नामक औषधि का वर्णन है । यह सैकड़ों हजारों औषधियों में श्रेष्ठ आस्त्रावभेषज और रोग-नाशन मानी गई है । इसका मूल गहरा होता है और यह वातशामक होती है । पैपल्लादसंहिता में यह रक्षोधन और क्रिमिधन भी बतलाया गया है । इसका एक पर्याय 'सहस्रचक्षु' भी दिया है । जलज औषधियों के विशेषण में भी तीक्ष्णशृंगी का प्रयोग किया गया है ।

आयुर्वेदीय निघंटुओं में अजशृंगी कहीं कर्कटशृंगी और कहीं मेघशृंगी के पर्याय रूप में आया है । मजुमदार^१ कर्कटशृंगी (*odina wodiar*) तथा मेघशृंगी (*Gymnema sylvestre*) दोनों लेते हैं वेबर *Prosopis Spicigera* या *Mimosa suma* लेते हैं ।^२ कर्कटवृक्ष बड़ा होता है और उसमें कोई विशिष्ट गंध भी नहीं होती अतः उसकी संभावना नहीं है । मेघशृंगी (*Gymnema sylvestre*) लता अवश्य है किन्तु उसमें भी कोई गंधविशेष नहीं होता । वेबर द्वारा संमत वनस्पतियों में प्रथम शमी और द्वितीय खदिरभेद है । ये भी बड़े वृक्ष होते हैं किन्तु गंध किसी में नहीं है ।

हुलहुल में अजवत् गन्ध अवश्य होती है किन्तु वह अजशृंगी नहीं है । यदि विषाणका को अजशृंगी का पर्याय मानें तो इससे उत्तमारणी (*Pergularia extensa* N. E. Br.) तत्सदृश अर्ककुल की कोई अन्य वनस्पति ली जानी चाहिए ।

अध्याण्डा—यह पापनामा द्रव्यों में परिगणित है । अन्त्येष्टि-प्रकरण में ऐसा निर्देश है कि श्मशान के निकट अध्याण्डा न हो । सायण ने अपने भाष्य में इसका परिचय देते हुए लिखा है 'अध्याण्डाशने सदृशफलो गुच्छः' इससे प्रतीत होता है कि इसका फल गुच्छों में होता है । दारिल ने कौशिकसूत्र की व्याख्या में 'पर्णफलेति

१. Ved. Pl. 646.

२. Ved. ind. i-13.

(३२)

प्रसिद्धा' लिखा है। मजुमदार ने इससे निम्नांकित तीन वनस्पतियों का ग्रहण किया है^१ :—

१. *Mucuna pruriens* (कपिकच्छू)
२. *Phyllanthus urinaria* (भूम्यामली)
३. „ *niruri* „

पर्णफला या पर्णफलिनी शब्द से पर्णबीज की ओर संकेत होता है। इसके बीज भी श्लेष्मल होते हैं जिनका पुंसवन में प्रयोग युक्तिसंगत है। किन्तु यह प्राचीन वनस्पति नहीं प्रतीत होती।

'कपिकच्छू' शब्द का निर्देश प्राचीन वैदिक वाङ्मय में नहीं है। अध्याण्डा से आयुर्वेदीय संहिताओं में पठित अध्याण्डा (काकाण्डोला—कपिकच्छूविशेष) का ग्रहण करना चाहिए। मेरी सम्मति में, कपित्थक के संदर्भ में शेषहर्षणी नाम से जिस औषधि का वर्णन अथर्ववेद (शौ० ४।४।१-८) में है वह कपिकच्छू ही प्रतीत होता है यद्यपि वहाँ उसके बीजों का प्रयोग न होकर मूल का है। अथर्वपरिशिष्ट में पल्लवों का भी उपयोग है। वह अन्वेषकों के लिए एक रोचक विषय होगा कि इसके मूल में भी वाजीकरण कर्म है या नहीं ?

अमूला—बाण को विषाक्त बनाने के लिए इसका प्रयोग होता था। इससे स्पष्ट है कि यह कोई विषाक्त औषधि है। मजुमदार इससे *gloriosa superba* (लांगली) तथा *Cuscuta Sp.* लेते हैं। ग्रिफ़िथ इससे *methonica superba* का ग्रहण करते हैं। सायण की व्याख्या इस पर उपलब्ध नहीं है अतः उनके मत का पता नहीं चलता। नाम से स्पष्ट है कि यह कोई पराश्रयी वनस्पति है जिसके स्वतंत्र मूल नहीं होते।

अरटु—खिलस्थान में यह अवस्थ, खदिर और धव के साथ पठित है। मेकडोनल एवं तथा ग्रिफ़िथ इससे *Colosanthos indica* का ग्रहण करते हैं जिसके काष्ठ से रथ का अक्ष बनता था। वेबर तथा मजुमदार इसे अराटुकी का पर्याय मानकर इससे *prosopis spicigera* तथा *Acacia suma* लेते हैं।^२

१. देखें—Ved. Pl. 646.

Ved. ind. i-20.

२. Ved. ind. i-33.

Ved. Pl.—647.

Griffith—Atharvaveda (Eng. Tr.)

(३३)

कोशिकसूत्र में अरलु का उल्लेख है जिससे श्योनाक का ग्रहण किया जाता है। इसे पिशंगसूत्र कहा गया है। टीकाकार ने इसकी लड़की पीतवर्ण बतलाई है। इस आधार पर यह *Oroxylum indicum* प्रतीत होता है। किन्तु अरलु वस्तुतः *Ailanthus excelsa* है। कोशिकसूत्र के मूल में संभवतः *A. excelsa* का ही ग्रहण है किन्तु बाद में अरलु श्योनाक का पर्याय हो जाने के कारण उससे श्योनाक का ग्रहण किया जाने लगा जो परवर्ती टीकाकारों के लिए स्वभाविक ही था।

मेरे विचार से अरलु और अरलु एक ही है। इससे *Ailanthus excelsa* Roxb. का ग्रहण करना चाहिए।

अरुन्धती—यह जीवला, जीवन्ती आदि पर्यायों से अभिहित ओषधि का वाचक है। सायण इससे सहदेवी का ग्रहण करते हैं। मजुमदार इससे *Sida cordifolia* या *S. rhombifolia* (बला) का ग्रहण करते हैं।

अरुन्धती रोहिणी, लाक्षा या सिलाची का भी एक पर्याय है। मैकडोनल एवं कीथ इससे स्वर्णवर्ण की लता लेते हैं जिससे लाक्षा निकलती थी।

ग्रिफिथ इससे एक अज्ञात आरोहिणी लता का ग्रहण करते हैं^१।

प्रथम अर्थ में जहाँ यह सहमाना का पर्याय है इससे बला का ग्रहण करना चाहिए। द्वितीय अर्थ में इसके प्रकरण से यह निश्चित नहीं होता कि यह कोई लता है। अतः यदि इससे वृक्षविशेष का ग्रहण किया जाय तो मांसरोहिणी (*Soymida febrifuga* A. juss.) का ग्रहण किया जा सकता है जिसका रोहणकर्म में प्रचुर प्रयोग है।

इस प्रकार अरुन्धती निम्नांकित द्रव्यों का वाचक है :—

१—लाक्षा

२—बला^२

३—मांसरोहिणी

१. Arundhati : A climbing plant, not identified, probably a variety of *Convolvulus* or bindweed which is to bind fast the injured limb as it binds the tree round which it grows.

—Griffith : op. cit.

२. विश्वबन्धु की मान्यता है लाक्षा के सन्दर्भ में अरुन्धती विशेषण है और द्वितीय सन्दर्भ में विशेष्य। देखें :—

Viswa Bandhu : An Atharvan Hymn to Lac (*Lākṣā*),

Siddha Bhārati, Pt. I, P. 201-13.

३ द्र० च० भू०

(३४.)

आदार :—यह सोम के प्रतिनिधि के रूप में ग्राह्य औषधि है। शतपथ ब्राह्मण में पूतीक इसका पर्याय है। इसमें सुगन्ध होती है तथा आग में डालने पर जलती है। सायण ने इससे कहीं मध्यदेशतृण, कहीं लताविशेष तथा कहीं क्षीरयुक्त वल्लीविशेष माना है। मजुमदार ने इससे आर्द्रक (संभवतः ध्वनिसाम्य के आधार पर) लिया है जो नितान्त अयुक्त है। अदरक का हवन में विधान नहीं है और उसके कन्द का ही उल्लेख है। पूतीक से वह कंटकी करंज तथा उपोदकी लेते हैं किन्तु इनमें भी कोई गन्ध नहीं होती। मेरे विचार से आदार तृणजाति की कोई सुगन्धित वनस्पति संभवतः रोहिष या गन्धतृण (*Cymbopogon Sp.*) होना चाहिए।

आबय :—सायण ने इससे सर्षप लिया है। तदनुसार ही इसका नाम *Brassica Juncea* तथा *B. alba* दिया गया है। ग्रिफिथ इससे किसी अज्ञात औषधि का ग्रहण करते हैं जो स्वाभाविक रूप में विषाक्त तथा पकाने पर औषधरूप में प्रयुक्त होती है। अथर्ववेद में बज और पिग शब्द भी मिलते हैं। सायण ने इससे क्रमशः श्वेत और पीत सर्षप का ग्रहण किया है। मजुमदार बज से श्वेत और पीत सर्षप का ग्रहण करते हैं, पिग का उल्लेख उन्होंने नहीं किया। ग्रिफिथ बज से कोई उपग्रन्थि औषधि लेते हैं जिसकी गन्ध से राक्षस भाग जाते हैं और पिग उसी का पर्याय मानते हैं किन्तु अन्यत्र उन्होंने इससे दो भिन्न वनस्पतियों का ग्रहण किया है।

वस्तुतः बज से श्वेत (पीत) सर्षप का ग्रहण करना चाहिये जिसे वर्तमान निघण्टुओं में सिद्धार्थ या गौरसर्षप कहा गया है। पिग से पिगल (भूरे) वर्ण का सर्षप अभिप्रेत है। इसका लैटिन नाम *Brassica campestris* Var. *Sarson Prain* है। *Brassi Ca juncea* सर्षप नहीं, राजिका (आसुरी) है।

उपवाक :—शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख श्यामाक, गोधूम, बदर आदि के साथ हुआ है। इसका प्रयोग सक्तु या करम्भ के लिए होता था। 'यच्छूलेष्माणस्ता उपवाकाः' इससे संकेत होता है कि यह कोई पिच्छिल द्रव्य है। अनेक टीकाकारों ने इससे इन्द्रयव लिया है किन्तु यवाकार होने पर भी उसका प्रयोग अन्नरूप में नहीं होता। यह बात अवश्य है कि उपवाका का प्रयोग इन्द्रपूजा के निमित्त होता था और परवर्ती वाङ्मय में कुटज, जिसका बीज इन्द्रयव है, इन्द्रवृक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कौशिकसूत्र की व्याख्या में दारिल ने कहा है—उपवाक इति अभियवाः सुराष्ट्राणां प्रसिद्धाः—इससे यह कोई यवभेद प्रतीत होता है। मजुमदार ने इससे असित कुटज (*wrightia tinctoria*) का ग्रहण किया है। किन्तु वस्तुतः यह कोई यवभेद ही प्रतीत होता है। संभवतः *Avena byzantina* *C. Koch* हो।

उशाना :—शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार यह सोमसदृश कोई पर्वतीय वनोषधि है जिसका अभिषवकल्प बनता था । मजुमदार ने इससे पिप्पली का ग्रहण किया है जो भ्रमपूर्ण है । पिप्पली का पर्याय 'ऊषणा' है 'उशाना' नहीं । सोम के प्रति-निधिरूप में प्रचलित यह कोई लता मालूम पड़ती है ।

औक्षगन्धि—गुग्गुलु, नलदी आदि सुगन्धि द्रव्यों के साथ पठित एक वनस्पति है जो होम में प्रयुक्त होती थी । औक्ष एक प्रलेपन द्रव्य है उसके समानगन्ध वाली या औक्ष (वृषभ) के समान गन्धवाली यह कोई वनस्पति है । जटामांसी वर्ग की ही कोई ओषधि प्रतीत होती है । संभवतः तगर (*Valeriana wallichii* DC) हो ।

जङ्गिड :—केवल अथर्ववेदीय परम्परा में यह नाम मिलता है । यह तक्मन्, शोष, विष्कन्ध आदि रोगों में उपयोगी है । सायण ने इससे उत्तरदेश विशेषतः वाराणसी में प्रसिद्ध वृक्षविशेष का ग्रहण किया है । कौशिकसूत्र की व्याख्या में दारिल ने लिखा है "जङ्गिडोऽर्जुनः अचल इति दाक्षिणात्यः" संभवतः इसी आधार पर अनेक लोगों ने इसे अर्जुनवृक्ष (*Terminalia arjuna*) का ग्रहण किया है किन्तु इसमें निम्नांकित आपत्तियाँ हैं :—

१—अर्जुन केवल वाराणसी में ही प्रसिद्ध नहीं हैं ।

२—जङ्गिड कृष्य भी कहा गया है किन्तु अर्जुन की खेती नहीं होती, यह प्रायः आरण्य ही होता है ।

दूसरी ओर, सायण ने अर्जुन शब्द से अर्जुन वृक्ष का ग्रहण किया है (शौ० ४।३।७।५) ग्रिफ़िय लिखते हैं कि चूँकि इसका कोई स्वरूप-वर्णन नहीं है । अतः अब इसकी पहचान करना संभव नहीं है ।

इसका एक पर्याय विबाध दिया है^१ जो खदिर का भी है । इसके आधार पर यह खदिर की जाति की कोई वनस्पति हो सकती है । दूसरा द्रव्य उदुम्बर है जिसकी ओर ध्यान जाता है । ऋग्वेद में उदुम्बर का उल्लेख नहीं है । अथर्ववेद में १९-२० काण्ड में उल्लेख है जो प्रक्षिप्त माने जाते हैं । ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि उदुम्बर का उल्लेख किस नाम से था जबकि इस द्रव्य के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं । ऐसी संभावना प्रतीत होती है कि अथर्ववेद में जङ्गिड नाम से उदुम्बर का ही वर्णन है । आगे चलकर १९ वें काण्ड में जङ्गिड और उदुम्बर दोनों के वर्णन साथ-साथ हैं जो बहुत मिलते-जुलते हैं । आगे चलकर जङ्गिड के स्थान पर उदुम्बर ही प्रचलित हो

१. न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः ।

विबाध उग्रो जङ्गिडः परिषाणः सुमंगलः ॥—शौ० १९।३।७।६

गया। किन्तु पैपलाद संहिता में दोनों साथ-साथ मिलने से यह संभावना भी निरस्त हो जाती है।

अथर्ववेद में एक स्थल पर शण के साथ जङ्गिड का उल्लेख हुआ है। दोनों का प्रयोग विष्कन्ध में हुआ है किन्तु शण वन्य और जङ्गिड कृष्य कहा गया है।^१ इससे प्रतीत होता है कि शण के समान ही कोई क्षुप है जिसकी खेती होती थी। कीशिकसूत्र में इङ्गिड शब्द संभवतः जङ्गिड का ही रूपान्तर है। भंगा और मुंज के पार्श्वों के साथ इसका उल्लेख है और इसके हवन का भी विधान है। इससे भी प्रतीत होता है कि यह कोई शणजातीय क्षुप है।

तलाश—यह वृक्षों में उत्तम माना गया है। दारिल ने “तलाश मालिका अबली प्रसिद्धः” लिखा है। कुछ लोग इससे पलाश लेते हैं। मजुमदार ने इससे *Flacourtia Cataphracta* (प्राचीनामलक) लिया है। ग्रिफिथ इससे अज्ञात गुल्म या वृक्ष तथा केशव वेतसी (रतन) का ग्रहण करते हैं। वस्तुतः इससे तालीश (*Abies webbiana* Lindl.) का ग्रहण होना चाहिए।

तिल्वक—मैत्रायणी संहिता में इसे वनस्पतियों में वज्र कहा गया है। इससे सूचित होता है कि इसका काष्ठ दृढ़ होता है। यज्ञ में इसका यूप बनता था। टीकाकारों में किसीने तिणिस और किसीने तिलक लिखा है। अनेक व्याख्याकारों ने इसका अर्थ लोघ्र किया है। परवर्ती कोशों और निघण्टुओं में भी यह लोघ्र के पर्यायों में है। बौद्ध वाङ्मय में इसका पुष्प बन्धुजीवक के सदृश कहा है^२। इससे संकेत मिलता है कि इसके पुष्प रक्तवर्ण होते हैं। आग्निवेद्य गृह्यसूत्र में अन्य ओषधियों के साथ तिल्वका का उल्लेख है। संप्रति विद्वानों का विचार *viburnum nervosum* D. Don. को तिल्वक मानने के पक्ष में है।

न्यस्तिका—इससे मजुमदार *Andropogon aciculatus* का ग्रहण करते हैं। इसका पर्याय वह चण्डा देते हैं। सायण इसका अर्थ शंखपुष्पी करते हैं। इसके सुगन्धित होने का कोई उल्लेख नहीं है जबकि चण्डा (चोरकभेद) सुगन्धित द्रव्य है। अतः न्यस्तिका से शंखपुष्पी का ग्रहण अधिक युक्तियुक्त है।

१. शणश्च सा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभिरक्षताम् ।

अरण्योदय आश्रुतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥—शौ० २।४।५

२. B. C. Law : Ancient Indian Flora, Indian Culture,
Vol. XV, No. 1-4.

(३७)

पाकदूर्वा :—सायण ने इचका अर्थ परिपक्व दूर्वा किया है। मजुमदार इससे edible Millet लेते हैं। ग्रिफिथ ने इससे दूर्वा का एक भेद (*Panicum dactylon*) लिया है। अथर्ववेद में 'शाण्डदूर्वा' शब्द आया है। इससे यदि अण्डाकार कन्द का ग्रहण करें तो इससे मुस्ता (*Cyperus rotundus* Linn.) ले सकते हैं।

पीतुदार—मजुमदार ने इससे *Pinus longifolia* लिया है। ग्रिफिथ ने इससे खदिर या देवदार का ग्रहण किया है। म्यूर और जिमर इसे 'पूतुदार' मानकर इससे पलाश लेते हैं।

वस्तुतः पीतुदार से दारुहरिद्रा (*Berberis* sp.) और पूतुदार या पूतद्रु से देवदार (*Cedrus deodara* (Roxb.) Loud.) लेना चाहिए।

पीला—गुग्गुलु, नलदी आदि के साथ निर्दिष्ट एक सुगन्धित द्रव्य है। संभवतः यह राल का वाचक है।

पृद्भिपणी—सायण ने इससे चित्रपणी ओषधि का ग्रहण किया है। मजुमदार इससे निम्नांकित तीन वनस्पतियाँ लेते हैं :—

१—*Uria lagopoides*

२—*Lemna* sp.

३—*Hemionitis cordifolia*

ग्रिफिथ इनमें अन्तिम वनस्पति स्वीकार करते हैं।

का० श्रो० (२५।७।१७) की व्याख्या में इसे माषपणी कहा गया है।

राथ इससे रक्तविन्दुच्छदा लक्ष्मणा का ग्रहण करते हैं।

वस्तुतः इससे *uraia picta* Desv. का ग्रहण करना चाहिए।

प्रियंगु—वैदिक वाङ्मय में बहुधा यह धान्यपरक है। सामविधान ब्राह्मण में प्रियंगुका शब्द सहा आदि ओषधियों के साथ पठित है जिसकी व्याख्या फलवती की गई है। मजुमदार ने इससे प्रियंगुधान्य तथा *Aglaia odorata* दोनों द्रव्य लिये हैं। प्राचीन प्रयोग इसका कङ्गुधान्य के लिए ही है जो कालान्तर में तत्सदृश फलवाली वनस्पति के लिए प्रयुक्त होने लगा। आजकल अधिकांश विद्वान् *Callicarpa macrophylla* Vahl. को प्रियंगु मानने के पक्ष में हैं किन्तु यह भी लता नहीं है जब कि श्यामा, लता, आदि इसके विशेषणों के आधार पर यह कोई लता होनी चाहिए।

बल्वज—यह तृणजाति की वनस्पति है। मजुमदार इससे निम्नांकित वनस्पतियों का ग्रहण करते हैं :—

(३८)

१—Eleusine indica

२— „ coracana

त्रिफिथ भी यही लेते हैं। राजनिघंटु में बल्वज का वर्णन है जिसके दृणक्षु, मौलजीपत्रा आदि पर्याय दिये गये हैं। वस्तुतः यह *Pollinidium angustifolium* Comb. Nov. प्रतीत होता है जिसे लोकभाषा में सबई, भवर आदि कहते हैं और जो रस्सी आदि बनाने के काम आता है।

मधुघ—कौशिकसूत्र के टीकाकार ने इसे ज्येष्ठीमधुक लिखा है। अथर्ववेद (शी० ६।१०।१३) के भाष्य में सायण ने इससे मधूकवृक्ष या यष्टिमधुक लिया है किन्तु दूसरे स्थल (१।४।४) पर मधुस्रावी पदार्थ का ग्रहण किया है। मजुमदार ने Honey Plant, sweet herb, a fruit (?) लिखा है। त्रिफिथ सामान्यतः इससे कोई मधुर रस का पोधा लेते हैं, विशेषतः उनका इक्षु की ओर संकेत है। इससे मधुक (*Glycyrrhiza glabra* Linn.) का ग्रहण करना चाहिए।

रज्जुदाल—यह श्लेष्मल तथा पिच्छिल वनस्पति है। यज्ञ में इसके यूप बनते थे। टीकाकारों ने इसका अर्थ श्लेष्मातक किया है। कहीं-कहीं निचुदार भी पाठ है। इस आधार पर नवीन समीक्षकों ने इसका नाम *Cordia Obliqua* दिया है। ताण्ड्य-ब्राह्मण के अनुसार इसके फल शिश्नवत् होते हैं तथा श्लेष्मा शुक्रवत्। इस वर्णन के अनुसार यह *Olex scandens* Roxb. हो सकता है। श्लेष्मातक के फल आकृति में शिश्नवत् नहीं होते तथा धार्मिक कृत्यों के लिए वह बहुत प्रशस्त भी नहीं माना जाता।

शंखपुष्पिका—सायण ने न्यस्तिका से शंखपुष्पी का ग्रहण किया है। केशव ने शुक्रपुष्पा से शंखपुष्पी ली है। इसका प्रयोग मेधाजनन प्रकरण में स्वर्ण से नवजात शिशु को चटाने का है (कौ० सू० १०।१६)। बोधायन धर्मसूत्र के विवरणकार ने लिखा है—शंखपुष्पी नाम समुद्रतीरे लताविशेषः। मजुमदार इससे Hemp लेते हैं।

इससे *Convulvulus Pluricaulis* Chois लेना चाहिए। (देखें न्यस्तिका)

शफक—कुमुद आदि जलज औषधियों के साथ इसका उल्लेख है मजुमदार इससे शृंगाटक (*Trapa bispinosa* Roxb.) का ग्रहण करते हैं।

१. डा० बलबन्त सिंह से यह सुझाव मिला है जिसके लिए लेखक उनका आभारी है।

(३९)

शालूक—ग्रिफिथ इससे अज्ञात जलज वनस्पति लेते हैं। मजुमदार ने कमल लिया है। सायण ने इसका अर्थ उत्पलकन्द किया है किन्तु आण्डीक तथा कुमुद के साथ इसका पृथक् पाठ होने से यह कोई भिन्न वनस्पति प्रतीत होती है। अथर्व परिशिष्ट में शालूकवृक्ष का भी उल्लेख है। संभव है यह जल में होने वाली कमल की कोई जाति हो।

सदंपुष्पा—टीकाकारों ने इसका अर्थ सन्ध्या या त्रिसन्ध्या किया है। भावप्रकाश-निघण्टु में त्रिसन्ध्या जपा का पर्याय है। जपा का प्रयोग धार्मिक कृत्यों में होता भी है अतः इससे जपा (*Hibiscus rosa-sinesis* Linn) का ग्रहण करना चाहिए। यदि इसे 'सदाबहार' माने तब इससे *Vinca rosea* Linn का ग्रहण होगा किन्तु यह कोई बाहरी द्रव्य है।

सुगन्धितेजन—यह सुगन्धित वनस्पति है तथा पूतद्रु और गुग्गुलु के साथ इसका उल्लेख है। ये सभी सुगन्धित द्रव्य हैं। ऐसा कहा है कि पूतद्रु अस्थि, गुग्गुलु मांस तथा सुगन्धितेजन लोम हैं। कहीं इसे स्नाव भी कहा है। मजुमदार ने इससे *Andropogon squarrosus* लिया है

मेरे विचार से लोमश रचना के कारण इससे जटामांसी (*Nardostachys Jatamansi* DC) लेना चाहिए। जहाँ वृक्ष अभिप्रेत हो वहाँ इससे तेजबल (*Zanthoxylum alatum* Roxb.) का ग्रहण करना चाहिए।

सोम—संप्रति अज्ञात द्रव्य है। ब्राह्मणकाल में ही संभवतः अप्राप्य हो गया था अतः उसके स्थान पर आदार आदि प्रतिनिधि द्रव्यों की व्यवस्था की गई है। निम्नांकित द्रव्य इसके स्थान पर लिये जाते हैं :—

१—*Sarcostemma brevistigma*

२—*Ephedra gerardiana*

३—*Cannabis sativa*

४—*Periploca aphylla*^१

कुछ पाश्चात्य मनीषी इससे Afghan grape, Sugar Cane, a species of Hop लेते हैं।^२ राय Rhubarb (रेवन्दचीनी) को सोम मानते हैं जिसका समर्थन आरेल स्टीन करते हैं। इसका समर्थन करते हुये जार्ज मार्गेन्स्टीयर्न ने लिखा है कि रेवन्दचीनी में सोम के सभी लक्षण मिलते हैं और दूध में इसका रस मिलाने पर एक अच्छा अभिषुत पेय बन जाता है। नार्वे तथा अन्य देशों में

१. Ved. Pl.—647.

२. Ved. ind. II—475.

इससे मद्य बनाया भी जाता है।^१ इस दशक के प्रारंभ में आर० गॉर्डन वासन ने प्रयत्नपूर्वक *Amanita muscaria* Linn नामक छत्रकवनस्पति को सोम सिद्ध किया है।^२ जॉन ब्रफ ने इसकी सयुक्तिक विस्तृत आलोचना की है।^३

धन्वन्तरिनिघण्टु और राजनिघण्टु में सोमवल्ली तथा राजनिघण्टु में इसके अतिरिक्त, सोम्या का वर्णन है। सोमवल्ली को सोमक्षीरा कहा है इससे स्पष्ट है कि यह दूधवाली लता है। सोम्या को प्रतिसोमा, अपत्रवल्लिका तथा काण्डशाखा कहा है। इससे पता चलता है कि यह सोम के प्रतिनिधि रूप में प्रचलित थी और इसमें पत्र नहीं होते केवल काण्ड और शाखाएँ होती हैं। यह *Sarcostema brevistigma* W. A. है जिसका यज्ञ आदि में प्रयोग होता रहा है। आजकल चिकित्सा में सोम के नाम पर *Ephedra gerardiana* (Wall) Stapf. चल रहा है।

सक्य—सायण ने इससे तिलक वृक्ष लिया है। मजुमदार ने इसका नाम *Clerodendron phlomidis* दिया है जो वस्तुतः लघु अग्निमन्थ है। इससे तिलक वृक्ष (*Wendlandia exerta* DC.) लेना चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थ

भारतीय वनीषधि-शास्त्र में अनेक द्रव्य सन्दिग्ध हैं जिनका निर्णय अभी तक नहीं हो सका है और विभिन्न प्रान्तों में उस नाम से भिन्न-भिन्न द्रव्य व्यवहृत हो रहे हैं। चूँकि वेद आयुर्वेद का मूल है अतः मेरा निश्चित मत है कि वैदिककालीन ओषधियों का स्वरूप समझे बिना सन्दिग्ध ओषधियों के निर्णय का प्रयास पल्लवग्राही ही होगा। अतएव यह अभिनव प्रयास किया गया है जिससे—

१—वनीषधियों के मूल स्वरूप को समझने में सहायता मिलेगी।

२—ओषधियों के नये गुणकर्मों पर प्रकाश पड़ेगा जिन पर अनुसन्धान के बाद उनकी उपयोगिता का क्षेत्र विस्तृत होगा।

३—द्रव्यगुणशास्त्र में एक नवीन शाखा 'ऐतिहासिक द्रव्यगुण' (*Historical Pharmacology*) का विकास होगा जिसमें ओषधियों के स्वरूप तथा गुणकर्म के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन होगा।

१. George Morgenstierne : A Vedic word in Some modern Hindu-kush languages, Sarup-Bharati, PP. 32-33.

२. Journal of American oriental Society, Vol. 91, No. 2, 1971.

३. John Brough : Soma and *Amanita muscaria*, BSOAS, vol. XXXIV, Pt. II, 1971, PP. 331-362.

(४१)

४—वनस्पतिविज्ञान तथा कृषिशास्त्र को भी वनस्पतियों का इतिहास बनाने के लिए आधार मिला।

५—वनस्पतियों के आधार पर ग्रन्थकारों तथा टीकाकारों का मूल्यांकन किया जा सकेगा।

स्रोत

प्रस्तुत ग्रन्थ में वनोषधियों के संबन्ध में वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध यथाशक्य सारी सामग्री संकलित कर उनका तत्कालीन चित्र उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। इसके लिए संहिता, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् तथा वेदांग सभी का सर्वेक्षण किया गया है। इस क्षेत्र में अन्य विद्वानों की कृतियों तथा कोशों से भी सहायता ली गई है। इस प्रकार यह प्रयत्न किया गया है कि इसे अधिकाधिक 'पूर्ण' रूप दिया जाय यद्यपि वाङ्मय की विशालता को देखते हुए यह एक अत्यन्त दुरूह कार्य है।

द्रव्यगुण का इतिहास

ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में द्रव्यगुण का इतिहास रखा गया है। यह अंश मेरे 'आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास' में प्रकाशित हो चुका है। इसमें पुनः देने के दो प्रयोजन हैं—एक तो यह कि वैदिक काल से लेकर आज तक द्रव्यों तथा द्रव्यगुण वाङ्मय के विकास की शृंखला स्पष्ट हो जाय और दूसरा यह कि 'इतिहास' प्रकाशित होने के बाद जो नये विचार प्रादुर्भूत हुए उनसे सारी सामग्री को परिष्कृत कर द्रव्यगुण के अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। तीसरी विशेषता इसकी यह है कि द्रव्यगुण के क्षेत्र में कार्य करने वाले विशिष्ट विद्वानों के चित्र दिये गये हैं जिससे नई पीढ़ी को उनके दर्शन से सतत प्रेरणा मिलती रहे और उनकी स्मृति भी सुरक्षित रहे। आयुर्वेद जगत् की यह महती त्रुटि रही है कि अपने आचार्यों के स्वरूप को वह सुरक्षित नहीं रख पाता जिसका परिणाम यह है कि आधुनिक पीढ़ी के छात्रों को ३०-४० वर्ष पूर्व के लब्धकीर्ति आचार्यों की भी जानकारी नहीं है। इस दोष का निराकरण होना चाहिए तथा आधुनिक विज्ञान ने इतिहास को सुरक्षित रखने के लिए जितने साधन जुटाये हैं उन सबका पूरा उपयोग कर इतिहास को जीवन्त रूप देना चाहिए। यह इस दिशा में एक प्रारंभिक प्रयास मात्र है।

आभार-प्रदर्शन

मालवीय जयन्ती, १९६५ को इस कार्य का संकल्प लिया था। कार्य इतना कठिन था कि जैसे-जैसे विषय में प्रविष्ट हुआ, निराशा बढ़ती गई। बारह वर्षों के अज्ञातवास के बाद विश्वविद्यालय के हीरकजयन्ती-वर्ष में यह चिरप्रतीक्षित ग्रन्थ प्रकाश में आ

(४२)

रहा है, यह सन्तोष का विषय है। पुस्तकों को समय-समय पर जुटाने में संस्थान के पुस्तकालय के कर्मचारियों ने जो सहयोग किया है उसके लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूँ क्योंकि उसके बिना यह कार्य संभव नहीं था। अनेक संबद्ध ग्रन्थों से इसमें सहायता ली गई है जिसके लिए लेखक उनका आभारी है। विशेषतः पं० विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा संपादित एवं प्रकाशित 'वैदिक पदानुक्रम कोष' से संदर्भ ढूँढ़ने में बड़ी सहायता मिली है। इस अनुपम प्रकाशन द्वारा वैदिक शोधकर्त्ताओं का जो उपकार आपने किया है उसके लिए मैं ही नहीं, समस्त सुधीमण्डल आप्पायित है। प्रकाशक महोदय भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अनेक कठिनाइयों के बावजूद इसे प्रकाशित किया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

२४ जनवरी, १९७७

प्रियव्रत शर्मा

वसन्त-पञ्चमी

(विश्वविद्यालय-हीरकजयन्ती-समारोहदिवस)

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—वैदिक औद्धिद द्रव्य

	पृष्ठ
औद्धिद द्रव्य-विवरण	१-१७४
ग्रन्थ-सन्दर्भ	१७५-१८१
परिशिष्ट १—वनौषधियों के पर्याय तथा वैज्ञानिक नाम	१८३-१९९
परिशिष्ट २—ऋग्वेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ	२००
परिशिष्ट ३—यजुर्वेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ	२०१
परिशिष्ट ४—अथर्ववेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ	२०२-२०५
परिशिष्ट ५—ब्राह्मणग्रन्थों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ	२०५-२०६
परिशिष्ट ६—उपनिषदों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ	२०७
परिशिष्ट ७—कल्पसूत्रों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ	२०७-२१२
परिशिष्ट ८—पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा वार्त्तिक में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ	
परिशिष्ट ९—पातञ्जल महाभाष्य में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ	२१५-२१६
परिशिष्ट १०—यास्क-निरुक्त में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ	२१६

द्वितीय खण्ड—द्रव्यगुण का इतिहास

मौलिक सिद्धान्त	...	२१९-२२३
द्रव्यों का यातायात	...	२२३-२३०
द्रव्यों का कालनिर्णय	...	२३०-२३१
कतिपय विशिष्ट द्रव्यः		
औषधवर्ग	...	२३२-२५१
पुष्पवर्ग	...	२५१-२५२

(४४)

फल वर्ग	...	२५२-२५८
शाक वर्ग	...	२५८-२६१
अन्न-पान	...	२६१-२६४
जान्तव द्रव्य	...	२६४-२६८
द्रव्यगुण का वाङ्मय		
प्राचीन काल	...	२६८-२६९
मध्य काल	...	२६९-२९१
आधुनिक काल	...	२९१-३१६
ग्रास्यौषधि	...	३१६
कल्पग्रन्थ	...	३१७
पत्रिका-विशेषांक	...	३१८
द्रव्यगुण के अन्य ग्रन्थ	...	३१८-३२३
आयुर्वेदेतर वाङ्मय में द्रव्यगुण	...	३२३-३२४
वैद्येतर विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थ	...	३२४-३२५
वनौषधि-सर्वेक्षण	...	३२६
भैषज्योद्यान एवं संग्रहालय	...	३२६
शोधकार्य	...	३२७-३२८
भेषजकल्पना	...	३२८-३३६
भेषजसंहिता (फार्माकोपिया)	...	३३६
राजनियन्त्रण	...	३३७
शिक्षण एवं अनुसन्धान	...	३३८
भैषज्यकल्पना का वाङ्मय	...	३३९-३४१
सन्दर्भ-सूची	...	३४३-३४८
शुद्धिपत्र	...	३४९
अनुक्रमणिका १—द्रव्य	...	३५१
अनुक्रमणिका २—Latin and English Names		३७२
अनुक्रमणिका ३—ग्रन्थ		३८०
अनुक्रमणिका ४—ग्रन्थकार एवं व्यक्ति		३८६
अनुक्रमणिका ५—विविध		३९०



संकेत-निर्देश

अ० अ०	अथर्ववेदानुक्रमणिका
अ० प०	अथर्वपरिशिष्ट
अ० प्र०	अथर्वप्रातिशाख्यम्
अ० शां०	अथर्वशान्तिकल्प
अ० सं०	अष्टांगसंग्रह
अ० ह०	अष्टांगहृदय
आ० गृ०	आश्वलायनगृह्यसूत्र (नारायणकृतवृत्तिसमेत)
आग्नि० गृ०	आग्निवेश्य गृह्यसूत्र
आप० ध०	आपस्तम्बधर्मसूत्र
आप० मं०	आपस्तम्बमन्त्रपाठ
आप० श्रौ०	आपस्तम्बश्रौतसूत्र
ऑफ्रेक्ट	Aufrecht's Catalogus Catalogorum
उ०	उत्तरतन्त्र
ऋ० अ०	ऋग्वेदानुक्रमणिका
ऋ० तं०	ऋक्तन्त्रम् (सामप्रातिशाख्यम्)
ऋ० प्रा०	ऋक्प्रातिशाख्यम्
ए० सो० क०	एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता
एन० सी० सी०	Raghavan's New Catalogus Catalogorum
ऐ० आ०	ऐतरेयारण्यक
ऐ० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मण
क०	कल्पस्थान
क० कठ०	कपिष्ठलकठसंहिता
क० प्र०	कर्मपदीप
कण्डोल	A. D. Candolle's origin of Cultivated Plants
का०	काण्वसंहिता
का० गृ०, काठ० गृ०	काठकगृह्यसूत्र
काठ०	काठकसंहिता
का० ब्रा०	काण्व शतपथब्राह्मण

(४६)

का० श्रौ०	कात्यायनश्रौतसूत्र
के० आ० प०	A Check list of Sanskrit Medical Manuscripts in India (C. C. R. I. M. & H., New Delhi)
के० प०	केशवपद्धति
खा० गृ०	खादिरगृह्यसूत्रम् (रुद्रस्कन्दव्याख्यासहितम्)
कौ० गृ०	कौथुमगृह्यसूत्र
कौ० सू०	कौशिकसूत्र
खि०	खिलस्थान
गो०	गोपथब्राह्मण
गो० गृ०	गोभिलगृह्यसूत्रम्
गौ० ध०	गौतमधर्मसूत्र
च०	चरकसंहिता
चक्र०	चक्रपाणि
चि०	चिकित्सास्थान
छा०, छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
छा० ब्रा०	छान्दोग्यब्राह्मण
जै०	जैमिनीय संहिता
जै० उ०	जैमिनीय उपनिषद्
जै० उ० ब्रा०	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जै० गृ०	जैमिनीय गृह्यसूत्र
जै० ब्रा०	जैमिनीय ब्राह्मण
तां०	ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तै०	तैत्तिरीय संहिता
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० प्रा०	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
दं० वि०	दन्त्योष्ट्रविधि
दा०	दारिलभाष्य
द्रा० गृ०	द्राह्यायण गृह्यसूत्रम्
द्रा० श्रौ०	द्राह्यायण श्रौतसूत्र
ना० भा०	नारायणभाष्य
निघ०	निघण्टु

(४७)

त्ति० सू०	निदानसूत्रम्
प० वि०	पञ्चविंश ब्राह्मण
पा०	पाणिनीय अष्टाध्यायी
पा० उ०	पाणिनीय उणादि
पा० उ० वृ०	पाणिनीय उणादिसूत्र (वृत्तिसहिता)
पा० उ० भो०	पाणिनीय उणादि भोजवृत्ति
पा० ग०	पाणिनीय गणपाठ
पागम०	गणरत्नमहोदधि
पा० गृ०	पारस्करगृह्यसूत्र
पा० म०	पातञ्जल महाभाष्य
पा० वा०	पाणिनीय वास्तिक
पा० वा० ग०	पाणिनीय वास्तिक गणपाठ
पा० सं०	पाण्डुलिपिसंख्या
पै०	पैप्पालादसंहिता (अथर्ववेदीय)
बृ०, वृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० जा०	बृहज्जातक
वृ० दे०	बृहद्देवतानुक्रमणी
बौ० गृ०	बौधायन गृह्यसूत्र
बौ० ध०	बौधायन धर्मसूत्र
बौ० पि०	बौधायन पितृमेथसूत्र
बौ० श्रौ०	बौधायन श्रौतसूत्र
भा० गृ०	भारद्वाज गृह्यसूत्रम्
मं०, मं० ब्रा०	मन्त्रब्राह्मण
मा०	साध्यान्दिनसंहिता
मा० गृ०	मानवगृह्यसूत्रम्
मा० शि०	माण्डूकी शिक्षा
मै०	मैत्रायणीसंहिता
या०	निरुक्तम्
या० शि०	याज्ञवल्कीय शिक्षा
रघु०	रघुवंश
राघवन	New Catalogus Catalogorum
वाट	George Watt : A Dictionary of The Economic Products of India.

(४८)

वा० ध०	वाराह धर्मसूत्र
वा० श्रौ०	वाराह श्रौतसूत्र
वा० सं०	वाजसनेयिसंहिता
वि०	विमानस्थान
वि० ध०	विष्णुधर्मसूत्र
वृ०	नारायण कृतवृत्ति
वै० ध०	वैखानस धर्मसूत्र
वैता० श्रौ०	वैतान श्रौतसूत्र
श०	शतपथब्राह्मण
शं० लि० ध०	शंखलिखितधर्मसूत्र
शा०	शारीरस्थान
शां० आ०	शांखायन आरण्यक
शां० गृ०	शांखायन गृह्यसूत्र
शां० ब्रा०	शांखायन ब्राह्मण
शां० श्रौ०	शांखायन श्रौतसूत्र
शु० प्रा०	शुल्वप्रातिशाख्य
शौ०	शौनकीय अथर्ववेदसंहिता
ष० ब्रा०	षड्विंशब्राह्मणम्
सा०	सामविधान ब्राह्मणम्
(सा०)	सायणभाष्य
सु०	सुश्रुतसंहिता, सुमन्तु धर्मशास्त्र
सू०	सूत्रस्थान
हि० गृ०	हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र
हि० श्रौ०	हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र

A. B. O. R. I. Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute. Poona.

B. O. R. I. Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

I. J. H. S. Indian Journal of History of Science.

J. B. R. S. Journal of Bihar Research Society.

Ved. Ind. Vedic Index by Macdonell and Keith.

Ved. Pl. Vedic Plants By G. P. Majumdar, B.C. Law. Vol. I. pp. 645-666.



वैदिक औद्धिद द्रव्य

प्रज्ञा इक्षीति कर्त्तुम्

अकर्ण]

(३)

[अक्ष

अकर्ण—शान्त ओषधियों में इसका उल्लेख है। अन्नप्राशन के शीघ्र बाद होने वाले गोदान के संभारों में शान्त ओषधियों की गणना की गई हैं।^१

अक्ष—रथ के धुरे या जुए के पाशों के लिए मुख्यतः इस शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ में सम्भवतः यह प्रथम अर्थ में प्रयुक्त हुआ, बाद में द्वितीय अर्थ में। ऋग्वेद में इसका प्रयोग अधिकांश रथ के प्रसंग में ही आया है। परवर्ती वाङ्मय में द्यूतपाश के लिए इसका प्रयोग होने लगा। विभीतक की अस्थि का प्रयोग द्यूतपाश में होने के कारण अक्ष इसका पर्याय बना। द्यूत के सम्बन्ध में एक शब्द कलि आया है सम्भवतः इसी कारण आगे चलकर कलि भी विभीतक का पर्याय बना। निरुक्त ने इसकी व्याख्या की है कि जिसका अंजन, अभ्यंजन, स्नेहन किया जाय वह अक्ष है। इससे रथ के धुरे का अर्थ निकलता है। विभीतक-मज्जा में भी स्नेह होने के कारण इस दृष्टि से भी इसका अर्थ विभीतक हो सकता है। यह भी कहा जाता है कि विभीतक की लकड़ी रथ का अक्ष बनाने के काम में आती थी। ऋग्वेद में 'बभ्रु' शब्द आया है जिसकी व्याख्या सायण ने पिंगलवर्ण अक्ष की है। इससे विभीतक के वर्ण की प्रतीति होती है। अथर्ववेद में भी वह शब्द द्यूत के प्रसंग में प्रयुक्त हुआ है। कौशिकसूत्र में इसके फाण्ट या क्वाथ से ज्वर में अवसिचन का विधान है। छान्दोग्य उपनिषद् (७।३।१) में 'अक्ष' शब्द विभीतक के लिए आया है। आगे चलकर अक्ष शब्द विभीतक के सदृश अस्थि-बीजों के लिए प्रयुक्त होने लगा यथा पद्माक्ष, रुद्राक्ष, पुत्रजीवकाक्ष आदि। परवर्ती उपनिषदों में यह अधिकांश इसी अर्थ में आया है।

पारस्कर गृह्यसूत्र (१।२१) में श्लेष्मातक आदि वृक्षों के साथ इसका मूल निषिद्ध माना गया है। अथर्वपरिशिष्ट में भी ऐसा ही उल्लेख है।^२

१. कौ० सू० ५३।१,२

२. ऋ० ७।८६।६ (विभीदकः द्यूतसाधनोऽक्षः—सा०), १०।३४।१ (विभीदकः विभीतक-विकारोऽक्षः—सा०), १०।३४।५ (बभ्रवः बभ्रुवर्णा अक्षाः—सा०)

शौ० ७।५०।१,२; ७।१०९।१ (इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी), ७ (अक्षान् यद् बभ्रूनालये ते नो मृडन्तवीदृशे)

श०—५।३।१।१०, अक्षा नाम कपर्दकाः सुवर्णनिर्मिताः विभीतकफलानि सौवर्णानि वेत्येके, ते चाक्षा द्यूतस्थाने निवपनीयाः। तेषां चतुर्णां अक्षाणां 'कृत' संज्ञा, पञ्चानां कलि संज्ञा ५।४।४।६ (सा०), ५।४।४।२३

तै० ब्रा०—१।७।१०।५

छा० उ०—७।३।१ (द्वे वाऽऽमलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ)

निघ०—५,३

अगरु]

(४)

[अच्छिद्रपत्र

अगरु—वैदिक संहिताओं में अगरु का उल्लेख नहीं मिलता । बृहज्जाबाल उपनिषद् में अगरुत्रितय का उल्लेख है ।^१ अथर्वपरिशिष्ट में चन्दन के साथ अगरु जलाने का विधान है । इससे इसके सुगन्धित द्रव्य होने का पता चलता है तथा सम्भवतः यह धूप के साथ जलाया भी जाता था । अथर्वपद्धति में कौशिकसूत्र की मन्त्रोक्त ओषधियों में शमी, पलाश आदि के साथ इसका उल्लेख हुआ है । चन्दन, कुंकुम, कर्पूर, पद्मक के साथ अगरु के अनुलेपन का भी विधान है ।

अघद्विष्टा^२—वरण और पिप्पली के साथ भैषज्यगण में इसका उल्लेख है । (देखें दूर्वा)

अच्छिद्रपत्र^३—अथर्वपरिशिष्ट के आसुरीकल्प में इसका उल्लेख है ।

“अक्षा अश्नुवत एनानिति वा अभ्यश्नुवत एभिरिति वा”—या० १।७

वाचोऽक्ष इति वा । अक्षो यानस्यांजनान्—या० १३।१२

मंगलफलाक्षयः—यजति—मा० गृ० २।६।४; पा० गृ० १।२।१

अक्षान् निवपेत् युग्मान् वैभीतकान् यथार्थान्—आप० ध० २।१०।२५।१२

अक्षमालां आदाय—जपं कुर्यात् ।—

पञ्चाक्षेन्द्राक्षपुत्रजीवकानामन्यतमादक्षमालां कुर्यात्—शं० लि० ध०—१०७

अक्षान् निवपति (अक्षान् विभीतकान्)—कौ० सू० ४।१।१३

शीर्षफाण्टाक्षैः अवसिंचति (ज्वरभैषज्ये) (अक्षाः विभीतकफलानि)—कौ० सू० ३०।८

विभीतकां क्षायित्वा अवसिंचति—के० प०; कौ० सू० ३७।३

श्लेष्मातकाक्षगृध्रादपरित्यक्ते समे शुभे—अ० प० १९।१।४

पा० २।१।१०, ६।३।१०४

पा० म०—१।२।६४, १।३।१, २।१।१

१. अगरुत्रितयं चैव चूर्णयित्वा तु सूक्ष्मतः ।—बृ० जा० ३।२८

अ० प० ३६।१५।१; ६६।२।२; ३; कौ० सू० ८२।२६; वि० ध० ७९।११

२. अ० प० ३२।१।२४;

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।

आपो मलमिव प्राणैर्क्षीत् सर्वान् मच्छपथां अधि ॥

यश्च सापत्नः शपथो जाभ्याः शपथश्च यः ।

ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधश्पदम् ॥

दिवो मूलमद्यतं पृथिव्या अध्युत्तमम् ।

तेन सहस्रकाण्डेन परिणः पाहि विश्वतः ॥

परि मां परि मे प्रजां नः पाहि यद्धनम् ।

अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिपुरभियातयः ॥

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तं नः सह ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृथीरपि शृणोमसि ॥—शौ० २।७।१-५

३. अच्छिद्रपत्राणि उशीरः सर्पपस्तथा ।

एतच्छूर्णात् पूर्वफलं धृते चैवापराजयः ॥—अ० प० ३५।१।१६-१७

अजशृङ्गी]

(५)

[अतसी

अजशृङ्गी^१—यह वीरुध् जाति की उग्रगन्धयुक्त वनस्पति है। यह ओषधियों तथा वीरुधों में वीर्यवती तथा अपनी गन्ध से अप्सराओं, गन्धर्वों और राक्षसों का नाश करने वाली कही गई है। रक्षोघ्न होने के कारण इसे 'अराटकी' (अराः हिंसकाः तान् आटयति उच्चाटयति इति—सा०) तथा शृङ्गाकार तीक्ष्णगन्ध होने से तीक्ष्ण-शृङ्गी (तीक्ष्णे उग्रगन्धे शृङ्गाकृती फले यस्याः) भी कहते हैं।

अजिनफला^२—अजिर^३—

अजीता^४—पुंसवनकर्म में इसका स्वरस दक्षिण नासापुट में देने का विधान है।

अणु^५—यह एक प्रकार का ग्राम्य धान्य है जिसके दाने छोटे और श्वेतवर्ण होते हैं। कौशिकसूत्र में मोहन-प्रकरण में इसके हवन का विधान है।

अतसी^६—ऋग्वेद में 'अतस' शब्द अनेक स्थलों पर आया है। एक स्थल पर इसी का स्त्रीलिंग शब्द 'अतसी' भी प्रयुक्त हुआ है। सायण ने इसका अर्थ काष्ठ, उन्नतवृक्ष, वृक्षसंघ तथा सततगामी किया है। इसी आधार पर अतसी का अर्थ सततगामिनी

१. त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वाश्चातयामहे।

अजशृङ्गयज ऋतुः सर्वान् गन्धेन नाशय ॥—शौ० ४१-३५२; पै० १३।४।२
अजशृङ्गी विषाणी स्यात् (अ० को० २।४।१९९) इत्यभिधानकोशप्रसिद्धा अजशृङ्गी।
मात्र संबोध्या।

अजशृङ्गाकृतिफलयुक्तत्वात् अजशृङ्गीत्युच्यते—सा०

अ० अ० ४।३७, अ० शौ०—१२।८

'पुत्रमग्नोपधीनां वीर्यां वीर्यावती।

'अजशृङ्गयराटकी नाचगशृङ्गी व्युपतु ॥'—शौ० ४।३।१६

२. पा० १० ४।१।४

३. अमूनश्चत्य निःशृणीहि स्वादामून् खदिराजिरम्—शौ० ८।८।३

४. अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीतामोषधीं नस्तः करोति।

—आ० गृ० १।१३।५

अजीतेति गुणनाम अजीर्णेत्यर्थः, सा चौषधीं दूर्वंत्युपदिशन्ति—वृ०

५. वा० सं० १८।१२, "दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति ब्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खलवाश्च खलकुलाश्च"—वृ० उ० ६।३।१३;
तै० प्रा० २।१३।११, पा० ५।२।४

कौ० सू० १४।१८, १९—दारिल ने व्याख्या में लिखा है 'अगवः कणिकृन्काः।

६. ऋ० (अतस) ४।४।४, ८।६०।७३।०३; १०।८९।५, १।१६९।३, १।५८।२, ४, ४।७।१०
८।३।१३ (अतसी)

अतिबला]

(६)

[अध्य(ध्या)ण्डा

किया है। अन्य वैदिक संहिताओं में भी इसीका अनुकरण है। अथर्वपरिशिष्ट में अतसी की समिधा का हवन मेधावृद्धि के लिए निर्दिष्ट है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेदांगकाल में 'अतसी' शब्द द्रव्यविशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा।

अतिबला—पुष्याभिषेक के लिए कलश में डाली जाने वाली औषधियों में इसकी गणना बला के साथ की गई है^१।

अतिविद्धभेषजी^२—यह पिप्पली का पर्याय है। (देखें, पिप्पली)

अट्टष्टदहनी—यह रक्षोघ्न, क्रिमिघ्न बतलाई गई है तथा व्रणों, अस्थिजन्य विकारों में एवं बलवृद्धि के लिए इसका प्रयोग बतलाया गया है। इसका नाम भी इसके रक्षोघ्न गुणधर्म का संकेत करता है^३।

अधः पुष्पी—मूलविधि-प्रकरण में अन्य औषधियों के साथ इसका उल्लेख है^४।

अध्य(ध्या)ण्डा^५—संहिताओं में इसका उल्लेख नहीं है। शतपथब्राह्मण में यह सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। श्मशानायतन में इसे रखने का निषेध है। सायण ने

शौ०—२०।५०।१

तै० ब्रा०—१०।१।९, ऐ० ब्रा० ६।२।१, शा० ब्रा० २४।५

अ० प०—३६।२४।२, पा० ग० ४।१।४१, आ० श्रौ० ७।४।६, वैता० श्रौ० २७।१३, ३५।१२

अ० शा० २१।२

१. अ० प० ५।१।४-५; ५।२।१-३, आप० मं०—२।१७।११, १२, सू० २९।६

२. शौ० ६।१०९।१

३. इमां खनाम्योषधिं अट्टष्टदहनीम् अहम्

आत्मजा ये वास्थिजा अरुषा च उतोविम।

तेभ्यः खनाम्योषधिं तेभ्यो विष्मि वधः कृता ॥—पै० ९।६।१-१२

४. पा० गृ० १।२।१

५. न भूमिपाशन्नभित्तिदध्यात् । न शरत् । नाशमगन्धान् । नाध्याण्डान् । न पृश्नि-
पर्णान् ।—शा० १३।८।१।१६

का० श्रौ०—२५।१६०-१६७, हि० श्रौ० २९।१।४

फाल्गुनमासे सरूपवत्साया दुग्धे ब्रीहियत्रावधाय मूर्द्धयित्वाध्यण्डे बृहतीपलाश-

विदार्यौ वा प्रतिनीय पेद्रमिव ।—कौ० सू० ३५।४

अध्यण्डे पर्णफलेत्यप्रसिद्धा—दा०

अध्याण्डामूलं पेषयित्वा ऋतुवेलायां—नस्तो दक्षिणतो निषिचेत्—शा० गृ० १।१९।१

(गर्भाधानप्रकरण)

पर्णफलिनी—रामचन्द्रपद्धति तथा ना० भा०

अनन्ता]

(७)

[अपस्कार्य

इसके फलों को गुच्छे में बतलाया है। कौशिकसूत्र में अध्यण्डा के दो बीजों को सरूपवत्सा गौ के दुग्ध में मिलाकर स्त्री के दक्षिण नासापुट में नस्य देने का पुंसवन कर्म के लिए विधान है। दारिल ने अपनी व्याख्या में इसे पर्णफला कहा है। शांखायनगृह्यसूत्र में अध्यण्डामूल को पीसकर ऋतुकाल में नस्य गर्भाधान के लिए विहित है। यहाँ भी व्याख्याकारों ने इसे पर्णफलिनी कहा है।

अनन्ता^१—नक्षत्रस्नान-विधि में पुष्य नक्षत्र के लिए अन्य ओषधियों के साथ अनन्ता का उल्लेख है।

अन्धपुष्पिका^२—इसका पुष्प हरितवर्ण कहा गया है। शी० ४।३० (सा०) में 'गन्धपुष्पिका' पाठ है।

अन्धंकरणी—(पा. ३।२।५६)

अपरका^३—

अपराजिता^४—अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में इसका उल्लेख मिलता है। अथर्व-परिशिष्ट में रक्षोघ्न, कृत्यादूषण, यशस्य और वर्चस्य ओषधियों में इसका परिगणन किया गया है। पारस्करगृह्यसूत्र के मूलविधि-प्रकरण में यह निर्दिष्ट है। 'अपराजिता' शब्द ऐशानी दिशा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त, अपराजितदशमी तथा गणमाला में अपराजितगण का उल्लेख है^५।

आयमगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः ।

स वै स्वजस्य जम्मनः उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥—शी. १७।४।१५

इस मन्त्र में विषवैद्य का विशेषण 'अपराजित' दिया है। इससे अपराजिता के विषनाशक गुणधर्म का प्रतीक संकेत मिलता है।

अपस्कम्भ—सायण ने इसका अर्थ क्रमुकवृक्ष किया है।^६ (देखें, क्रमुक)

१. अ० प०-१।४३।६

२. के० प०-१०।१६ (शुक्लपुष्पहरितपुष्पे इति शंखपुष्पिका-अन्धपुष्पिका प्रसिद्धे)

३. बो० पि० १।६।२ (वीरुद्-उद्धरण)–(देखें, काला)

४. शतदंष्ट्रां सहस्रां जयन्तीमपराजिताम्-पै० २०।२०।६

अ० प० १८।१।५-१७; १८।२।६; ३२।१।१३, कौ० सू० १३९।७

पा० गृ० १।२।१

कर्म. १।१।७, कौ० सू० १७।९, आ० गृ० ३।८।३, शां० गृ० ४।६।२, ऋ० प्रा० १५।१

५. अ० प० १८।२।६, ३२।१।१३, (कौ० सू० १३९।७)

६. अपस्कम्भस्य शस्याञ्जिरवोचमहं रसम्-शौ० ४।६।४

'अपस्कम्भ्यते विधायते अन्तरिक्षे इति अपस्कम्भः क्रमुकवृक्षः'-सा०

अपाघा—‘अपाघ’ शब्द अपामार्ग के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। माध्यन्दिनी संहिता के एक मन्त्र में इसका निर्देश उपलब्ध होता है (देखें, अपामार्ग)। किन्तु आग्नि. गृ. में अपामार्ग के साथ ‘अपाघा’ का उल्लेख होने से यह भिन्न वनस्पति प्रतीत होती है। संभवतः यह दूर्वा का पर्याय है (देखें अघद्विष्टा)

अपामार्ग—ऋग्वेद में अपामार्ग का उल्लेख नहीं है। यजुर्वेद की विभिन्न संहिताओं में अपामार्ग का सक्तु (चूर्ण) बनाकर हवन करने का विधान है। इससे राक्षसों का नाश होता है। जल को हटा कर इसका ग्रहण करने का निर्देश है। इससे एक अर्थ यह निकलता है कि इसे सुखा कर लेना चाहिए और दूसरा यह कि इसमें शरीर से जलांश निकालने की शक्ति है। इसे पापनाशन, मृत्युनाशन तथा दुःस्वप्ननाशन कहा गया है। कुष्ठ पापरोग माना गया है अतः इससे इसके कुष्ठकर्म का संकेत मिलता है। कृत्यानाशन से रक्षोघ्न तथा दुःस्वप्ननाशन से मेध्य कर्मों का संकेत होता है।

अथर्ववेद के अनेक सूक्तों में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। ‘अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे’ (शी० ४।१७।७) इस मंत्र में ‘अपामार्ग’ शब्द की निश्चिती है। ‘अप (हृत्प दोषान् शरीरं) मृज्यते अनेन इति अपामार्गः’— अर्थात् दोषों का निर्हरण कर जिसके द्वारा शरीर का संशोधन हो वह अपामार्ग है। १७वें सूक्त के मन्त्रों (१-८) से अपामार्ग के सहस्रवीर्य, क्रिमिघ्न, रक्षोघ्न, रसायन, अशोघ्न, क्षुधातृष्णामारण, विषघ्न, अश्मरीनाशन तथा ओजोवर्धन कर्म का संकेत होता है। १८वें सूक्त में इसके क्षेत्रियनाशन कर्म का विस्तृत वर्णन है। १९वें सूक्त में इसके दीपन तथा भेदन कर्म का संकेत है। पैप्पलाद शाखा में इनके अतिरिक्त अपामार्ग में दीर्घायनाशन तथा अनपत्यतानाशक कर्म भी हैं। एक स्थान (शी. ७।६५।३) पर यह कहा गया है कि “श्यावदन्त, कुनखी तथा वण्ड साथ बैठने या भोजन करने से मुख में जो दोष आ गये हों, हे अपामार्ग ! उन्हें तुम नष्ट करो।” यह स्पष्टतः कुष्ठ के औपसर्गिक दोष के निवारण की ओर संकेत करता है। इसे ‘प्रतीचीनफल’ कहा गया है (७।६५।१) जिसकी व्याख्या करते हुये सायण ने लिखा है :—

“प्रत्यङ्मुखानि फलानि यस्य। अग्रादारभ्य फलस्य मूलपर्यन्तं
आत्माभिमुखं स्पर्शने कण्टकराहित्यदर्शनात् प्रतीचीनफलत्वम्।”

१. ‘अपाघमप किल्विषमपकृत्यामपो रपः। अपामार्गं त्वमस्मदपदुःस्वप्नस्य सुव’
— मा० ३।५।११

आग्नि. गृ. ३।५।५;

देखें—का. श्रौ. २।१।४।२२

अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर स्पर्श करने पर जिसमें कण्टक की प्रतीति न हो किन्तु विपरीत दिशा में हो । शतपथब्राह्मण (५।२।४।२०) में भी यह शब्द आया है । उसकी व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है :—

‘अपामार्गमञ्जर्यो यतः प्रतीचीनफलाः स्वात्मानं प्रतिगतैरवाङ्मुखैःफलैर्युक्ताः’

अर्थात् अपामार्ग की मञ्जरियों में फल अधोमुख होते हैं ।^१

शतपथब्राह्मण में ‘अपामार्गतण्डुल’ शब्द सर्वप्रथम आता है^२ ।

सामविधान, विष्णुधर्मसूत्र, याकवल्क्य-शिक्षा तथा माण्डूकी शिक्षा में अपामार्ग के दन्तधावन का विधान है ।

अथर्वानुक्रमणिका में ‘अपामार्ग-वीरुध्’ शब्द आया है^३; इससे इसके क्षुप होने का संकेत मिलता है ।

१. रथ, जिमर तथा ह्विटन का कथन है कि इसकी पत्तियाँ उलटी होती हैं । विज्ञेय विवरण के लिए देखें—Ved. ind., 1-26.

२. तुलना करें—चरकसंहिता का ‘अपामार्गतण्डुलीय अध्याय’ (सू. २)

३. मा०—३५।११; मै०—२।६।३; ४।३।४; काठ.—१।५।२

पै०—२।२६।४-५; ५।२३।१-८; ५।२४।१-८; २।२३।३; २।२४।७; २।२५।४; १।६।१७।१-८;

१।६।१८।१-१०; १।६।१८।१-१०

श०—५।२।४।१४; १५, २०, १३।८।४।४

प०—५।२; सा० २।६।३; तं०—१।७।१।८

का० श्रौ० १।५।१।२; २।१।४।२४; हि० श्रौ०—१।३।३।२-३३

त्रौ० श्रौ० १।२।४; १०, १३; २।२।१७, ६, ५; आप० श्रौ०—१।८।१।५, १६

वा० श्रौ० ३।३।१।१७

आ० गृ० २।७।१-६; का० गृ०—७।२।१; गो० गृ०—३।१।४

जै० गृ०—२।५, ६, ९; कौ० गृ०—५।१।२; पा० गृ०—१।२।१

शां० गृ०—३।१।३; ४।१।७।३; ४।१७।३; आशि० ग०—२।५।१।१६; ३।५।५।७; ३।६।३।५, १४; ३।६।५।२

वि० ध०—६।१।४; वो० पि०—१।६।२; १।१।४।२

क्रौ० सू०—८।१।३; ४।३।१; ५।१।२; कै० प०—३।१।५-१२; ४।६।४७

अ० प०—१।८।५।१; २।६।५।१-५; अ० शां०—२।१।३, ४

या० शि०—३।३; मा० शि० ४।१; अ० अ०—४।१।७; ७।३५

शु० प्रा०—३।१।२; ५।२।१; अ० प्रा०—३।४।१

या०—४।१।७।२

क्षुधामार्गं तृष्णामारमगोतामनप्रत्यताम् । अपामार्गं त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥
तृष्णामार्गं क्षुधामार्गमथा अक्षुधराजयम् । अपामार्गं त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥
अपामार्गं ओषधीनां सर्वास्माकं इह वशी । तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥

—शौ. ४।१।७।६-८

अपामार्ग]

(१०)

[अपामार्ग]

श्रीतसूत्रों में भी अपामार्गहोम का विधान है । गृह्यसूत्रों में इसका उपयोग गृहशान्ति, सेमावर्तन, अग्रहायणीकर्म आदि में विहित है । श्मशानायतन से अपामार्ग के उद्धरण का विधान है । पारस्करगृह्यसूत्र के मूलवर्धि-प्रकरण में अन्य ओषधियों के साथ इसका उल्लेख है । इससे प्रतीत होता है कि व्यवहार में

समं ज्योतिः सूर्येणाह्वा रात्री समावती ।
 कृणोमि सत्यमृतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥
 यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् ।
 वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥
 अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति ।
 अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् कक्रिति ॥
 सहस्रधामन् विशिखान् विग्रीवां छायाया त्वम् ।
 प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥
 अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अद्दुषम् ।
 यां चेन्ने चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमंगुरिम् । चकार भद्रमस्मस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥
 अपामार्गोऽपमार्ष्टुं चेन्निर्यं शपथश्च यः । अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥
 अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥

—शौ० ४।१८।१-८

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत् ।
 उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा छिन्धि वार्षिकम् ।
 ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन ।

सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥

अग्रमेण्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन् । उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः ॥
 यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत । ततस्त्वमध्योषधेऽपामार्गो अजायथाः ॥

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता ।

प्रत्यग् वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति ॥

असद् भूम्याः समभवत् तद् यामेति महद् व्यचः ।

तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम् । सर्वान् मच्छपथों अधि वरीयो यावया वधम् ॥
 शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा । इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओजमानमा दधत् ॥

—शौ० ४।१९।१-८

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग हरोहिथ । सर्वान् मच्छपथों अधि वरीयो यावया इतः ।
 यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया । त्वया तद् विष्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे ॥

श्यावदता कुनखिना वण्णेन सहासिम । अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥

—शौ० ७।६५।१-३

अपामार्गमूल का ही अधिक प्रयोग प्रचलित था । यह बुध ग्रह के लिए समिधा कहा गया है । वास्तुपरीक्षा प्रकरण में कहा गया है कि मकान बनाने की भूमि से अपामार्ग को हटा देना चाहिए । कौशिकसूत्र में शान्तवृक्षों में इसकी गणना है^१। अपामार्गप्रसून (को. सू. ५०।२२) का भी उल्लेख है । अथर्वपरिशिष्ट में 'अपामार्ग-त्रयोदशी' का वर्णन है जिसमें अपामार्ग को राजा के ऊपर मंत्रपूर्वक तीन बार घुमाते हैं । अपामार्ग की समिधा सौभाग्यदायक मानी गई है । अपामार्ग गणमाला में कृत्यागण के अन्तर्गत 'प्रतिचीनफल' तथा 'प्रतिसर' नामों से पठित है (अ. प. ३२।१-८) ।

सर्प-वृश्चिक आदि के भय की निवृत्ति के लिए अपामार्गमन्जरी घर में रखने का विधान है (शौ. ६।५३-सा.) ।

अपाष्ठ^२—

अभया—अथर्वपरिशिष्ट में यह शब्द शान्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है^३ । परवर्त्ती गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में यह हरीतकी के लिए प्रयुक्त हुआ है^३ ।

अभिरोरुद—अथर्ववेद की शौनकीय तथा पैप्पलाद शाखाओं में इसका उल्लेख मिलता है । सायण ने इसका अर्थ 'सौवर्चल' किया है । वशीकरण में इसका प्रयोग है । पैप्पलाद में भी इसे वर्चस्य और प्रियंकरण कहा गया है^४ ।

अभीवर्त्त—इसकी फली का धारण सप्तक्षपण, वृष्य तथा विषघ्न कहा गया है ।^५ सायण ने कौ० सू० के आधार पर इससे रथचक्रनेमि का ग्रहण किया है किन्तु यह कोई वनस्पति प्रतीत होता है जिससे रथचक्रनेमि बनता हो ।

१. 'अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुलमलाञ्जिरवोचमहं विषम्'—शौ. ४।६।५

(अपकृष्टावस्थात् एतत्संज्ञात् विषोपादानात्—सा०)

२. अ० प०—६०।१।६; ६३।५।५; ६९।६।२

३. गौ० ध०—१७।३; पा० गृ०—३।२।२; आ० गृ०—२।४।१४

४. इदं खनामि भेषजं मां पश्यमभिरोरुदम् । पश्यतो निवर्त्तनं आयतः प्रतिनन्दनम् ॥
—शौ० ७।३।१

पैप्पलादसंहिता में इसके स्थानानुसार 'अभिनात्मज' है—पै० २०।३०।७;

'इदं वशीकरणकारि भेषजं सौवर्चलाख्यम्'—सा०

पै०—३।२।५

५. सप्तक्षपणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः । यथाहं एषां वीराणां विराजानि जनस्य ॥

—पै० १।१।११-५

शौ०—१।२९।१-६; ऋ० प्रा०—१।६; ऋ० तं०—५।२।७; नि० सू०—५।३; ९।११;

अ० अ०—२९

'अभितो वर्त्तते' चक्रमनेनेति अभीवर्त्तो नेमिः । यद्वा अभितः सर्वतः

परराष्ट्रादौ अप्रतिहतगतिर्वर्त्तते अनेन पुरुष इति अभीवर्त्तो मणिः—सा०

अभिखाता]

(१२)

[अरदु

अभिखाता^१—यह विषघ्न कही गई है । (देखें मदावती)

अमन्त्रि^२—गोदान तथा चूडाकरण के संभारों में इसकी गणना है । केशव ने इसे 'पोथिका' माना है ।

अमला—संभवतः यह आमलकी का प्राचीन नाम या पर्याय है ।^३

अमूला^४—कुछ लोग इससे अमरवेल या कलिहारी का ग्रहण करने हैं जिनका उपयोग बाण को विषाक्त बनाने में किया जाता था । ब्लूमफील्ड इससे 'चल संपत्ति' अर्थ लेते हैं ।^५

अमृततृण^६—गृहशान्ति में अपामार्ग आदि ओषधियों के साथ इसका प्रयोग है ।

अमृत^७—अथर्वपरिशिष्ट में अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख हुआ है । इससे गुहूची का ग्रहण होता है । पाणिनीय अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख है ।

अम्लिका^८—इसका दन्तधावन निषिद्ध है ।

अंशुमती^९—यह पृश्निपर्णी का वाचक है ।

अरदु^{१०}—ऋग्वेद में यह शब्द किसी राजा के लिए आया है । उसके खिलस्थान में 'अरदुः' या 'अरदुः' शब्द आया है जहाँ अश्वत्थ, खदिर, धव आदि अन्य वृक्ष होने से इससे वृक्षविशेष का ग्रहण किया गया है । यही मन्त्र अथर्ववेद में आया है वहाँ 'अरदुपरमः' या 'अरदुपर्णः' पाठ है । पाणिनीय गणपाठ (४।२।८०) के ऋष्यादिगण में 'अरदु' शब्द आया है ।

१. पै०—२।१।१५; ४।२।१७

२. कौ० सू०—५३।१, २, १५; ५४।१९

'पोथिका' (कै०)

३. जै० उ०—१।१२।४६; जै० उ० द्वा०—१।३।८६

४. शौ०—५।३।१४

५. Ved. Pl., P. ५४६

Ved. Ind. i-31

६. जै० गृ०—२।६

७. अ० प०—५।१।५; १।८।१।५-१७; २।१।३३; पा०—६।२।११६

८. वि० ध०—६।१५

९. शंनो इवां पृश्निपर्णीति एतेनांशुमत्या संपातवत् कृत्यं ततोऽनुलेपनं पिशाचनाशनम् ।
—कौ० सू० २६।३६

१०. ऋ०—८।४६।२०; वि०—५।१।५।१४

शौ०—२०।१३।१५; पा० ग०—४।२।८०

मैकडोनल एवं कीथ तथा ग्रिफिथ *Colosanthos indica* नामक वनस्पति का ग्रहण करते हैं जिसके काष्ठ से रथ का अक्ष बनाया जाता था। मजुमदार ने इसे अराटकी का पर्याय मान कर इससे शमी तथा खदिर की एकजाति (*Prosopis specigera* & *Acacia Suma*) का ग्रहण किया है^१।

अरणी^२—जिन लकड़ियों को आपस में रगड़ कर अग्नि उत्पन्न की जाती थी उसे अरणी कहते थे। कौ० सू० में अरणिका की गणना शान्तवृक्षों में की गई है। कुछ लोग इसका अर्थ पलाश करते हैं।

अरलु—संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अररु' शब्द एक राक्षसविशेष के लिए आया है। अथर्ववेद में सायण ने अरलुवृक्ष की फली का निर्देश किया है (शौ० ३।६ सा.)। कौशिकसूत्र में अरलुदण्ड को पिशंगसूत्र कहा है। गृह्यसूत्रों में इसके इन्धन या समिधा को निषिद्ध कहा है।^३

मजुमदार ने इसे श्योनाक मानकर *Oroxylum indicum* नाम दिया है।^४

अराटकी^५—(देखें अजशृंगी)

अरिमेद—इसके दन्तधावन का विधान है।^६

अरिष्ट—इसे पूयवृक्षफल कहा है तथा शौचद्रव्यों में इसको गणना है। शान्तिकर्म के योग्य स्थान अरिष्ट, श्लेष्मातक आदि से वर्जित होना चाहिए। इसका दन्धधावन निषिद्ध है।^७

अरुन्धती—यह लाक्षा तथा एक अन्य द्रव्य जिसे सहदेवी, जीवला आदि पर्यायों से कहा गया है, के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्रथम सन्दर्भ में यह सन्धानीय तथा

१. Ved. ind., 1-33; Ved. Pl., P. 647

२. आ० श्रौ०—२।१।१६; ३।१०।५; का० श्रौ०—१२।३।१०; बौ० श्रौ०—२।१२

हि० गृ०—१।१७।३५; मा० गृ०—१।१७।१-४;

कौ० सू०—८।१५; या० ५।१०

३. ऋ०—१।१२९।३; १०।९९।१०

शौ०—६।४६।१; शं०—१।२।४।१७, १८

कौ० सू०—पिशंगसूत्रमरलुदण्डजं यदायुधम्—४३।१ 'पिशंगकपिलवर्णवद्दर्शो दारुकः स्यात्; अरलुक इति प्रसिद्धाभिधानः'—टी०

गो० गृ०—१।५।१५; पा० गृ०—१।२१; कौ० गृ०—२।६।३; जै० गृ०—१।१

४. Ved. Pl., P. 647

५. शौ०—४।३७।६

६. वि० ध०—६।१।१४

७. बौ० ध०—१।८।३०-३४; शं० लि० ध०—१६८; अ० प०—२।१।३।५; वि० ध०—६।१।२

व्रणरोपण कहा गया है। कौ० सू० (४।४) में अभिघात में लाक्षाशृत क्षीर पिलाने का विधान है। यह अश्वरक्त के समान वर्णवाली (अश्वस्यास्रः संपत्तिता—शौ० ५।६।९) शीतल तथा वातवर्धक ('अपामसि स्वसा लाक्षे वातो ह्यात्मा बभूव ते'—शौ० ५।६।७) होती है। यह पलाश, प्लक्ष, न्यग्रोध, अश्वत्थ आदि वृक्षों से प्राप्त होती है^१।

दूसरे सन्दर्भ में यह स्निग्ध, स्तन्यजनन, विषघ्न, वातशामक तथा रसायन है। त्रायमाणा, जीवला, वीर्यावती, विषदूषणी, नधारिष, जीवन्ती, सहमाना, सहस्वती इन पर्यायों से इसका अभिधान किया गया है।^२ सायण ने इसे सहदेवी माना है।

अन्य स्थलों में वनस्पति से इतर अर्थ में 'अरुन्धती' शब्द प्रयुक्त हुआ है।^३

'अरुन्धती' शब्द का अर्थ अरु (व्रण) का संधानजनन या रोपण तथा जिसकी वृद्धि में कोई अवरोध न हो या जिसके सेवन से शरीर में कोई अवरोध या बाधा उत्पन्न न हो। वैदिक संहिताओं में इन दोनों अर्थों में इसका प्रयोग हुआ है।

मजुमदार स्तन्यजनन तथा बल्य कर्मों के प्रसंग में अरुन्धती को सहदेवी का पर्याय मानकर उससे बला की जाति (*Sida Cordifolia*, *S. rhombifolia*) लेते हैं। पुनः इससे वह सिलाची नामक स्वर्णवर्ण लता लेते हैं जिससे लाक्षा निकलती है। मैकडोनल एवं कीथ द्वितीय अर्थ का ही ग्रहण करते हैं। उनका कथन है कि यह स्वर्णवर्ण होने के साथ-साथ लोमशवक्षण (रोमशकाण्ड) भी थी।^४

अरुणकर^५—यह संभवतः अलपातक के लिए आया है।

अरुन्नाण^६—इसे 'आस्रावभेषज' कहा गया है। 'आस्राव' शब्द से रक्तस्राव, अति-

१. शौ०—४।१२।१-५; ५।५।१-९; (देखें लाक्षा)

२. शौ०—६।५९।१-३; ८।७।६; (देखें सहदेवी)

पै०—१।८।५।१-३; २।२०।५; ९।११।१०; १५।१५।१-९; १५।१६।१-९; १५।१७।१-८; १९।१४।११

३. काठ०—३।७।१०; तै० ब्रा०—३।१।४।८; तै० आ०—३।९।२

४. Ved. Pl., P. 647.

Ved. ind., 1-35.

५. पा०—३।२।२१

६. नीचैः खनन्त्यसुराः अरुणाणमिदं सहस्र ।

तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशब् ॥—शौ. २।३।३; ५; पै०—१।८।३;

अर्क]

(१५)

[अर्क]

सार, अतिमूत्र आदि तथा नाडीव्रण ये भिन्न-भिन्न अर्थ लिये गये हैं ।' इस शब्द की निरुक्ति से यह द्रव्य व्रणपाचन प्रतीत होता है । सायण ने इसकी निरुक्ति इस प्रकार दी है :—

‘अरुः स्नायति पक्वं भवति उपशमनोन्मुखं भवति अनेनेति अरुःस्नाणम्’ ।

‘अरुःस्नाणां अरुषो व्रणस्य पाचनम्’ ।

यह मुञ्ज का पर्याय प्रतीत है । (देखें मुञ्ज)

अर्क—अर्च धातु से निष्पन्न ‘अर्क’ शब्द का अर्थ अर्चनीय होता है । इससे अग्नि, सूर्य, अन्न तथा अर्क वनस्पति का बोध होता है । संहिताओं और ब्राह्मणों में अधिकांश इससे अग्नि तथा अन्न का ग्रहण किया गया है । कृष्णयजुर्वेद की कपिष्ठलकठ-संहिता में एक कथानक आया है कि अंगिरस् महर्षि जब स्वर्गलोक जा रहे थे तब अजा पर उनका स्वेद गिर पड़ा । वह शोकमग्न होकर पर्ण को स्पर्श करने लगी, वह अर्क हो गया । इसीलिए अग्नि के समान योनि होने के कारण अर्कपर्ण से हवन करते हैं । तैत्तिरीयसंहिता में भी यही मन्त्र है । इससे अर्क के आग्नेय स्वरूप (उष्णवीर्य, तीक्ष्णगुण आदि) का संकेत होता है । अथर्ववेद की शौनकीय संहिता में अर्कमणि को वाजीकरण बतलाया है । स्नातककर्म में भी इसका विधान है ।

ब्राह्मणग्रन्थों में इसे अग्नि तथा अन्न कहा गया है । इससे इसके दीपन-पाचन के साथ साथ बल्य-वृष्य कर्म का भी संकेत होता है । एक स्थल पर इसे अग्नि, आदित्य और प्राण कहा गया है; यह इसके औषधीय महत्त्व तथा लोक में प्रचार का द्योतक है ।

शतपथब्राह्मण (१०।३।४।२-५) में अर्क वनस्पति को पुरुषरूप देकर उसके विभिन्न अंगों का विस्तार से परिगणन किया गया है यथा—

अर्कपर्ण—कर्ण

अर्कपुष्प—अक्षि

अर्ककोशी (द्वय)—नासिका (द्वय)

अर्कसमुद्गौ (द्वय)—ओष्ठ (द्वय)

अर्कधाना—दन्त

१. आस्रवन्तीति आस्रावाः अतीसारातिमूत्रनाडीव्रणादयः ।—सायण

अर्क]

(१६)

[अर्क]

अर्काष्टीला—जिह्वा

अर्कमूल—अन्न

इससे इसके विभिन्न अंगों की आकृति का परिज्ञान होता है। जिस प्रकार अर्क को अन्न उसी प्रकार उसके पुष्प को रस माना गया है। इस प्रकार अर्कपुष्प अन्नरस का बोधक है। इससे प्रतीत होता है कि अर्कपुष्प का खाद्यरूप में प्रयोग होता था। शांखायन आरण्यक में अर्क को अग्नि तथा अर्कपुष्प को आदित्य कहा है।

निघण्टु में 'अर्क' शब्द अन्न तथा वज्र का वाचक है जिससे इसकी पोषकता तीक्ष्णता एवं भेदकता की प्रतीति होती है। यास्क ने निरुक्त में—इससे देव, मन्त्र, अन्न तथा वनस्पति का ग्रहण किया है। वनस्पति के सन्दर्भ में लिखा है :—अर्को वृक्षो भवति, संवृत्तः कटुकिम्बा—अर्थात् इसे अर्क कहते हैं क्योंकि यह कटुत्व (उष्णता—तीक्ष्णता) से युक्त होता है।

श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में अर्कपर्ण से होम करने का विधान है। अर्क की सुवा का भी निर्देश है। अर्क की समिधा आदित्य के लिए निर्धारित हैं। अर्क की मेखला भी बनाई जाती है तथा स्नातककर्म में इसकी मणि का धारण कण्ठ में करते हैं। पारस्करगृह्यसूत्र में मूलविधि में अन्य ओषधियों के साथ इसका निर्देश है।

हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र में उल्लेख है कि यदि शरीर में कहीं क्षत हो या कोई जानवर काट ले तो अर्कक्षीर अजाक्षीर में मिलाकर लगावे। अर्क के स्थूल काण्ड का अग्नि (स्तम्भ) बनाने का भी विधान है। गृह्यशान्तिकर्म में इसे दरवाजे पर लगाने का निर्देश है। श्मशानायतन से उखाड़ी जाने वाली ओषधियों में भी यह है। अपत्नीक वानप्रस्थों में एक सम्प्रदाय था जो अर्कदुग्ध खाकर रहता था। अर्क के दन्तधावन का भी विधान है।

कौशिकसूत्र में विज्ञान-कर्म प्रकरण में अर्क का प्रयोग है। इसके अतिरिक्त, अर्क का मणि उसी की त्वचा के सूत्र में बाँधकर धारण करने से वाजीकरण होता है। अथर्वपरिशिष्ट में यह आदित्य ग्रह की समिधा बतलाई गई है। शान्तिकर्म के योग्य स्थान अर्क आदि वनस्पतियों से रहित होना चाहिए। आसुरीकल्प-प्रकरण में कहा है कि आसुरी (राजिका) का अर्कसमिधा के साथ अग्नि में हवन करने से विस्फोट उत्पन्न होते हैं तथा अर्कक्षीर से भावित राजिका का अर्काग्नि में होम करने से आंखें फूट जाती हैं। इन सबसे अर्क की तीक्ष्णता

अर्क]

(१७)

[अर्जुन

का संकेत मिलता है । अर्क, काश्मरी तथा निम्ब की समिधायें शत्रुशासन कही गई हैं ।^१

अर्जुन—ऋग्वेद में 'अर्जुन' शब्द 'श्वेतवर्ण' का वाचक है और इसी कारण कहीं-कहीं

१. अर्कपर्णेन जुहोति । अर्को वाग्निः । अर्केणैवैनमर्कादधि निरवजयते । अंगिरसो वै स्वर्गलोकं यन्तरतेऽजाया घर्म प्राप्सञ्च । सा शाचन्ती पर्ण परामृशत् । सोऽर्कोऽभवत् । तदर्कस्यावस्वम् । यदर्कपणं न जुहोति सयोनित्वाय ।—कं ३१२१, तै०—५।४।३।३ 'यथासितः प्रथयते वशी अनुवर्षिषि कृण्वन्नसुरस्य मायया ।

एवा ते शेषः सहसायमर्कोऽङ्गनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥

—शौ० ६।७२।१

अर्को वाग्निः—श० २।५।१।४ अर्क अर्चनीयम् (सा०)

अन्नमर्कः—श० १।१।१।४; 'अग्निर्वाऽर्कः, आदित्यो वाऽर्कः, प्राणो वाऽर्कः—

—श० १०।६।२।५-७

'वेत्थार्कपर्णे इति कर्णो—एषोऽग्निरर्को यत् पुरुषः—श० १०।३।४।२-५

'अथार्कपुष्पं अन्नं वाऽर्कः । तस्यतत् पुष्पं यत् आरण्यम्'—जै० ब्रा० २।१४; ३।२५६

'अग्निरर्कोऽसावादित्योऽर्कपुष्पम्'—शा० आ० १।४

ऐ० आ०—१।५।२; २।१।१

'अन्नं वा अर्कः'—तां० १।४।१।९; 'अन्नं खल्वशनसाधकत्वादर्क इत्युच्यते—सा०

'अर्कपुष्पं भवति'—तां० १।५।३।२२ अर्कपुष्पाख्यं साम—सा०

'अन्नं वै देवा अर्क इति वदन्ति रसमस्य पुष्पमिति सरसमेवास्नाद्यमवरुन्धेऽर्कपुष्पेण तुष्टवान् । तस्मादन्नरसयोर्वाचकोऽर्कपुष्पशब्दः'—सा० (१।५।३।२३)

निघ०—२।७, २।२०

अर्को देवो भवति । यदेनमर्चन्ति । अर्को मन्त्रो भवति । यदनेनार्चन्ति । अर्कमन्नं भवति । अर्चन्ति भूतानि । अर्को वृक्षो भवति । संवृत्तः कटुकिश्ना ।—या० ५।४

वा० श्रौ०—२।२।३।३; वौ० श्रौ०—१।१।४।२७; १।०।४।१४; हि० श्रौ०—२।१।२।८; २।१।१।४;

'यद्युद् वा पतेत् सं वा विजेत शार्दूलो वा हन्यादर्कक्षीरस्याजाक्षीर आश्रोत्य प्रचरेत् ।'

—२।४।१।९; २।४।२।५; २।३।२।३; १।३।३।४; १।१।१।३; १।१।१।११;

का० श्रौ०—४।१।१।८; १।८।१।१;

बौ० गृ०—२।७।२।३; जै० गृ० १।१।९; २।६; ९; कौ० गृ० २।६।९; भा० गृ० २।२

पा० गृ०—१।२।१; वि० घ०—६।१।१४; वै० घ०—१।८।३

कौ० सू०—४०।१।६; ३।८।७; ६;

के० प०—४०।१।६ (शिशनस्य स्थूलकरणम्—एकशास्त्रार्कमणिं अर्कसूत्रेण बध्नाति)

अ० प०—२।६।५।६-७; २।१।३।५; ३।०।४।२-३; ३।५।१।६-१२; ३।६।२।१; ६।५।३।३;

७०।१।६-९;

नि० सू०—४।७; ७।७; ऋ० तं—२।३।४; मा० शि०—४।२

पा० ग०—४।२।९०

२ द्र० च०

इससे श्वित्ररोग का भी ग्रहण हुआ है (ऋ० १।१२२।५) । यास्क ने भी इसका अर्थ 'श्वेत' किया है । शीतकसंहिता में भी यही अर्थ है यद्यपि सायण ने इसका वैकल्पिक अर्थ अर्जुनवृक्ष किया है । काठकसंहिता में ऐसा वर्णन है कि अर्जुन दो प्रकार का होता है लोहिततूल और बभ्रुतूल । इन्द्र ने जब वृत्र का वध किया तो उस समय उसका जो रक्त निकला वह लोहिततूल अर्जुन तथा ग्रीवा से जो लसीका निकली वह बभ्रुतूल अर्जुन हुआ । 'तूल' शब्द से सायण 'मञ्जरी' का ग्रहण करते हैं । बभ्रुतूल अर्जुन की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—'तूलसमबभ्रुवर्णमञ्जरी-मूलानि अर्जुनानि श्यामलानि तृणानि'—सा. (तां. ९।१।७) । इसका एक पर्याय 'फाल्गुन' है । बभ्रुतूल फाल्गुन का प्रयोग मेध्यतर कहा गया है (जै. ब्रा. १।३५४) । ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों में इसे सोम का प्रतिनिधिद्रव्य माना है । ऐसा विधान है कि यदि सोम न मिले तो पूतीक ओर यदि पूतीक भी न मिले तो अर्जुन का प्रयोग करे । सोम के पुष्पों से अर्जुन की उत्पत्ति बतलाई गई है । इससे पता चलता है कि इसमें पुष्प होते हैं । सायण ने कहीं इसे हरितवर्ण (तां० ८।४।१), और कहीं श्यामल तृण (तां० ९।५।३) कहा है । कोशिकसूत्र में बभ्रुवर्ण अर्जुन के काण्डभाग को सीकर धारण करने से क्षेत्रिय रोग में लाभकर बतलाया है । जो कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट है कि उपर्युक्त वर्णन किसी तृणजाति की वनस्पति की ओर संकेत करता है न कि अर्जुनवृक्ष की ओर । दूसरी ओर, अनेक स्थलों पर सायण ने 'अर्जुन' शब्द से अर्जुनवृक्ष लिया है । (देखें जङ्गल)

१. ऋ०—१।१२२।५; ३।३९।२; ३।४४।५; ३।५।९।१; ७।५।५।२; काठ०—३।४।३

शौ०—२।८।३; २।३१।२; ४।३७।५; ५।२३।९; ५।२८।५, ९; १३।३।२६

(अनेक स्थलों पर हरित और अर्जुन साथ-साथ आये हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि ये दो वनस्पतिविशेष हैं या एक ही वनस्पति के दो भेद हैं)

शं०—२।१।२।११; ५।४।३।७; ऐ० ब्रा०—५।१।५; का० ब्रा०—१।१।२।७;

शां० ब्रा०—२३।८; मं०—२।७।३; तां०—८।४।१; ९।५।३; ७;

तै० ब्रा०—३।१०।७।१; तै० आ०—६।९।१

निघ०—३।७; १।८; आ०—२।२।१

का० श्रौ०—२।५।१।२।८ (अर्जुनशब्दश्चात्र तृणविषयः—भा०)

हिं० श्रौ०—१।५।६।१।५; वो० पि०—१।१।७।२; कौ० सू०—२६।४।३; पा० ग०—२।४।१।१;

४।२।८०

यत्र वः प्रेङ्क्षा हरिता अर्जुना उत यत्रावाहाः कर्कर्यः संबवन्ति ।

तत्परेताप्सरसः प्रतिबद्धा अभूतन—शौ० ४।३७।४

'यद्वा हरिद्वर्णाः श्यामला वृक्षा अर्जुनाख्याः'—सा०

अर्जुनपाकी]

(१९)

[अवका

अर्जुनपाकी—

अलसाला—यह एक प्रकार की सस्यमञ्जरी है। कोशिकसूत्र में इसे आल (एक प्रकार की गोधूमव्याधि) का भेषज कहा गया है।

अलाका—कोशिकसूत्र (३१।२८) में इसका प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ भृङ्गराज किया गया है। केशदोष में इसका उपयोग है।

अलावू—ऋग्वेद में यह उपलब्ध नहीं है। अथर्ववेद की शौनकीय तथा पैप्पलाद शाखाओं में इसका उल्लेख मिलता है। कहीं 'अलावुक' शब्द भी मिलता है। इसका विषय प्रयोग है विशेषतः सर्पविष में। अलावू के सूखे फलावरण का पात्र भी बनता था।

विष्णुधर्मसूत्र में अलावू निषिद्ध आहार में है। बोधायन धर्मसूत्र में अलावूपात्रों की शुद्धि गोवालों से करने का विधान है। कोशिकसूत्र में भी सर्पविषय प्रयोग है। अथर्वपरिशिष्ट के यज्ञपात्र-प्रकरण में इसका उल्लेख है।^३

अवका—यह शैवाल का प्राचीन नाम है। सायण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है :—'अवका नाम हृदादिजलेषु स्तवकाकारेण प्ररोहन्तो हरितवर्णाः पदार्थाः शैवालानीत्यर्थः' (शं० ८।३।२।१।६); अर्थात् यह तालाव आदि के जल में समूहबद्ध होकर होने वाला हरितवर्ण द्रव्य है। जल में उत्पन्न होने के कारण यह शीतल तथा अग्निशामक माना गया है। तैत्तिरीयसंहिता में कहा है कि वेतस जल का पुष्प है तथा अवका उसका शर है। (अवका का भक्षण करने वाले) गन्धर्व-पिशाचों को 'अवकाद' कहा गया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में

१. पा० ग०—४।३।१६७

२. शौ०—६।१६४; अलसाला नाम काचिन् सस्यविशेषस्य मञ्जरी—सा०

अ० अ०—६।१६; अ० प्रा०—३।४।१; कौ० सू०—५।१।५ 'अलसालेत्यालभेषजम्' (आलं गोधूमव्याधिः)

३. शौ०—८।१।१४; ८।१।५; २०।१३।१,२; २०।१३।५

पै०—१।१।३।६०-९; मै०—४।२।१३

आ० श्रौ० (उ०)—२।३; वैता० श्रौ०—३।२।५; वि० ध०—७।१।७;

बौ० ध०—१।१।१०; कौ० सू०—२९।१३; ३९।२०; अ० प०—२३।५।१; पा० वा०—५।२।२९;

पा० म०—६।३।६१; ४।१।६६

और देखें!—

Ved. Pl., P. 646

Ved. ind., 1-39

अवधन्ती]

(२०)

[अश्मन्तक

लिखा है कि घर की नींव में शैवाल दे देने से उसमें आग लगने का भय नहीं रहता ।

अवधन्ती^२—सायण ने लिखा है कि यह अपनी गन्ध से अनेक विषों को नष्ट करती तथा कीटों को मारती है ।

अवालिप्स—

अशोक—अथर्वपरिशिष्ट में यह अग्नि के उपमान के रूप में आया है । एक स्थल पर ऐसा भी निर्देश है कि अशोक-पुष्पों को मधु और दुग्ध के साथ पिला कर होम करने से गन्धर्वपद प्राप्त होता है । उपर्युक्त वर्णन से अशोक के रक्तवर्ण पुष्पों का संकेत मिलता है ।^३

अश्मगन्धा^४—श्मशानभूमि में इसे नहीं रखने का विधान है । संभवतः यह अश्वगन्धा है ।

अश्मन्तक^५—उपनयन में मुञ्ज के अभाव में इसकी रचना का विधान किया गया है । इससे प्रतीत होता है कि इसके वल्कल में दृढ सूत्र होते हैं । केशव ने को० सू० (८।१५) की व्याख्या में लिखा है—‘अश्मन्तकः भृगुकच्छे प्रसिद्धः’—

१. शौ०—४३७८-१०; पै०-१।७।१-१५; १६।१२९

मा०—१७४; २५१; मै०—३।३।६; २।१०१; काठ०—२१।७

ते०—५।४।४२; ५।४।२।१; ४।६।१।१

श०—९।१।२।२०-२४; ७।५।१।११; ८।३।२।५, ६; १३।३।४।१

का० श्रौ०—२५।८।२; १७।९।५; २१।४।१९; हि० श्रौ०—२८।४।१०; २४।६।१२; १२।४।१;

११।७।४२; बौ० श्रौ०—१०।५०; ४७; ३९; २७; ९।१३; पा० ग०—७।३।४५

भा० गृ०—२।८।१४; कौ० सू०—५२।७; ४०।५; ८२।२६ (के० प०)

‘अवकोत्वा उदकात्मानः ओषधयः । न्युषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्गयः ॥’ शौ० ८।७।९

‘गन्धर्वानवकादान्’ ‘अवकादान् पिशाचान्’—४३७८-१०

AVAKĀ is a grassy plant growing in marshy land (BLYXA OCTANDRA)—Griffith.

२. अदष्टान् हन्त्यायत्यथो हन्ति परायती । अथो अवधन्ती हन्त्याथो पिनष्टि पिपती ॥

—ऋ० १।१९।१२

‘अवहन्यमानौषधिः स्वगन्धेन हन्ति बहुविषान् ; यद्वा काचिदोषधिर्दशकान् मारयत्येव’—सा० ६

३. ‘अवालिप्सः स यो मणिः सहस्वान् अभिमातिहा’—पै० १।१६९।१-३

४. ‘किंशुकाशोकपद्मसो नीलोत्पलनिभस्तथा । वह्निः सिद्धिकरो ज्ञेयः’—अ० प० २१।७।३; २९।१।६; ७०।१२।५; पा० ग०—७।३।४६

५. श०—१३।८।१।१६; का० श्रौ०—२२।११५-१६७

६. पा० गृ०—२।५।२७ (मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकवत्त्वजानाम्)

अश्मयोक्तः]

(२१)

[अश्वत्थ

अश्मयोक्तः^१—कोशिकसूत्र में शान्तवृक्षों में इसकी गणना की गई है। दारिज ने अपनी व्याख्या में 'अश्मयोक्ता मंतकः' लिखा है; संभवतः यह अश्मन्तक होगा और लिपि-दोष से 'मंतकः' हो गया है।

अश्मला^२—

अश्वगन्धा^३—इसके मूलस्वरस का दक्षिण नासापुट में नस्य गर्भलम्भन कहा गया है।

अश्वत्थ^४—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। इसकी उत्पत्ति के विषय में अनेक आख्यान हैं। मैत्रायणी संहिता (१।६।१२) में है कि प्रजापति प्रजा की सृष्टि कर अश्व के रूप में भूमि में अपना शिर नीचे छिपा कर स्थित हो गये। उन्हीं के शिर से इस वृक्ष की उत्पत्ति हुई अतः अश्व से उत्पन्न होने के कारण इसे अश्वत्थ कहा गया। दूसरी कथा यह है कि अग्नि देवों से भाग कर अश्वरूप होकर इस वृक्ष में छिप गये, अश्वरूप अग्नि का अधिष्ठान होने से यह अश्वत्थ कहलाया (तै० ब्रा० १।१।३।९), शतपथ ब्राह्मण (१२।७।१।१) के अनुसार इन्द्र की त्वचा से परिश्रुत रस से अश्वत्थ की उत्पत्ति हुई। इन प्रतीकों से क्रमशः इसके मेध्य, आग्नेय तथा बल्य गुणधर्म का संकेत होता है। अग्नीषोमीय सिद्धान्त से अश्वत्थ अग्नितत्त्व का प्रतीक है तथा शमी सोमतत्त्व का प्रतीक है दोनों के काष्ठों के परस्पर मन्थन से यज्ञाग्नि रूप सन्तति उत्पन्न होती है। इसके पात्र का भी यज्ञ में उपयोग है। अश्वत्थ के काष्ठ से अश्वमेध यज्ञ में अश्वशाला के निर्माण का विधान है। इसके अतिरिक्त, शंकु, शय्या, पात्र आदि इसके बनते हैं। अथर्ववेद में शत्रुनाशन के लिए इसका प्रयोग हुआ है। ऐतरेय-ब्राह्मण में इसे वनस्पतियों का सम्राट् कहा गया है (७।३२; ८।१६)। उन्माद रोग में इसके इन्धन का होम करते हैं। इसकी समिधा बृहस्पति और शनि के लिए निर्दिष्ट है। उपनयन में इसका दण्ड क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए विहित है। राजसूय यज्ञ में अभिषेक-पात्र अश्वत्थ का ही बनता है। आरोपणीय वृक्षों में

१. कौ० सू०—८।१५

२. पै०—१।८९।३

३. पेषयित्वाऽश्वगन्धायाः मूलं शुद्धाम्बरे क्षिपेत् ।

ऋचोदीश्वति इत्यस्याः दक्षिणे नामिकापुटे ॥

निष्पीड्य पिष्टं तन्मूलं वस्त्रसंशोधितं ततः ।

एवं कृत्वा पगमने कृतं स्याद् गर्भलम्भनम् ॥—आ० गृ० का० १।४।३-५

४. अश्वत्थ का फल पिप्पल कहलाता है। वृद्धारण्यक उपनिषद् (४।३।३६) में भी आया है—'आम्रं त्रिदुम्बरं वा पिप्पलं वा वन्यनाम् प्रमुच्यते'। आम्रं चरु कर संभवतः इसी आधार पर वृक्ष की संज्ञा पिप्पल (पोपल) हो गई।

अश्वत्थ]

(२२)

[अश्वत्थ

इसकी गणना की गई है तथा अश्वत्थसेवा दुःस्वप्न नाशन कही गई है । यमलकल्प (युग्म सन्तान होने) में इससे तथा अन्य क्षीरी वृक्षों से स्तनपन का विधान है । कौशिकसूत्र में जपकर्म तथा सेनाकर्म में इसका उपयोग है । अथर्वपरिशिष्ट में नक्षत्रस्तान-विधि (कृत्तिका नक्षत्र) तथा पुष्पाभिषेक में इसका उल्लेख है । शमी, पलाश, खदिर, विकंकत, अश्वत्थ, काश्मर्य, उदुम्बर तथा बिल्व ये यज्ञवृक्ष कहे गये हैं (अ० प० २३।६।५) । अश्वत्थ में कुसुमोद्भव उत्पातलक्षण माना गया है, क्योंकि सामान्यतः इसमें फूल प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं पड़ते ।

१. ऋ० १।१३।५८; १०।९७।५; ६।४७।२४ (राजा का नाम)

मै०—१।६।५, १२; २।२।१; ४।४।२; तै०—३।४।८।४; क०—६।७

शौ०—३।६।१-८;

पै०—१।६।१-४; २।५।१-५; ३।३।१-८; ७।५।४; १।१।६।६; १।३।४।७; १।१।९।१२-१४

स०—१।१।१।१३-१७; १।२।७।१।९; १।२।९।१।३

ऐ० ब्रा०—७।३०, ३२; ८।१६; गो० १।२।१।५; तै० ब्रा०—१।१।३।९

क—२।६।१; छ०—८।५।३;

का० औ०—१।३।३।६; ४।८।२०; १।४।४।२।८; १।५।५।३।८; १।२।१।५; २।१।३।२०

हि० औ०—३।३।६; ८।१।१; १।१।३।२०; १।३।२।१०; १।३।५।२।१; १।४।२।२०; १।७।८।४; २।२।३।२।९

बौ० औ०—१।६; ७; १२; १।२।३; ६; १।३।२२; १।४।१।८; १।८।८; ४।५

आप० औ०—१।५।१०; ५।५।२; ९।६।६।५

वा० औ०—३।३।२।२।८; ४।८; २।१।२।२।७; १।४।१।१०; १।२।४।२

आ० औ०—२।१; वैता० औ०—३।२।२।५

जै० गृ०—१।१।९; २।९; बो० गृ० २।१।१।६; वा० गृ०—५।४।४; मा० गृ०—२।६।४

गो० गृ०—२।१०।८-१२; काठ. गृ०—४।१।२।८; पा० गृ०—१।२।१; १९; २।१।५।३-४;

कौ० गृ०—२।६।९; हि० गृ०—१।९।७।३।५; २०।३।१।९;

गौ० ध०—१।२।३; शं० लि० ध०—२।६ (१); कर्म०—१।७।१-२; नि० सू०—९।९

कौ० सू०—१।६।२०; १।६; १।१; १।४; १।५।१; ४।८।१; ३।१; ५।७।५

अ० प०—१।४।३।१; २।१।३; २।१।३।२; २।२।१।४; ५; २।२।२।१; २।३।५।५

२।६।५।१-७; ३०।४।२-३; ४०।३।२; ६।४।८।३; ६।८ ७।१।१।६।१

अ० अ०—३।६; पा०—४।२।२।२; ४।२।२।२; ४।३।४।८; पा० म०—१।१।२; ४।३।२।५

पा० ग०—४।१।४।१; ४।२।८०; ९०; ४।३।१।६।४; ४।४।१०; ५।२।२।४; ६।२।८।५

Vcd. ind.—1-43-44

‘यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः । तत्पेरताप्सरसः प्रतिबद्धा अभूतन ॥’

‘अश्वत्थः खदिरो धवः’—शौ० २०।१३।१।१४

—शौ० ४।३।७।४

अश्वत्थ]

(२३)

[अश्ववार

उपर्युक्त वर्णन से अश्वत्थ का लोक में प्रचार तथा इसके महत्व और वीर्य का परिज्ञान होता है ।

मैकडोनल एवं कीथ ने ऋग्वेद (१।१३५।८; १०।१७।५) में अश्वत्थ के बने पात्रों का उल्लेख किया है जो ठीक नहीं है । इसी प्रकार ऋ० (१।१६४।२०-२२) में 'पिप्पल' शब्द से अश्वत्थ का ग्रहण किया है किन्तु वस्तुतः वह 'पक फल' का बोधक है ।

अश्वचार (ल)^१—टीकाकारों ने इनका अर्थ 'काश' किया है ।

'अलावूनि पृषातकान्यश्वत्थपलाशम्'

—शौ० २०।१३।३

'शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम् । तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भ्रामसि ॥'

—शौ० ६।१।१

'अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजाऽमृतं हविः । ब्राह्मिवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमृत्यौ ॥'

—शौ० ८।७।२०

'अमूनश्वत्थ निःशृणीहि खादामून् खदिराजिरम्'

—शौ० ८।८।३

पुमान्पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।

स हन्तु शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ १ ॥

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून्वैबाधदोषतः ।

इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥

यथाश्वत्थ^२ निरमनोऽन्तर्महत्स्यर्णवे ।

एवा तान्सर्वाग्निर्भङ्ग्निध यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥

यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।

तेनाश्वत्थ स्वया वयं सपत्नान्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

सिनास्वेनाग्निर्ऋतिसृत्योः पाशैरमोक्यैः ।

अश्वत्थ शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥

यथाश्वत्थ बानस्पत्यानारोहन्कृणुषेऽधरात् ।

एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिर्बन्ध सहस्व च ॥ ६ ॥

तेऽधराच्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात् ।

न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥

प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।

प्रैणान्वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

—शौ० ३।६।१-८.

१. मै०—३।७।९; क०—३।८।१; शौ०—१०।४।२

शौ०—३।४।१।७; (अश्ववालाः दर्भविशेषाः काशाः—टि०)

हि० श्रौ०—४।५।१७; बौ० श्रौ०—६।१०; आप० श्रौ०—१०।१०।२०

अश्वावती]

(२४)

[आखु

अश्वावती^१—ऋग्वेद में इसका उल्लेख हुआ है ।असन^२—इसका दन्तधावन विहित है ।असिक्ती—सायण ने इसका अर्थ नीली नामक ओषधि किया है । अथर्ववेद में शिवत्र तथा पलित में रञ्जन के लिए प्रयोग किया गया है । ऋग्वेद में यह नदोविशेष के लिए आया है जिससे चन्द्रभागा (चेनाव) का ग्रहण करते हैं ।^३ कोशिकसूत्र में तिमिरक (?) लिया है ।

असिपत्र—अथर्वपरिशिष्ट में इसके वन का उल्लेख है । (अ० प० १।४।२)

अस्तृत^४—अथर्ववेद में इससे मणि का धारण अंजोवर्धक, रक्षाघ्न तथा शत्रुनाशन बतलाया गया है । सायण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है—“अथवा अतिशयित प्रभाव के कारण त्रिवृन्मणि को ही ‘अस्तृत’ कहने हैं ।”अहिच्छत्रक^५—आकाशफेन^६—

आकृतिलोष्ट्र—(कौ० सू० ८।१६)

यह शान्त ओषधियों में परिगणित है ।

आखु—मूत्रसंग में अन्य ओषधियों के साथ इसका पान कराते हैं^७ ।

१. अश्वावती सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम् ।

आविस्सि सर्वा ओषधीरस्मा आरिष्टतातये ॥—ऋ० १०।१७।७

तै०—४।२।६।३; क०—२।५।४; पै०—१।१।६।१०

२. वि० ध०—६।१।१४

३. ऋ०—७।५।३; कौ०—२।८।९।६; जै०—४।१।३।९; शौ०—८।७।१; ५।१।३।८; १।२।२।२०; पै०—१।१।६।१

‘नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्ति च । इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥’

—शौ० १।२।३।१

‘असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव । आसिकन्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥’

—शौ० १।२।३।३

तै० ब्रा०—२।४।४।१, २; तै० आ०—१०।१।१।३; अ० अ०—१।२।३;

कौ० सू०—२।६।२।२; निघ०—१।७; या०—१।२।६ (असिकन्यशुक्लासिता) पा० म०—४।१।३।९

४. शौ०—१।१।४।१-७; पै०—४।२।३।१-७; ८।७।१-११

‘त्रिवृन्मणिरेव वा अतिशयितप्रभावत्वात् अस्तृतसंज्ञया उच्यते’—सा०

५. छुम्पमहिच्छत्रकं भवति—या०—५।१।६

६. कौ० सू० ८।२।२६ (प०)

७. कौ० सू० २।५।११ (आखुकिरिपूतीकमथितजरत्प्रमन्दसान्नस्कान् पाययति)

आघाट]

(२५)

[आञ्जन

आघाट^१—यह संभवतः अपामार्ग का वाचक है । (देखें अर्जुन)

आञ्जन —इस नाम का एक वृक्ष है । शतस्यत्राह्ण (३।१।३।११) में 'अश्मा ह्याञ्जनम्' लिखा है जिससे प्रतीत होता है कि यह खनिज पदार्थ था तथा नेत्र

१. शौ०—४।३।७।५

२. शौ० ४।१।१-८; १।६।११;

‘आञ्जनस्य मदुघस्य कुण्ठस्य नलदस्य च ।

तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥—शौ० ६।१०।३३

एहि जंवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्षपम् । विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गत्रामसि । अश्वानामर्बतां परिपाणाय तस्थिषे ॥

उनासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन ।

उतामृतस्य त्वं वेत्थाथा असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥

यस्याञ्जनं प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुषपरुः । ततो यक्षं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिषोचनम् ।

नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा विभर्त्याञ्जन ॥

असन्मन्त्राद् दुष्पण्यद् दुष्कृताच्छमलादुत ।

दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्माच्चः पाह्याञ्जन ॥

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् ।

सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥

त्रयो दासा आञ्जनस्य तवमा बलास आदहिः ।

वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुक्षाम ते पिता ॥

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि ।

यातृश्च सर्वाञ्जम्भयत् सर्वाश्च यातुधान्यः ॥

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे ।

उभे ते भद्रे नामनी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन ॥—शौ० ४।१।१-१०

ऋणाहणमिव संनयन् कृत्यां कृत्याकृतो गृहम् ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृथ्वीरपि शृणाञ्जन ॥

यदस्मासु दुष्पण्यं यद् गोषु यच्च नो गृहे ।

अनामगस्तं च दुर्हार्दः प्रियः प्रति सुञ्चताम् ॥

अपामूर्जं ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः ।

चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करिच्छिवास्ते ॥

चतुर्वीरं बध्यन् आञ्जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु ।

ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चार्य इमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम् ॥

आचवैकं मग्निमेकं कुरुष्व स्नाह्येकेना पिबैकमेषाम् ।

चतुर्वीरं नैऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान् ॥—शौ० ११।४।१।१-५

में अञ्जन के लिए उपयुक्त होता था किन्तु अथर्ववेद में इसका ऐसा सीमित अर्थ नहीं है। वहाँ अञ्जन त्रैककुद् पर्वत पर तथा यमुनाप्रदेश में होने वाला (त्रैक-मुद तथा यामुन) कहा गया है तथा हरिमा, जायान्य, अंगभेद, विसत्पक, हृद्रोग आदि में लाभकर बतलाया गया है। विशेषतः तक्मा, बलास तथा आदहि में उपयुक्त है। अञ्जन का मधुक, कुष्ठ तथा नलद के साथ लेप सीभाग्य-करण होता है। त्रैककुद अञ्जन बाह्य (स्थलीय) तथा पर्वतीय औषधियों में सर्वोत्तम माना गया है। इसका प्रयोग चार प्रकार से होता है—अञ्जन, मणिधारण, स्नान तथा पान। पैप्पलाद संहिता में यह नेत्र्य, रसायन, रक्षोघ्न, दुःस्वप्ननाशन तथा क्षेत्रियनाशन कहा गया है। कोशिकसूत्र में यह गर्भवृंहण में निर्दिष्ट है।

‘आञ्जनगन्धि सुरभि’ ऋग्वेद (१०।१४६।६) के इस वचन से प्रतीत होता है कि यह कोई अत्यन्त सुगन्धि औषधि है जिससे सारा वन्य प्रदेश सुरभित रहता है। पुनः दूसरे प्रमाण में इसके घी के अञ्जन का विधान है। सायण इसका अर्थ कस्तूरी आदि करते हैं जो ठीक नहीं है। कुष्ठ, नलद आदि के साथ

आयुषोऽसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे । तदाञ्जन त्वं शंताते शमापो अभयं कृतम् ॥
 यो हरिमा जायान्योऽङ्गभेदो विसत्पकः । सर्वं ये यक्षममङ्गेभ्यो बहिर्निर्हन्वाञ्जनम् ॥
 आञ्जनं पृथिव्यां जातं अद्रं पुरुषजीवनम् । कृणोत्वप्रमायुकं रथजूतिमनागसम् ॥
 प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड । निश्च्यते निश्च्यत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥
 सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम् । वातः प्राणः सूर्यरश्मिर्दिवस्पयः ॥
 देवाञ्जन त्रैककुदं परि मा पाहि विश्वतः । न त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत ॥
 वीदं मध्यमवासृपद् रचोहामीवचातनः । अमीवाः सर्वाश्चातयन् नाशयदभिभा इतः ॥
 बह्वीदं राजन् वरुणानृतमाह पुरुषः । तस्मात् सहस्रवीर्यं मुञ्च नः पर्यहसः ॥
 यदापो अध्वन्या इति बहणेति यदूचिम । तस्मात् सहस्रवीर्यं मुञ्च नः पर्यहसः ॥
 मित्रश्च त्वा वरुणश्चानुप्रेयसुराञ्जन । तौ त्वानुगत्य दूरं भोगाय पुनरोहतुः ॥
 —शौ० १९।४४।१-१०-

पै०—१।५।१-४; ८।३।१-१३

तै०—१।६।८।९; ६।१।१।५; मै०—३।६।३; ऋ०—१०।१४६।६; १०।१।८।७; शं०—३।१।३।१०-१५; ऐ० ब्रा०—१।३; तै० ब्रा०—३।१।२।६।४; शां ब्रा०—३।४

पा० ग०—५।२।६२; ६।३।१।७; शां० श्रौ०—१।१।०।२; का० श्रौ०—२०।१।८; कौ० सू०—५।८।८; के० प०—३।५।२।१

लेप से भी पता चलता है कि यह कोई सुगंधित द्रव्य है ।^१ नेत्ररोगों में इसका विशेष प्रयोग होने से परवर्ती काल में इसका उपयोग वहीं तक सीमित हो गया तथा तत्कार्योपयुक्त अन्य खनिज द्रव्य के साथ वह एकाकार हो गया ।

आटरूष^२—

आण्डीक^३—यह अण्डाकृति कन्द से उत्पन्न होनेवाली जलज वनस्पति है । मजुमदार ने इससे कुमुद (*Nymphoea alba*) तथा मेकडोनल एवं कीथ ने कमलसदृश किसी वनस्पति का ग्रहण किया है जिसके पत्र या फल अण्डाकार होते हैं ।

आदार^४—ऋग्वेद में यह शब्द आता है । सायण ने इसका अर्थ किया है प्रेरक—“आदारयतीति आदारः प्रेरकः” । यह सोम के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है । ब्राह्मणग्रन्थों तथा परवर्ती वाङ्मय में यह सोम के प्रतिनिधि के रूप में निर्दिष्ट हुआ है । शतपथब्राह्मण में इसीका पर्याय ‘पूतीक’ कहा है । सायण ने अनेक स्थलों पर इसका परिचय भिन्न-भिन्न रूप में दिया हैः—

१. आदाराः प्रसिद्धानि मध्यदेशतृणानि—(श. ४।५।१०।५)

२. आदारान् आदीर्यावस्थितान् पूतीकशब्दाभिधेयान् सोमप्रतिनिधित्वेन चोदितान् लताविशेषान्—(श. १४।१।२।१२)

३. आद्रियन्ते सोमरहितैस्तात्पर्येण स्वीक्रियन्ते इत्यादाराः क्षीरयुक्तवल्लीविशेषाः—(तै० का० १।४।७।५; ६)

कहीं तृण, कहीं लता और कहीं क्षीरयुक्त वल्ली करने से पता चलता है कि सायण को भी इसका वास्तविक परिज्ञान नहीं था । शतपथब्राह्मण में यह भी लिखा है कि यह अग्नि में डालने पर जलने लगता है तथा सुगंधित है^१ ।

१. ‘In the sixth century B. C. India had several groves of Anjana (Name of a tree, Black tree)—Jat. 1.331’—Quoted from B. C. Law : Ancient Indian Flora, Indian Culture, Vol. IV, Nos. 1-4.

२. पा० उ० ओ०—२।३।१६७; के० प०—३।५—१२

३. ‘आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली’—शौ०—४।३।५; पा१।७।१६ पै०—१०।२।१०; कौ० सू०—६६।१०; ‘अण्डाकृतेः कन्दादुरपन्नम्’—सायण Ved. Pl.—p. 646.

Ved. ind.—1-56.

४. बौ० श्रौ० ९।१; १४।३०; का० श्रौ०—२।५।२।१९; हि० श्रौ०—१।५।१।५.

आमल(क)]

(२८)

[आम्ब

मजुमदार ने इससे आर्द्रक (zingiber officinale) का ग्रहण किया है^२ ।

आमल(क)^३—उत्तम फलों में इसकी गणना है।^४ विवाह के पूर्व इद्राणीकर्म में आमलक आदि उत्तम फलों तथा सर्वौषधि से युक्त जल से कन्या-स्नान का विधान है। एक मास तक बिल्व, आमलक या कमलबीज खाकर रहना श्रीकृच्छ्र कहलाता है।^५

आम्ब—सायण ने आम्ब को धान्यविशेष लिखा है :—‘आम्बाः धान्यविशेषाः’ (तै० १।८।१०।१) । यज्ञ में इसका चरु बनता था। काठकसंहिता (१५।५) में भी इसका उल्लेख है। मैत्रायणी संहिता (२।६।७।९) तथा शतपथब्राह्मण (५।३।३।८) में ‘नाम्ब’ शब्द आया है। संभवतः वह ‘आम्ब’ के लिए ही आया है। हरिस्वामिन् ने अपनी टीका में लिखा है :—‘नाम्बा नाम अकृष्टपच्या स्वयंजाता व्रीहयः’^६—

आम्ब—जैमिनीयब्राह्मण (२।१५६) में बदर के साथ आम्ब का उल्लेख है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४।३।३६) तथा अन्य उपनिषदों में भी इसका उल्लेख है। शांखायन गृह्यसूत्र (१।१।१।२) में भाष्यकार ने इसे ‘फलोत्तम’ कहा है। अन्य गृह्यसूत्रों में इसके पल्लव तथा समिधा का विधान है। शंखलिखित धर्मसूत्र

१. यत्र वा एनमिन्द्र ओजसा पर्यगृह्यत् । तदस्य परिगृहीतस्य रसो व्यतरत् । स पूय-
ज्जिवाशेत् । सोऽब्रवीत् । आदीर्यव बत म एष रसोऽस्त्रौषीदिति । तस्मादादाराः ।
अथ यत् पूयज्जिवाशेत् । तस्मात् पूतीकाः । तस्मादग्नावाहुतिरिवाभ्याहिता
ज्वलन्ति । तस्मादु सुरभयः । यज्ञस्य हि रसात् संभूताः ।—शां०-१।१।१।२

२. Ved. Pl.-P. 646
Ved. ind. 1-58

३. छां०—५।३।१; पा० मं०—१।१।५८; ५।१।१९; ४।३।१६३; २।४।१२; ५।३।११९; ६।२।८२;
पा० गं०—४।१।४१; शां० गृ०—१।१।१।२; काठ० गृ०—२।८।२; २।९।१; शं० लि० धं०—
४४८, २५२; वि० धं०—९।१।२

४. पूगलर्जूरजम्बाम्रवदरोदुश्वरामलम् । उत्तमानि फलान्याहुः—(शां० गृ० के भाष्य
में उद्धृत कारिका)
‘सर्वौषधीभिः संयुक्ताः शुष्का आमलकत्वचः । स्नानं मांगलिकं कुर्यादलचमनोदनं
हितम् ॥’ (काठकगृह्यसूत्र पर आदित्यदर्शनभाष्य)

५. बिल्वैरामलकैर्वापि पद्मत्तैरथवा शुभः । मासेन लोके श्रीकृच्छ्रः कथ्यते पुत्रदात्मनैः ॥
—शां० लि० धं० ४४८

६. इसके अतिरिक्त देखें :—पा० मं०—६।९।९; ८।२।२५; वा० उ० भो०—२।२।२०

आयती]

(२९)

[आसुरी

(२२०) में द्राक्षा आदि के साथ श्राद्ध में देय फलों में इसकी गणना की गई है । याज्ञवल्क्यशिक्षा (३३) में इसका दन्तधावन विहित है ।^१

आयती—ऋग्वेद (१।१९।१-२) में इसका उल्लेख है । सायण ने इससे किसी विषघ्न ओषधि का ग्रहण किया है । (देखें अवघ्नती)

आरग्वध—इसकी समिधा का ग्रहण किया गया है ।^२

आर्द्रक—

आल(क)—ऋग्वेद में यह विष के अर्थ में आया है । कोशिकसूत्र में इसका अर्थ दारिल ने गोधूमव्याधि और केशव ने यवगोधूमवल्ली किया है ।^३

मजुमदार ने इससे 'weed of cornfield' का ग्रहण किया है ।^४

आवय (यु)—यह सर्षप का नाम है । इसके बीजों का तैल तथा पत्र का शाक औषधार्थ प्रयुक्त होता था । सर्षपतैल से भृष्ट सर्षपपत्रशाक चक्षुरोगग्रस्त पुरुष को खिलाने का विधान है । इन्हीं रोगों में सर्षपतैल से संपृक्त सर्षपकाण्डमणि बांधते थे ।^५

आसुरी—ओषधि के लिए यह शब्द अथर्ववेदीय परम्परा में प्रयुक्त हुआ है ।

१. इसके अतिरिक्त देखें—कौ० गृ०—२।६।९,

पा० गृ०—१।१९; शां० गृ०—१।१।२; अ० प०—२।१।३; २३।१।५; ऋ० तं०—५।२।५

पा०—८।१।५; पा० म०—१।१।१; १।१।५; १।२।४; ६।१।९; ८।२।३; ४।३।१।५

२. आप० गृ०—७।१।८।७

३. पा०—४।३।२८

४. ऋ०—६।७।१।५; शौ०—६।९।३; पै०—१।१।०।१०; ८।२।६

कौ० सू०—२।५।१८; ५।१।५; ऋ० अ०—२।६।५

५. Ved. Pl. P. 646

Ved. ind.-66

६. शौ०—६।९।१-२; पै०—१।१।०-८

७. पै०—१।२।१-४; २।३।०।७;

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिध ।

तदासुरी युष्मा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् ।

अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।

सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥

शौनकीय संहिता (१।२४।१-४) में असुरमायारूपा स्त्री के लिए यह शब्द व्यवहृत हुआ है किन्तु अथर्ववेदीय अनुक्रमणिका में इस सूक्त को 'आसुरीवनस्पतिदेवत्य' बतलाया है। इसके अतिरिक्त, 'इदं खनामि' (७।३८।१-५) सूक्त को भी आसुरी-वनस्पति के निमित्त बतलाया गया है। अथर्वपरिशिष्ट के आसुरीकल्प (३५) में यह स्पष्टतः राजिका के लिए प्रयुक्त हुआ है। राजिका, लोकेशी, सुरेश्वरी, वृद्धपुत्री, कटुका, कटुकपत्रा इसके पर्याय कहे गये हैं। यह कटुका, कटुकपत्रा तथा रक्तवर्णा बतलाई गई है। इसका विशिष्ट प्रयोग कुछ, श्वित्र तथा अन्य चर्मरोगों में विहित है।

आस्त्रावभेषज—यह दर्भ का पर्याय है। यह जलप्राय प्रदेश में होता है। इसे रोग-स्थान और असृक्स्थान भी कहा है। इससे इसके रक्तरोधक कर्म का संज्ञित मिलता है। 'असृक्स्थान' शब्द चरक के शोणितस्थापन का अग्रज प्रतीत होता है।

आह्न—

इक्षु^३—इक्षुकाण्ड, इक्षुपर्ण तथा इक्षु (पुष्प) शलाका का उल्लेख मिलता है। सर्पबलि में इक्षुरस से पक्क पायस का विधान है।

इङ्गिड^४—यह शक्तिवर्धक तथा शत्रुनाशन है।

श्यामा सरूपं करणी पृथिव्या अध्युद्भूता । इदमूषु प्रसाधय पुना रूपाणि कल्पय ॥

—शौ० १।२४।१-४

१. पै०—२०।५४।२-३; २०।४३।४; २०।३३।७-८; १९।३०।९ (नदीषु नङ्गलासु कम्भेषु कलशेषु च); 'रागस्थानं असृक्स्थानं अथो वास्त्रावभेषजम्'—(पं० २०।५४।३); 'अष्टमास्त्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ।'—शौ० ६।४४।२

२. कौ० सू०—१६।१४ (पलाश—दा०)

'आह्नः पलाश इति दारिलः । तिर्णिरिति केशवः । वृक्षविशेषपर्यायार्थं आह्न इदं सूत्रेऽपपाठो न चेत्, प्राक्तनेन प्रसादेन भवितव्यम् । परुष इत्येव नाभना भवितव्यं सूक्ते परुषाह्नपददर्शनात् । परुषाह्नः परुष इति आह्ना यस्य स इति विग्रहः ।'—शौ० ८।८ (सा०)

३. मै०—३।७।९; ३।१५।१; मा०—२५।१;

हि० श्रौ०—७।३।१०; ४।५।१०; बौ० श्रौ०—५।१।१; ६।१०; आप० श्रौ०—७।२।७।७; ८।१।३।१; ८।४।१४।१४, ब्रौ० गृ०—३।१।१४; मा० गृ०—२।१।५; शं० लि० ध०—२२०; तै० प्रा०—१।४।१२; ऋ० तं०—५।२।५; अ० प०—१।२।१; ४।४।११०; कौ० सू०—२३।१।५; पा०—८।४।५; पा० ग०—४।२।८६; ९१; ४।३।१३६; पा० म०—४।२।७।१; ५।२।२९; ८।२।११; ८।४।८

४. कौ० सू०—१।४।२८; ३०; १६।१९; २५।३०; ४७।३; ४८।४; ११६।६

अ० शा०—१।५।५; २।१।२; शौ०—६।७।५ (सा०)

इङ्गुद]

(३१)

[इन्द्राणी

इङ्गुद (दी)^१—यह शौचद्रव्यों में परिगणित है तथा इसका दन्तधावन निषिद्ध है ।
इसके तैल का भी उल्लेख है ।

इज्जल—

इट—यह वर्षायु पीधा है । इससे मकान छाये जाते थे^२ । अस्थिभग्न आदि में इसके काथ से अवसिञ्चन का विधान है । ब्राह्मणग्रन्थों में 'इड' शब्द वर्षा ऋतु (इष्यत इति इट्-सा०) के लिए आया है^३ । वर्षा ऋतु में होने के कारण इसका नाम इट पड़ा हो । ऋग्वेद (१०।१७।१) में यह एक ऋषि का नाम भी है ।

इत्कट^४—

इन्द्रचल्लो^५—गृहशान्तिप्रकरण में घर में इसे बांधने का विधान है ।

इन्द्रवारुणी—यह श्वेतकुष्ठ तथा पलित को नष्ट करता है । श्वेतकुष्ठ को गोबर से रगड़ कर जब रक्त निकलने लगे भृङ्गराज, हरिन्द्रा, इन्द्रवारुणी, नीलिका और पुष्पा इन पाँच औषधियों को पीस कर लेप करे । इसी प्रकार पलित केशों को काट कर उस स्थान को घिस कर इनका लेप करे^६ ।

इन्द्रवृक्ष^७—इन्द्राक्ष^८—

इन्द्राणी^९—यह विषघ्न औषधि है ।

१. वि० ध०—६१।४; शं० लि० ध०—१६८ (सर्वेषामपो मृदरिष्टकेङ्गुदवित्तवतण्डुलसर्षप-
कल्क...गोमयादीनि शौचद्रव्याणि); पा० ग०—४।३।१६४; पा० म०—५।२।२९
२. पा० उ० भो०—२।३।९९
३. अथो इट इव हायनोप द्राह्यवीरहा—शौ० ६।१।३३;
इटस्य ते वि चृताभ्यपिनद्धमपोर्णवम्—शौ० ९।३।१८
कौ० सू०—२९।३०; ६६।२४
४. वर्षा इडः—शं०—१।५।३।८; ११
देखें :—Ved. Ind. 1-75
५. पा० ग०—४।२।८०
६. जै० गृ०—२।६; आश्वि० गृ०—२।५।९; ३
७. के० प०—२६।२२-२४
८. पा० ग०—४।२।९०
९. शं० लि० ध०—१०७
१०. पै०—९।१।०।९

इरिका]

(३२)

[उत्तानपर्णा]

इरिका—

इल्य—

इषीका—शर आदि से जो सींक निकाली जाती है उसे 'इषीका' कहते हैं। इससे सूप आदि बनाये जाते थे। यह लचीली तथा ज्वलनशील होती है। भंगुरता का प्रतीक भी है।

मजुमदार इससे एक पृथक् वनस्पति *Polytoca barbata* का ग्रहण करते हैं।

ईष्याभिषज—

उग्रौषधि—इसका मणिधारण आयुष्य बतलाया गया है^६। यह दर्भ का पर्याय है। (देखें दर्भ)

उच्छुष्मा^१—टीकाकारों ने इसका अर्थ 'कपिकच्छू' किया है। अथर्वपरिशिष्ट में 'उच्छुष्माकल्प' नामक अध्याय है (३६)। ऋग्वेद (१०।९७।८) में 'उच्छुष्मा ओषधीनां' आया है; वहाँ सायण ने इसका अर्थ शुष्म (बल) + उत् (प्रेरक) किया है।

उत्तानपर्णा—उत्तानपर्णा, सुभगा, देवजूता, सहस्वती ये पाठा के पर्याय हैं^८। ऋग्वेद में इसका उल्लेख हुआ है। (देखें पाठा)

१. पा० म०—८।४।६ (इरिकावनम्)

२. 'इल्यं वृत्तं तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति—शां० आ०—३।५

३. शौ०—७।५६।४; १२।२।५४; श०—१।१ ४।९; ४।३।३।१६; ५।१।२।१८; १०।१।५।४;

१२।९।२।४; गो०—२।४।६; तां—१।५।२०; हि० श्रौ०—५।२।६; ११।५।२१;

१४।१।३७; शां० गृ०—४।१७।३; बो० पि०—१।१७।२; कौ० सू०—१।१।४; २।१।४; ४।०।४

४. Ved. Pl. P. 651.

Ved. Ind. 1-81.

५. शौ०—६।१८।१; ३; ७।४६।१; ७।४७।१; ७।७।३

पै०—१।९।७।१५; १४; १।९।६।६; २०।१।३।३

६. पै०—१।९।८।१-४; शौ०—१।९।३।१

७. पै०—'उच्छुष्मा ओषधीनाम्'—१।१।६।८; २०।३।९।१

कौ० सू०—४।०।१४ (कपिकच्छू—दा० के०); अ० अ०—४।४

८. ऋ०—१०।१४।५।२; शौ०—३।१।२; पै०—७।१२।७

उत्पल]

(३३)

[उदुम्बर

उत्पल^१—उत्सक्तभेषज^२—

उदुम्बर—ऋग्वेद में इसका वर्णन नहीं है। केवल 'उदुम्बल' शब्द आया है (ऋ० १०।१४।१२) जिसकी व्याख्या सायण ने की है बलिष्ठ—'उदुम्बलो उरुबलो विस्तीर्ण-बलो'। परवर्ती वाङ्मय में 'उदुम्बर' का यह अर्थ गृहीत हुआ है और उसे बल्य एवं ऊर्जादायक कहा गया है। उदुम्बर का फल पकने पर लाल हो जाता है और लोग उसे खाते हैं। उस काल में यह सामान्य खाद्य रहा होगा। यह कहा गया है कि यह साल में तीन बार फलता है, इसका अर्थ सायण ने किया है कि 'तीन' उपलक्षणमात्र है। इससे यह समझना चाहिए कि इसमें फल बहुत लगते हैं। फलों का सन्धान कर आसव भी बनाते थे। यह सदा आर्द्र और क्षीरी रहता है।

यज्ञ के लिए यह प्रधान द्रव्य था। समिधा के अतिरिक्त, इसका यूप, स्थूणा, अभि, खननकाष्ठ, परिधि, चमस, सुव, उलूखल-मुशल, आसन्दी, तल्प, प्रेख, अभिषेकपात्र, द्रोण, चतुःस्रक्ति, दधिग्रहपात्र, मैत्रावरुण दण्ड, व्यजनदण्ड, प्रसेक, वितष्टि, शूल, दर्वी, वपाश्रपणी, गोदोहनी, शंकु, शम्पोपयमन, रीहिणहवनी, धृष्टि, रथचक्र, श्रिति, तूपर, नौका, सीर आदि बनते थे। इससे प्रतीत होता है कि यज्ञिय वृक्षों में इसका प्रमुख स्थान था। बौधायन श्रौतसूत्र (२।७) में नाना-वृक्षीय समिधों में इसकी गणना है। उन्माद रोग में इसका होम करने का विधान है (१४।१८)। दीक्षाकर्म में यजमान को उदुम्बर के दन्तधावन का प्रयोग करने का निर्देश है। कात्यायन श्रौतसूत्र में कहा है कि औदुम्बर (उदुम्बर-बहुल) देश में मूलफलभक्षण के निमित्त वास करना चाहिए।

अथर्ववेद में उदुम्बरमणि का धारण पीष्टिक कहा गया है। श्रौतसूत्रों में भी इसका विधान है। 'औदुम्बर' शब्द से 'ताम्र' का भी ग्रहण किया जाने लगा क्योंकि पक्क उदुम्बरफलवत् यह लोहितवर्ण होता है। बौधायन श्रौतसूत्र (१२।१३) में राजत, सोवर्ण तथा औदुम्बर मणियों का एकत्र उल्लेख है। प्रकरणवश यहाँ औदुम्बर से ताम्र का ग्रहण किया जाता है।

गृह्यसूत्रों में सीमन्तोन्नयन प्रकरण में उदुम्बरशलाटु या 'उदुम्बरप्रसून' शब्द का प्रयोग हुआ है। उपनयन में इसके दण्ड का विधान है। स्नातककर्म में उदुम्बर का दन्तधावन करते हैं। ऋतुशान्ति में इसके पञ्चव तथा त्वचा का ग्रहण

१. कौ० सू०—३५।२६; ३६।७; अ० प०—१।४३।८; १।४४।३, १०; १।८।१।५—१७; १।८।३।१—३३; २।४।३।२; ६।८।२।२५; ७।१।६—९; पा० ग०—५।२।१३५; पा० म०—१।१।२१; ७।२. पै०—२०।३३।५

३ द्र० च०

होता है। यमलकल्प में उदुम्बर आदि क्षीरी वृक्ष के कषाय से स्नान कराते हैं। मूलविधि में इसके मूल का प्रयोग है। की० सू० में शान्त वृक्षों में इसकी गणना है तथा मेधाजनन बतलाया गया है। शान्त वृक्षों का मणिधारण यक्ष्मादि रोगों में विहित है। ब्रह्मग्रह में भी शाकल मणि का विधान है। इसकी समिधा शान्तिगण तथा सर्वरोगभैषज्य-प्रकरण में है तथा विशेषतः कृमिघ्न है। केवल उदुम्बर के पत्तों के काथ पर रहना पर्णकृच्छ्र कहलाता है। मद्यसंपर्कज दोष का यह संशोधन कहा गया है। इसमें फूल दिखलाई पड़ना उत्पातलक्षण बतलाया गया है। उदुम्बर की समिधा हि० गृ० आदि में शुक्र के लिए तथा अ. प. में वृषस्पति ग्रह के लिए कही गई है। गृह्यसूत्र में भी 'ओदुम्बर' शब्द ताम्र के लिए प्रयुक्त है। (गो. गृ. २।१।४)।

उपनिषदों में उदुम्बर के फल तथा पात्रों का उल्लेख है^१।

१. मै०—'देवा यत्रोर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बरा उदतिष्ठत्'—१।७।५;

'तस्मादुदुम्बरः प्राजापत्यः तस्माद्धोहितं फलं पच्यते—१।८।१

'ऊर्मा वा उदुम्बरः'—१।११।८

क०—३।१२; ६।७; ३।०।८; ३।१।७; ९; ४।०।३; ४।५।४

काठ०—१।१।१०; २।०।७; २।६।५; ४।४।१;

तै०—५।१।१०।१; ५।२।७।३; ४; ५।२।८।७; ५।३।१।२; ६।१।४।१; ३।३।८।४;

'महान् वै भद्रो किलो महान् भद्र उदुम्बरः।

महौ अभिक्त वाधते महतः साधु त्पोदनम् ॥—शौ० २०।१३।६।१५

यै०—१।०।५।१-१४; १।१।२३।३-४; १।६।८।०।८; १।१।५।२।९

श०—३।२।१।३३; ३।३।४।२७; ३।६।१।२; ६; ४।६।१।३; ५।२।२।२।२;

"तस्मात् स सर्वदा आर्द्रः, सर्वदा क्षीरी। तदेव सर्वमन्नं यदुदुम्बरः। सर्वे-
वनस्पतयः।"—६।६।३।२-३; ७।२।४।२; १।४; ७।२।२।३; ७।४।१।३८

'अथास्येन्द्र ओज आदायादङ् उदक्रामत्। स उदुम्बरोऽभवत्।"—७।४।१।३९

'अयं वाव मा सर्वस्मात् पाप्मनः उदमार्षीत् इति। यद्वज्रोदुदमार्षीन्मेति तस्मादु-
दुम्बरः। उदुम्बरो ह वै तमुदुम्बर इत्याचक्षते।"—७।५।१।२२; ७।५।१।५; ९।२।२।३;
९।२।३।४०; १।२।७।१।९; १।२।९।१।३; १।४।१।२।४

तां०—५।५।२; तै० ब्रा०—१।२।६।५; १।७।६।५

'देशः सर्वे कदाचिदेकत्रोपविश्याक्षरसं विभक्तवन्तः तदा तस्मिन् स्थाने पतितादन्न-
रसादुदुम्बरवृक्ष उदतिष्ठत्'—(तै० ब्रा० १।१।३।१०—सायण)

ये० ब्रा०—'तस्मात् स त्रिःसंखत्सरस्य पच्यते'—५।२-४ ('योऽयमुदुम्बरवृक्षः सोऽयं

रसरूपोऽन्नरूपश्च। तस्मात् संवत्सरस्य मध्ये भोक्तृगामन्नसिद्धयर्थं स वृक्षश्चिः पश्यते ।
त्रिरित्युपलक्षणम् । बहुकृत्वः फलं गृह्णाति'—सा०)

७१५; ३०; ३२; ८५; ८९ (योऽयमुदुम्बरः स ऊर्गं वै रनरुह एव तत्कृते मातुर्व-
सद्भावात् तथा ऽन्नाद्यस्वरूपश्च तद्गुणोदरपूरणात्—सा०); ८१६

तै० आ०—५१२४; ५१२३; ५१०१५; १३२१३

ऐ० आ०—११२३ (ऊर्गं शब्दो रसवाची । उदुम्बरस्योर्गस हव तत्कृतेषु मातुर्व-
रसत्वस्य विद्यमानत्वात् । तेषां च एकफळानां उपदंशत्वेनात्तं योग्यमन्नमुदुम्बरः—
सा०); ५१२३

शां०—२५१५; २७६; शां० आ०—११७

जै० ब्रा०—१७०

छा० ब्रा०—१८५

वृ०—४३३६; ६३११; १३;

का० श्री०—१७११८; २२११२५

हि० श्री०—८१११; १०११३; १३६१११; २४२१६

आप० श्री०—१२३३०; ३५३३७; ७२१८३; १०२११४; १०१०१३

बौ० श्री०—२७-८; ४१; ६३४; ९५; १०५०; १११११; १२१३३; १४१८; १७१;
१८८, ४०

शां० गृ०—११२२८

बौ० गृ०—११०७; २५१७; ११६१४९

पा० गृ०—११५४; २५२०; २६१७

कौ० गृ०—२१११९

आप० गृ०—४११११६

जै० गृ०—११२; २९

खा० गृ०—१२२१

गो० गृ०—२९४

काठ० गृ०—१४१८; ४५५

हि० गृ०—१९११४; १९३२०; २०११९ (उरुमूल)

बौ० पि०—३१२, १०; २१

कौ० सू०—८१५; १०४-६; १३५; २३७, १५-१७; २६४०; २५२०; २७५; १९; ७६२;
८३४, १८३२; ८५१९; १५

अ० प०—२३६३, ५; २६५६-७; ३०२८; ३३११७; ६४८३; ६९१५; ७११६१;
के० प० २७१९-२० (क्रिमिरोग)

आप० घ०—११२३३८

वि० घ०—४६२३

वा० घ०—२०२१

निं० सू०—११११; ४९; दे० वि०—२३ (उदुम्बर)

अ० अ०—१०।२१; या०—३८

पा० ग०—४।१।९९; ४।२।५३; ४।३।१५४; २।१।४८

पा० उ० ओ०—२।३।७४

पा० म०—३।१।८७; ४।२।७१; ६।२।१११

उदुम्बर-मणि

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा ।
 पशूनां सर्वेषां स्फातिं गृध्र मे सविता करत् ॥ १ ॥
 यो नो आग्नर्गाहं प्रथः पशूनामधिपा असत् ।
 औदुम्बरो वृषा मणिः सं मा सृजतु पुष्टया ॥ २ ॥
 करीषिणीं फलवतीं स्वधामिरां च नो गृहे ।
 औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे ॥ ३ ॥
 यद् द्विपाच्च चतुष्पाच्च यान्यन्नानि ये रसाः ।
 गृह्णहं त्वेषां भूमानं विभ्रदौदुम्बरं मणिम् ॥ ४ ॥
 पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम् ।
 पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् ॥ ५ ॥
 अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ।
 मन्त्रमौदुम्बरो मणिर्द्रविणानि नि यच्छतु ॥ ५ ॥
 उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च ।
 इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्तसह वर्चसा ॥ ६ ॥
 देवो मणिः सपत्नहा धनसा धनसातये ।
 पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु ॥ ८ ॥
 यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्टया सह जज्ञिषे ।
 एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती ॥ ९ ॥
 आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम् ।
 सिनीवात्युपा बहादयं चौदुम्बरो मणिः ॥ १० ॥
 त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान ।
 त्वयिमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत्सहस्वारादरातिममर्तिं क्षुधं च ॥ ११ ॥
 ग्रामणीरसि ग्रामणीरुथायाभिषिक्तोऽभि मा सिञ्च वर्चसा ।
 तेजोऽसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि ॥ १२ ॥
 पुष्टिरसि पुष्टया मा समङ्गि गृहमेधी गृहपति मा कृणु ।
 औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं नि
 यच्छ रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम् ॥ १३ ॥
 अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।
 स नः सन्नि मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात् ॥ १४ ॥
 —श्रौ० १९।३१।१-१४

उदोजस]

(३७)

[उमा

उदोजस^१—यह कोई औजोवर्धक रसायन ओषधि प्रतीत होती है । (देखें अम्बावती)

उद्दालक^२—यह धान्यविशेष के लिए आया है ।

उन्नयन्ती^३—

उपवाक(का)—इसका उपयोग सलु या करम्भ के लिए होता था । विशेषतः इन्द्र की पूजा के निमित्त यह दिया जाता था । टीकाकारों ने इसका अर्थ इन्द्रयव किया है ।^४ शतपथ ब्राह्मण में व्रीहि, श्यामाक, गोधूम, कुवल, बदर, यव, कर्कशु, शष्प तथा तोक्म के साथ यज्ञ के संभारों में यह परिगणित है । 'यच्छ्लेष्मणस्ता उपवाकाः' इस वचन से ज्ञात होता है कि यह कोई पिच्छिल द्रव्य होना चाहिए । यह ग्राम्य एवं आरण्य दोनों प्रकार का होता था तथा बल्य माना जाता था ।^५

मैकडोनल एवं कीथ तथा मजुमदार ने इससे इन्द्रयव का ग्रहण किया है किन्तु यवाकार होने पर भी उसका प्रयोग अन्नरूप में नहीं होता ।

उपोदकी^६—

उपोलव^७—

उमा^८—कौशिकसूत्र (३३।१७) में इसके फल तथा शं० लि० ध० (२३२) में इसके

१. ऋ०—१०।९७।७; तै०—९।२।६।३; क०—२५।४; पै०—१।१।६।१०

२. शं० लि० ध०—१३२

३. 'जीवलां नवारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।

अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्या अरिष्टतातये ॥'

—शौ० ८।७।६; पै०—१।६।१२।६

शौ०—८।२।६ में यही मन्त्र कुछ अन्नर से पठित है । वहाँ सायण ने लिखा है :—
'एवं महिमोपेतां ओषधीं पाठाख्याम्, अथवा जीवलादयः प्रत्येकं ओषधिविशेषाः'—

४. मै०—३।१।१२, ९; मा०—१।१।२२; का०—२।१।२।१०—१२; २३।४।२

शं०—१।२।७।१।३; १।२।७।२।९; १।२।९।१।५; तै० ब्रा०—२।६।१।१२; २।६।१।५

का० श्रौ०—१।१।२।१८; हि० श्रौ०—२३।१।१६ (उपवाका अशुका अचूलाकाः—७पा०); २३।१।२५ (ऐन्द्र—उपवाकासक्तु); वा० श्रौ०—३।२।७।६३; कौ० सू०—८।२० (उपवाक इति अभिववाः सुराष्ट्राणां प्रसिद्धाः—दा०)

५. 'उभयमेव प्राभ्यं चान्नसारण्यं चावरुन्देऽथो उभयेनैवान्नेन यथारूपमिन्द्रियं वीर्यमात्मन् धत्ते'—शं०—१।२।७।२।९

६. वि० ध०—७९।१७—१८ (वज्रं शाक)

७. कौ० सू०—१।८।३३ (उपालवतृणानि मालवेषु प्रसिद्धानि—दा०)

८. 'अलावृत्तिलोमाभंगाभ्यो रजस्युपसंख्यानम्'—पा० वा० ५।२।२९

'उमाभंगयोरधान्यत्वात् । 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खज्' इत्युच्यते, न चोमाभंगे

उर्वारिक)]

(३८)

[उशाना

सूत्र का उल्लेख है। यह अतसी का पर्याय है। महाभाष्य में इसके धान्यत्व के संबन्ध में रोचक चर्चा है।

उर्वारिक(क)—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। इसका फल पकने पर वृन्त से स्वतः पृथक् हो जाता है। यही मन्त्र अन्य संहिताओं में भी आया है। सामान्यतः 'उर्वारि' पीधे के लिए तथा 'उर्वारिक' उसके फल के लिए प्रयुक्त होता है।

उल—दारिल ने इसका अर्थ कस्तुरिका शाक किया है। वेशव इससे पाविका लेते हैं।^१

उलप^२—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। सायण ने इसका अर्थ 'तृणजात' किया है। अथर्ववेद (शौ० ७।६६।१) में 'उलपशब्दः सस्यमात्रोपलक्षणम्' लिखा है। काठकगृह्यसूत्र के टीकाकार ने 'उलप' शब्द से वीरण का ग्रहण किया है :—
'उलपो वीरणः, प्रसूना दीर्घदर्भा इति तु प्रसिद्धिहीनं वचः; मध्यदेशादी वीरणानामेव सिद्धम्—३।४।१. उसी के व्याख्याकार ब्राह्मणवल ने 'उलपास्तृण-विशेषः' लिखा है। मानवगृह्यसूत्र (१।१।४।४) के भाष्यकार ने इसे 'प्रागग्र दर्भ' माना है।

मजुमदार ने इससे Imperata arundinacea का ग्रहण किया है।

उशाना^३—मजुमदार ने इससे पिप्पली का ग्रहण किया है जो ठीक नहीं है। वस्तुतः

धान्ये । चमेषु यत् पठ्यते तद्धान्यम्, न चैते तत्र पठ्येते ।" ('यवाश्च मे माषाश्च मे' इति चमेषुशब्दस्य पुनः पुनरुच्चारणाच्चमेशब्देन तद्वन्तोऽनुवाका उच्यन्ते—प्रदीप; उमा अतसी भंगा प्रसिद्धा—उद्योत)

"नैष दोषः धिनोतेर्धान्यम्, एते चापि धिनुतः । अथवा शणसप्तदशानि धान्यानि ॥" (योगरूढिरियम्—उमाभंगयोरपीति भावः । चमेषु तु अधान्यान्यपि कानिचित् (अश्मादीनि) पठ्यन्ते, धान्यान्यपि कानिचिन्न (कोद्रवादीनि) पठ्यन्ते । नहि तद्वान्यपरिगणनार्थमिति तन्नापाठादुमाभंगयोरधान्यत्वं न भवति—प्रदीप; उमा-भंगयोरपि ज्ञानविशेषत्वाद् धान्यत्वम्—उद्योत)

१. 'उर्वारिकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्'—ऋ० ७.५९।१२

'क्षिन्द्यस्य बन्धनं मूलमुर्वारि इव'—शौ० ६।१४।२

'उर्वारिः कर्कट्याः'—सायण

'उर्वारिकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः'—शौ० १४।१।१७

शौ०—२।५।१।२, १४; का० ब्रा०—१।६।२।७;

बैता० श्रौ०—९।१९; अ० प्रा० १।३।१४; पं० वि०—९।२।१९

२. कौ० सू०—२।५।१८; (कस्तुरिका शाकः—दा०), पाविका (के०)

३. पा० ग० २।४।११

४. शौ०—३।४।३।३३; ४।२।५।१५ (वृत्रो वै सोम आसीत्स्यैतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मान

[उबीर]

(३९)

[एकवलीतक]

यह सोमसहस्र कोई पर्वतीय वनोपधि है जिसका अभिषेक-कल्प बनता था ।
पिप्पली का पर्याय 'उषणा' है, 'उषाना' नहीं ।

उशीर— यह एक गन्धद्रव्य है नक्षत्ररनान, पुण्याभिषेक आदि में इसका प्रयोग हुआ है । वृ मरोग में भी इसका प्रयोग है (शी० ५।२३ सा०) ।

उतीक— संभवतः यह 'पूतीक' का संक्षिप्त रूप है ।^२

ऊर्ज्यन्ती— ऋग्वेद में पठित है । यह कोई ओजरय रसायन ओषधि प्रतीत होती है ।
(देखें अद्वावती)

ऊर्जावान्— यह उदुम्बर का पर्याय है ।^३

ऊर्ध्वफल—

ऋतजात— यह 'मधुला' का विशेषण कहा गया है ।^४

ऋतपर्ण— यह हिरण्यपर्ण वनस्पति के पर्याय रूप में आया है ।^५

ऋतावरी— एक स्थल (शी० ६।३०।३) में सायण ने इसे शमी का पर्याय बतलाया है और अन्यत्र (शी० ५।१५।१-११) इससे मधुला का ग्रहण करते हैं ।

ऋद्धि—

ऋषभ—

एकवलीतक— जिस करण में एक ही बीज हो वह एकवलीतक कहलाता है ।^६

स्तदेषोशाना नामौषधि जयित ... तामेदाहृत्याभिषुण्वन्तीति)

और देखें :—Ved. Pl.—p. 664.

Ved. ind.—i-103.

१. या०—२।५; आप० गृ०—७।१८।१५; कौ० सू०—८।१७; २९।२४; अ० प०—१।४३।४;
१।४४।९; पा१।५; ३।५।१५६-१७; ३।५।२।९-११; पा२।१; ९।१।५; पा० ग०—४।४।५३;
२।२।३१

२. जे० ब्रा०—१।३।५४

३. ऋ०—१।०।९७।७; पै०—१।१।६।१०

४. सं० ब्रा०—१।५।१

५. कौ० सू०—२।८३

६. शौ०—५।१।५।१-११

७. या०—८।१९

८. पा० वा०—२।४।८४

९. पा० ग०—२।१।७६

१०. आ० गृ०—३।८।८ (करञ्जबीजरय षत्रैकं बीजं तदेकवलीतकम्—वृ०)

एकपुष्पा]

(४०)

[ककु

एकपुष्पा^१—एरका(क)^२—इसका प्रयोग विभिन्न संस्कारों में आसन के लिए हुआ है ।एरण्ड^३—इसके मणिधारण का उल्लेख है ।एर्वाक^४—(देखें उर्वरक)एला—नक्षत्रस्थान में इसका उपयोग होता है^५ ।ओजोमानी^६—केशव ने इससे गुडूची का ग्रहण किया है ।औक्ष—अनेक गन्धद्रव्यों को पीस कर बनाया हुआ प्रलेप है^७ ।औक्षगन्धि^८—सायण ने इसे एक होमद्रव्य बताया है । औक्ष के समान गन्ध होने के कारण इसे औक्षगन्धि कहते हैं । वनस्पतिप्रां के साहचर्य के कारण इसे वनस्पति-विशेष मानते हैं ।ककुच^९—ककुभ^{१०}—यह अर्जुन का पर्याय है । इसका दन्तधावन विहित है । अथर्वपरिशिष्ट में इसकी समिधा का उल्लेख है ।कक्षतु^{११}—कङ्क^{१२}—

१. पा० बा०—४११४

२. बौ० श्रौ०—२१९; १७३९; जै० गृ०—११७, १९-२०; बौ० गृ०—११२२; आप० गृ०—५११३; पा०—४११४; पा० वा० ग०—१३४५; पा० उ० ओ०—२१२११; पा० ग०—४११५१

३. शां० आ०—१२८; पा० उ० ओ०—२१२११९; के० प०—४८१

४. पा० उ० ओ०—२१११०१

५. अ० प०—१४५८

६. कौ० सू०—५३११-२, १५; ५४१९

७. पै०—२२१६; श्रौ०—२३६१० (औक्षः प्रलेपनद्रव्यम्—सायण)

८. 'गुल्गुलः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी ।

तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥'—शौ० ४३७३

'गुल्गुलवादीनि पञ्च होमद्रव्याणि विनियोगशास्त्रसिद्धानि—प्रा०)

९. कौ० सू०—४८३२ (ककुचैः तिमिरफलेः—दा०)

१०. अ० प०—२६५११-३; वि० ध०—६११४

११. पा० ग०—४२१६४; पा० म०—४२१७१

१२. 'वृक्षात् पर्णं पततीति; संबन्धस्तु तदा न विवक्षितो भवति, न ज्ञायते कङ्कस्य वा

[कङ्कतदन्ती]

(४१)

[कनकनक]

कङ्कतदन्ती^१—यह संभवतः अतिबला (कङ्कतिका) है । यह विषघ्न बतलाई गई है ।

कच्छुरा^२—

कटभ^३—समिधा के प्रकरण में इसका उल्लेख है ।

कड्विन्दु^४—

कण्ट^५—संभवतः यह कण्टकारी के लिए प्रयुक्त है ।

कण्टकारिका^६—

कण्टकी (वृक्ष)^७—इसकी समिधा का उल्लेख है ।

कण्टाकी^८—यह भी संभवतः कण्टकारी ही है ।

कण्टूक^९—श्मशान से उद्धरणीय औषधियों में इसकी गणना है ।

कदम्ब^{१०}—इसके मूल और समिधा का उल्लेख है । इसका दन्तधावन विहित है ।

कदर^{११}—

कदल (ली)^{१२}

कनकनक^{१३}—यह विषयुक्त औषधि है । संभवतः धतूर का वाचक है ।

कुररस्य च वा^१—पा० म०—१।४।२३ (कङ्ककुररौ वृक्षविशेषौ पक्षिविशेषौ च—उद्योत)
कुक्ष लोग इसे आम्रविशेष मानते हैं ।

१. पै०—५।९।१

२. पा० वा०—५।२।१०७

३. अ० प०—२६।५।१-५

४. कौ० सू०—४।८।३० (Bloomfield : name of a red plant)

५. अ० प०—७०।१।६-९

६. पा० ग०—४।३।१५५, १६७

७. हि० श्रौ०—४।२।१५, ११; २।१।२; २।१।७; कौ० गृ०—२।६।९

८. अ० प०—२।१।३।५

९. हि० श्रौ०—२।१।१४

१०. पा० गृ०—१।२।१; अ० प०—२६।५।१-५; या० शि० ३४; मा० शि०—४।१

११. पा० ग०—४।१।४१; पा० उ० भो०—२।३।३८

१२. पा० ग०—४।२।८०; क० प्र०—३।३।५; पा० म०—१।१।२

१३. 'यद्गन्तौ सूर्यं विषं पृथिव्यामोषधीषु यत् । कान्दाविषं कनकनकं निरैस्वैतु ते विषम् ॥'

शौ०—१०।४।२२

कन्दली]

(४२)

[कम्बला

कन्दली^१—

कपित्थक—अथर्ववेद में इसके मूल का क्षीरपाक वाजीकरण के लिए प्रयुक्त है ।
उच्छुष्मा, शोफहर्षणी इसके पर्याय हैं । यह भी लिखा है कि यह सोम के साथ
समुद्र मन्थन के समय निकला है और अतिशय वीर्यवान् है^२ । पुष्पाभिषेक में
इसके पल्लव का प्रयोग है^३ ।

कद्रु—इसके फल कृष्णवर्ण होते हैं । यह बलास तथा विसल्पक रोगों की औषध है^४ ।

कमल—अथर्ववेद में 'कमल' शब्द गर्भाशय के लिए आया है^५ । अथर्वपरिशिष्ट
(१:४३:१८) में नक्षत्रस्नान के प्रकरण में निर्दिष्ट है ।

कम्पिल्लक—इसका प्राचीन नाम 'काम्पील' है । अथर्ववेद में कुछ मंत्रों के विनियोग
से इसका संबन्ध है । कौशिकसूत्र में इसका बहुशः प्रयोग हुआ है^६ । तक्मनाशन
में इसका विशेष प्रयोग है । इसके पल्लव यज्ञादि में प्रयुक्त होते थे और इसके
काष्ठ की मन्थनी बनाई जाती थी ।

कम्बला —

१. पा० ग०—४:१:४१; ५:२:३६; पा० उ० ओ०—२:३:९३; पा० वा० ग०—८:२:१८

२. "यां स्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभजे । तां स्वा वयं खनामस्योषधिं शोषहर्षणीम् ॥
उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः । उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाग्निना ॥
यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति । ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥
उच्छुष्मोषधीनां सारं ऋषभाणाम् । सं पुंसामिन्द्र वृष्णमस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥
अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् । उत सोमस्य आतास्युताशर्मसि वृष्ण्यम् ॥
अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति । अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥
आहं तनोमि ते पयो अधि ज्यामिव धन्वनि । क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥
अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेतवस्य च । अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥"
—शौ० ४:४:१८

३. अ० प०—५:२:१-३; इसके अतिरिक्त देखें—पा० गृ०—१:२:१

पा० ग०—२:४:३१; ४:२:८०; ५:२:१३५; पा० म०—४:३:१५४

४. शुक्लवाता कृष्णफला कद्रु बलासभेषजी ।

विसल्पकस्य भेषजीः देवीः आप इमा मम ॥ —पै०—२:०:५६:९

५. शौ०—८:६:९; पै०—१:६:७९:९; १:९:२५:४

इसके अतिरिक्त, पा० उ० ओ०—२:३:९३; पा० ग०—४:१:४५; ५:२:१३५

'कमलं गर्भद्वारम्'—सा० (शौ०)

६. कौ० सू०—१:६:२८; २:७:७; २:८:८; ४:३:२०; ४:८:४१; ७:६:३१; ८:३:१७; ८:७:४२

७. पै०—१:८:१३:५-७

कम्बू]

(४३)

[करीर

कम्बू—इसकी समिधा शत्रुशासन कही गई है^१ । (देखें क्याम्बू)

करञ्ज—ऋग्वेद में एक असुर का नाम है । यही मन्त्र अथर्ववेद में भी आया है । कल्पसूत्रों में यह करञ्ज वृक्ष के लिए प्रयुक्त हुआ है । कौ० गृ० में इसकी समिधा वर्ज्य बतलाई गई है । इसका दन्तधावन उत्तम बतलाया गया है । आप० ध० में पलाण्डु के साथ यह अभक्ष्य कहा गया है । टीकाकार ने इसका अर्थ 'रक्तलशुनक' किया है^२ ।

करवीर—सामविधान ब्राह्मण में इसका उल्लेख मिलता है । इसका दन्तधावन विहित है ।^३ महाभाष्य में इसके पुष्पों का उल्लेख है ।

करीर—यह सौम्य होता है तथा वर्षा ऋतु में विशेष उपलब्ध होता है । यह पर्वतीय प्रदेश में होता है । अवलण के निवारण के लिए कारीरी नामक इष्टि करते हैं । सायण ने इनका परिचय देते हुये कहा है कि ये उत्तरापथ में प्रसिद्ध मधुर फल-विशेष हैं । यज्ञों में इसके सक्तु का भी प्रयोग है^४ । कौशिकसूत्र में करीर के मूल तथा काण्ड का क्रिमिरोग में प्रयोग है ।

१. अ० प०—७०।१।६-९

२. ऋ०—१।५३।८; १०।४८।८; शौ०—२०।२१।८; कौ० गृ०—२।६।९; वि० ध०—६१।१४; आप० ध०—१।५।१७।२६; या० शि०—३४; मा० शि०—४।१; पा० उ० भो०—२।२।९०

३. सा०—२।४।१; सा० शि०—४।२; या० शि०—३४; पा० ग०—४।२।८०; पा० उ० भो०—२।३।९०; पा० म०—४।३।१६६.

४. तै०—२।४।९।४; मै०—२।४।८; का०—१।१।१०; ३।६७

का० ब्रा०—१।५।१।९; तै० ब्रा०—१।६।४।५

का० श्रौ०—५।५।१; हि० श्रौ०—२।२।६।६, १; पा२।६; बौ० श्रौ०—१।३।३७; ५।६

आ० श्रौ०—२।१३; आप० श्रौ०—८।२।४।१३; बो० गृ०—३।१।२६; कौ० सू०—२९।२०

अ० प०—३०।१।१७; पा० ग०—४।२।८६; ४।३।१४१; पा२।२४; ६।२।८७; के० प०—२९।२०

'सौम्यानि वै करीराणि सौमि ह खेधाहुतिरमुतो वृष्टिं च्यावयति'—मै० १।१०।१८

'ततो यः प्रथमो रसः प्राञ्चरत्तानि करीराण्यभर्वस्तदेतत् प्रावृष्टिं जीमूताः प्लवन्ते यजन्ते वरुणप्रघातैः करीराणि भवन्ति वृष्टिं तैः संतनोति तस्मात्तर्हि भूयिष्ठं वर्षति' ।

—मै० १।१०।१३

'यतीनामद्यमानानां शीर्षाणि परापतन् ते खर्जूराः अभवन् तेषां रसः ऊर्ध्वोऽपतत्

तानि करीराण्यभवन् ।—तै० २।४।९।२

'कं (सुखं) वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैर्कुरुत । कञ्चेवैष एतत् प्रजाभ्यः कुरुते ।'

—श० २।५।२।११

'मधुराः फलविशेषाः करीराणि तानि चोत्तरापथे प्रसिद्धानि—सा०

कर्कटश]

(४४)

[कर्करी

कर्कटश^१—कर्कटिका^२(क)—भूततंत्र में इसकी समिधा का उपयोग है ।

कर्कन्धु—ऋग्वेद (१।११२।६) में यह एक ऋषि का नाम है जिसकी रक्षा अश्विनो ने की थी । यजुर्वेद में यह एक वृक्ष का फल है । यह रक्तवर्ण होता है (मै० ३। १३।३) तथा इसकी तीन जातियाँ होती हैं :—कुवल, बदर तथा कर्कन्धु जो परिमाण की दृष्टि से क्रमशः बृहत्, मध्यम और लघु हैं ।^३ इनका चूर्णवत् सक्तु बना कर यज्ञ में प्रयोग होता था ।^४ इसकी समानता दधि से बतलाई गई है, संभवतः यह इसकी पिच्छिलता, अभिष्यन्दिता तथा श्लेष्मकतृत्व के कारण हो ।^५ इसके फल मधु के समान मधुर होते हैं ।^६ शतपथ ब्राह्मण में इसे स्नेह कहा गया है 'यत् स्नेहस्तत् कर्कन्धु' (१२।७।१।४) जो इसकी स्निग्धता का द्योतक है । गोवृम-यव आदि के साथ कुवल, बदर और कर्कन्धु को ग्राम्य तथा आरण्य अन्न कहा गया है (श० १२।७।२।९) । इससे प्रतीत होता है कि इसका चूर्ण अन्न के रूप में प्रयुक्त होता था तथा वन्य होने के साथ-साथ इसे बागों में लगाया भी जाता था । कुवल के लिए 'कुवल'^७ 'कुवल' कोल^८ शब्द भी आये हैं । (देखें बदर)

कर्करी(कर्करिक)—(शौ० ४।३७।५; २०।१३२।३) अन्य वनस्पतियों के साहचर्य में यह भी वनस्पति ही प्रतीत होती है । (देखें अर्जुन)

१. पै० ४।२१।२.

२. के० प०—२५।२३

३. 'यत् प्रथमं निरघीवत् तत् कुव उभभवत् द्वितीयं तद् बदरं यत्तृतीयं तत् कर्कन्धु'
शौ०—२०।१३६।३ —मै० २।४।१

४. काठ०—१२।१०

५. दध्नो रूपं कर्कन्धूनि—मा० १९।२३

६. 'कर्कन्धु जज्ञे मधु सारघं मुखे—मै० ३।११।९

और देखें—श० १२।९।१।५; का० श्रौ०—१५।१०।११, हि० श्रौ०—१३।८।२३;

वा० श्रौ०—३।२।७।१५—१८; शां० गृ०—४।१९।२; कौ० सू०—१०।४८६; १८।३२;

के० प०—१०।४

कर्म०—१।३।१३; पा० वा०—१।१।६४; पा० ग०—४।२।८६; ४।३।१३६; ५।२।२३; ६।२।८०;

पा० म०—४।१।६६; ६।३।६१

७. जै० ब्रा०—२।१५६

८. हि० श्रौ०—१।३।१०; १।३।८।२३; 'आतञ्जनविकल्पों में एक है; दूध से दही जमाने के लिए उसमें जो जमावन डालते हैं उसे आतञ्जन कहते हैं (ओषधयः पूतीकाः कलास्तण्डुलाः पर्णवल्का इत्यातञ्जनविकल्पाः ।' (आप० श्रौ० १।४।२६);

९. छां०—७।३।१; तै०—२।५।३।५;

कर्ण.]

(४५)

[कशेरुक

कर्णः—

कर्णिकार—श्मशानायतन से उद्धरणीय औषधियों में इसकी गणना की गई है ।

राजवृक्ष और कर्णिकार एकत्र पठित होने से यह प्रतीत होता है कि यह आरम्बध से भिन्न द्रव्य है । इसके पुष्प पीतवर्ण होने से पैत्तिक स्वप्नों में इसका निर्देश है ।^२

कर्पास (कार्पास)—इसका वस्त्र बनाया जाता था ।^३ इसके पिचु भी बनाये जाते थे (पिचव्यः कार्पासः—पा० म० ५।१।२; ६।१।८०) ।

कर्पूर—अनुलेपन तथा पूजन में व्यवहृत होता था^४ । मूत्रपुरीषनिरोध में हरीतकी के साथ इसका विधान है ।^५

कर्शफ—

कलश—धर्मशास्त्र में यह द्रव्य अभक्ष्य बतलाया गया है तथा पलाण्डु और लगुन के साथ पठित है । टीकाकारों ने इसे 'रक्तलगुन' कहा है ।^६

कलाय—

कलमर्ति^१—अथर्ववेद में इसकी मणि का निर्देश है । इसका अर्थ किया गया है कि जो मल को दूर करे—'कलपति अपगमयति मलद इति ।'

कवल—(देखें कर्कन्धु)

कशेरुक—शृंगाटक के साथ इसका उल्लेख है । श्राद्ध में इसे देने का विधान है ।^{१०}

१. कौ० सू०—८०।२६ (प०)

२. हि० श्रौ०—२९।१।४; अ० प०—६८।१।१६

३. द्रा० श्रौ०—५।२।४; गौ० ध०—१।१८. पा० ग०—२।४।३१; ४।३।१३६

गो० गृ०—२।१०।८-१२; वि० ध०—२७।१७; शं० लि० ध०—१८५; २३२; नि० सू०—१।११. पा० म०—७।२।५४; ४।१।५५ (मृदूनामिव कार्पासानांकृतः);

४. शं० लि० ध०—१२८; वि० ध०—६६।२; ७९।११; अ० प०—१९।३।२

५. श्रौ०—१।३ 'मूत्रपुरीषनिरोधे प्रमेहणसाधनहरीतकीकर्पूरबन्धनम्'—सायण

६. श्रौ०—३।९।१; Ved. ind. ii—314

७. हि० श्रौ०—२६।५।२८ 'कलज्जं रक्तलगुनम्'—वृ०

वै० ध०—२।१।५

८. पा० म०—५।१।१९ (कालायसूपिकः)

९. श्रौ०—१।५।२।५, १३, १९

१०. शं० लि० ध०—२२०; पा० म०—५।१।१२

कसाम्बु]

(४६)

[काण्डपुष्पा

कसाम्बु—इससे पक घृत से अश्व का अभ्यंग करने का विधान है। व्याख्याकार ने इसका अर्थ 'देवदारु' किया है^१।

काकजंघा^२—मूलविधि में इसके मूल का निर्देश है।

काकमाची^३—सायण ने 'नितत्नी' शब्द से काकमाची प्रभृति न्यक्प्रसरणशील ओषधियों का ग्रहण किया है। कौशिकसूत्र में केशदोषनिवारणार्थ इसका भृंगराज के साथ प्रयोग है। केशवपद्धति (३१।२८) में इसके फलमणि का बन्धन केशवृद्धि के लिए विहित है। वहाँ 'काचीमाची' शब्द प्रयुक्त है।

काकम्बीर^४—

काकातनी—इसके मूल को पीस कर उससे सूतिकागार का लेपन करने का विधान है। यह रक्षोघ्न कहा गया है। टीकाकारों ने इसे 'काककदली' या 'इन्द्रवारुणीभेद' बतलाया है^५।

काकिणी—यह रक्तिका मालूम पड़ती है। यह तोलने के काम में भी आती थी^६।

काकुत्था^७—श्वेतपुष्प के अभाव में इसे छोड़ कर अन्य पुष्प लेने का निर्देश है।

काचकपुष्पी^८—वशीकरण में इसका प्रयोग प्रियंगु आदि ओषधियों के साथ हुआ है।

काञ्चनार^९—

काण्डपुष्पा^{१०}—

१. हि० श्रौ०—१४।३।२३; (कासाम्बवेन देवदारुपक्केन—व्या०); बा० श्रौ०—३।४।३।४४

२. पा० ग०—१।२।१

३. शौ०—१।१३६।१; 'न्यक्प्रसरणशीला ओषधिः। काकमाचीप्रभृति ओषधिः' (सा०)
कौ० मू०—३।१।२८

४. 'मा काकम्बीरमुद्वृहा वनस्पतिमशस्तीर्वि हि नीनशः।

मोत सूरौ भह एवा चन ग्रीवा आदधते वेः॥' —ऋ० ६।५८।१७

५. शां० गृ०—१।२३।१; 'काकादनी काककदली प्रसिद्धा' (इना० भा०) 'काकादनी नामेन्द्रवारुणीभेदो बृहदारक्तफलः' (रा० प०)

कौ० गृ०—१।१।५।१; पा० ग०—४।१।४।१

६. शतं हिरण्यकृष्णलानि काकिण्या माषेण वा संमितानि—हि० श्रौ० २२।४।२;

आप० श्रौ०—१९।२।१।२; पा० म०—५।१।३।३

७. शुक्लपुष्पालामे काकुत्था...जै० गृ० १।१

८. सा०—२।६।१०

९. पा० उ० श्रौ०—२।३।४।५

१०. पा० बा०—४।१।४; पा० म०—४।१।६।४

[काण्डीर]

(४७)

[कार्मर्य]

काण्डीर^१—

कान्दाविष^२—यह कोई विषाक्त कन्द प्रतीत होता है। सायण ने अथर्ववेद चतुर्थकाण्ड के षष्ठमूल में कन्दविष की चिकित्सा के लिए विनियोग किया है। यह पहाड़ों पर होता था।

कापोती^३—

काम्पोल—अथर्ववेद (शौ० २।१०।१-२ सा०) में क्षेत्रिय व्याधि में इसका निर्देश है। कोशिकसूत्र में अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख है। यह शान्तवृक्षों में परिगणित है तथा तक्मनाशनगण में भी है^४। (देखें कम्पिलक)

कारस्कर^५—यह वृक्षविशेष के लिए आया है। जनपदविशेष का भी वाचक है। संभवतः उस प्रदेश में ये वृक्ष विशेष होने के कारण यह संज्ञा हुई हो।

कार्मर्य—सायण ने इसकी निष्पत्ति कृष् धातु से वर्णविकार द्वारा की है। इसका आधार शतपथ ब्राह्मण द्वारा निर्दिष्ट निरुक्ति है।^६ इसे रक्षोघ्न कहा गया है।^७ यज्ञ में इसकी परिधि बनती थी तथा स्रुक्, वपाश्रपणी आदि अनेक पात्र बनते थे। यज्ञिय वृक्षों में यह प्रमुख है।^८

१. पा०—५।२।१११; पा० म०—१।१।५

२. शौ०—१०।४।२२; पै० १६।१०।२-३

‘ये अपीषन् ये अविहन् य आस्यन् ये अवास्यन्।

सर्वे ते वध्रयः कृताः वध्रिविषगिरिः कृतः॥

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे।

वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यता जातमिदं विषम्॥’—शौ० ४।६।७-८

३. अ० प०—७०।८।१

४. कौ० सू०—८।१५; १६।२८; २७।७; २८।८; ३०।३; ३९।६; ४३।२०; ४८।४१; ७६।३१; ८२।२५; ८३।१७; के० प०—३९।५-१२; शौ०—२।१ (सा०); ४।२८; (सा०); १८।१।४१ (सा०)

५. पा०—६।१।५६; पा० ग०—६।१।५७; पा० म०—६।१।५७; जनपद—बौ० श्रौ०—२०।१३; आप० श्रौ०—२२।६।१८; हि० श्रौ०—१७।६;

६. प्रजापतेर्विस्त्रस्तस्याग्निस्तेज आदाय दक्षिणाऽकर्षत्। सोऽत्रोदरमत्। यत् कृत्वा उदरमत्—तस्मात् कार्मर्यः—श० ७।४।१।३९; ‘कृषेर्धातोः रमेश्च कार्मर्यशब्द-निष्पत्तिर्वर्णविकारेण द्रष्टव्या’—सायण

७. मै० ३।७।९; ३।१०।१; ३।२।६; क०—३।१७; ३।८।१; तै०—५।२।७।३-४; ६।२।१।५; ‘देवा ह एनं वनस्पतिषु राक्षोघ्नं ददद्भ्यः, यत् कार्मर्यम्॥’—श० ३।४।१।१६; ७।४।१।३७; ४।१

८. आप० श्रौ०—१।२।३०; १०।१०।२०; बौ० श्रौ०—४।१; ६।१०; १०।३०; हि० श्रौ०—१।५।२।१; का० श्रौ०—१।७।१।२; पा० गृ०—१।२।१; कौ० गृ०—२।६।९; अ० प०—२३।६।५; ७०।१।६-९

कार्प्य]

(४८)

[किरि

कार्प्य^१—कालकलीतक—इसके मूल से सूतिकागार का लेपन करते थे ।^२काला—इमशानायतन से उद्धरणीय ओषधियों में इसकी गणना है ।^३

काश—तैत्तिरीय आरण्यक (६।१।१) में अर्जुन, दूर्वा तथा दर्भ के साथ रक्षोघ्न के रूप में इसका निर्देश है (काशानां स्तम्बमाहर रक्षसामपहत्यै) । इसकी चटाई बनती थी^४ । उपनयन में क्षत्रिय के लिए इसकी रशना बनती थी^५ । इसका गुल्म होता है तथा पत्र तीक्ष्णाधार होते हैं । कुश के न मिलने पर काश लेने का विधान है^६ ।

किंशुक—ऋग्वेद (१०।२५।२०) में विवाहकालीन रथ के प्रकरण में इसका उल्लेख है । सायण का कथन है कि रथ इसके काष्ठ से निर्मित होता था किन्तु आधुनिक समीक्षकों का मत है कि किंशुकपुष्पों से रथ सजाये जाते थे । यास्क ने इसकी सिद्धि क्रंश धातु से की है जिसका अर्थ प्रकाशकर्म होता है इसके अनुसार 'किंशुक' का अर्थ होगा चमकने वाला^७ । इसके पुष्प रक्तवर्ण होते हैं । (देखें पलाश)

किंशुलुक^८—किरि^९—मूत्रसंग में इसके पान का विधान है ।

१. पा०—८।४।५

२. शां० गृ०—१।२३।१; 'कालि घेरुलिकेति प्रसिद्धम्' (ना० भा०) कालघोरकृति. प्रसिद्धम्' (रा० प०)

३. बो० पि०—१।६।२; आग्नि० गृ०—३।५।५।६; पा० ग०—४।३।१६७

४. काशानामूते कटे—काठ० गृ० ४।५।६;

५. गो० गृ०—२।१०।८—१२

६. बो० पि०—१।१७।२; वि० ध०—७९।२; शं० लि० ध०—५९; १।२; कौ० सू०—२३।१५; ४०।३; अ० प०—१।६।३; के० प०—४०।१—२; पा०—४।२।८०; ६।२।८२; ६।३।१२३; पा० म०—१।१।१३; २।२।३४; २।४।१२; ३।१।९।१

७. किंशुकं क्रंशते: प्रकाशयतिकर्मणः—या० १।२।८; पा० म०—३।१।७९ (देववक्ता: किंशुकाः) और देखें—हि० गृ०—२०।६।३; आप० गृ०—७।१।८।६; कौ० सू०—७७।१; अ० प०—२।१।७।३

८. पा०—६।३।१।१७

९. कौ० सू०—२।५।११

किलासनाशन]

(४९)

[कुरर

किलासनाशन—

किलासभेषज—

ये दोनों नीली आदि शिवत्रनाशक ओषधियों के पर्याय हैं ।^१कुकुन्दर^२—कुकुस^३—उच्चाटन कर्म में इसका प्रयोग है ।कुङ्कुम^४—अनुलेपनार्थ इसका उल्लेख है ।कुटक^५—शान्तवृक्षों में परिगणित है ।कुटज—इसका प्रयोग दन्तधावन में विहित है ।^६कुद्रीची^७—यह संभवतः गुहूची के लिये आया है ।कुन्द—इसके पुष्प श्वेत होते हैं । यह कफप्रकृति के स्वप्नों में निर्दिष्ट है ।^८कुमारी (द्वय)—मूलविधि के प्रकरण में इसका उल्लेख है ।^९कुमुद^{१०}—इसके पुष्प श्वेत होते हैं तथा यह जल में होता है ।कुरण्ट(क)^{११}—शुक्ल पुष्प नहीं मिलने पर इसे छोड़कर अन्य पुष्पों का ग्रहण किया गया है ।कुरर^{१२}—

१. शौ०—१।२४।२; पै०—१।२६।२; ९।३।५

२. पा० उ० भो०—२।३।५२

३. अ० प०—३६।४।२

४. वि० ध०—७५।१।१; अ० प०—५२।२।२; ५०।६।४; शं० लि० ध०—१२८।१।८२ ६६।२;

५. कौ० सू०—८।१।५; 'मालवके प्रसिद्धः'—(दा० के०)

६. मा० शि०—४।२

७. कौ० सू०—५०।२।२; पा० म०—६।३।९५ (कद्रीची)

८. अ० प०—२४।३।२; ६८।१।३०, ३३

९. पा० गु०—१।२।१

१०. शौ०—४।३।४।५; पै०—६।२।२।८; अ० प०—१।४।४।३; २४।३।२; ५२।२।१; ६८।१।३०, ३३;

पा०—४।२।८०; ४।२।८७; पा० म०—१।४।१; ३।२।५ (सरसीरुहं कुमुदम्)—पा० ग०—२।४।३।१; ४।२।८०; ५।२।१३।५; कौ० सू०—१०६।७

११. जै० गु०—१।१; अ० प०—२४।५।१; पा० उ० भो०—२।१।८

१२. 'वृक्षात् पर्ण पततीति; संबन्धस्तु तदा न विवक्षितो भवति । न ज्ञायते कङ्कस्य वा कुररस्येति वा'—पा० म० १।४।२३; (कङ्ककुररौ वृक्षविशेषौ पक्षिविशेषौ च-उद्योत)

४ द्र० च०

कुलत्थ]

(५०)

[कुश

कुलत्थ—देवयज्ञ में यह निषिद्ध माना गया है^१ ।

कुल्माष^२—छान्दोग्य उपनिषद् में टीकाकार ने इसे 'कुत्सिताः माषाः' लिखा है । यह एक आहारकल्पना भी है ।

कुवल्^३—(देखें कर्कन्धु)

कुश^४—यह जल के समान पवित्र माना गया है । यह वृणजाति की वनस्पति है । इसका अग्रभाग तीक्ष्ण होता है जिससे क्षत होने पर रक्त निकलने लगता है । इसका आसन आदि भी बनता है । वर्षाऋतु में इसका संग्रह करते हैं । यज्ञ में इसका भूरिशः उपयोग है । सोम का प्रतिनिधिद्रव्य भी इसे माना गया है । पुंसवन के लिए दक्षिण नासापुंठ में कुशोदक का सेवन कराते हैं (शां० गृ० १।२०।१-५) । उपनयन में मुञ्ज के अभाव में कुश, अश्मन्तक या बल्बज की रशना बनाते हैं । वास्तुपरीक्षा प्रकरण में कहा गया है कि जहाँ कुश, वीरिण प्रभूत हो वह भूमि उत्तम होती है । यह मेधाजनन माना गया है । यह केतु के लिए विशिष्ट समिधा है ।

१. पा०—४।४।४; आप० श्रौ०—१६।१९।१४; बौ० श्रौ०—२४।५।१६; शं० लि० ध०—१३२;

२. छां० उ०—१।१०।२।७; या०—१।४

३. पा० म०—४।३।१।५

४. मै०—४-५।७; शं०—५।३।२।७; १।४।१।३।१; ५।२।१।८; का० श्रौ०—२।५।४।६; १।८।४।२२; बौ० श्रौ०—१०।१; बौ० पि०—२।१; हि० श्रौ०—२९।१।२३; गो० गृ०—१।२।१; काठ० गृ०—१।७।३; पा० गृ०—१।१।४।४; २।५।२४; आ० गृ०—२।७।४; १।२।२।१९

जै० गृ०—२।९; शं० लि० ध०—१०७; ४१७; बौ० ध०—१।१।४।११; ४।५।२५; १।६।३;

वि० ध०—४।६।२३; ७।१२; वा० ध०—२७।११,१३; अ० प०—१।६।३; २६।५।६-७;

२८।१।३; ३०।२।२; २३।१।५; २३।१।०।७; २१।१।२; ३८।१।४; ४२।१।५; पा०—३।१।४२;

५।३।१०५; ८।३।९७; पा० म०—१।१।१३; २।४।१२; २।४।१२;

'आपो हि कुशाः'—शं० १।३।१।३

'अवच्छिन्नो हि वै पुरुषः । तस्मादस्य यत्रैव क्व च कुशो वा यद्वा विकृन्तति तत् एव लोहितमुत्पतति ।'—शं० ३।१।२।१६

'यद्यरुणदूर्वा न विन्देयुः, अपि यानेव कांश्चन् हरितान् कुशानभिषुगुयात्'

—शं० ४।५।१०।६

'यथु औनडकीर्नं विन्देत् अथो अपि कुशोर्णा एव स्युः'—शं० २।५।२।१५

'कुशानामेवमग्रता'—कौ० गृ० ५।१।६

'वैथं चरित्रवन्तं ब्रह्माणमुपवेश्य'...कुशरज्जू वा रशने'...'नियुनक्ति'—भा० गृ० ४।९।१४

'सुजाभावे कुशरमन्तकबल्बजानाम् (रशना)'—पा० गृ० २।५।२४

कुशर]

(५१)

[कुष्ठ

कुशर—ऋग्वेद (१।१९।१३) में इसका उल्लेख है । सायण ने लिखा है :—‘कुशराः कुत्सितशराः अन्तश्छिद्राः शरसदृशास्तृणविशेषाः’ (देखें शर) । वी० मजुमदार इससे इक्षु का ग्रहण करते हैं क्योंकि यह शब्द बंगाल में इक्षु के अर्थ में ही प्रचलित है ।

कुपुम्भ (कुसुम्भ)—इसके फूलों से एक प्रकार का रंग निकलता है जिससे वस्त्र रंगे जाते हैं^१ ।

कुष्ठ अथर्ववेद में कुष्ठ का विशेष वर्णन मिलता है । ऐसा कहा गया है कि हिमालय के ऊपर एक अमृत का तालाब है वहीं कुष्ठ होता है । नद्यमार, नद्यारिष तथा नद्याय इसके पर्याय हैं । इसे विश्वभेषज भी कहते हैं । यह सामान्यतः सोम के साथ मिलता है । यह विशेषतः तक्मनाशन तथा रक्षोघ्न माना गया है और वातविकार, यक्ष्मा, कासश्वास, नेत्ररोग, शिरोरोग, आम, प्राणविकार, व्यानविकार में तथा रसायन और वाजीकरण के रूप में उपयुक्त हुआ है । पैप्पलाद संहिता में शूलहर तथा विषघ्न भी बतलाया गया है ।^२ यह सुगंधित है तथा सर्वौषधि में पठित है ।^३ अथर्वपरिशिष्ट में धूप में इसका प्रयोग है । कौशिकसूत्र में गर्भहृहण भी कहा है ।^४ अथर्ववेदीय अनुक्रमणिका (५।४) में यह कुष्ठ

१. शां० गृ०—१।१।१२; शं० लि० घ०—१८२; आप० घ०—१।७।२०।१२; वि० घ०—७९।१७

२. श्रौ०—५।४।१-१०; ६।९५।१-३; १९।३९।१-१०

पै०—१।३।१।१-४; १।९३।१-४; ७।१०।१-१०; १३।१३।१०; १९।८।१३-१५; १९।११।१-२; १९।१४।१२; २।७।२; ३।३०।२

३. शां० गृ० (आ०)—१।१।१२; अ० प०—३५।१।१४-१५; ३५।२।१-७; ९-११; १७।२।१४; ६।२।२; १।४४।१०; १।८।१।१-३

४. कौ० सू०—३५।२।१; ३।८।९; ३५।१५; २।८।१३

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः । कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयजितः ।

सुपणंसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि । धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विबुर्हि तक्मनाशनेभ्यः ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि । तन्नामृतस्य चक्ष्णं देवाः कुष्ठमबन्वत ।

हिरण्ययी नौरचरद्विरण्यबन्धना दिवि । तन्नामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमबन्वत ॥

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया ।

नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥

इमं मे कुष्ठं पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु । तमु मे अगदं कृधि ॥

देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः ।

स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥

उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम् ।

तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥

और तक्म का नाशक कहा गया है । केशवपद्धति (३५।२१) में तगर आदि के साथ धी में मिलाकर वशीकरण के लिए लेप विहित है । वहीं २८।१३ में कुछूर्ण नवनीत में मिलाकर लेप शिरोरोग, राज्यक्षमा, कुछ तथा सर्वाङ्गवेदना में विहित है ।

कुस्तुम्बुर^१—

कुदी^२—यह वशीकरण में निर्दिष्ट है । 'कुदी' या 'कुटी' भी पाठान्तर है । इसे बदरी मानते हैं ।

उत्तमो नाम कुछास्युत्तमो नाम ते पिता । यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ॥
शीर्षमियमुपहृत्यामच्योस्तन्वोऽ रपः । कुछस्वत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृण्यम् ॥

—शौ० ५।४।१-१०

ऐतु देवस्त्रायमाणः कुछो हिमवतस्परि । तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥
त्रीणि ते कुछ नामानि नद्यमारो नद्यारिणः । नद्यायं पुरुषो रिषत् ।
यस्मै परिव्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥
जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता । नद्यायं पुरुषो रिषत् ।
यस्मै परिव्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥
उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव । नद्यायं पुरुषो रिषत् ।
यस्मै परिव्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥
त्रिः शाश्वतो अङ्गिरेभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि । त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्यः ।
स कुछो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति । तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥
अश्वरथो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि । तत्रामृतस्य चक्ष्णं ततः कुछो अजायत ।
स कुछो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति । तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥
हिरण्ययी नौरचरद्विरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य चक्ष्णं ततः कुछो अजायत ।
स कुछो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति । तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥
यत्र नावप्रभंशनं यत्र हिमवतः शिरः । तत्रामृतस्य चक्ष्णं ततः कुछो अजायत ।
स कुछो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति । तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥
यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुछ काम्यः ।
यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः ॥
शीर्षलोकं तृतीयकं सद्गन्धिर्यश्च हायनः । तक्मानं विश्वधाधीर्याधराज्वं परा सुव ॥

—शौ० १९।३९।१-१०

'अश्वरथो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि । तत्रामृतस्य चक्ष्णं देवाः कुछमबन्वत ।
हिरण्ययी नौरचरद्विरण्यबन्धना दिवि । तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुछमबन्वत ॥
—शौ० ६।९।५।१-२

१. ऋ० तं०—४।६।५; पा०—६।१।१४३

२. कौ० सू०—३५।२४; शौ०—५।१९।१२; Ved. ind. i—177

कूष्माण्ड]

(५३)

[कसर

कूष्माण्ड^१—तै० आ० (२।७।१; २।८।१) में यह मन्त्रविशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है । परवर्ती श्रौतसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में भी यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । विष्णुधर्मसूत्र (७९।१७) में यह शाकविशेष के लिए निर्दिष्ट है ।

कृतव्यधनी^२—कृमुक^३—(देखें क्रमुक)कृष्णक^४

कृष्णचणक—(देखें चणक)

कृष्णल—गुग्गुला के लिए संभवतः यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । यह मान में व्यवहृत होता था । सायण ने यवत्रय-परिमित सुवर्ण को कृष्णल कहा है । शतकृष्णल यज्ञ भी होता था जिसमें सी कृष्णलों की आहुति दी जाती थी; इससे आयु और तेज की वृद्धि होने का उल्लेख है ।

कृष्णा^५—सायण ने इसका अर्थ इन्द्रवारुणी किया है जबकि कौ० सू० में नीली का ग्रहण है । इसका प्रयोग श्वित्र तथा पलित में है ।

कृष्णाजाजी—यह श्राद्ध में वर्ज्य कहा गया है ।^६

कसर—सर्वबीज में इसकी गणना की गई है ।

१. बौ० श्रौ०—२।११; वा० श्रौ०—१।४।१६; बौ० ध०—१।२०।१९; अ० प०—४।२।१०; ५।१।२।४; ४६।७।४

२. शौ०—५।१।१९; पै०—२।७।१।१; कौ० सू०—३।९।११

३. के० प०—२।८।२; शौ०—४।६ (सा०)

४. कौ० सू०—८०।२६

५. तै०—२।३।२।२; मै०—२।२।२; काठ०—१।१।४; तै० वा०—१।३।६।७;

हिं० श्रौ०—३।८।२०; १।३।१।६२; २।२।१।१; २; ३ बौ० श्रौ०—१।१।१; १।३।२३; २४;

कौ० सू०—१।१।१९; ५।२।२०; के० प०—१।१।१९; शौ०—१।९ (सा०); १।३५ (सा०)

६. 'नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्विन च ।

इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥' शौ०—१।२३।१

'कृष्णवर्णे कृष्णवर्णापादिके वा इन्द्रवारुणि'—(सा०)

पै०—१।१।६।१; कौ० सू०—२।६।२२

७. शं० लि० ध०—२।३२

८. गो० गृ०—२।९।७

केर]

(५४)

[कोद्रव

केर^१ (रा)—इसका अन्य संभावित वैकल्पिक पाठ 'करीर' भी है। दारिल ने इसे सौराष्ट्र में प्रसिद्ध केरापर्णी या पुपरीक (पुण्डरीक ?) माना है तथा केशव ने इसे पटेरक कहा है।

केरु^२—गुग्गुल के साथ यह पठित है।

केशद्वहणी^३—यह पर्याय रूप में प्रयुक्त है। (देखें केशवर्धनी और नितत्नी)

केशवर्धनी^४—पैप्पलाद संहिता में केशवर्धन के अतिरिक्त इसका निर्देश पलित, शीर्ष-रोग, खालित्य, रसायन, जायान्य तथा उदर रोगों में हुआ है।

केशानी^५—दारिल ने इसका अर्थ प्रसारणी किया है।

केशी^६—

कोद्रव^७—यज्ञ में निषिद्ध है।

१. कौ० सू०—३८६; 'केरापर्णीति या सुराष्ट्रे पुवरोकेति (पुंडरीकेति ?)—दा०

पटेरकसमिधः—के०

२. वा० श्रौ०—१६११३६

३. शौ०—६१२११३; ६१३६११; पै०—११३८१३; ४

४. पै०—११३८११-४; १११४०११-१५

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।

तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् । सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ।

रेवतीरनाष्टः सिषासवः सिषासथ । उतस्य केशद्वहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥

—शौ० ६१२१११-३

देवो देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे । तां त्वा नितत्ति केशेभ्यो द्वहणाय खनामसि ॥

द्वहं प्रतनान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि ।

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते । इदं तं विश्वभेषज्याभिषिज्यामि वीरुधा ॥

—शौ० ६१३६११-३

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम् । तां वीतहव्यः आभरदसितस्य गृहेभ्यः ॥

अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः ।

केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥

द्वहं मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।

केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥—शौ० ६१३७११-३

५. कौ० सू०—३८९

६. पै०—५१३८११

७. क० प्र०—११११०; शं० लि० ध०—१३२

कोल]

(५५)

[क्रमुक

कोल—(देखें कर्कन्धु)

कोविदार^१—यह श्लेष्मातक के साथ पापनामा वृक्षों में परिगणित है । इसकी समिधा वर्ज्य मानी गई है ।कोशकारी—पुंसवन कर्म में इसे गर्भिणी के दक्षिण नासापुट में देने का विधान है ।^२कोशविला^३—रजनी के साथ इसका उल्लेख है ।कोशातको^४—अन्य द्रव्यों के साथ इससे सूतिकागार के लेपन का विधान मिलता है ।

कौवीराल—अथर्वपरिशिष्ट (२६।५।१-५) में इसकी समिधा उच्चाटन कर्म में विहित है ।

कौहक^५—उपर्युक्त द्रव्य के समान ही इसका प्रयोग है ।

क्याम्बू—ऋग्वेद में यह पठित है । सायण ने इसका अर्थ किया है :—‘कियत् प्रमाण-
मम्बु उदकं यस्मिन् तत् पुष्करिण्यादिकम्’ इस प्रकार जल में होनेवाली ओषधियों
का यह द्योतक है । तै० आ० (६।४।१) की व्याख्या में सायण ने पुनः लिखा
है :—‘कियताऽप्यम्बुना युता काचिदोषधिः’—यह शीतवीर्य तथा दाहशामक है ।^६
इसकी सूप बनती थी^७ । (देखें कम्बू)

क्रकोष्मा^८—यह विषघ्न है ।

क्रमुक—‘क्रमुक’ शब्द भी इसके लिए मिलता है । यह सारवान् वृक्षविशेष है जिससे
धनुष बनता था । इसीलिए धनुष को ‘कार्मुक’ कहते हैं । वैदिक संहिताओं में
ऐसा उल्लेख मिलता है कि इसमें अग्नि विलीन है । शतपथ ब्राह्मण के अनुसार

१. का० श्रौ०—२।१।२०; गो० गृ०—१।५।१५; पा० गृ०—१।२।१; जै० गृ०—१।१;

वि० ध०—६।१।४; वै० ध०—३।५।८; पा० ग०—४।२।८०; पा० म०—१।२।४५

(कोविदारानाचष्टे)

२. हि० गृ०—२०।१।९

३. श्रौ०—२०।१३।२

४. शा० गृ०—१।२।१ (घोषावती—ना० भा०; देवदाली—२।० प०)

पा० ग० ४।१।४१; ४।३।१६७; पा० म०—२।२।३; ५।३।७२

५. अ० प०—२६।५।१-५

६. यं त्वमग्ने समदहस्तसु निर्वापया पुनः । कियाम्बवन्न रोहतु पाकदूर्वा व्यस्रकशा ॥^९

—ऋ०—१०।१।१३; श्रौ०—१।८।१६; क्याम्बू: ओषधिविशेषः—सा०

७. हि० श्रौ०—१।५।४।२।१

८. वै०—१।१०।९

कलीतक]

(५६)

[क्षिप्तभेषजी

यह स्वादु तथा रक्तवर्ण होता है । यज्ञ में इसके धूप बनते थे तथा घृताक्त समिधा दी जाती थी । परवर्ती टीकाकारों ने इसका अर्थ 'काष्ठशकल' किया है । कौशिकसूत्र में इसे सर्पविषघ्न बतलाया गया है ।^१ (देखें अपस्कम्भ)

कलीतक^२—कलीबकरणी^३—

कवल—(देखें कर्कन्धु)

क्षवक^४—

क्षिप्तभेषजी^५—यह पिप्पली का पर्याय है । सायण ने इसका अर्थ उत्कृष्ट ओषधि तथा क्षिप्त नामक वातरोग-विशेष की ओषधि दोनों किया है ।

१. 'अग्नेः प्रिया तनूर्यत् क्रमुकः'—मै० ३।१।९; तै०—५।१।९।३; ५ क०—३०।८; काठ०—१।१।१०

'तस्मात् स स्वादुः । रसो हि । तस्माद् लोहितः अर्चिर्हि ।'—श० ६।६।२।११

'धनुरुपादानभूतो वृचविशेषः क्रमुकः; क्रमुको नाम धनुष उपादानभूतः सारवान् वृचविशेषः ।'—सा०

तै० ब्रा०—१।१।७।३; ष०—४।४

हि० श्रौ०—१।१।३।५; (क्रमुकमल्पं काष्ठशकलम्—न्या०); १।५।१० (धनुरादि-निर्लेखनप्रभवाः शकलाः क्रमुकाः तत्रेन्धनार्थं भवन्ति—न्या०); बौ० श्रौ०—१०।१२; १।१।२८; वा० श्रौ०—२।१।२।२२—२८; कौ० सू० २८।२

२. 'कलीतकैः यवैर्माषैर्वाऽऽप्लुतम्'—गो० गृ० १।१०।१०

टीकाकार ने इसे विशेषण मान कर 'विलन्न' अर्थ किया है:—'कलीतकैः उदकविलज्जैः'—

३. पै०—१।६।११—५; २०।२९।४

त्वं वीरुषां श्रेष्ठतमाभिश्चुतास्योषधे । इमं मे अद्य पुरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥

क्लीबं कृष्णोपशिनमयो कुरीरिणं कृधि । अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुमे भिनत्वाण्डयौ ॥

क्लीब क्लीबं त्वाकरं वधे वधि त्वाकरमरसारसं त्वाकरम् ।

कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि ॥

ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्यम् । ते ते भिनन्नि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयोः ।

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना । एवा भिनन्नि ते शोपो मुष्या अधि मुष्कयोः ॥

—शौ० ६।१३।१—५

४. पा० उ० भो०—२।२।७

५. 'पिप्पली क्षिप्तभेषजी'—शौ० ६।१०९।१; पै०—१।१।२७।९; २०।५१।८

क्षिप्तानि तिरस्कृतानि अन्यानि भेषजानि यथा सा; यद्वा क्षिप्तस्य वातरोगविशेषस्य भेषजी निवर्त्तिका'—(सा०)

क्षीरिणी]

(५७)

[खदिर

क्षीरिणी^१—यह दुग्धमय ओषधियों के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

क्षुमा^२—

क्षुम्प^३—

क्षेत्रियनाशनी^४—शौनकीय संहिता में यह वीरुत् क्षेत्रियरोग की नाशनी कही गई है । पैप्पलाद संहिता में यह इसके अतिरिक्त हृदयशूलहर, रक्षोघ्न, केशवर्धन, बल्य तथा हरिमा तथा शीर्षरोग में लाभकर बतलाई गई है ।

खड(डा)^५—यह तृणविशेष के रूप में कथित है ।

खदिर^६—यह यज्ञिय वृक्षों में प्रमुख है । विवाध इसका पर्याय है । इसका सारभाग

१. का० श्रौ०—२५।७।१६; हि० श्रौ०—२९।१।४; बौ० पि०—१।६।२; कौ० सू०—३।१२२

२. पा० उ० भो०—२।२।२४२

३. कौ०—२।६९३; जै०—३।५६।२०; शौ०—२०।६३।५

‘क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति’—या०—५।१६; अ० प०—४८।११५;

‘कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् । कदा नः शुश्रवद्गिर इन्द्रो अंग ॥’

—ऋ० १।८४।८

‘क्षुम्पामिव अहिच्छत्रकमिव’, ‘अहिच्छत्रं मण्डलाकारेण शयानम्’—सा०

४. उदगातां भगवती विच्रतौ नाम तारके । वि क्षेत्रियस्य मुञ्जतामधमं पाशमुत्तमम् ॥

अपेयं रात्र्युच्छ्रवपोच्छ्रवभिकृत्वरीः । वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छ्रतु ॥

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाक्या तिलस्य तिलपिन्ड्या ।

वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छ्रतु ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः । वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छ्रतु ॥

नमः सनिस्त्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यः ।

नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छ्रतु ॥ शौ०—२।८।१-५

पै०—१।९९।१-४; १।९३।५७-१०

५. पा० ग०—४।२।८६

६. ‘अभिव्ययस्व खदिरस्य सारभोजो धेहि स्पन्दने शिशपायाम्’—ऋ०—३।५३।१९

‘सारेण हि आणिः क्रियते’—सा०

मै०—३।५।३; तै०—३।५।७।१; खि०—३।१६।८; ४।७।४; ५; ५।१५।१४

शौ०—३।६।१-८.५।५।५; ८।८।३; १०।६।६-१०; २०।१३।१।१४ (अश्वत्थः खदिरो धवः)

पै०—२।५८।१-६; ३।३।१; ५।१।१; ६।४।४; १०।३।२; १६।२९।४; १६।४२।६-८; १६।४३।१-२

२०।६।१३

श०—३।६।२।१२; १३।४।४।९; ऐ० ब्रा०—२।१; जै० ब्रा०—२।२७।४; शां० आ०—१।२।८;

तै० आ०—५।२।४; पा०—८।४।५; पा० म०—१।१।१; २।१।१; ५।१।९; १३

“अद्रात् प्लक्षश्चिस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात् ।

खदिर]

(५८)

[खदिर

बहुत ठोस एवं बलवान् होता है जिससे रथ की आणि बनती थी । शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि यह अस्थि के समान दृढ होता है; यज्ञ में खदिर के

भद्रान्यग्रोधात् पर्णात् सा न पृथक्न्यति ॥”—शौ०—५।५।५

‘अमूनश्चत्थ निःशृणीहि खादामून् खदिराजिरम्’—शौ०—८।८।३

‘खदिराङ्गारस्वर्णे कुण्डले भवतः’—पा० म०—१।१।१

‘खदिरबुर्बुरौ गौरकाण्डौ सूक्ष्मपर्णौ, ततः पश्चादाह कङ्कटवान् खदिर इति’—

‘तेनासौ विशेषेण द्रव्यान्तरं समुदायं प्रतिपद्यते’—पा० म०—१।१।४५

‘बले शालसारः, खदिरसारः’—पा० म०—३।३।१७

का० श्रौ०—१।३।३३; ३४; २।८।१; ६।१।९; १०; ८।३।१२; १२।५।२; १५।७।१; २०।४।१९

बौ० श्रौ०—९।१; ११।१; १३।३१; आप० श्रौ०—१।२।२९; ३०; १।५।१०; ७।१।१६

हि० श्रौ०—३।७।१५; ११।१।११; १३।१।७; १३।६।१७; १४।२।४०; १४।३।२; २२।५।१;

२४।२।५

वा० श्रौ०—१।२।१३; १।२।४।२; १।३।१।३१; १।६।१।५; ३।१।१।१३; द्वा० श्रौ०—५।२।२

गो० गृ०—१।५।१४; कौ० गृ०—२।६।९; बौ० गृ०—१।३।१३; १।१६।४९; मा० गृ०—२।६।४

कर्म० प्र०—१।८।१२; या० शि०—३४; मा० शि०—४।१; निसू०—१।१।१७

कौ० सू०—१।६।१४; १।२।२; २।५।२३; २४; ४।७।१; ४।८।१; ५।१।१; के० प०—४।८।१;

२।५।२३; १।२।२, २३

अ० प०—२।१।३।१; २३।६।२; ५; २।७।१।३; ३।१।९।४; ३।६।२।४—५; ३।६।१६।१; ३।६।७।१—३;

वि० ध०—२।७।२१; ६।१।१४; शं० लि० ध०—३६ (१) पा० ग०—६।३।११९

‘इतरवृक्षेभ्यः खदिरस्य अतिशयितसारत्वेन’—सा० (शौ० ३।६।१) ‘विविधं वाधते

कण्टकैः इति विवाधः’—सा० (शौ० ३।६।२)

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हादौ द्विषतः शिरः । अपि वृश्चाभ्योजसा ॥

वर्म मद्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति । पूर्णो मन्येन मागमद्रसेन सह वर्चसा ॥

यत्त्वा शिक्वः परावधीत्तत्ता हस्तेन वास्या ।

आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥

हिरण्यस्रगायं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत् । गृहे वसतु नऽतिथिः ॥

तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे ।

स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकिरसतु भूयोभूयः श्वः श्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥

यमवध्नाद्वृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।

तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

यमवध्नाद् वृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।

तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम् ।

सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

यमवध्नाद्वृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।

[खदिर]

(५९)

[खदिर]

यूप बाहर की ओर तथा बिल्व के यूप भीतर की ओर होते हैं जिस प्रकार अस्थि बाहर तथा उसके भीतर मज्जा होती है । इसके अतिरिक्त इससे सुव, स्पय, शंकु,

तं सोमः प्रत्यमुन्वत महे श्रोत्राय चक्षसे ।

सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।

तं सूर्यं प्रत्यमुन्वत तेनेमा अजयद्दिशः ।

सो अस्मै भूतिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्मणिं फाले घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।

तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद्दानवानां हिरण्ययीः ।

सो अस्मै श्रियमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।

सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः ।

स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं बिभ्रत्सवित्ता मणिं तेनेदमजयत्स्वः ।

सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः ।

स आभ्योऽमृतमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुन्वत शंभुवम् ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वात्लोकान्युधाजयन् ।

स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे । तस्मिन् देवता मणिं प्रत्यमुन्वन्त शंभुवम् ।

स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत । संवत्सरस्तं वद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥

अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत । प्रजापतिसृष्टो मणिद्विषतो मेऽधरो अकः ॥

अथर्वाणो अबध्नत अथर्वणा अबध्नत ।

तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां विभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत । तेन त्वं द्विषतो जहि ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् । स मायं मणिरागमद्रसैः सह वर्चसा ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।

स मायं मणिरागमत्सह गोमिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।

स मायं मणिरागमत्सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।

स मायं मणिरागमन्मधोर्धृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥

खदिर]

(६०)

[खलतुलपर्णी

अभि, वितृणी तथा अन्य पात्र बनते थे । इसकी आसन्दी बनती थी तथा इसका काष्ठ इन्धन के काम में भी आता था । यह धव, अश्वत्थ आदि वृक्षों के साथ जंगलों में होता है । इसके वृक्ष में कण्टक होते हैं । इसकी कोमल टहनियों से दातून की जाती हैं । इसके वृक्ष पर लाक्षा लगती है । खदिरसार की मणि बांधने का निर्देश मिलता है जिससे मनुष्य खदिरसारवत् दृढ होता है । पैपलाद संहिता में इसका प्रयोग किलास तथा विष में है ।

खजूर—वैदिक संहिताओं में इसे शीर्षवत् बतलाया है । इसके सक्तु का प्रयोग यज्ञों में विहित है ।

खलकुल—शंकराचार्य ने इससे कुलत्थ का ग्रहण किया है ।

खलतुलपर्णी—दारिल ने इसे 'काचमादनी' लिखा है । इसका प्रयोग सर्पविष में किया गया है ।

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।

स मायं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह ॥

यमबध्नाद्वृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् । स मायं मणिरागमत्सर्वाभिर्भूतिभिः सह ॥

तस्मिन् देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये । अभिभुं चत्रवर्धनं सपत्नदग्धनं मणिम् ॥

ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम् ।

असपत्नः सपत्नहा सपत्नान्मेऽधरो अकः ॥

उत्तरं दिवषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः ।

यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते ।

स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा ।

स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति । एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु ॥

यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम् ।

तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात् ॥

एतन्मिष्टं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः ।

तस्मिन्विदेम सुमति स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्समिद्धे जातवेदसि ब्रह्मणा ॥

—शौ०—१०।६।१-३५

१. काठ०—१।१०; ३।१७; तै०—२।१।१२

पा० ग०—४।१।१०; हि० श्रौ०—२।१।६; शां० गृ०—१।१।१२ (फलोत्तम—भा०)

'इन्द्रो वै यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्तेषां वा एतानि शीर्षाणि यत् खजूराः'—मै० १।१०।१२

२. बृ० उ०—६।३।१३; कौ० सू०—८।२।१८

३. कौ० सू०—२।१।१५

खल्व]

(६१)

[गवेधुका

खल्व^१—यह दृषद में पीसे जाते थे । सायण तथा शंकर ने इससे निष्पाव का ग्रहण किया है किन्तु महीधर इससे चणक लेते हैं । वेवर इससे *Phascolus radiatus* लेते हैं ।

गन्धवृक्ष^२—जै० गृ० (२।१।१३) में 'गन्धीषधि' है ।

गभीका^३—यह वृक्षविशेष है ।

गर्मुत्^४—यज्ञ में इसका चरु बनता था । इसके दाने अण्डाकार होते हैं ।

गर्ह्य^५—शान्तवृक्षों में परिगणित है ।

गलावल^६—यह भी शान्तवृक्षों में है तथा हिमालय प्रदेश में होता है ।

गवादनी^७—(इन्द्रवारुणी)

गवेधुका—इसके लिए 'गवेधुक', 'गवीधुक' तथा 'गवीधुका' शब्द भी प्रयुक्त होते हैं । यह एक प्रकार का धान्य है जिसका चरु बनता था । इसके यवागू तथा सक्तु का भी निर्देश है । इसका चरु रुद्र के निमित्त दिया जाता था । व्याधि होने पर इसके चरु के होम का विधान है (शां० गृ० ४।१९।२) इसका कारण संभवतः रुद्र का ज्वर से संबन्ध है । इससे यह भी प्रतीत होता है कि रोगियों को इसका यवागू दिया जाता था^८ ।

१. मा०—१८।१२; वृ० उ०—६।३।१३ (खल्व निष्पावाः वल्लशब्दवाच्याः लोके—शांकर)
'सर्वान् नि मष्मषाकरं पृषदा खल्वो हव'—शौ० ५।२३।८
Ved. Pl. 652; Ved. ind. 1-215.

२. वृ० जा०—३।२७

३. पा० ग०—४।३।१६७ (गर्गरिका इति पाका०)

४. तै०—२।४।४।१-३; गर्मुत्संज्ञकमकृष्टपच्यमरण्यमुद्गरूपं धान्यम् 'तस्मादेतद्वाण्ड-
मिव'—सा० मै०—२।२।४; काठ०—१०।११; बौ० श्रौ०—३।३६; पा० म०—१।१।७२
'Wild bean—Ved. ind. i-222; Ved. Pl. 650.

५. कौ० सू०—८।१५ 'गर्ह्यो वेपम्'—दा०

६. कौ० सू०—८।१५ 'गलावलः हिमवति'—दा०

७. पा० ग०—४।१।४१

८. तै०—१।८।७।१; १।८।१।१-२; मै०—२।६।३; ५; ४।३।८; काठ०—१।५।६; ४; मा०—१।५।५
श०—५।२।४।१३; ५।३।१।१०; ५।३।३।७; ९।१।१।८; १।४।१।२।१९
तै० ब्रा०—१।७।३।४; हि० श्रौ०—१।२।३।४; बौ० श्रौ०—१।०।४७
वा० श्रौ०—२।२।३।३; पा० म०—४।३।१३५

गुग्गुलु^१—वैदिक संहिताओं में इसमें अग्नि का स्थान बतलाया गया है तथा इसे मांसवत् कहा गया है। यह सुगंधित द्रव्य है जिसका यज्ञ में तथा धूप के लिए प्रयोग होता था। अथर्ववेद में लिखा है कि इसकी सुगंध जहाँ तक फैलती है वहाँ तक यक्ष्मा आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। यह रक्षोघ्न भी कहा गया है। सायण ने इसका परिचय 'प्रसिद्धं धूपसाधनम्' दिया है। श्रौतसूत्रों में गुग्गुलुव (गुग्गुलु-पक्) घृत से अश्वमेध यज्ञ में अश्व का अभ्यंग करते थे। गायों को 'गुग्गुलुगन्धि' कहा गया है, संभवतः उनमें भी इस अभ्यंग का प्रयोग होता हो^१। गी के रोगों में भी इसका प्रयोग होता है (शौ० २।२६—सा०)।

गुडूची—सर्प-वृश्चिक-भय की निवृत्ति के लिए इसे घर में रखने का विधान है। (शौ० ६।५६—सा०)

१. काठ०—२५।६; तै०—६।२।८।६

शौ०—४।३।७।३; १९।३।१—३; २।३६ (सा०)

पै०—२।२०।२; २।२।१६; ७।१।१९; १३।४।३; १९।२४।१—३

का० श्रौ०—५।४।१५; १३।३।२३; २४।३।९—१०; हि० श्रौ०—१४।३।२३; १६।६।४१;

१८।३।३; बौ० श्रौ०—४।१; १।५।२५; १६।२२; आप० श्रौ०—७।२।५।१;

वा० श्रौ०—३।४।३।४४; १।६।१।३६; मा० गृ०—२।१।४।२३; शं० लि० घ०—१९७;

वै० घ०—२।४।१—२; वि० घ० ६।१।४; ७९।१०; शौ० बृ०—७।७८;

कौ० सू०—१९।१९; २०।२; ३।४।१४; अ० प०—६।२।२; १७।२।१४; १९।३।२; ३३।७।१;

६६।२।२—३; पा० वा०—४।१।७।१

'यानि वा अदो अग्निरस्थान्यधूनुत स पूतदुरभवत् यन्मासं तत् गुग्गुलु यत् पूथितमुप-
श्लिष्टं स सुगन्धितेजनो'—भै०—३।८।५

'तस्य यन्मांसमासीत्तद् गुग्गुलुवभवद् यदस्थि स पीतुदारूर्यानि लोमानि स सुगन्धि-
तेजनः'—क०—३९।४

'इदं हिरण्यं गुग्गुलुवयमौक्षो अथो भगः। एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥'
—शौ० १९।३।८।१

'न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते। यं भेषजस्य गुग्गुलोः सुरभिगन्धो अश्नुते ॥'
—शौ० १९।३।८।१

'विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते। यत् गुग्गुलु सैन्धवं यद् वाष्पासि
समुद्रियम् ॥ उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये ।'—शौ०—१९।३।८।३

'गुग्गुलु प्रसिद्धं धूपसाधनम्'—ऐ० ब्रा०—१।२८ (सा०)

'धूपसाधनविवासहेतुः गुग्गुलुः प्रसिद्धः'—तां २४।१३।४ (सा०)

'पृतानि वै देवसुरभीणि'—तां०—२४।१३।५

२. पा० उ० भो०—३।२।८०

गुन्द्र]

(६३)

[घृताची

गुन्द्र^१—गुचाक^२—

गृञ्जन^३—पलाण्डु और लशुन के साथ निषिद्ध भक्ष्यों में इसका उल्लेख है। इसे खा लेने पर चान्द्रायण व्रत करने का विधान है।

गोधूम^४—तैत्तिरीय संहिता आदि में अन्य धान्यों के साथ इसका उल्लेख है। सायण ने लिखा है कि लोक में यव और व्रीहि की अपेक्षा गोधूम प्रशस्त माना गया है। यज्ञकार्यों में इसके चूर्ण तथा सक्तु का प्रयोग है; अपूप, मण्डक आदि भी इसके बनते थे।

गौरसर्पप^५—(देखें आवय और बज)

गु^६—(दर्भ)

घृताची^७—ऋग्वेद में भी यह शब्द आया है। प्राचीन संहिताओं में यह एक

१. पा० उ० भो०—२।३।३०
२. पा० उ० भो० वृ०—२।२।१४
३. पा० उ० भो०—२।२।१९२; वा० ध०—१।४।३३; वै० ध०—२।१।५।५; ३।५।८;
शं० लि० ध०—३।४०; ४।९८
४. पै०—१।१।१२; मा०—१।८।१२; १।२।२२; ८९; २।१।१९; का०—१।१।४।४; २।१।२।११;
२।१।१।१०; २।३।४।१
तै०—४।७।४२; मै०—१।१।१।८; २।१।१।४; ३।१।१।२; ९ काठ०—१।४।८; १।८।९; ३।८।३;
क०—२।८।९; शं०—५।२।१।६; १२; १३३ १।२।७।१।२; १।२।७।२।९; १।२।९।१।५; १।४।९।३।२२;
तै० ब्रा०—१।३।७।२; २।६।४।४; २।६।१।१।१; वृ० उ०—६।३।२२
का० श्रौ०—१।२।२।१।६; हि० श्रौ०—२।३।१।१।६; २५; वा० श्रौ०—३।२।७।६३;
काठ० गृ०—५।१।६।१;
क० प्र०—३।३; वि० ध०—५।१।३।५; ८०।१; शं० लि० ध०—१।४।६; कौ० सू०—८।२०;
अ० प०—१।२।१।३—६; ७।१।१।६—९
५. हि० श्रौ०—२।७।५।७३; वा० गृ०—१।४।६; बौ० पि०—३।४; वा० ध०—३।५।५;
शं० लि० ध०—३।४।५; बौ० ध०—१।८।३०—३४
आप० ध०—२।८।१।१।१; अ० प०—१।३।१।४; १।४।३।६; १०; ३।०।२।७; ३।३।५।८;
६. बौ० श्रौ०—१।१।३; १।६; १।०।५०
७. ऋ०—१।१।६।७३; ३।६।१; ४।६।३;
मै०—२।८।१०; क०—२।६।८; तै०—४।४।३।२; शं०—१।३।४।१।४
'भूमिर्माता नभः पितार्यमा ते पितामहः। घृताची नाम वा असि सा देवानामसि
स्वसा ॥—खि०—४।७।१
'तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि। अधरूपदेन ते पदमा वदे विषदूषणम् ॥
—शौ० १।०।४।२४

अप्सरा का नाम है । खिलस्थान तथा अथर्ववेद में यह लाक्षा का एक पर्याय है । शतपथ ब्राह्मण में 'जुहू' (ऊर्ध्वसुक्) का पर्याय है ।

चक्रमर्दक^१—मूलविधि के प्रकरण में इसका उल्लेख है ।

चक्राङ्किता^२—

चणक^३—अरुषी, उदर और गण्डुलक (कृमिरोग) की चिकित्सा में कृष्ण चणक के होम का विधान है (के० प० २७।१४-१८) । गौ के कृमिरोग में भी उपर्युक्त विधान है ।

चतुरङ्गुल^४—यह परिमाणबोधक विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । अथर्ववेद में इसी प्रकरण में 'चीपुद्रु' का भी उल्लेख हुआ है (देखें चीपुद्रु)

चतुष्कोण वनस्पति^५—

चन्दन^६—यह सुरभिद्रव्यों में है, इसका अनुलेपन के रूप में प्रयोग है । चान्दन मणि का धारण भी विहित है जो वर्चस्य तथा आयुष्य कहा गया है ।

चम्पक^७—शां० गृ० (१।११।२) के भाष्य में हेमाद्रि से एक श्लोक उद्धृत है जिसमें सर्वोषधि के अन्तर्गत इसका उल्लेख है ।

१. पा० गृ०—१।२१

२. पा० गृ०—१।२१

३. सा०—१८।१२; शं० लि० ध०—१३२, शौ०—२।३१ (सा०); २।३२ (सा०)

डा० पी० के गोडे इसका मूल उद्भव यूनान और इटली मानते हैं :—

“Presuming that Southern Europe comprising Greece and Italy was the native habitat of चणक from which it was taken to Egypt and further to India by Western Aryans”.

—Studies in Indian Cultural History, Vol. I, page 216.

४. कौ० सू०—१३।११; २६।३४ (पलाशस्य चतुरङ्गुलेनालिम्पति); शौ०—६।१२७।१-३

५. मा० गृ०—२।६।४

६. सा०—३।१।३; आप० गृ०—५।१।८; हि० गृ०—२०।३।१९; १९।३।२४; २६;

शां० गृ०—१।१।२ (भा०); शं० लि० ध०—१२८; आप० ध०—१।७।२०।१२;

वि० ध०—६६।२; ७९।११; अ० प०—१।४।५।२; ५।१।५; ९।२।१; १८।३।१-३; १९।३।१, २; २१।१।४; २१।३।३; ३६।१।५।१; ६६।२।२-३; ६८।१।३०-३३

‘चन्दनमित्यप्यस्य भवति । चारु द्रवति चिरं द्रवति । चमेर्वा पूर्वम् । चारु हचे-र्विपरीतस्य ।’—या० १।१।५; पा० म०—४।२।६५ (चान्दनगन्धिकः);

‘धृतस्य तीव्रो गन्धः चन्दनस्य मृदुः’—पा० म०—२।२।८

७. अ० प०—२६।५।१-५; पा० म०—२।१।१

चित्ति(त्ति)]

(६५)

[जङ्गिड

चित्ति(त्ति)^१—यह दुःस्वप्ननाशन कहा गया है। कौशिकसूत्र में यह शान्तवृक्षों में परिगणित है। उदरतुण्ड तथा रक्षोग्रह में इससे अवसेचन का विधान है (के० प० ३०।११; ३१।८)

चित्रक^२—वर्ज्य शाकों में पठित है।

चित्रपर्णी^३—यह गर्भरक्षा के लिए प्रयुक्त है। (देखें पृश्निपर्णी)

चीपुद्रु^४—यह विद्रधि, बलास, रक्तपित्त, विसर्प तथा हृद्रोग की ओषधि कही गई है। 'शीपुद्रु' इसका पाठान्तर है। विद्वानों का मत है कि 'चीपुद्रु' शुद्ध रूप है।

चुपुणीका^५—

चेतन्ती^६—

च्युकाकणी^७—यह रक्षोघ्न, क्रिमिघ्न तथा विषघ्न वीरुध् कही गई है।

छत्राक^८—

जङ्गिड^९—इस द्रव्य का वर्णन केवल अथर्ववेद में मिलता है। इसके मणिधारण का विधान है। यह आयुष्य, शोषनाशक, रक्षोघ्न कहा गया है—आशरीक, विशरीक,

१. पै०—२।३७।१; कौ० सू०—८।१६

२. वै० ध०—३।५।८

३. शौ०—२।२५।१ (सा०)

४. अ० प्रा०—३।४।१

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते । विसर्पकस्योषधे मोच्छिपः पिशितंचन ॥
यौ ते बलास तिष्ठतः कचे मुष्कावपश्रितौ । वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥
यो अङ्गयो यः कर्ण्यो यो अक्षयोर्विसत्यकः । वि वृहामो विसर्पकं विद्रधं हृदयामयम् ॥
परा तमज्ञातं यक्षममधराञ्च सुवामसि ॥—शौ० ६।१२७।१-३

'चीपुद्रुः पृतत्संज्ञको द्रुमविशेषः'—सा०

Ved. ind. —I-262; II-383.

५. तै० प्रा०—२।१३।११

६. पै०—१।२९।४; १।७९।३

७. पै०—५।३।१-८

८. आग्नि० गृ०—२।५।२।४; बौ० गृ०—३।६।१; शं० लि० ध०—४।१८

९. शौ०—२।४।१-६; (जङ्गिडः वृक्षविशेषो वाराणस्यां प्रसिद्धः—सा०)

१९।३४।१-१०; १९।३५।१-५; (जङ्गिडो नाम कश्चिद् ओषधिविशेषः, स च उत्तरदेशे प्रसिद्धः—सा०)

'आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ठ्यामयम् । त्वमानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥'
—शौ० १९।३४।१०

५ द्र० च०

जतु]

(६६)

[जलाषभेषज

विष्कन्ध, बलास, पृष्ठचामय और त्वमरोग में प्रयुक्त हुआ है। विष्कन्धदूषण, सहस्रवीर्य, विश्वभेषज, कृत्यादूषि, सहस्वान् आदि इसके पर्याय हैं। सायण ने इसे वाराणसी में प्रसिद्ध वृक्षविशेष कहा गया है। पैपलाद शाखा में यह आरण्य (Wild) तथा कृष्य (Cultivated) दो प्रकार का कहा गया है। दारिल ने इसे अर्जुन कहा है जिसे दाक्षिणात्य लोग अचल कहते हैं। कीशिकसूत्र में शान्तवृक्षों में पठित है। कैलण्ड भी इससे Terminalia arjuna लेते हैं।

जतु^१—(देखें लाक्षा)जपा^२—इसके रक्तवर्ण पुष्पों का निर्देश है।जम्बीर^३ (ल)—जम्बू^४—कीशिकसूत्र में शान्तवृक्षों में यह परिगणित है।जयन्ती^५—पुष्याभिषेक-प्रकरण में इसका उल्लेख हुआ है।जर्तिल^६—यह संभवतः वन्य तिल है। इसके यवागू का भी निर्देश है।जलाषभेषज^७—निघण्टु में जलाष जल तथा सुख का पर्याय है। अथर्ववेद (शी०)

‘शणश्च मा जङ्घिडश्च विष्कन्धादभि रच्यताम् ।

अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥—पै० २।४।५

पै०—२।१।१-५; ४।१।१-७; १।१।१-१०; १।१।१-५

अ० अ०—२।४; १।१।४; अ० शां०—१।१।६; कौ० सू०—८।१।५; ४।२।२

(जङ्घिडोऽर्जुनः अचल इति दाक्षिणात्यः)

Ved. ind.—I-268; II-314; Ved. Pl.—65I,

१. पा०—४।१।१३८; पा० वा०—४।१।७१

पा० म०—१।१।४६; ४।१।७१; ६।१।६९; ८५; ९१; ३।१।४६

२. जै० गृ०—१।१; या० शि०—२।६ (यादृशी रक्तवर्णाभा जपायाः कुसुमेऽथवा । तादृशं रक्तयेद् वर्णम्)

३. मै०—३।१।५३; मा०—२५३; काठ०—५।१।२।१; पा० उ० भौ०—२।३।५०

४. पा०—४।३।१६५; पा० ग०—४।२।८०; ८२; शां० लि० ध०—२३२

शां० गृ०—१।१।१२; (भा०—फलोत्तम) ; कौ० सू०—८।१।५; पा० म०—२।४।७

५. अ० प०—५।१।५

६. काठ०—२।१।६; क०—३।२।२; तै०—५।४।३।२; शां०—१।१।१।३; हि० श्री०—१।२।३४

‘Wild Sesamum’—Ved. ind. i-279

७. ऋ०—१।४।३।४; ८।२।१।५; श्रौ०—२।२।७।६; पै०—२।१।६।४; १।१।०।३-४; २।५।६।२;

१।४।२।३ (जलाषभेषजी); १।५।२०।१-१०; अ० प०—३।२।१।७; निघ०—१।१।२; ३।६

‘रोगापनयनेन सुखकरभैषज्यवान्’ (सा०; ऋ० ८।२।१।५); कौ० सू०—३।१।११

जाती]

(६७)

[जीवला

में सायण ने इसकी निरुक्ति की है :—‘जायन्ते इति जाः । जानां लाषो यस्मिन् तज्जलाषं सुखम् ।’ रुद्र को भी जलाषभेषज कहा गया है क्योंकि वह रोग दूर कर सुख देनेवाले हैं । प्रकरण के अनुसार शर को भी जलाषभेषज कह सकते हैं क्योंकि यह जलीय ओषधि है तथा मूत्रल रूप में वर्णित है^१ ।

जाती—^२मूलविधि-प्रकरण में इसका उल्लेख है ।

जातीफल^३—चन्दन आदि के साथ अनुलेपन में इसका प्रयोग है ।

जाल्य^४—

जीवन्त^५—

जीवन्ती^६—ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है । अथर्ववेद में इसके सम्बन्ध में सायण का कथन है कि यह पाठा का विशेषण है या स्वतन्त्र ओषधि भी हो सकती है । वेदाङ्ग-वाङ्मय में स्पष्ट इससे तन्नामक विशिष्ट ओषधि का ग्रहण किया गया है । केशवृद्धि के लिए इसके फल का मणिवन्धन विहित है (के० प० ३१२८)

जीवला^७—सायण ने इससे कहीं सहदेवी और कहीं पाठा का ग्रहण किया है । (देखें जीवन्ती और पाठा)

१. शर को मगध की लोकभाषा में ‘झलासी’ कहते भी हैं जो ‘जलाष’ का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है । उस प्रदेश में अथर्ववेदीय परम्परा की बहुलता का भी यह प्तोक्त है ।

२. पा० गृ०—१२१

३. शं० लि० ध०—१२८; वि० ध०—६६२

४. पै०—९।१०।१०

५. ‘जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता’—शौ० १९।३९।३ (जीवयतीति जीवन्तः—सा०)

६. ऋ०—५।७।८।९; काठ०—१।३; ३।१२; क०—४।७।२; तै०—३।४।३।५;

शौ०—३।१।३।६; ८।२।६; ८।७।६; पै०—२।१३।३; १६।३।६; १६।१२।६; १९।५२।८;

श०—१।१।३।२; पा० गृ० १।२१;

‘जीवला नधारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।

त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्या अरिष्टतातये ॥’—शौ० ८।२।६

‘स्वयं जीवन्ती; कदाचिदपि अशुष्काम् इत्यर्थः अथवा सजीवाम्; एवं महिमोपेतां ओषधीं पाठाख्यां, अथवा जीवलादयः प्रत्येकं ओषधिविशेषाः’—सा०

७. शौ०—६।५९।३; ८।२।६; ८।७।६; १०।६।३; १२।३।२५; १९।३९।३; १९।६९।४

पै०—१।९३।२; ७।१०।३; ८।७।११; १३।१३।१०; १५।१६।३; १६।३।६; १६।१२।६; १७।३।८।६; १९।१४।२; १९।५४।१४; अ० अ०—१९।३९; १९।६९; अ० प्राय०—६।६

जीवी—कौशिकसूत्र (३१।२८) में 'जीव्यलाका' शब्द आया है । कुछ विद्वान् इससे एक ओषधि तथा कुछ 'जीवी + अलाका' मान कर दो ओषधियों का ग्रहण करते हैं । केशवदोष में इसका प्रयोग होता है । दारिल तथा केशव ने इससे काकमाची का ग्रहण किया है ।

ज्येष्ठीमधु^१—(देखें मधुक)—

वृश्चिकदेश में इसे पीसकर पिलाने का विधान है । स्त्रीवशीकरण तथा विवाद में विजय के लिए भी इसका प्रयोग है ।

तगर^२—उशीर, कुष्ठ आदि सुगंधित द्रव्यों के साथ इसका उल्लेख है । केशवपद्धति में इसका घी के साथ लेप स्त्रीवशीकरण के लिए विहित है । परसेनात्रासन—विद्वेषण-कर्म के लिए वाद्ययंत्रों पर तगर और उशीर का लेपकर वजाने का विधान है^३ ।

तण्डुलीयक^४—श्राद्ध में निषिद्ध शाकों में पठित है ।

तमाल^५—उपनयन में इसकी मेखला का भी विधान है । टीकाकार ने इसे 'मूलोदक-संज्ञो वृक्षः' लिखा है ।

तरुणक^६—

तलाशा (श)^७—यह वृक्षों में श्रेष्ठ माना गया है । शान्तवृक्षों में भी परिगणित है । इसका मणिबन्ध विहित है (के० प० १९।२६) । इससे तालीश का ग्रहण करते हैं ।

‘जीवलां नघारिपां जीवन्तीमोषधीमहम् ।

अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्या अरिष्टतातये ॥’

—शौ० ८।७।६

१. के० प०—३२।५; (‘वृश्चिकभैषज्यम्—ज्येष्ठीमधु पिष्ट्वाभिन्नन्य पाययति’) ३५।२१; ३८।१७

२. कौ० सू०—१६।१; अ० प०—१।४३।४; ३५।१।१४-१५; ३५।२।१-७; ९-११; के० प०—३५।२१

३. तुलना करें—सुश्रुतसंहिता, दुन्दुभिस्वनीय अध्याय ।

४. वि० ध०—७९।१७;

५. पा० ग०—२।४।३१; ४।२।८०; ५।२।१३५; जै० गृ०—१।१२; आप० ध०—१।१।२।३७; हि० श्रौ०—२६।१।६८

६. ‘दर्भः शोचिः तरुणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः । रथस्य बन्धुरम्’

—शौ० १०।४।२. पै० १६।१।५।२

७. ‘तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः’—शौ० ६।१।५३; ८।१।०।७

कौ० सू०—८।१।६; ‘तलाशा मालिका अबली प्रसिद्धः’—दा०; वेतसी (के०)

Ved. ind. i-301; Ved. Pl. 663.

तस्तुव]

(६९)

[तिल

तस्तुव^१—यह सर्पविषघ्न औषधि है ।

ताजद्भङ्ग^२—यह आसानी से टूट जाता है । दारिल ने इसका अर्थ ऐरण्ड किया है ।

ताबुव^३—यह सर्पविषनाशक द्रव्यविशेष है ।

ताम्बूल^४—नागवल्ली इसका पर्याय है ।

ताछ (च)^५—दारिल इसे अस्थिकमणि तथा केशव पलाशमणि कहते हैं ।

ताल^६—

तालीस^७—

तिनिश^८—

तिन्तिडीक^९—

तिन्दुक^{१०}—इसका दन्तधावन निषिद्ध है ।

तिमिरक^{११}—दारिल ने असिकनी के लिए तिमिरक (?) लिखा है । (देखें—ककुच)

तिल^{१२}—ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं है किन्तु अन्य संहिताओं में यह मिलता है ।

१. पै०—८।२।१०

‘तस्तुवं न तस्तुवं घेत् स्वमसि तस्तुवम् । तस्तुवेनारसं विषम्’—शौ० ५।१३।११
Ved. ind.—I—304.

२. शौ०—८।८।३ (‘ताजद्भङ्ग इव भज्यन्ताम्’); कौ० सू०—१६।२४ (तस्मिन्नरण्ये सपत्न-
क्षपणीरादधायश्वस्थबधकृताजद्भङ्गाह्वखदिरशराणाम्’). ताजद्भङ्ग ऐरण्डः—सा०

३. पै०—८।२।९; अ० अ०—५।१३; दं० वि०—१।१०

‘ताबुवं न ताबुवं न घेत् स्वमसि ताबुवम् । ताबुवेनारसं विषम्’—शौ० ५।१३।१०

४. पा० उ०—४।९०; आग्नि० गृ०—२।४।१०।३८; ३।३।१।१३; १८

५. कौ० सू०—४।८।२४

६. पा०—४।३।१५२; पा० वा०—४।३।१५२

७. पा० उ० ओ०—२।३।१८०

८. पा० उ० ओ०—२।३।१४७

९. पा० उ०—४।२०; पा० म०—४।३।१५५ (तैत्तिडीकवनम्)

१०. वि० ध०—६।१३; पा० उ० ओ०—२।२।२२

११. कौ० सू०—२६।२२ (दा०); पा० म०—८।४।६ (तिमिरवनम्)

बौद्ध बाह्यमय में इसका पुष्प सुगन्धित कहा है (अपदान, II,—345)

१२. मै०—२।१।१४; ४।३।२; तै०—४।७।४।२; काठ०—१।२।७; १।८।९; मा०—१।८।१२

का०—१।९।४।३; शौ०—१।७।२; २।८।३; ४।७।३; ६।१४।०।२; १०।१३।६।६.

१२।२।५४; १।८।३।६९; १।८।४।३३; पै०—८।१।८।९; ९।१।१।२; १२।४९।१०

[तिल]

(७०)

[तिल

माष के साथ यह अधिक प्रयुक्त हुआ है और हेमन्त तथा शिशिर के धान्यों में निर्दिष्ट है। यह ग्राम्य तथा आरण्य दोनों प्रकार का होता है। आरण्य तिल को 'जर्तिल' कहा गया है। तिल से तेल निकालते थे तथा इसकी डंठल (तिलपिण्ड)

सा०—११३७; १८११०; ३१५१; ५

गो०—२१११७; तां०—१८११५; १६१११०; शां० आ०—१११४; १२८ छां० उ०—५११०६

का० श्रौ०—१०२१११; हिं० श्रौ०—१०४१५; बौ० श्रौ०—१८२३;

जै० गृ०—११११७; २१९; वा० गृ०—४२७; मा० गृ०—२१५११; १२११२; ११४१९

बो० गृ०—२१११६४; ४४

(तिलाः श्राद्धे पवित्रं यदि दानाय यदि भोजनाय यद्यपि संसर्जनाय)

गो० गृ०—२११६; काठ० गृ०—३१६१८; शां० गृ०—४४१९; ४३१४; ३१३३;

१२८१६; पा० गृ०—११५४; आ० गृ०—११०७; ११७२; २५११५

कौ० गृ०—३११२-४; क० प्र०—२१२२; बौ० पि०—३४; ९

आष० शु० पृ०—१०१ (मान); शां० लि० ध०—२१३; १४६; १७;

आष० ध०—११७२०१३; ११२६१५; २७१६२२; २८२०११;

हिं० श्रौ०—२९११५३; २६१६२७; २७५५५८; बौ० ध०—२१२३-१४;

वै० ध०—२१५११; वि० ध०—१९११८; ८०११; ७९१६; ऋ० तं०—४५३; ५२१७

कौ० सू०—७५; ८२०; १०१११; ११६; २७३३; ३६१९; ८०२८; १२४११; के० प०—२६४३

अ० प०—१३०२; १४३८; ४२१९; ८११४; ९१११-२; १४११८; २१२२; २३१५४;

२३७२; २३१२१; ३०३११; ३०४२-३; ३१२११; ३१६४; ३६१९११; ३६३०११;

४४१११०; ४४३११०; ६६२२२-३; ४६; ६९१११-५; ७०११६-९

पा०—४३११४९; ५११७; ५२१४; ६३१७१

पा० वा०—५२२२९; ६३१६७; ४३१२६; पा० म०—१११५; ४९; १३१११; १४२२;

२११५८; ३११६७; ३२१५; २८; ३३१९९; १२६; ४२३३६; ४३१६६; ५१११३; २०; ९४;

५२१४; २९

'माषाश्च मे तिलाश्च मे'—क० २८९

'उभयं वैतदन्नं यज्जर्तिलाः। यच्च ग्राभ्यं यच्चारण्यम्। यदह तिलाः तेन ग्राभ्यम्।

यदकृष्टे पच्यते तेनारण्यम्' उभयेनैवैतदन्नेन ग्रीणाति ग्राभ्येण चारण्येन च'—

शा०—९१११३, जर्तिलाः अरण्यतिलाः (सा०)

'दश ग्राभ्याणि धान्यानि भवन्ति ब्रीह्यवास्तिलमषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च

मसूराश्च खलाश्च खलकुलाश्च'—बृ० उ० ६३१३

'अथ य इच्छेत् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा

सपिप्पन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै'—बृ० उ० ६३११७

'अपरिमितगुणान् तिलान् विप्राय दधात्'—अ० प० ४२१९

'तिलाः श्वेताः तिलाः कृष्णाः तिलाः गोमूत्रवर्णकाः।

तिलानां तु विचित्राणां धेजुं वस्त्रं च कारयेत् ॥' अ० प०—९१११-२

तिलक]

(७१)

[तीक्ष्णशृङ्गी

को इन्धन के काम में लाते थे । इससे एक भोज्य पदार्थ भी बनता था जिसे तिलोदन कहते हैं । तिलपिशित चूड़ाकरण के बाद नापित को देने का विधान है । श्राद्ध में यह दान तथा भोजन के लिए पवित्र अन्न माना गया है । अथर्व-परिशिष्ट में यह श्वेत, कृष्ण तथा गोमूत्रवर्ण तीन प्रकार का कहा गया है और इसके गुण अपरिमित बतलाये गये हैं । केशवृद्धिकरण, केशदृढीकरण तथा केशजनन के लिए माष-तिल आदि कृष्ण अन्न के भक्षण का विधान है (के० प० ३१।२८) ।

‘तिर’ शब्द का भी प्रयोग है (शौ०—४।७।३)

तिलक^१—(देखें साक्त्य)

तिल्वक^२—इसका काष्ठ वज्रवत् दृढ़ एवं कठोर कहा गया है । यज्ञ में इसका यूप बनाया जाता था । श्मशानायतन के लिए यह निषिद्ध माना गया है । गृह्यसूत्रों में इसका इन्धन वर्ज्य माना गया है । इसका दन्तधावन वर्ज्य है ।

आग्निवेश गृह्यसूत्र में ‘तिल्वका’ शब्द है जो क्षुप या लता प्रतीत होती है ।

तीक्ष्णतैल^३—(कृष्णसर्षप)

तीक्ष्णवल्श^४—

तीक्ष्णशृङ्गी^५—यह अजशृङ्गी का पर्याय है । इससे उसके तीक्ष्ण शृङ्गाकार फलों का

१. पा०—५।१।२८; ५।२।३६; के० प०—१९।२१-२३ (तिलकमणि); ३९।१

शौ०—२।११ (सा०)

२. मै०—‘तैल्वकीमभिचरन्नाद्ध्यात् एष वनस्पतीनां वज्रः’—३।१।९

श०—१३।८।१।६; ष०—३।८; का० श्रौ०—२।१।३।२०; (तिल्वकः तिगिसः—टी०)

२२।३।८; (तिल्वकः प्रसिद्धः—भा०); वा० श्रौ०—२।१।२।८; हि० श्रौ०—१।१।३।१९;

(बहुगालवं तिलक इति केचित्—व्या०); १७।२।१; २९।१।४; जै० गृ०—१।१;

आ० गृ०—२।७।५; गो० गृ०—१।५।५; बो० पि०—१।६।२; बि० ध०—६।१।३

‘कालां च पृथिनपर्णी च तिल्वकां चापाघां चापामार्गं च शुण्ठीं च बहुपुत्रीं च

विस्त्रंसिनीकां च राजवृषणीं च याश्चान्याः क्षीरिण्यः ओषधयो भवन्ति’

—आग्नि० गृ० ३।५।५

४. अ० प०—३६।३०।१

५. पै०—७।७।७

६. पै०—५।९।४; (तीक्ष्णशृङ्गा); १६।१।२।९

‘एवमगन्धोषधीनां वीरुधां वीर्यावती । अजशृङ्गपटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्युषन्तु ॥’

शौ०—४।३।७।३

‘भवकोदया उदकाःमान ओषधयः । व्युषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्गः ॥’

शौ०—८।७।९

तीव्रदारु]

(७२)

[तृष

बोध होता है—('तीक्ष्णे उग्रगन्धे शृङ्गाकृती फले यस्याः सा'—सा०) शी०
 ८।७।९ में यह जल में होने वाली ऐसी ओषधियों का बोधक है। यहाँ संभवतः
 इससे शृङ्गाटक का ग्रहण करना चाहिए। (देखें अजशृङ्गी)

तीव्रदारु^१—तुग्र^२—तुङ्ग^३—

तुन्यु^४—दारिल ने इसे तिनिश कहा है। यह शान्तवृक्षों में पठित है।

तुम्बर^५—कौशिकसूत्र में तुम्बरदण्ड का उल्लेख है।

तुम्बुरु^६—तुलसी^७—

तूर्यन्ती^८—आप० गृ० (६।१४।१३-१४) में शीघ्र प्रसव कराने के लिए लिखा है
 कि गर्भिणी के पैर की ओर तूर्यन्ती तथा शिर की ओर शोष्यन्ती रखे। हरदत्त
 ने इन दोनों को ओषधि माना है। सुदर्शन ने इसका अर्थ 'अधःपुष्पिका'
 किया है।^९

तृण^{१०}—तृष^{११}—

१. पा० ग०—४।३।१५४

२. पा०—४।४।११५

३. पा० उ० ओ०—२।२।६६

४. कौ० सू०—८।१५ (तुन्युः तिनिशः—दा०)

५. कौ० सू०—७६।२; अ० प०—३६।४।२; अ० शा०—२२।१

६. पा० म०—१।१।४६; अ० १।१०।१

७. अ० प०—३५।२।९-११; अ० ध०—१२९

८. हि० गृ०—२।२।८; आग्नि० गृ०—२।१।३।२

९. 'पत्तस्तूर्यन्तीं निधाय मूर्धन् शोष्यन्तीम्'—आप० गृ०; भा० गृ०—१।२२

'तूर्यन्तीमिति शोष्यन्तीमिति चौषधिद्वयम्'—हरदत्त

'तूर्यन्तीं अधः पुष्पिकाख्यां ओषधिम्'—सुदर्शन

१०. कौ० सू०—१३।११-१२; १४।१३

११. 'यजमानं तार्यं परिधापयति इति आज्येनैवैतत् तृप्तं वासो अवत्यथाप्युदाहरन्ति
 तृषा नाम वृक्षास्तेषामेवैतद् भवति'—बौ० श्रौ० २५।३४।११

तृष्टा(ष्टिका)]

(७३)

[तौविलिका

तृष्टा (ष्टिका)^१—घुणजम्भनी, वृषातकी इसके पर्याय हैं। सायण ने इसे बाणापर्णी तथा दारिल ने इसे शरपुंखा कहा है।^२ यह मूषिकेविषनाशन, घुणनाशन तथा वर्चस्य है। पैप्पलाद संहिता के वर्णन से प्रतीत होता है कि यह कोई सगन्ध ओषधि^३ तथा विषाक्त और वर्जित है। विषातकी तथा परिवृक्ता विशेषण इसके द्योतक हैं। सायण ने तृष्टिका का अर्थ दाहजनक तथा पिपासाजनक किया है^४। इससे उष्णवीर्य का बोध होता है।

तृष्टाघ (घ्न)^५—वेबर इससे सर्षप का ग्रहण करते हैं। (देखें तार्ष्टाघ)

तेजन^६—यह वंश का पर्याय है। खेत के मापदण्ड के रूप में भी व्यवहृत है।

तेजनी^७—

तौदी^८—यह विषनाशन मानी गई है।

तौविलिका^९—सायण ने इससे रोगकारणभूत पिशाची लिया है किन्तु जिमर तथा

१. 'तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमं छिन्धि तृष्टिके। यथा कृतद्विष्टाऽसोऽमुस्मै शोय्यावतं ॥
तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यासि। परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥'

—शौ० ७।११२।१-२

पै०—२०।१६।१-४; कौ० सू०—३६।१०; ३८

२. 'तृष्टिके इति बाणापर्णीम्' 'बाणापर्णी शरपुंखेति प्रसिद्धा'

३. 'तृष्टा त्वमसि गन्धेनौषधिः घुणजम्भनी।

आखोर्घुणस्य जातानि तानि जम्भय तेजसा ॥'—पै० २०।१।७

४. 'कुस्मिता तृष्टा तृष्टका। जितृष पिपासायाम् इत्यस्मात् तृष्टशब्दः। अतिपिपासया अन्तःशरीरे दाहो जन्यते। अत्र जन्ये जनकशब्दः।'

५. कौ० सू०—२५।२३; २७

'ताष्टाधीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाद्यर्चिषा। जहातु क्रम्याद्रूपं भो अस्य मांसं जिहीर्षति ॥
Ved. Ind. i—308

—शौ० ५।२९।१५

६. पै०—४।१४।१; शौ०—१।२।४; ६।४९।१; (अन्तर्निःसारं वेणुमिव-सा०) ऋ०—१।१।०।५

'वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति'—शौ० २०।१३।३; पा० म०—६।१।८३

७. जै० गृ०—१।२०

८. पै०—१६।१७।६

'तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि। अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम् ॥'
—शौ० १०।४।२४

Ved. index—i-326

९. पै०—१९।५।९

'तौविलिकेऽवेलयावायमैलव ऐलधीत्। बभ्रश्च बभ्रुकर्णाश्चापेहि निराल ॥

—शौ० ६।१६।३

Ved. ind. i-326

त्रपुस]

(७४)

[दण्डम

द्विष्टनी ने ओषधिविशेष का ग्रहण किया है। ग्रिफिथ इससे कोई जन्तु या ओषधि लेते हैं।

त्रपुस^१—

त्रायमाणा^२—‘त्रायमाण’ शब्द ऋग्वेद में भी आया है। यह ‘रक्षा करनेवाला’ के अर्थ में विशेष प्रयुक्त हुआ है। यह सर्पविषनाशक कही गई है। सायण इसे पाठा के विशेषणरूप में तथा पृथक् ओषधिविशेष भी मानते हैं। अथर्ववेद (शौ०) में यह विश्वजिद् देवता के लिए (६।१०।७।१-४) तथा ओषधिविशेष के लिए (८।२।६) प्रयुक्त है।

त्रिकण्टक^३—

त्रिवृत् (त्रिवृता)^४—त्रिगुण के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होता है। इसके मणिधारण का विधान है। सायण ने इससे सुवर्ण-रजत-लोहमय मणि का ग्रहण किया है।

त्रुटि^५—यज्ञसंभारों में यव, सर्षप आदि के साथ उल्लेख है।

दण्डन^६—

१. कौ० सू०—२५।२३; अ० शां०—२१।२; ‘दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः’—पा० म० १।१।५९; ६।१।३२-३३

(दध्यैव विशिष्टावस्थायुक्तं त्रपुसमित्युच्यते—प्रदीप; तृपुसमिति पाठान्तरं, आद्ये त्रपुसं फलविशेषः—उद्योत)

२. शौ०—६।१०।७।१-४; पै०—१९।४।७; ८।७।५; १५।१।६।३; १६।३।६; ऋ०—६।५०।८; ७।३।५।१०
‘जीवलां नधारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्या अरिष्टतातये ॥’

—शौ० ८।२।६

‘अरसं तेऽहेः विषं ह्रमं कृणोस्वोषधिः।

त्रायमाणां सहदेवीं सहस्वतीं अहातायद् गोरश्चात् पुरुषाद् विषम् ॥’

—पै० ८।२।११

Ved. ind.—i-328

३. पा० ग०—४।३।१५४

४. शौ०—५।२।८; १९।२।७।१—१५; पा० म०—६।२।१९९

‘तिस्रो दिवस्तिस्त्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान्।

त्रिवृत् स्तोमं त्रिवृत् आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्धिः ॥’

—शौ० १९।२।७।३

५. अ० प०—२१।२।४

६. ‘इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिस्रिपञ्चं दण्डनं नवम्’—शौ० १२।२।५४

दधित्य^१—इसका इन्धन वर्ज्य माना गया है ।

दर्भ^२—यह ओषधियों का सारभूत, जलीय तथा पवित्र ओषधि मानी गई है । इसे

१. पा० गृ०—१२१; जै० गृ०—१११; गो० गृ०—११५५

२. 'आप ओषधयो यद् दर्भाः'—मै०—१७२; क०—८३; शौ०—१९२८१-१०;

१९३२१-१०; १९३३१-५; १९३०१-५; १९२९१-९; १०४२; १३;

पै०—१८७१-४; ७७१-९; १२४१-१०; १२५१-५; १३१११-२३; १९३३७-८;

१५२२१०; १५१३७; १६१३१०; १६१५२; १९२१४; १६१६३;

श०—२२३११; ३१३११८; ७२३२ (एकमूलोन्नेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते, दर्भाणां स्तम्बो दर्भस्तम्बः); १०४३१४; १३१११२

ऐ० आ०—१२३; सा०—१३२; ष०—२९; तै० आ०—२१११; ६९११;

तै० ब्रा०—१४४१; ३३२११; ३७३३३; जै० ब्रा०—१६३

पा०—४११०२; पा० ग०—४२८०; ४३१४४; २४१७

हि० श्रौ०—१२६; ४; (दर्भनाड्यौ) १३१०; १०१४ (दर्भेषीकया वा दर्भपुञ्जी-लेन); १४१२०; २३१६८; २४२६

बौ० श्रौ०—१२९; १७४०; ६१; आ० श्रौ०—३१४; वा० श्रौ०—१११७४;

१२१२१; ३४११४;

आप० श्रौ०—१२९; १४३०; ७३११; ९२२४; क० प्र०—१२२;

बो० गृ०—१२४; ११०७; ३५११; ३९३५; गो० गृ०—२९४; २७५; काठ० गृ०—

२३३; २१२४; ३१४; शां० गृ०—१२२८; ४४८; पा० गृ०—११५४; आ० गृ०—

३२२; हि० गृ०—१९३२६; २०११९; जै० गृ०—२६; खा० गृ०—४२९; आप० गृ०

११२१; ६१५४; ७२०११; मा० गृ०—१५२-३; १११५; ८; बो० पि०—११४२;

१६५; १२११; हि० श्रौ०—२९४४०; २८२६९; शं० लि० ध०—१२४; बौ० ध०—

२७५; ११३३०; त्रै० ध०—२५२; कौ० सू०—२८; १८; ८१६; १६२५; १७२;

१८३३; २०२२; २१२; २२१४; २५३७; २६३०; ३११; ३६२२; ३८९; ३९१९;

४३६; ४४२९; ५११०; ५३१; २; २०; ७९१४; ९०१; अ० ष०—२३१२१; ३३१७;

३३५८; ४४११०

के० प०—२२१; ३६३२; ३९५-१२

Ved. ind. i—340

Ved. Pl.—649

'शरासः कुशरासः दर्भासः सैर्या उत । मौञ्जा अष्टा वैरिणः सर्वे साकं न्यलिप्सत ॥

—ऋ० ११९१३

'जलोदररोगनिवृत्तये गृहतृणदर्भपिञ्जलीयुक्तघटजलेन अभिषेकं कुर्यात् ।'

—शौ० ११० (सा०)

"अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च । मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥

अयं यो भूरिमूलः ससुद्रमवतिष्ठति । दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥

रशना तथा रज्जु भी बनाई जाती थी। इसके मूल से अनेक सूत्र या काण्ड निकलते हैं अतः इसके स्तम्भ (दर्भस्तम्भ) का निर्देश मिलता है। ऋग्वेद में शर, कुशर आदि के साथ इसका उल्लेख है। शतकाण्ड, सहस्रकाण्ड, सहस्रपर्ण, सहस्रवीर्य तथा दुश्च्यवन इसके पर्याय हैं। यह मन्युशमन माना गया है तथा आयुष्य विषघ्न एवं बल्य है। अथर्ववेद में यह औषधों तथा वीरुधों में श्रेष्ठ माना गया है। विशेषतः आस्त्राव रोग का यह श्रेष्ठ भेषज कहा गया है। इसके मणि का धारण भी विहित है। जलोदर में भी इसका विधान है। पैप्पलाद संहिता में यह विषघ्न, रक्षोघ्न, अमीवचातन माना गया है तथा इसका प्रयोग सर्पविष, दुःस्वप्न, वृश्चिकविष, शिरःशूल, पर्वशूल, उदरशूल में निर्दिष्ट है। शतपथ ब्राह्मण में इसे मेध्य कहा है।

दशपत्रा—

दशवृक्ष—यह ग्राही से जो पर्वों में आक्रमण करती है, रक्षा करता है। 'पर्व' शब्द से यदि सन्धियों का ग्रहण करें तो इसे सन्धिवात या आमवात में लाभकर मान सकते हैं। कुछ लोग इससे एक वृक्ष और कुछ लोग पलाश, उदुम्बर आदि वृक्षों का ग्रहण करते हैं। इसके मणिधारण का विधान है।

दाडिम—

दारु—(देखें देवदारु)—इसका प्रयोग अनुलेपन के लिए होता था।

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि ।

यथावशो न वादिषो मम चित्तमपायसि ॥"—शौ० ६।४३।१-३

'अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजाऽमृतं हविः ।

व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्थौ ॥"—शौ० ८।७।२०

'पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः। दर्भो भंगो यवः सहस्ते नो मुखन्त्वंहसः ॥'

—शौ० ११।६।१५

१. अ० शा०—२२।१

२. "दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।

अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नमय ॥"—शौ० २।९।१

(पलाशोदुम्बरादिदशवृक्षशकलनिर्मितमणे—सा०); पै०—२।१०।१-५;

अ० प०—३२।१।७; अ० अ०—२।९; के० प०—२६।३३-४०; २७।५

३. पा० ग०—२।४।३१; शं० लि० ध०—२२०

पा० म०—१।१।१; १।२।४५

४. वि० ध०—६६।२

दारुपत्रा]

(७७)

[दूर्वा]

दारुपत्रा^१—दारुहरिद्रा^२—हरिद्रा और दारुहरिद्रा के काथ से खालित्य में अवसिचन करते हैं ।दिप्सौषधि^३—यह रक्षोघ्न तथा कृत्यानाशन कही गयी है ।दिविध्रुवक^४—यह 'काश' के साथ प्रयुक्त हुआ है ।दुर्नाम^५—इसकी समिधा का उल्लेख है ।दुश्च्यवन^६—यह दर्भ का पर्याय है ।दूर्वा^७—आषाढा, सहमाना, सहस्रवीर्या, सहस्रकाण्डा, शतमूला, शतांकुरा, अद्यद्विष्टा, शपथयोपनी आदि इसके पर्याय हैं । यह 'देवजाता वीर्य' कही गई है । इसके

१. पै०—२०३७७

२. के० प०—३०१०

३. पै०—७१११९

‘सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्वाखनग्नसा ।

दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥’—शौ० ५१४१३

४. कौ० सू० ४०२; ‘Name of a reed plant’—Bloomfield.

५. अ० प०—७०११६-९

६. ‘शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः । दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते वध्नाम्यायुषे ॥’
—शौ० १९३२११७. ऋ०—१०१३४५; १०१३२१; मै०—२१७१५; तै०—४१२१२; पारा८३; का०—
१४२१५; शौ०—२१७१५; ६१०६१; पै०—१९३३५; श०—७४२१२; ऐ० ब्रा०—
८५; ८; तै० आ०—६११९; १०११९; अ० अ०—२१७; का श्रौ०—१७४१८; २५७१७;
२५१२१९; हि० श्रौ०—११५२१; २३४५१; बौ० श्रौ०—९१९; १०३२; वा० श्रौ०—
२११६२४; पा० गृ०—११९; २१; कौ० गृ०—४१११; हि० गृ०—२०३१९; २०८१९;
जै० गृ०—२१९; वा० गृ०—१४६; बो० गृ०—३११४; ३९१११; बो० पि०—११७२;
वि० ध०—७९२; शं० लि० ध०—३४५; कौ० सू०—८१६; २४१८; २६१३; २८२;
५३१३; २; १६; ५४१९; ७७१८अ० प०—४१११६; पारा५; पापा६; ७११५; १८११५-१७; २१२३; २६५११-५;
३६४१२; ३६४१२; ३६११९१; ४२११७

‘अव स्वेदा इवाभितो त्रिष्वक् पतन्तु दिधवः ।

दूर्वाया इव तन्तवो व्यस्मदेतु दुर्मतिर्देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत् ॥’

—ऋ० १०१३४१५

‘आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः । हृदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा हमे ॥’

—ऋ० १०१४२१८

‘अद्यद्विष्टा देवजाता वीर्यच्छपथयोपनी ।

आपो मलमिव प्राणैस्तीक्ष्णैर्वान् यच्छपथो अधि ॥’

काण्ड-काण्ड से, पर्व-पर्व से प्ररोह निकलकर पृथ्वी में इसे प्रतिष्ठित करते हैं जिस प्रकार क्षत्रिय राष्ट्र में प्रतिष्ठित होता है। अतएव इसे ओषधियों में क्षत्रिय मानते हैं। अन्य ओषधियाँ लोम मानी गई हैं जबकि दूर्वा उनका प्राण-रस है अतएव यह उनमें प्रधान मानी गई है। इसके पुष्प का भी उल्लेख है।

हन्धु^१—

देवदारु^२—कोशिकसूत्र में इसके मणि का उल्लेख है।

देवमुनि^३—अपचित की चिकित्सा में इसका उपयोग है।

देवी^४—तगर और कुछ के साथ इसके काष्ठ का उल्लेख है। यह सीभाग्यकरण कहा गया है।

द्राक्षा^५—

द्रुघण^६ (द्रुघ्नी)—शौ० ८।२।११ के विनियोग में सायण ने द्रुघणमणि का उल्लेख किया है। कौ० सू० (१४।१३) में 'द्रुघ्नी' शब्द आया है।

धन्वन—यह वृक्षविशेष^७, जांगलभूमि^८ तथा धनुष^९ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका दन्तधावन वर्जित है।

‘दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्तमम्।

तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः॥’

—शौ० २।७।१, ३

शयाना वर्धते दूर्वा आसीनं वर्धते वसम्—पा० म० ३।२।१२६

‘गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वाः जायन्ते’—पा० म० १।४।३०

१. पा० म०—६।३।६१ (अलाबुकर्कन्धुर्धुमुफलम्)

२. शौ० बृ०—७।७८; पा० गृ०—१।१९; कौ० सू०—५८।१६ (प०)

पा० म०—८।४।६ (देवदारुवनम्)

३. ‘मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन धनुः प्रकृतिभूतो वेणुदार्भूष संज्ञको वृक्ष उच्यते’

—सा० (शौ० ७।७।१)

४. अ० प०—३।२।१-७

५. पा० ग०—४।३।१६७; ६।२।८८; ८।२।९; शं० लि० ध०—२२०

पा० म०—५।३।६७ (गुडकल्पा द्राक्षा); ६८; ५।४।१४

६. शौ० ८।२।११ (सा०)

७. शां० श्रौ०—१।४।२।१२; वि० ध०—६।१२

८. ऋ०—२।३।८७; ३।४।५१; ४।१।७२; ४।१।७३; ४।३।३७; ५।५।३६; ५।८।३।१०; शौ०—

५।१।३।१; ६।१००।१; ७।४।१।१; ऐ० ब्रा०—२।१९

९. ऋ०—२।२।४८; शौ०—१।३।९; ४।७।४; १।१।१।१; या०—९।१७; १।६।९

ऐ० ब्रा०—७।१९; शं०—९।१।१।६

धव]

(७९)

[नड

धव^१—अथर्ववेद में यह प्लक्ष, अश्वत्थ, खदिर के साथ पठित है। कहीं-कहीं यह पति के अर्थ में भी आया है। इसका दन्तधावन निषिद्ध है। यह लाक्षा का अधिष्ठान कहा गया है।

घातकी^२—धात्री^३—धुतूर^४—धूपतृण^५—नखरञ्जनी^६—

नधारिषा^७—(देखें जीवला) सायण ने इसे पाठा का पर्याय या पृथक् ओषधिविशेष कहा है।

नड (ल)^८—यह वर्षा ऋतु में होता है। सायण ने इसे जलीय प्रदेश में होने वाला

१. पै०—६।४।४; १।६।११

पा० गृ०—१।२१; वि० ध०—६।१२

‘भद्रात् प्लक्षात् निस्तिष्ठस्यश्वात् खदिरात् धवात्।

भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न पृथक्नुवति ॥’—शौ० ५।५।५

‘अश्वत्थः खदिरो धवः’—शौ० २०।१३।११४

२. पा०—४।१।४१.

३. पा०—३।२।१८१

४. पा० उ० ओ०—२।३।५९; पा० उ०—४।९० (धुतूर)

५. हि० श्रौ०—२।४।१२; आप श्रौ०—१।५।१।१;

६. पा० ग०—४।३।१६७

७. शौ०—८।२।६; ८।७।६; पै०—१।६।३।६; १।६।२।६;

८. शौ०—१।२।२।१; १।९; ५०; ५४; पै०—१।६।८।१; ५।२।५।१; ५।३।२।१०; १।२।३।५;

१।७।३।०।१; १।७।३।४।११; १।७।३।५।२; १।७।१।२।१३; १।७।३।१।९; हि० श्रौ०—२।९।१।५७;

जै० गृ०—१।१;—गो० गृ०—१।५।१।८ बौ० ध०—१।१।४।११;—बो० पि०—१।१।७।२;

कौ० सू०—७।१।३; ४।८।३।३-३४;—पा०—४।२।८७-८८; ९१; पा० म०—१।१।७।२; २।३।६।९;

३।२।१२.९;—४।१।९।६ (यो हि नडो नाम नाडिस्तस्य भवति); १।१।५।९; ६।१।३।२-३३—

(नड्वलोदकं पादरोगः)

पा० ग०—४।२।८०; ६।३।१।१७; अ० अ०—१।२।२; या०—५।२

‘अधप्लायोगिरति दासदन्यानासंगो अग्ने दशभिः सहस्रैः।

अधोक्ष्णो दश मह्यं हशन्तो नला इव सरसो निरतिष्ठन् ॥’—ऋ० ८।१।३।३

नद्य]

(८०)

[नलद

शीघ्र वर्धमान तृणविशेष कहा है। इससे सीक निकलती है तथा इससे चटाई, सूप आदि बनाये जाते थे। यह यक्ष्मनाशन कहा गया है।

नद्य^१—यह कुष्ठ का पर्याय है।

नद्यमार^२—यह भी कुष्ठ का पर्याय है (देखें नद्य)

नद्यरिष^३—(देखें नद्य)—यद्य कुष्ठ का पर्याय है।

नराची^४—

नरिष्टा^५—

नलद^६—यह सीमनस्यजनन तथा वशीकरण कहा गया है। सायण इससे उशीर का ग्रहण करते हैं।

‘नलास्तटाकोद्भवास्तृणविशेषाः। ते यथा सरसः तटाकात् संघशो निर्गच्छन्ति’—सा०

‘उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा च्छिन्धि वार्षिकम्’—शौ० ४।१९।१

‘वार्षिकं वर्षासु भवं नडं-एतत्संज्ञं सुच्छेदं तृणविशेषम्’—सा०

‘केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि’—शौ० ६।१३।१२-३

‘नडास्तृणविशेषाः, ते यथा तटाकोदकप्रान्तेषु उत्पन्नाः संहताः सन्तः शीघ्रं वर्धमाना द्राघीयांसो भवन्ति’—सा०

‘यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना।

एवा भिनद्धि ते शेषोऽमुष्या अधि मुष्कयोः ॥’—शौ० ६।१३।५.

१. त्रीणि ते कुष्ठ नामानि नद्यमारो नद्यारिषः। नद्यायं पुरुषो रिषत् ॥—शौ० ११।३९।२

‘नद्यां भवः नद्यः’—सा०; पै०—१।९।३२; ७।१०।२; १३।१३।१०

२. ‘नद्या उदकदोषोद्भवा रोगाः तान् मारयतीति नद्यमारः’—सा०

३. नद्यान् रिष्यतीति नद्यारिषः—सा०

४. शौ०—५।३।१४; पै०—२।७।३; ११।३।०८

Ved. ind.—i—433

Ved. Pl.—655.

५. ‘नरिष्टा नाम वा असि यथासौ हरिणो वृकः’—पै० २०।३।७।८

६. शौ०—६।१०।२।३; पै०—२।७।२; ११।१४।३;

ऐ० आ०—३।२।४।१० (नलदमाली); शां० अ०—१।१।४

आ० श्रौ०—६।१०; कौ० सू० ५।१।१२; अ० प०—१।८।१।१-३;

पा० ग०—४।४।५३;

‘आञ्जनस्य मद्यस्य कुष्ठस्य नलदस्य च। तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥’

—शौ० ६।१०।२।३

(‘सुगन्धिस्तृणविशेषो नलदः उशीरापरपर्यायः—सा०)

नलदी]

(८१)

[निचुदार

नलदी^१—यह रक्षोघ्न ओषधि है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि नलद तो ओषधिविशेष का वाचक है किन्तु 'नलदी' 'अप्सरा' का बोधक है किन्तु यह यथार्थ नहीं है क्योंकि ओषधियों के साथ पठित होने से यह भी ओषधिविशेष ही है।

नलिन^१—नाकुली^३—नागकेशर^५—नानारोगभेषज^६—

नाम्ब^८—पातञ्जल महाभाष्य में लिखा है कि आम्ब और नाम्ब एक ही है। हरि-स्वामिन् ने शतपथब्राह्मण की टीका में लिखा है—'नाम्बा नाम अकृष्टपच्य स्वयंजाता ग्रीहयः'।

नारङ्ग^९—नारिकेल^{१०}—

नालिङ्ग^१—लघुन और पलाण्डु के साथ निर्दिष्ट है। इसके खा लेने पर चान्द्रायण व्रत करने का विधान है।

निचुदार^१—(नीचदार)—इसके काष्ठ का उल्लेख है।

१. शौ०—४।३।७।३;

'गुष्टगुलुः पीला नलद्यौघगन्धिः प्रसन्दनी'—शौ० ४।३।७।३

Ved. ind. i—437

Ved. Pl.—655

२. अ० प०—७।०।७।१

३. मं०—२।४।८; हा० ब्रा०—२।४।५

'नाकुलिभस्त्रासप्रियंगुतण्डुलानां वा पूर्णा'—जै० ब्रा० ३।१।०।१०;

४. अ० प०—३।५।२।१-७

५. पै०—१।१।३।८

६. श०—५।३।३।८; सै० ब्रा०—२।६।६।७।९

७. पागम०—१।५।५; पा० उ० वृ०—१।१।२।२

८. पा० उ० ओ०—२।३।६।१; वि० ध०—२।२।८।३

९. श० लि० ध०—४।१।८

१०. तां०—२।१।४।१।३; Ved. Ind. i—459

६ द्र० च०

नितली^१—यह केशहंघन तथा बल्य है। 'देवी' 'चुपुणीका' इसके पर्याय हैं। यह भूमि में नीचे फैलने वाली ओषधि है। सायण ने इसका अर्थ किया है :—'न्यक्-प्रसरणशील ओषधिः; काकमाचोप्रभृति ओषधिः'।

निम्ब^२—इसकी समिधा वर्ज्य मानी गई है। इसका दन्त-धावन विहित है।

निर्गुण्डी^३—

निष्पाव^४—

नीप^५—

नीलागलसाला^६—सायण ने इसका अर्थ सस्यमञ्जरी किया है।

नीलिका^७—(देखें नीली)

नीली^८—अथर्ववेदोक्त 'कृष्णा' शब्द से दारिल ने नीली का ग्रहण किया है। भृंगराज, हरिद्रा और इन्द्रवारुणी के साथ पीस कर श्वित्र तथा पलित में इसके लेप का विधान है।

नीलोत्पल^९—

१. पै०—१६७/१-४; ७५६-७; २०३७४-५; काठ०—४०४; तै०—४१४५१;

मै०—२१८१३

'देवी देव्यामधिजाता पृथिव्यामस्योषधे। तां स्वा नितलि केशेभ्यो दंढणाय खनामसि ॥'

—शौ० ६।१३६।१

'नितलि नितम्बाने न्यक्प्रसरणशीले ओषधे' (सा०)

२. जै० गृ०—१११; कौ० गृ०—२६१९; पा० गृ०—१२१; गो० गृ०—१५१५;

बौ० पि०—३१४; अ० प०—२१३१२; ७०११४-९; वि० घ०—६११४

३. वि० घ०—६१३

४. खल्वा निष्पावा वल्लभाब्दवान्याः लोके—शांकर० बृ० उ० ६।३।१३

पा० म०—१३।१०; ३।३।२०

५. गो० गृ०—१५१५; पा० ग०—४३।१५४; शु० प्रा०—५३७;

पा० म०—४११७०; ६।१११

६. पै०—१९।५।९; अ० प्रा०—३।४।७

'अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा। नीलागलसाला'—शौ० ६।१६।४

'अलसालेत्याद्यास्तिस्रः संज्ञास्तिसृणां सस्यवल्लीनाम्'—सा०

७. के० प०—२६।२२-२४

८. पा०—४।१।४२; कौ० सू०—२६।२२; शं० लि० घ०—४१२;

पा० वा०—४।२।२; पा० म०—४।१।४२ (नीली ओषधिः);

४।२।१ (ओषधिविशेषो नीली—प्रदीप)

९. अ० प०—२१।७।३

नीवार]

(८३)

[न्यग्रोध

नीवार^१—

नीविभार्य^२—‘नीविभार्यौ’ से सायण ने ज्वेत-पीत सर्षप लिया है । यह उग्र होता है और गर्भ की रक्षा करता है । (देखें सर्षप)

न्यग्रोध^३—वट का यह नाम है । इससे नीचे की ओर प्ररोह निकल कर इसे भूमि

१. काठ०—१२१४; मै०—२४११०; मा०—१८११२; झ०—५१११११३; ५११३१५;

तै० ब्रा०—११३१६७; वि० ध०—८०११; वै० ध०—११७५

२. शौ०—८६१२०; पै०—१६८१११. (नोब्यां भर्त्तव्यौ वस्त्राञ्चलन धार्यौ—सा०)

३. मै०—४४१२ (चत्रं व्यवततमवरोधैर्न्यग्रोधः...चत्रं व्यवततोति द्रदिग्नेऽक्षिथिरस्वाय)

काठ०—४३१४; ४४११; मा०—२३११३; शौ०—४३७४; ५५५५;

पै०—६१४४; १३१४७; खि०—४१७५;

‘यत्राश्वस्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः । तत्परेताप्सरसः प्रतिबद्धा अभुतन ॥’

—शौ० ४३७४

श०—५११५१३ (पद्मिर्बै न्यग्रोधः प्रतिष्ठितः); १२१७११९;

१३१२७३; (न्यग्रो न्यग्रोधा रोहन्ति); १३८१११६;

ऐ० ब्रा०—७३० (अथास्य स्वी भक्षो न्यग्रोधस्यावरोधाश्च फलानि)—‘इदानीमपि तस्मिन् कुरुक्षेत्रे एनान् न्यग्रोधवृक्षान् न्युञ्जः इत्येनन नाम्ना आचक्षते’—सा०

‘न्यङ् अधोमुखा रोहति प्रादुर्भवताति’...न्यग्रोधः—सा०

७३१; (परोक्षमिव ह वा एष सामो राजा यन् न्यग्रोधः;...चत्रं वा एतद् वनस्पतीनां यन् न्यग्रोधः)

८१६ (वानस्पत्यचतुष्टय)

छां० उ०—६१२१

का० श्रौ०—१५१५३८; १९११९९; २१३१२०; बौ० श्रौ०—१२३; १४११८; १८८

आप० श्रौ०—९३१६४ (नैयग्रोध इध्मः क्षत्रियस्य); वा० श्रौ०—३१२१२८; ४८

द्रा० श्रौ०—११११७ (महावृक्षो न्यग्रोधादिः—भा०)

गो० गृ०—२१६६ (न्यग्रोधशृंगामुभयतः फलाम्); शां० गृ०—१२०११-५

पा० गृ०—१११४४; कौ० गृ०—२१११८; हि० गृ०—३११२; ७३; २०११९; १९१११४

जै० गृ०—१५; १२; बो० गृ०—२१५१७; खा० गृ०—२१२२५; आप० गृ०—६११४९-

१२; ४१११७; वा० गृ०—१९११; ५४७; मा० गृ०—२१६४; हि० श्रौ०—२६११६९

आप० ध०—१११२३८; वा० ध०—१११३; कौ० सू०—५०६; अ० प०—२११३

२६१५६-७; ६४८२; ७११६१; ऋ० तं०—५१२५

पा०—७३१५

पा० ग०—४१२८०; ४३११६४; ७३१५३; पा० वा०—१२१६४; २१२२९; ७३११;

पा० म०—१११५५ (ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णाः ते न्यग्रोधाः);

१११७१; १४१९ (वटकणिका); ५३१७२;

७३११ (न्यग्रोहतीति न्यग्रोधः); Ved. ind. i-462; Ved. Pl.-655.

में प्रतिष्ठित करते हैं—‘न्यग्रोहतीति न्यग्रोधः’ । दृढ़ता एवं विस्तार के कारण यह क्षात्रधर्म का प्रतीक है । क्षत्रिय यजमानों को इसके प्ररोह एवं फल खाने का विधान है । पर्णकृच्छ्र व्रत में इसके पत्तों को उवाल कर लेते थे । यज्ञ में इसके चमस, अभिषेकपात्र आदि बनते थे । इसकी समिधा भी प्रयुक्त होती थी । उपनयन में इसका दण्ड क्षत्रिय या वैश्य के लिए विहित है । इसके शृंग का प्रयोग पुंसवनकर्म के लिए निर्दिष्ट है । पतञ्जलि ने इसका परिचय दिया है :—‘जिसमें दूध हो, अवरोह हों तथा पृथु पर्ण हों । यह वानस्पत्य-चतुष्टय में उदुम्बर, अश्वत्थ तथा प्लक्ष के साथ निर्दिष्ट है । पञ्चवल्कल (हि० गू० ३।१२) में भी इसका अन्तर्भाव है । वट के फल के भीतर जो सूक्ष्म कण होते हैं उन्हें ‘वटकणिका’ कहा है ।

ऋग्वेद में यह शब्दतः निर्दिष्ट नहीं है किन्तु पिशल का कथन है कि ऋ० (१।२४।७) में जो वर्णन है उसमें इसके संकेत निहित हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेदकाल में भी इसका ज्ञान था ।

न्यस्तिका^१—सहस्रपर्णी, सुभगंकरणी इसके पर्याय हैं । सायण ने इसे शंखपुष्पी माना है । (देखें शंखपुष्पी)

पटेरक^२—यह जलीय प्रदेश में होने वाली वनस्पति है । इसकी समिधा का प्रयोग है ।

पत्तूर^३—

पथ्या^४—

पञ्च^५—इसका मुकुल हृदयाकार होता है तथा इसका वर्ण रक्ताभ होता है । पञ्चनाल

१. न्यस्तिका हरोहिथ सुभगंकरणी मम । शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशजितानाः ।

तथा सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते ॥

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम् । अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥

संचननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद । अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥

यथोदकमपुषोऽपशुष्यत्यास्यम् । एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥

यथा नकुलो विच्छिद्य संधात्यहिं पुनः । एवा कामस्य विच्छिद्यं सं धेहि वीर्यावति ॥

—शौ० ६।१३।११-१५

‘न्यस्तिका दौर्भाग्यलक्षणं नितरामस्यन्ती’—सा०

२. के० प०—३।८६; ४०।१-२

३. पा० उ० भो०—२।३।५९

४. वै० गृ०—३।१५।८

५. गो०—१।३।१५; ‘पञ्चकोशप्रतीकां हृदयं चाप्यधोमुखम्’—तै० आ० १०।११।२; ‘पञ्च-

को लोंग खाते हैं। इसके बीजों की माला बनाने का विधान है। वासिष्ठ धर्मसूत्र में आहारशुद्धि के प्रकरण में इसका उल्लेख है। अथर्वपरिशिष्ट में रक्षोघ्न, कृत्या-दूषण, यशस्य-वर्चस्य ओषधियों में इसका उल्लेख है। शुद्धि के लिए पद्यपत्र का पान-पात्र के रूप में उपयोग किया गया है। स्वप्नाध्याय में कफप्रकृति के स्वप्नों में पद्यपत्र का उल्लेख है। इसके होम का भी विधान है।

पद्मक^१—चन्दन, केशर, कर्पूर तथा अगुरु के साथ अनुलेपन के लिए इसका विधान है।

पनस^२—पुष्पाभिषेक के लिए कलश में स्थापनीय ओषधियों में पनस-पल्लव उल्लेख है। ऋक्तन्त्र में पनसवन का निर्देश है।

परशु^३—(देखें स्वधिति) यह अपचित् की चिकित्सा में प्रयुक्त है।

पराचीन^४—

परायती^५—

परारिका^६—यह श्राद्ध में वर्ज्य कहा गया है। टीकाकारों ने इसे 'डुण्डुभ' नाम से म्लेच्छों में प्रसिद्ध बताया है।

परिव्याध^७—

परुषक^८—

नालानि भक्षयन्ति—ऐ० आ० ३१२४१०; शा० लि० ध०—४४८; ४१७; वि० ध०—४६१७; २३; अ० प०—१४५१५; १८११५-१७; १८३११-३; २१७३-४; ३८३१३; ६८११३०, ३३; ६८२१४९; ७०११६-९;

'त्रयो वर्णाः शुक्लः पद्मः सुवर्ण इति'—ष० ४१७

'पद्माक्षेन्द्राक्षपुत्रजीवकानामन्यतमादक्षमालां कुर्यात्'—शा० लि० ध० १०७

'मद्यभाण्डे स्थिता आपो यदि कश्चिद् द्विजः पिबेत्। पद्मोदुम्बरविषपलाशानामुदकं पीत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति'—वा० ध० २०२१; २७११

१. वि० ध०—७९११; अ० प०—१४५१५

२. ऋ० तं०—५२१५; अ० प०—५२१५-३; पा० उ०—३११; पा० म०—१११०;

३. कौ० सू०—३०१४

४. कौ० सू०—४८२२

५. ऋ०—११९९११-२

६. हि० श्रौ०—२६१५५८ (कृष्णदुण्डुभाख्यं प्रसिद्धम्);

आप० ध०—१५१७१२६ (मद्गुण्डुभाख्यया म्लेच्छानां प्रसिद्धम्)

७. आ० गु०—२१७५; कौ० सू०—४०१४ (सूकरपालकः—दा०)

८. शा० श्रौ०—१५१९११; पा० उ० भो०—२१३१६९

परुषवार^१—यह विषघ्न कहा गया है ।

परुषाह्न^२—दारिल (को० सू० १६।१४) इसका अर्थ परुष (पर्वयुक्त) आह्न (पलाशवृक्ष) करते हैं । ग्रिफिथ इससे तृणविशेष का ग्रहण करते हैं ।

पर्ण^३—ऋग्वेद में अश्वत्थ के साथ तथा अथर्ववेद में अश्वत्थ और न्यग्रोध के साथ

१. शौ०—१०।४।२;

२. पै०—१६।२९।३

‘परुषानमून् परुषाह्नः कृणोतु इन्स्वेनान् वधको वधः’—शौ० ८।८।४

‘A kind of reed—Griffith

३. ऋ०—१०।९७।५; मै० ४।१।१; तै०—३।५।७।१; क०—४६।८; शौ०—५।५।५; ३।५।१-८; १८।४।५३; पै०—३।१३।१-८; १।१।६।६; श०—१।१।१।१; ६।५।१।१; जै० ब्रा०—१।३।५५; तां०—२।१।४।१३; तै० ब्रा०—३।२।१।६; १।७।१।९; १।७।८।७; ३।७।४।२; अ० अ०—३।४; छ्वां०—२।२।३।३; वृ०—३।९।२।८।१; क० प्र०—१।८।१।२; कौ० सू०—३०।१५; द्वि० श्रौ०—१।३।३।३४; १।३।१० ‘(आतञ्जनदध्यभावे वक्त्रिपकानि पञ्च द्रव्याण्याह—तण्डुलैः पर्णवल्कैः कलैः बदरैः पूतीकैः वा)’—बौ० श्रौ०—१।८।८, ७; १।४।२०, १६; १।२।४; १।२।३; २।७; आप० श्रौ०—१।४।२।५; १।४।३०; ५।१।१।२; १।५।१०; का० श्रौ०—४।२।१; १६।३।१६; गो० गृ०—१।७।१।६; कौ० गृ०—२।६।९; बौ० पि०—१।१।४।२; १।१।७।२;

‘भद्रात् म्लचाक्षिस्तिष्ठस्यश्चत्थात् खदिराद् धवात् ।

भद्रान्यग्रोधात् पर्णात् सा न पृह्यरुन्धति ॥’—शौ० ५।५।५

‘पर्णो राजापिधानं चरुणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन् ।

आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥’

—शौ० १८।४।५३

पर्ण-मणि

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।

ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥

मयि चतुर्णं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम् ।

अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।

तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो बहूनेन शिष्टः ।

तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥

आ मारुचर्पर्णमणिर्महा अरिष्टतातये ।

यथाहमुत्तरो सान्यर्यम्ण उत संविदः ॥

पर्णधि]

(८७)

[पलाण्डु

इसका उल्लेख है। यह पलाश के लिए प्रयुक्त प्राचीन शब्द है। ऐसा व्याख्यान है कि द्युलोक स्थित सोम को गायत्री जब श्येनरूप होकर ला रही थीं तब उसका एक पंख टूट कर गिर गया उसी से 'पर्ण' की उत्पत्ति हुई। त्रिपदा गायत्री के समान इसके भी तीन-तीन पत्ते एक साथ होते हैं। यह ब्रह्म या ज्ञान का प्रतीक माना जाता है। ब्रह्मचारी के लिए उपनयन में पलाशदण्ड का विधान है। यज्ञ में घूप, सुव, जुहू, अभिषेकपात्र आदि बनते हैं। इससे राक्षसों का विनाश होता है। 'परावल्क' का भी उल्लेख है। पर्णकषाय से सित्त मृत्तिका से उखा आदि के निर्माण का विधान है क्योंकि इससे मृत्तिका में स्थिरता आ जाती है। अथर्व-बद में बल, आयु, समृद्धि तथा लोकप्रियता के लिए पर्णमणि के धारण का विधान है। तैत्तिरीय संहिता (२।५।१।७) में लिखा है कि रजस्वला स्त्री यदि पर्ण (पलाशपत्र) से जल का पान करे तो उन्माद रोग हो जाता है। श्रुत सूत्रों में पर्णवल्क से दही जमाने का विधान है। इसकी समिधा तथा परिधि यज्ञ में प्रयुक्त होती थी। यह लाक्षा का अधिष्ठान कहा गया है।

पर्णधि^१—सायण ने इसका अर्थ इषुकाण्ड या विषमयपत्रयुक्त वृक्ष किया है।

पर्ण^२—

पर्पट^३—

पवतभेषज^४—

पला^५—

पलाण्डु^६—धर्मशास्त्र में यह वर्ज्य आहार कहा गया है।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारो ये मनीषिणः।

उपस्तीन्पर्णं मय्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥

ये राजानो राजकृतः सूता य ग्रामण्यश्च ये।

उपस्तीन्पर्णं मय्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान् ॥

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया।

संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥—शौ० ३।५।१-८

१. शौ०—४।६।५;

२. पै०—२०।३।७।८

३. पा० उ० ओ०—२।२।९८

४. आप० सं०—२।९।१

५. पै०—१।८।१३

६. पा० उ० बृ०—१।३।७; हि० श्रौ०—२६।५।५८ (स्थूलकायो नीलो लघुनानुकारी)

पलाश^१—(देखें पर्ण)

यह यज्ञिय वृक्षों में मुख्य है। यज्ञ में इसकी परिधि तथा यूप बनाये जाते हैं। इसकी मांसवत् त्वचा से लोहितवर्ण प्रभूत रस का निर्यास निकलता है। 'यह वनस्पतियों में तेजस्वी तथा ब्रह्मवर्चस माना गया है। कौशिकसूत्र में यह मेधाजनन बतलाया गया है तथा इसकी गणना शान्तवृक्षों में की गई है। जलोदर में

आप० ध०—११५१७२६ (श्वेत); शं० लि० ध०—३४०; ४१८; वै० ध०—२११५५;

३१५८; बा० ध०—१४३३; अ० प०—३६७१-३; पा० म०—२२३६६; ५३६६६

('वृषलरूपोऽयं, अप्ययं पलाण्डुना सुरां पिबेत्')

१. शौ०—२०१३५३; शं०—'मांसेभ्य एवास्य पलाशः समभवत्। तस्मात् स बहुरसो

लोहितरसः—१३१४१०; ५; व०—४१४; जै० ब्रा०—१३१५३;

ऐ० ब्रा०—'तेजो वै ब्रह्मवर्चसं वनस्पतीनां पलाशः'; 'सर्वेषां वा एष वनस्पतीनां

योनिर्बत् पलाशः'—२११; ऐ० आ०—५११३; तै० ब्रा०—३८१९११

छा०—५२३; दृ०—६३१०-१२; हि० औ०—२४२५; ४०; १३१५२१; ३३; १३११७;

११११११; ५१११; ४११२; १२३६; आप० औ०—७११२१७; ८१११११; ९३१५६;

१२२९; ३०; ६३१५३; बा० औ०—६३११५४; ५५; ३३२१८; ४८; १२११२; ३०;

४११; ४१७; वि० ध०—६१११; ४६२३; २७११; गौ० ध०—१२२; २७११; २०२१

बा० ध०—१२३४; ५२

के० प०—१९२२-२३; २७१९-२०; ४८२४.

पा०—४३१४११; १६९; पा० म०—४३१५५.

१२३४२; १६१५५; का० औ०—२५८१; १५; १३३५; २८११; ५१०७; ६११८;

७९१२; १५२२; १५५३८; १५६१२; १६४४०; १६६२६; १७१३३;

१९३१३; २०४१९; २१३३०; ३२;

काठ० गृ०—४१२२; कौ० गृ०—२१११७; शां० गृ०—४१७३; गो० गृ०—१५१५

बौ० गृ०—१३१३; ११६४९; मा० गृ०—११७६; २६४

बा० गृ०—१४; ५७४; खा० गृ०—२२१०-११; जै० गृ०—११९; २६

आ० गृ०—११२२; १२२१९; पा० गृ०—१२१

कौ० सू०—८१५; १३५; २६४०; १०४-६; १६५; १८३२; ३६; १९२२; २६३४;

३०१५; ३५४; ३६२०; ३८२१; ४१२२; ४३१६; २०; ४६३; ५६२; ५७४; ८२२५;

२६; ८३४; ८५१५; ८६६; १३९११-३; अ० प०—२१३११; २३४५; २३६२; ५;

२३१५४; २६५११-५; ६-७; ३०४२-३; ३५११६-१२; ३६२४४-५; ३८३११; ४०३२;

६८११६; लि० सू०—११११; या० शि०—३३; या०—१२२९

बौ० पि०—३२, ४, ६, ७, १०; हि० औ०—२६११६९; २६८८५; २८१२९; ४७;

२८२६८; २९१११४, ५६; २९२१७; २९४३९; आप० ध०—१११३१२५; ११२३६८

बौ० ध०—२६४४; शं० लि० ध०—३६११.

पलितंकरणी]

(८९)

[पाठा

इसके लेप का विधान है । केशव ने इसे सर्वरोगभैषज्य कहा है (के०प०४।२५।२०) ।
कुमिरोग में इसका प्रयोग है ।

पलितंकरणी—

पवाकस्ति—यह इन्द्रयव के लिए आया है ।

पाकदूर्वा^३—सायण ने इसका अर्थ परिपक्व दूर्वा किया है । अथर्ववेद में 'शाण्डदूर्वा'
शब्द आया है (शी०—१८।३।६) ।

पाकवलि—

पाटली—

पाटा^६—सायण के अनुसार यह 'पाठा' है । उत्तानपर्णा, सुभगा, देवजूता सहमाना,

१. पा०—३।२।५६

२. अ० प०—१।२०

३. ऋ०—१०।१६।३;

तै० आ०—६।४।१; २; कौ० गृ०—५।५।५

४. ५।१५।१३—१४

५. पा० ग०—४।३।१३६; 'पाटलानि मूलानि'—पा० म० ४।३।१६६ (पाटलानि
पुष्पाणि (भट्टोजि०)

६. पै०—७।१२।१—१०; २।१६।३; कौ० सू०—३८।१८५.७६।२; अ० शां०—१९।६;
बृ० दे०—८।५६; आप० गृ०—३।९।५—८; पा० गृ०—१।२१; हि० श्रौ०—२९।१।४;
के० प०—३८।१९—२१;

'अधोवृत्ते वातप्लवा महीयसे'—पै० ७।१२।६ -

'नेच्छन्नुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥
सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनञसा । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥
इन्द्रो ह चक्रे त्वा वाहावसुरेभ्यस्तरतीतवे । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥
पाटामिन्द्रो व्याशनादसुरेभ्यस्तरतीतवे । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥
तथाहं शत्रून्साध इन्द्रः सालावृकौ हव । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥
रुद्र जलाशयेषज नीलशिखण्डकर्मकृत् । प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥

—शौ० २।२७।१—६.

हमां खवाभ्योषधिं वीरुधां बलवत्तनाम् । यया सपर्त्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥
उत्तानपर्णे मुभगे देवजूते सहस्वति । सपर्त्नीं मे पराणुद पति मे केबलं कृषि ॥
नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ । परामेव परावतं सपर्त्नीं गमयामसि ॥

सहीयसी तथा सहस्वती ये इसके पर्याय हैं । यह वीर्यवती, विषघ्न, रक्षोघ्न, मेध्य, काम्य तथा गर्भस्थापन कही गयी है । ऋग्वेद में सपत्नीवाधन तथा वशीकरण के रूप में प्रयोग है । संभाषा में प्रतिवादी पर विजय प्राप्त करने के लिए इसके अभिमन्त्रित मूल का भक्षण तथा इसके सात पत्रों की माला शिर पर धारण करने का विधान है (स्त्री०—२।२७।१-६) । अथर्ववेद (३।१८।१-६) में ऋग्वेदोक्त मन्त्र ही हैं । सायण ने 'उत्तानपर्णी' शब्द की व्याख्या की है 'उत्तानानि ऊर्ध्व-मुखानि पर्णानि पत्राणि यस्याः सा' । पैप्पलादसंहिता में यह सुभगंकरणी तथा पेड़ों के नीचे हवा में डोलती हुई कही गई है । कौशिकसूत्र के विवाहप्रकरण में भी इसका उल्लेख है ।

पारिभद्रिका—निषिद्ध दन्तधावनों में इसका उल्लेख है ।

पालक्य—श्राद्ध में वर्ज्य शाकों में परिगणित है ।

पालेवत^३—श्राद्ध में दातव्य फलों में निर्दिष्ट है ।

पाविका—विबन्ध तथा जलोदर में इसे पिलाने का विधान है ।

पाशीमूष^४—पितृमेध के संभारों में इसकी गणना है ।

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराम्यः । अधः सपत्नीं या ममाधरा साधराम्यः ॥

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः । उमे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहे ॥

अभि तेऽघां सहमानासुप तेऽघां सहीयसीम् ।

मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा चारिव धावतु ॥

—ऋ० १०।१४।१-६; शौ०—३।१८।१-६

१. 'न पारिभद्रिकाम्लिकामोचकशाहमलीशणजम्'—वि० ध० ६१।५

२. 'पिप्पलीमुकुन्दभूस्तृणशिशुसर्षपनुरसार्जकसुवर्चलकूस्माण्डालाबुवार्ताकुपालक्योपोद-
कतण्डुलीयककुसुम्भिण्डालुकमहिषीक्षीराणि वर्जयेत्—वि० ध० ७९।१७

३. 'आम्रान् पालेवतानिचून् मृद्वीकां भग्यदाडिमम् ।

विदार्याश्च भुवुण्डाश्च श्राद्धकालेऽपि दापयेत् ॥

द्राक्षां मधुयुतां दद्यात् सकून् शर्करया सह ।

दद्याच्छाद्धे प्रयागेभ्यः शृंगाटककशेरुकान् ॥'

शं० लि० ध०—२२०

४. 'यवगोधूमवल्ली पद्ममूलं पाविका एतानि क्वाथयित्वा पाययति'—के० प० २५।१८

५. कौ० सू०—८३।३

पिङ्ग]

(९१)

[पिप्पली

पिङ्गः—सायण ने इसका अर्थ गीरसर्षप किया है । (देखें बज और सर्षप)

पिचुक—

पिचुमन्द—

पिण्डफला—

पिण्डालुक—श्राद्ध में वर्ज्य द्रव्यों में परिगणित है ।

पिण्डीतक—

पिप्पल—ऋग्वेद में यह शब्द आया है । सायण ने इसका अर्थ पक्क और पालक फल किया है । निघण्टु में जल के पर्यायों में इसका उल्लेख है । बृहदारण्यक उपनिषद् में यह अश्वत्थ-फल के लिए प्रयुक्त हुआ है । विष्णुधर्मसूत्र में इसका दन्तधावन निषिद्ध कहा गया है, वहाँ स्पष्ट है : यह अश्वत्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है ।

पिप्पली—अथर्ववेद में यह रसायन, क्षिप्तभेषजी, अतिविद्धभेषजी, वातीकृतभेषजी

१. शौ०—८।६।६; १८; १९; २३;

‘मे सूर्यात् परिसर्पन्ति स्रपेव श्वशुरादधि । यजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम्’ ।

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।

आण्डादो गर्भान् मा दमन् बाधस्वेतः किमीदिनः ॥ —शौ० ८।६।२४-२५

२. पा० ग०—४।२।९०

३. पा० गृ०—३।१०।२४

४. पा० वा०—४।१।४

५. वि० ध०—७९।१७

६. पा० उ० भो०—२।२।४०; वै० गृ०—३।१।४।५

७. ‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाह्वस्य नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥’—ऋ० १।१६।२०; २२;

निघ०—१।१२;

‘तद् यथात्र बोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात् प्रमुच्यते’—वृ० उ० ४।३।३६

‘न च कोविदारशमीपीलुपिप्पलैर्गुदगुगुलुजम्’—वि० ध० ६।१४

८. ऋ०—५।५।१२ (सा०); पै०—१।२।७।८-१०; १।३।१।११;

वि० ध०—७९।१७; आप० ध०—१।७।२०।१२; कौ० सू०—१०।१६; २६।३८;

अ० प०—३।२।१४; अ० अ०—६।१०९; पा० ग०—४।१।४१; (वा०) ४।३।१६७;

पा० म०—१।१।२; १।२।४४; ७२; ५।३।७२

‘पिप्पली क्षिप्तभेषज्युतातिविद्धभेषजी । तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥

पिप्पल्यः समबद्धन्तायतीर्जननादधि । यं जीवमश्नवामहे न स रिण्यति पूरुषः ॥

असुरास्वान्यखनन् देवास्वोदवपन् पुनः । वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥

—शौ० ६।१०९।१-३

कही गई है। सायण ने धनुर्वात, आक्षेपक आदि समस्त वातव्याधि में खिलाने का विधान किया है। समुद्रमन्थन काल में अमृत के साथ इसकी उत्पत्ति कही गई है। जैमिनीय ब्राह्मण में एक आख्यान आता है कि वसिष्ठ का पुत्र अपहृत हो जाने पर उन्होंने इच्छा की कि मेरी बहुत प्रजा और पशु हों। पिप्पली के सेवन से उनकी यह इच्छा पूरी हुई। पिप्पल (फल-संतान युक्त होने के कारण इसका नाम पिप्पली है। विष्णुधर्मसूत्र में श्राद्ध में निषिद्ध द्रव्यों में इसकी गणना है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ब्राह्मणों द्वारा इसका व्यापार निषिद्ध कहा है। कौशिकसूत्र में नवजात शिशु के जातकर्म में अन्य ओषधियों के साथ सर्षपखण्ड से इसे चटाने का विधान है। यह प्रयोग मेधाजनन कहा गया है। आक्षेपक रोग में इसे खिलाने का भी उल्लेख है। अथर्वपरिशिष्ट की गणमाला में यह भैषज्यगण में पठित है इससे प्रतीत होता है कि यह उस समय एक महत्त्वपूर्ण ओषधि थी। केशवपद्धति (२६।३३-४०) में वातविकार में पिप्पली खिलाने का विधान है।

पिप्पलीमूल^१—

पिषती^२—

पीतुदारु^३—यज्ञ में इस वृक्ष का वृष तथा परिधि बनती थी। शतपथ ब्राह्मण में कहा

‘पिप्पली एतत्संज्ञा कणाद्यपरपर्याया ओषधिः’

‘हस्तिपिप्पल्यादिजातिभेदभिन्नाः सर्वाः पिप्पल्यः’—सा०

ग्रिकथि यहाँ ‘पिप्पली’ का अर्थ अश्वत्थ का फल करते हैं जो ठीक नहीं है।

वसिष्ठो वा जीतो हतपुत्रो भकामयत—बहुः प्रजया पशुभिः प्रजायेयेति ।.....

सोऽब्रवीत् पिप्पलि वा इदं आस येन प्राजनिषीति । तत् पिप्पलीनां पिप्पलीत्वम् ।

पिप्पलिनं ह वं नामेतत् पिप्पलीत्याख्यायते तत् । प्रजा वै पिप्पलं, पशवः पिप्पलं, स्वर्गो लोकः पिप्पलम् ।’—जै० ब्रा० ३।१४९

१. पा० ग०—४।२।९०

२. ‘अदृष्टान् हन्त्यायत्यथो हन्ति परायती । अथो अबध्नन्ती हन्त्यथो पिनष्टि पिषती ॥’

ऋ०—१।१९१।१-२

३. काठ०—२।१६; क०—३।१४; श०—१३।४।४।५; पा० ग०—४।३।१५४;

का० श्रौ०—५।४।१४; १८।४।३; २०।४।१८; २४।३।९; १०;

‘शरीरं हैवास्य (अग्नेः) पीतदारुः तद् यत् पीतुदारवाः परिधयो भवन्ति’—

श० ३।५।२।१५; पीतुदारुः उदुम्बरविशेषः (सा०)

‘अथ यदापोमयं तेज आसीत् यो गन्धः स सार्धं समवद्रत्य चक्षुष्ट उदभिनत् । स एष वनस्पतिरभवत् पीतुदारुः; तस्मात् स सुरभिः । गन्धाद्धि समभवत्; तस्माद् उबलनः ।

‘तेजसो हि समभवत्’—श० १३।४।४।७; पीतदारुर्देवदारुः (टि०)

पीला]

(९३)

[पीलुमती

है कि इसमें सुगन्ध होती है तथा तैजस होने के कारण इसकी लकड़ी शीघ्र जलती है । इससे पक्क घृत का अञ्जन तथा अभ्यंग में प्रयोग विहित है । सायण ने इससे उदुम्बरविशेष का ग्रहण किया है जबकि कुछ टीकाकारों ने देवदारु या खदिर लिया है ।

पीला—अथर्ववेद में गुग्गुलु और नलदी के साथ इसका उल्लेख हुआ है अतः यह कोई सुगन्धि द्रव्य प्रतीत होता है । सायण ने गुग्गुलु, पीला, नलदी, औक्षगन्धि और प्रमन्दनी इन पाँचों को होमद्रव्य लिखा है । भूतग्रह की चिकित्सा में इसका विनियोग है ।

पीलु—यह कटु, रक्षोघ्न तथा आयुष्य कहा गया है । विष्णुधर्मसूत्र में इसका दन्त-धावन निषिद्ध किया है । गौतम तथा शंखधर्मसूत्र में यज्ञोपवीत में ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्णों के लिए इसके दण्ड का विधान है ।

पीलुमती—यह पीलु के सदृश वृक्षविशेष है ।

‘पीतुदारुः खदिरवृक्ष इत्येके, देवदारुवृक्ष इत्यन्ये’—ऐ० १।२८ (सा०)

‘गौगुलवेन प्रातःसवने सौगन्धिकेन माध्यन्दिने सवने पैतुदारवेण तृतीयसवने’

—ता० २४।१३।४

‘पैतुदारव उदुम्बर इति केचित्, देवदारुरित्यन्ये; तदीयतैलेन तृतीयसवने तदुभयं (अञ्जनमभ्यञ्जनं च) कार्यम्’—सा०

‘यदस्थि तत् पीतदारु’—ता० २४।१३।५

१. गुग्गुलुः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी । तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥’

—शौ० ४।३७।३

‘गुग्गुलवादीनि पञ्च होमद्रव्याणि विनियोगशास्त्रप्रसिद्धानि’—सा०

पै०—१३।४।३; पा०—४।१।१८

२. गौ० ध०—१।२३; श०लि०ध०—३६ (१); वि० ध० ६।१।४; पा०—५।२।२४; ६।३।१२।१; पा० म०—५।१।९७; ७।१।७४; पा० ग०—४।१।८६; ५।१।९७; ५।२।२४;

‘वमिन्द्र कपोताय क्षिपपक्षाय वञ्चते । श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्या अकृणोर्वहुः ।’

—शौ० २०।१३।५।२

‘पालयन्तीति पीलवः’—शौ० १।८।२।४८ (सा०)

‘कटुकं अवगूढं पले कुलम्’

‘तव चारनातु पिप्पलम्’

‘रक्षोहणं वृत्रहणं पीलुं पिशाचजभनम् । जज्ञानं अग्ने वृक्षणां तं ते वध्नाभ्यायुषे ॥

—पै० ७।१९।१-१०

३. ‘Blossoming with The Pilu tree (Careya arborea)—Griffith.

पुण्डरीक—यह तालावों में होता है तथा श्वेत वर्ण का होता है । हृदय पुण्डरीक सदृश कहा गया है । ऐतरेय आरण्यक में रक्तवर्ण पुण्डरीक के स्वप्न का उल्लेख अरिष्टप्रकरण में है । अथर्वपरिशिष्ट में कफ-प्रकृति के स्वप्न में पुण्डरीकवन का उल्लेख है जिससे इसके श्वेत वर्ण का संकेत मिलता है ।

पुत्रजीवक—इसके बीजों की माला बनाने का उल्लेख है ।

पुनर्नवा—यह ग्रीष्म ऋतु में सूख जाती है और वरसात में पानी पड़ने पर पुनः हरी हो जाती है ।

पुत्राग—

पुरुषभेषज—

१. शौ०—६१०६१; पै०—६१२१८; शं०—१४१५६-१४; गो०—१११३९; तां०—१८११६;
तै० ब्रा०—१८१२१; ३१०११४; ऐ० आ०—३१२४१०;
का० श्रौ०—१६१२२६; १७१४१; २३१३३; अ० प०—६८१३२०; ३३; अ०अ०—१०१११;
पा० ग०—२११५६; ५३११०७;

छां०—१६१७; ८११२; वृ० उ०—२३१६;

‘आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः । हृदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे ॥’
—ऋ० १०१४२८

‘पुण्डरीकाणि पद्मानि च तेषु हृदेषु जायन्ताम्’—सा०

‘असौ नक्षत्राणां वा अवकाशे पुण्डरीकं जायते’—मं० ४१४७

‘पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् । तस्मिन् यद् यत्तमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ —शौ० १०८१४३

‘पुण्डरीकं शुक्लम्’—वृ० उ० २३१६ (शांकर)

‘यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म’—छां० ८१११

‘पुण्डरीकसदृशं वेश्म’—(शांकर)

‘हृदयपुण्डरीके वेश्मनि’— ”

Ved. ind.—I-536.

२. ‘पद्मान्नेन्द्राक्षपुत्रजीवकानामन्यतमादक्षमालां कुर्यात्’—शं० लि० ध० १०७

३. ‘अग्नेर्घासो अपा गर्भो या रांहन्ति पुनर्नवाः । ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजी सन्त्वाभृताः ॥

—शौ० ८१७८; पै० १६१२८

‘यथा ह वा हृदं दावाद्भिभूवाः अभिवृष्टाः पुनर्नवा ओपधयः समुत्तिष्ठति ।’

शौ० श्रौ०—१८१२

४. अ० प०—२६१५१-५

५. ‘दीर्घायुत्वाय सहसे मद्या अरिष्टतातये ।

सुपर्णो मह्यं अब्रवीद् एतत् समक्तभेषजं एतत् पुरुषभेषजम् ॥’

पै०—२०१५४९

पुष्कर]

(९५)

[पुष्कर

पुष्कर—निश्चित में पुष्कर का अर्थ अन्तरिक्ष, जल, पोषक, पुष्पयुक्त आदि किया है । सामान्यतः इससे कमल लिया जाता है । 'पुष्करपर्ण' का वैदिक वाङ्मय में बहुशः उल्लेख मिलता है । यज्ञ में इसका प्रयोग बैठने के लिए, कुछ रखने के लिए तथा भोजन के लिए भी किया जाता था । तैत्तिरीय आरण्यक में पुष्करदण्ड तथा पुष्कर का भी निर्देश है । यह जल में होता है । अथर्वपरिशिष्ट (२१।२।४) में पुष्करतन्तु का उल्लेख है । इसका पुष्प सुगन्धित होता है ।

कुछ विद्वानों ने इससे नीलोत्पल लिया है ।^२ मञ्जुमदार ने इसका नाम *Nymphaea stellata* दिया है ।

१. ऋ० ७।३।११; ८।७।११; तै०—५।१।४।४; क०—३।१।७; श०—४।१।५।६; ६।४।१।७; ८; ६।४।२।२; ६।४।२।२; ७।३।२।१४; १०।४।३।१४; १०।५।१।५; गो० १।१।१६; शां०—८।१; तै० ब्रा०—१।२।१।४; १।१।३।६; तै० आ०—१।२।३।१; १।२।५।१; १।२।६।७; बृ० दे०—५।१।५।४; १।५।५; हि० श्रौ०—३।३।६; १।१।१।३०; १।१।१।२१; २।२।६।६; बौ० श्रौ०—२।१।२; १।०।२।७; १।०।२।९; आप० श्रौ०—५।१।१।२; अ० प०—२।१।२।४; २।३।३।१; पा० म०—१।१।५।६; ७।२।१।१७

'पुष्करमन्तरिक्षम् । पोषति भूतानि । उदकं पुष्करम् । पूजाकरम् । पूजयितव्यम् । इदमपीतरत् पुष्करमेतस्मादेव । पुष्करं चपुष्करं वा । पुष्पं पुष्पतेः । वयुनं वेतेः । कान्तिर्वा । प्रज्ञा वा ।'—या० ५।१४

त्वामग्ने पुष्करादध्ययथर्वा निरमन्यत । मूर्ध्नो विश्वस्य वाचतः ।'—ऋ० ६।१।६।१३
'पुष्करादधि पुष्करपर्णे'... 'पुष्करपर्णे हि प्रजापतिर्भूमिमप्रथयत् 'तत् पुष्करपर्णेऽप्रथयत्' (तै० ब्रा० १।१।१।६) इति श्रुतेः । भूमिश्च सर्वजगत आधारभूतेति पुष्करपर्णस्य सर्वजगद्धारकत्वम् ।'—सा०

'अपां वा एतत् पृष्ठं यत् पुष्करपर्णं; योनिर्वा अग्नेः पुष्करपर्णम्'—तै० ५।१।४।२
'प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णम्'—श० ७।४।१।१२

'देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे । साहेयं पृथिव्यलेलायत् (चांचल्यं प्राप्नोत्), यथा पुष्करपर्णमेवम् । तां ह स्य वातः संवहति ।—श० २।१।१।८

'इन्द्रो वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत् । ता अब्रवीत् विभेभि वै, पुरं मे कुरुतेति । स योऽपां रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन् । तामस्मै पुरमकुर्वन् । तद् यदस्मै पुरमकुर्वन् तस्मात् पूष्करम् । पूष्करं ह वै तत् पुष्करमित्याचक्षते परेष्वम् ।'

—श० ७।४।१।१३

'पुष्करर्णैः पुष्करदण्डैः पुष्करेश्च संस्तीर्य तस्मिन् विहायसे—तै० आ० १।२।२।९

'यस्ते गन्धः पुष्करमाधिवेश'—शौ० १।२।१।२४

२. Ved. ind. ii-9

Ved. Pl.—658

पुष्कला^१—(विष्कला)—यह गर्भप्रसावन कही गई है ।

पुष्पा^२—केशवपद्धति में भृङ्गराज आदि के साथ शिवत्र में इसके लेप का विधान है ।

पूग^३—मूलतः इसका अर्थ संघ है । इसके फल गुच्छे में होने के कारण इसकी सजा 'पूग' हुई हो । शांखायन गृह्यसूत्र के भाष्यकार ने इसे फलोत्तम कहा है^४ ।

पूतद्रु^५—इसके लिए 'पूतद्रु' या 'पूतदार' शब्द भी प्रयुक्त हुये हैं । यज्ञ में इसका दूध या परिधि बनती थी । टीकाकारों ने इसे देवदारु या उदुम्बर कहा है । अथर्ववेद में इसे रक्षोघ्न, शत्रुघ्न तथा अमीवचातन कहा गया है तथा इसमें अग्नि की विशेषरूप से स्थिति बतलाई गई है । पैपलादसंहिता में यह विश्वभेषज, दुःस्वप्ननाशन तथा तमोघ्न कहा गया है ।

पूतिरज्जु^६—राय के अनुसार यह एक वनस्पति है किन्तु कुछ लोग इससे 'दुर्गन्धित रज्जु' या सर्पविशेष अर्थ लेते हैं ।

पूतीक^७—'ऊतीक' शब्द भी कहीं-कहीं इसके लिए आया है । 'आदार' भी यही है ।

१. पै०—१।५।३

२. पै०—१६।१२।६; के० प०—२६।२२-२४

'जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् ।

अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥'—शौ० ८।७।६

३. शां० गृ०—१।१।२; पा० ग०—२।१।५९; ४।३।५४; पा०—५।२।५२; ५।३।११२; ६।२।२८;

शौ०—३।१५ (सा०)

४. 'पूगखर्जूरजम्बाअबदरोदुश्चरामलम् । उत्तमानि फलान्याहुः ॥'

५. मै०—३।८।५; शौ०—८।२।२८; पै०—१९।५०।४-६; हि० श्रौ०—४।२।१; ४।५।१७;

१४।२।३९-४०; १८।३।३; बौ० श्रौ०—४।१; आप० श्रौ०—७।१।५।५; वा० श्रौ०—

१।६।१।३६; ३।४।१।५४, ५५; अ० प०—३७।९।१-२; कौ० सू०—८।१।५; ५८।१।५;

अ० प्रा०—३।४।१;

'अग्नेर्वा पूतत् शरीरं यत् पूतद्रुः'—जै० ब्रा० २।२७४

६. 'पूतिरज्जुरूपधमानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।

धूममग्निं परादृश्याऽमित्रा हृस्वा दधता भयम् ॥'—शौ० ८।८।२

Ved. ind.—ii-11

७. काठ०—३४।३; शा०—१।४।१।१२; तां०—९।५।३-५; ८।४।२; पं० वि०—८।४।१;

९।५।३; जै० ब्रा०—१।३।५४; का० श्रौ०—२६।१।३; हि० श्रौ०—२४।१।१०; १५।६।१५-

१६; १।३।१०; बौ० श्रौ०—९।१; कौ० सू०—२२।१।४; २५।१।१; अ० अ०—८।८; पा० ग०—

४।२।७५; पा० म०—१।१।५५; ३।२।१।१० (शयिष्यामहे पूतीकतृणेषु) ।

'यत् पूतीकैर्वा पर्णवस्कैर्वाऽऽतन्व्यात्'—तै० २।५।३।५

पूतुदारु]

(९७)

[पूतुदारु]

सोम से इसका बन्धन बतलाया गया है और उसके अभाव में इसे लेने का विधान है । ऐसा आख्यान है कि गायत्री पक्षी बनकर सोम लेने गई; सोम के रक्षक ने चलते समय पीछे से उसका पंख काट दिया उसके जो रोम गिरे वही पूतीक हुये । इससे प्रतीत होता है कि यह कोई तृणविशेष है । इससे दही जमाने का काम भी लेते थे । टीकाकारों में कुछ ने इसे रोहिषतृण माना है तथा कुछ सोमसदृश श्यामल लताविशेष मानते हैं (का० श्री० २५।१२।१९) । कौशिकसूत्र में मूत्रसंग में अन्य ओषधियों के साथ इसे पिलाने का विधान है । बिछाने के काम में भी इसके तृण आते थे । प्रायः विद्वानों ने इससे *Caesalpinia bonducella* का ग्रहण किया है किन्तु हिलब्रैण्ट इससे *Basella Cordifolia* लेते हैं ।

पूतुदारु^१—(देखें पूतद्रु)

कौशिकसूत्र में शान्तवृक्षों में परिगणित है । दारिल ने इसे देवदारु माना है । नामकरण संस्कार में पूतुदारुमणि के बन्धन और पान का विधान है । अथर्व-परिशिष्ट में इसके अभाव में यव लेने का निर्देश है ।

‘पूतीकाः रोहिततृणम् । आदार इति पूतिकानां नामान्तरम् ॥’—श० ४।५।१।१ (टि०)

‘गायत्री सोममाहरत्तस्या अनु विसृज्य सोमरक्षिः पर्णमच्छिनत् तस्य योऽशुः परापतत् स पूतीकोऽभवत् । तस्मिन् देवा ऊतिमविन्दन् । ऊतीको वा एष यत् पूतीकानभिषुण्वन्ति ऊतिमेवास्मै विन्दन्ति ।’—तां० १।५।४

‘इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत् । स यत्र यत्र पराक्रमत् तज्जाधियत् । स पूतीकस्तम्बे पराक्रमत् । सोऽधियत् । सोऽज्रवीत् । ऊतिं वै मे धा इति । तदूतीकानामूतीकत्वम् ।’

—तै० आ० ५।२।१०

‘श्येनहृतं पूतीकानादारानरुणदूर्वाहरितकुशान् पूर्वालाभे पूर्वालाभे उत्तरान्’

—का० श्री० २५।१२।१९

‘पूतीका रोहिषतृणमिति निघण्टौ । माधवाचार्यास्तु पूतीकान् श्यामलान् सोमसदृशान् लताविशेषानिति व्याख्यातवन्तः ।’ (टि०)

‘अन्यं राजानमभिषुण्युः । अनधिगमे पूतीकानि फाल्गुनानि ।’—आ० श्री० ६।८

‘ओषधयः पूतीकाः कूलास्तण्डुलाः पर्णवल्का इत्यातञ्जनविकल्पाः’

—आप० श्री० १।४।२६

‘गार्हपत्यस्य दग्धैः स्तरणं, दक्षिणाग्नेः पूतीकैः आहवनीयस्य आंगाभिः’

—कै० प० २।२।३

Ved. ind.—ii-11

१. कौ० सू०—८।१५; ‘पूतुदारुर्देवदारुः’—दा०

कौ० सू०—५८।१५;

‘पूतुदारुं न विन्याच्चेत् बवं तत्र नियोजयेत्’—अ० प० ३७।१।१-२

७ द्र० च०

पृश्निपर्णी^१—निघण्टु में पृश्नि आकाश का पर्याय है। निरुक्त में 'पृश्नि' सूर्य को कहते हैं क्योंकि इसमें अनेक वर्ण होते हैं। चित्रित पर्ण होने के कारण इसकी संज्ञा पृश्निपर्णी है। अथर्ववेद में यह चर्मरोगहर, रक्षोघ्न, रक्तशोधन, बृंहण, गर्भपोषक, दीपन-पाचन कही गई है। कण्वजम्भनी, सहस्वती, सहमाना इसके पर्याय हैं। कुछ आदि रोगों में इसे पीसकर लेप करने का विधान है। श्मशान से उद्धरणीय ओषधियों में इसकी गणना है। अथर्वपरिशिष्ट के चातनगण में यह पठित है। रक्षोग्रह में इसे पीसकर लेप का विधान है (के० प० २६।३३-४०)।
राँय इससे लक्ष्मणा का ग्रहण करते हैं।

पृषातक^२—

१. शौ०—२।२५।१-५; पै०—४।१३।१-७; ४।२२।६; श०—१३।८।१।१६; का० श्रौ०—२५।७।१७; हि० श्रौ०—२९।१।४; आगि० गृ०—३।५।५।६; बो० पि०—१।६।२; कौ० सू०—८।२५; २६।३६; अ० ष०—१।८।१।१५-१७; ३।१।३; निघ०—१।४; 'पृश्निरादित्यो भवति, प्राश्रुत एवं वर्णा इति नैरुक्ताः'—या० २।१४
'दिवस आदित्यस्य च साधारणनामैतत्। प्राप्नोऽज्वलवर्ण आदित्यः।'—

—शौ० २।१।१ (सा०)

'पृश्निपर्णी चित्रपर्णी ओषधिः'—शौ० २।२५।१ (सा०)

'पृश्निपर्णी माषपर्णी'—का० श्रौ० २५।७।१७ (भा०)

'शं नो देवी पृश्निपर्णीति एतेनांशुमत्या संपातवत्करणं ततोऽनुलेपनं पिशाचनाशनम्'

—कौ० सू० २६।३६ (दा०)

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यंशं निऋत्या अकः।

उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम् ॥

सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत।

तयाहं दुर्गन्तिनां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥

अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति।

गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥

गिरिमेनां आवेशय कण्वान् जीवितयोपनान्।

तास्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यं निरिवानुदहज्जिहि ॥

पराच्च एनान् प्रणुदं कण्वान् जीवितयोपनान्।

तमांसि यत्र गच्छन्ति तत् क्रव्यादो अजोगमम् ॥—शौ० २।२५।१-५

Ved. ind.—ii-19

Ved. Pl.—657

२. शौ० २०।१३।३; १४।१।८ (पृषातकी) आ० श्रौ०—३० २।३

पैद्व]

(१९)

[प्रमन्द(नी)

पैद्व^१—ग्रिफिय इसका 'पैदु का घोड़ा' अर्थ करते हैं किन्तु कौशिकसूत्र के आधार पर यह वनस्पति प्रतीत होता है ।

प्रतिसर^२—इसके मणि का धारण विहित है । यह सपत्ननाशन, बलवर्धक और रक्षोघ्न कहा गया है । सायण ने इसे तिलक कहा है । साक्त्य भी इसे कहा गया है । अथर्वपरिशिष्ट में कृत्यागण में पठित है ।

प्रतीचीनफल^३—यह अपामार्ग का पर्याय है । अथर्वपरिशिष्ट में कृत्यागण में पठित है । (देखें अपामार्ग)

प्रतोद—शां० आ० (१२।५) में प्रतोदाग्रमणि का वर्णन है ।

प्रत्यक्पुष्पा^४—

प्रप्रोथ^५—यह सोम का एक प्रतिनिधि द्रव्य है ।

प्रबन्धिनी^६—संभवतः यह अथर्ववेद (शौ०) की प्रमन्दनी है ।

प्रमन्द(नी)^७—कौशिकसूत्र (२५।११) में मूत्रसंग में इसका पान कराने का विधान

१. शौ०—१०।४।५-७; १०-११; १५; कौ० सू०—३५।४

'अवाश्वस्येदं शेषजमुभयोः स्वजस्य च । इन्द्रो मेहिमधायन्तमर्हि पैद्वो अरन्धयत् ॥'

—शौ० १०।४।१०

२. शौ०—८।५।१-२२; पै०—१३।१२।१-१३; १६।२७।१-१०; १६।२८।१-११; अ० प०—३२।१।२

'अयं तिलकवृक्षनिर्मितो मणिः प्रतिसरः प्रतिसरणसाधनः'

'यः कृत्याः करोति तं प्रतिसरतीति प्रतिसरः'—शौ० ८।५।१ (सा०)

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय वध्यते ।

वीर्यवान् सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमंगलः ॥—शौ० ८।५।१

अयं साक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः ।

ओजस्वान् विमृषो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥—शौ० ८।५।४

'प्रतिसरः रोगादेः प्रतिसरणसाधनभूतः'—सा०

३. कौ० सू०—४६।४९; अ० प०—१८।५।२; ३२।१।२; अ० अ०—७।६५;

४. पा० वा०—४।१।४

५. तां०—८।४।१

६. पै०—१३।४।३

७. गुल्गुलः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी । तत् परेताप्सरसः प्रतिबद्धा अभूतन ॥

—शौ० ४।३।३

कौ० सू०—८।१।७; २५।११ (इन्द्रुकः—दा०)

Ved. Pl.—657; Ved. ind.—ii-38.

प्राक्पुष्पा]

(१००)

[प्रियंगु

है। केशवपद्धति (११६) में इसका प्रयोग उशीर आदि द्रव्यों के साथ रसकर्म में विहित है। दारिल ने इसे इन्दुक कहा है। अथर्ववेद (शी० ४।३७।३) में 'प्रमन्दनी' आया है। संभवतः पैपलादसंहिता की प्रबन्धिनी भी यही है। गुल्गुलु आदि सुगन्धि द्रव्यों के साथ उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि यह भी कोई सुगन्धि ओषधि हो। सायण ने इसे होमद्रव्य लिखा है। हिलब्रेण्ट प्रमन्द का विशेषण 'नीचैः शाख' मान कर इसे सोम का पर्याय मानते हैं। दारिल का 'इन्दुक' शब्द भी इसी की ओर संकेत करता है।

प्राक्पुष्पा—

प्राचीन (कण्टक)—कौशिकसूत्र (३५।२३) में इसका उल्लेख हुआ है। इसकी व्याख्या 'मदनी' की गई है।

प्रान्त—

प्रान्तपुष्पा^३—

प्रायश्चित्ति—कौशिकसूत्र (८।१६) में शान्तवृक्षों में इसकी गणना की गई है। इसकी दारिलकृत व्याख्या से प्रतीत होता है कि पर्वों पर इसके तीन तीन पत्ते होते हैं।

प्रियंगु^४—यज्ञ में इसका चरु बनता था। यजुर्वेदीय संहिताओं में ब्रीहि, यव आदि

१. पा० वा०—४।१।४

२. कौ० सू०—८।१६

३. पा० वा०—४।१।४

४. तै०—२।२।११।४; ४।७।४।२; क०—२।८।९; मा०—१।८।१२; का०—१।९।४।४;

काठ०—१०।१।१; १।८।९; सा०—२।६।११; १६; बौ० श्रौ०—१३।२०; १।५।१६;

वा० गृ०—१।४।६; वि० घ०—८०।१; वै० घ०—१।७।५; कौ० सू०—३।२।२;

अ० प०—१।४३।९; १।४।७; ५।१।५; ३।५।१।१-७; पा० म०—१।४।२; ४।२।६०

'पृश्निर्वै यदुहत् स प्रियंगुरभवत् इयं वै पृश्निर्वाग् वा तस्या वा एतत् पयो यत्

प्रियंगवः'—मै० २।१।८

'प्रियंगवश्च मे'—मै० २।१।४

'प्रियंगवः प्रसिद्धाः'—तै० ४।७।४।२ (सा०)

'प्रियंगुतण्डुलैर्जुहोति । प्रियंगा ह वै नामैते । एतैर्वै देवा अश्वस्यांगानि समदधुः'—

तै० ब्रा०—३।८।१।४।६

प्रियंगुकां सहां सहदेवामध्यण्डां भूमिपाशकां सचां काचकपुष्पीमित्येता उरथाप्य तद्वश्चूर्णानि कारयेत्...तेनानुलिप्तो यां यामुपस्पृशते सा सैनं कामयते।'—

—सा० २।१।१० (प्रियंगुं फलवतीम् प्रियंगुस्तत्तण्डुलैः सह द्रव्यविशेषः)

प्रियाल]

(१०१)

[प्रेणी

धान्यों में इसका उल्लेख है। कोशिकसूत्र (३२।२) में जम्भगृहीत बालक को इसे दूध के साथ पिलाने का विधान है। विवाह, पुंसवन आदि में भी इसका प्रयोग होता था। अथर्वपरिशिष्ट में नक्षत्रस्नान तथा पुष्पाभिषेक में इसका प्रयोग है। वशीकरण प्रयोग भी हैं। ष० वि० ब्रा० (५।२) में इसे फलवती कहा गया है जो परवर्त्ती ग्रन्थों में निर्दिष्ट उसके 'फलनी' पर्याय की ओर इंगित करता है। इस प्रकार 'प्रियंगु' धान्य तथा ओषधि दोनों का वाचक है। कीथ ने इससे केवल धान्य ही लिया है किन्तु मजुमदार ने धान्य तथा ओषधि दोनों का ग्रहण कर तदनुसार वैज्ञानिक नाम दिये हैं। धान्य में इससे 'कङ्गु' लेते हैं जिसे काश्मीरी भाषा में 'पिंग' कहते भी हैं। बर्मी में इसे 'पियांग' (Pyaung) कहते हैं। विद्वानों की धारणा है कि यह शब्द पूर्वी एशिया का है जो आगे चल कर संस्कृत और बर्मी में प्रविष्ट हुआ^१।

प्रियाल—निषिद्ध मूलों में इसकी गणना है।

प्रेणी—ग्रिकथ इससे किसी सौभाग्यकरण ओषधि का ग्रहण करते हैं।

'अथ ततो ब्रूयाच्चतुष्टयान्यौषधानि संभरत तोक्मकृतानि व्रीहीणां महाव्रीहीणां प्रियंगूनां यवानां इति।' '...भौज्यं वा एतदोधीनां यत् प्रियंगवो'—ऐ० ब्रा० ८।१९
'प्रियंगवो यवाश्च प्रसिद्धाः'—(सा०)

'अथ ह कक्षीषतो नाकुलिभस्त्रासप्रियंगुतण्डुलानां वा सिकतानां वा पूर्णा। जसां ह स्म संवत्सरे संवत्सरे एकैकां प्राप्स्यति। तावद् हास्मा आयुर् दत्तमास।

—जै० ब्रा० ३।१०१

'न्यग्रोधशृंगं वा घृतेन कोशकारिं वा प्रैयंगवेण संयावेन' 'उरुमूलोपधानायै वक्षिणे नासिकाङ्गिदे प्रणयेत्'—हि० गृ० २।१।१९

('ब्राह्मणो भुञ्जीत प्रतिगृह्णीयाच्च) '...यवसमूलफलमध्वभया' 'प्रियंगु' 'सर्वेषाम् ।'

'व्रीहियवगोधूमोपवाकनिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि'—कौ० सू० ८।२०

'यवव्रीहिमहाव्रीहिप्रियंगूणां हि तण्डुलाः ।

श्यामाकतण्डुलतिलाः आसाद्याः श्रुतिचोदिताः ॥'—अ० प० २३।७।२

Ved. ind.—ii-52

Ved. Fl.—657

१. T. Burrow : Samskrit etymological notes, Sarup-Bharati, page 7.

२. पा० गृ०—१।२१

३. जौ०—६।८९।१; देखें ग्रिकथ का अंगरेजी अनुवाद ।

प्लक्ष^१—यह क्षीरीवृक्ष है; इसकी उत्पत्ति मेद से बतलाई गई है। न्यग्रोध आदि वानस्पत्य-चतुष्टय में इसकी गणना है। उन्माद रोग में इसकी समिधा से हवन करने का विधान है। प्लक्ष लाक्षा का अधिष्ठान कहा गया है (देखें लाक्षा)। यज्ञ में प्लक्षशाखा का प्रयोग है। इसके फल अभिषुत कर खाये जाते थे। तैत्तिरीय संहिता में इसके लिए 'प्रक्ष' शब्द है।

प्लक्षोदुम्बर^२—दारिल ने इसके विषय में 'पिप्परीति प्रसिद्धः' लिखा है।

फलवती^३—इसका अर्थ टीकाकारों ने प्रियंगु किया है।

फलवृक्ष^४—टीकाकार ने इसका अर्थ उदुम्बर किया है।

१. तै०—६३१०१२; काठ०—४४११; शौ०—५५५५; पै०—६४४४; श०—३१८३११०; १३५३१८; तां०—२१४११३; ऐ० ब्रा०—७३२; पा०—८४५५; ४३१६४; पा० ग०—४२१९१; ४३१६४; का० औ०—६२१७; ६८१७; हि० औ०—४३१११; ९१८२४; १४३११४; बौ० औ०—४११; १२३; १४१८; आप० औ०—७२१६३; ७२१८३; ७४१२१४; वा० औ०—३४३१२४; पा० गृ०—११९९; १२९; का० गृ०—५१८११; कौ० गृ०—२१६९; वै० ध०—२४११-२; अ० प०—२११-३; २६५६-७; ६४८३; ७११६१; पा० म०—१११२; २१११ (प्लक्षन्यग्रोधखदिरपलाशाः)

'देवा अन्योन्यस्मै पशुमालभं स्वर्गं लोकमायंस्तेऽन्यन्तानेन वै नोऽन्ये लोकमन्वा-
रोचयन्तीति तस्य मेधं प्लाक्षारयन् स प्लक्षोऽभवत् तत् प्लक्षस्य प्लक्षत्वम् । क्लोऽनो
वै तं हृष्यात् प्लाक्षारयन्तस्मादेतत् सुषिरयत्'—मै० ३११०२

'य उच्चाद्येत्स्मै होतव्या गन्धर्वाप्सरसो वा एतमुन्मादयन्ति...तेनैवैनान् शमयति
नैयग्रोधं औदुम्बर आश्वत्थः प्लाक्षः इतीध्मो भवत्येते वै गन्धर्वाप्सरसो गृहाः स्व
एवैनान् आयतने शमयति'—तै० ३४१८४

'प्लक्षो मेधेन'—तै० ७४१२११

'तस्य (देवैरालभ्यमानस्य पशोः) अवाङ् मेधः पपात । स एष वनस्पतिरजायत ।
तं देवाः प्रापश्यन् । तस्मात् प्रकथ्यः । प्रकथो ह वै नामैतद् , यत् प्लक्ष इति'

—श० ३१८३१२२

'अथास्यैष स्वो भक्षो न्यग्रोधस्यावरोधाक्ष फलानि चौदुम्बराणि आश्वत्थानि प्लाक्षानि
अभिषुणुयात् तानि भक्षयेत् ।'—ऐ० ब्रा० ७३०

'अथ ततो ब्रूयात् चतुष्टयानि वानस्पत्यानि संभरत नैयग्रोधान्यौदुम्बराणि आश्वत्थानि
प्लाक्षानीति'—ऐ० ब्रा० ८१९६

Ved. ind. ii-28; 54.

२. कौ० सू०—२०१२२; २२१२; ७५११९;

३. ब० ब्रा०—१५१२

Ved. ind. ii-58.

४. ब्रा० गृ०—२१२२५

फाल्गुनः—(देखें अर्जुन)—

सोम के अभाव में इसे लेने का विधान है। जैमिनीय ब्राह्मण में बभ्रुतूल फाल्गुन का उल्लेख है।

बकुलः—

बज^३—यह श्वेतसर्षप का वाचक है। यह रक्षोघ्न, कुष्ठघ्न तथा गर्भरक्षक तथा गर्भाशयसंकोचक है। पीतसर्षप (पिंग) के साथ इसे देने का विधान है। इन्हें नीविभार्य भी कहते हैं। गर्भिणी के सीमन्तोन्नयन में श्वेत और पीतसर्षप को अभिमन्त्रित कर बाँधने का विधान है।

बदर(री)^४—यह मध्यमप्रमाण बदरीफल है। यह पिच्छिल होता है तथा इसके सक्तु

१. हि० श्रौ०—१५६१५; बौ० श्रौ०—१४३०; आ० श्रौ०—६८

‘यदि तं न विन्देयुः बभ्रुतूलानि फाल्गुनानि अभिषुण्युः।’ बभ्रुतूलानि अभिषुत्यानि मेध्यतराणि’—जै० ब्रा० १३५४

कुछ विद्वानों ने इसका लैटिन नाम *Ficus oppositifolia* किया है (देखें—सत्यप्रकाश कृत ‘Founders of Sciences in Ancient India, Appendix II, pages 163-164.)

२. पा० ग०—५२३६

३. श्रौ० ८६११-२६, पै०—१६१७११-१०; १६१८०११-१०; १६१८१११-८

अ० शा०—२१४; दं० वि०—२८

‘कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्गामचातनम्’—श्रौ० ८६१३; ‘दुर्गामाख्यस्य दोषस्य विनाशनं बजं श्वेतसर्षपरूपं भेषजम्’—सा०

‘गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ’—श्रौ० ८६१२०

४. मा०—१९१२; ९०; मै०—३१११९; का०—२१६११; २३१४२; ३; जै० ब्रा०—२१५६;

तै० ब्रा०—१८१५१; २६१४५; २६१११२; का० श्रौ०—१५१०११; १९१२१८;

हि० श्रौ०—१३११०; १३१८२३; २६११६९; बौ० श्रौ०—१७३९;

वा० श्रौ०—३२१७२०-२१; शां० गृ०—४१११०; ४१७३; हि० गृ०—१९३१२६;

आप० गृ०—४१११६; ५१२१८; वो० गृ०—२५११७; वि० ध०—६११४;

आप० ध०—१११२३८; कौ० सू०—३५२४; ३८९; अ० प०—३०१११७;

पा० ग०—४११४१; ९९; ५२१२४; ६२१८५; ८७; के० प०—३५२१; पा० स०—१११५८;

१२३०; ५१; ५२ (बदरी सूक्ष्मकटका मधुरा वृक्षः); ११११०९; २१२५; ४११३९;

५१११९

‘यत् प्रथमं निरहीवत् तत् कुबलमभवत् द्वितीयं तद् बदरं यच्चूतीयं तत् कर्कशुः।

मै०—३१११३

‘बदरैरुपवाकाभिर्भेषजम्’—मै० ३१११२

का प्रयोग होता था । दधि-आतञ्चन के अभाव में इसका प्रयोग होता था (हि० श्रौ० १।३।१०) । स्नातक कर्म में 'बादर मणि' का भी प्रयोग विहित है (बौ० श्रौ०—१७।३९) । उपनयन में इसके दण्ड का विधान वैश्य के लिए है (आप० गृ० ४।११।१६) । कौशिकसूत्र में वशीकरण प्रयोग है । (देखें कुवल)

बधक^१—दारिल ने इससे आरग्वध का ग्रहण किया है । (देखें वधक)

इसकी समिधा का प्रयोग है ।

बन्धुजीवक^२—मञ्जिष्ठा के साथ उल्लेख होने से इसके रक्तवर्ण पुष्पों का संकेत होता है ।

बन्धूक^३—इसका दन्तधावन निषिद्ध है । बन्धुजीवक इसका नामान्तर है ।

बभ्रु^४—यह शंखपुष्पी का विशेषण है । सायण ने इसका अर्थ पीतवर्ण किया है । अक्ष के विशेषण रूप में भी प्रयुक्त हुआ है ।

बभ्रुतूल^५—यह फाल्गुन का विशेषण है ।

बला^६—यह रसायन, विषघ्न, बल्य तथा प्रमेहघ्न है । अथर्वपरिशिष्ट में पुष्पाभिषेक में प्रयोग है ।

बलासनाशिनी^७—

बलासभेषज —

बल्वज^८—यह तृणविशेष है जिससे रस्सी बनती थी और इससे आसन, खाट, कुर्सी

'सक्तनां रूपं बदरम्'—का० २।१।११

'नासिकाभ्यामेवास्य वीर्यमन्नवत्'—यत् स्नीहा तत् बदरम्—श० १।१७।१।३

'अथ यानि नासिक्योर्लोमानि तान्युपवाकसक्तवश्च बदरसक्तवश्च'—श० १।२।१।१।५

१. कौ० सू०—१।११।१४; (किरमालः—दा०); शौ० ६।१३३ (सा०)

२. अ० प०—५।१।७

३. वि० घ०—६।१३; पा० उ०—४।४१

४. शौ०—६।१३।३

५. ता०—९।५।७

६. पै०—१।१।१।१-१३; अ० प०—५।१।४

७. शौ० ६।१४।१-३

८. शौ० ६।१४।१-३

९. श्रु०—८।५।३; शौ०—१।४।२।२; पै०—१।८।१।३-४; मै०—२।२।५; काठ०—१०।१०ः

श्रु०—१।४।१।११; का० श्रौ०—२।१।२।८; जै० सू०—१।१; पा० गृ०—२।५।२४;

आदि बुनते थे । इसका इन्धन भी होता था । आनूप देश में विशेष होता है । उपनयन में मुञ्ज के अभाव में इसकी रचना बनती थी । इसकी सूप भी बनाते थे । गो के मूत्र से इसकी उत्पत्ति बतलाई गई है ।

बहुप(पु)त्रिका^१—श्मशान से उद्धरणीय ओषधियों में परिगणित है ।

बाण(णा)पर्णी^२—दारिल ने इसे शरपुंखा तथा केशव ने माषिका माना है । सायण ने तृष्टिका (शौ०—७।११३।१-२) से बाणपर्णी का ग्रहण किया है । इसके अतिरिक्त शौ० ३।१८।१ का भी सायणभाष्य देखें । इसमें सपत्नीजन्य प्रयोग है । कौशिकसूत्र (३६।३८) में क्लैव्य में इसका प्रयोग है ।

बाधक^३—इसका यूप तथा सुव आदि पात्र बनते थे । टीकाकारों ने इससे गिरिमालक या व्याधिघात का ग्रहण किया है (देखें बधक) । जैमिनीय गृह्यसूत्र में इसका इध्म वर्ज्य कहा है । कौ० सू० (४७-४८) में व्याधिघातकदण्ड का ग्रहण किया गया है ।

बा(ब.ला)^४—यह बला प्रतीत होती है ।

बाह्लिका^५—

गो० गृ०—१।५।१८; आप० घ०—१।७।१।१; वि० घ०—२७।१८; कौ० सू०—७।८।३; अ० प०—२३।१।५; २८।१।३; दं० वि०—२।२; पा० ग०—४।२।८०; ४।३।१४२; १४४; ५।१।५०; पा० म०—१।२।४५ (एकश्च बस्वजा बन्धनेऽसमर्थः तस्मिन्दायश्च रज्जुः समर्था भवति)

‘बस्वजाः तृणविशेषाः’—शौ० १४।१।३।११ (सा०)

‘गौर्यन्त्राधिष्कन्ना न्येमहत्ततो बस्वजा उदतिष्ठन्’—तै० २।२।८।१-२

‘उपस्तृणीहि बस्वजमधिचर्मणि रोहिते’—शौ० १४।२।२३

१. बो० पि०—१।६।२; आग्नि० गृ०—३।५।५७;

२. कौ० सू०—३६।१९; ३८; अ० अ०—३।१८

‘बाणापर्णी शरपुंखेति प्रसिद्धा’ (दा०)—कौ० सू० ३६।१९

के० प० ३६।१९ (बाणपर्णी माषिका लोके प्रसिद्धा)

मज्जुमदार ने इसे जलज वनस्पति माना है किन्तु वस्तुतः यह शरपुंखा है ।

३. का० श्रौ०—२।२।१८; हि० श्रौ०—१।७।२।१; बौ० श्रौ०—१४।१६; गो० गृ०—१।५।१५;

जे० गृ०—१।१; कौ० सू०—१६।१७; १९; ३६।३६; ४७।१३; ४८; ११६।६;

‘बाधको यो गिरिमालक इति प्रसिद्धः’—का० श्रौ० २।२।१८ (आ०)

४. पा० गृ०—१।२।१

५. पै०—२०।३९।२

बि(वि)भीद(त)क]

(१०६)

[बिल्व

बि(वि)भीद(त)क'—ऋग्वेद में 'विभीदक' शब्द है। इससे द्यूत का अक्ष बनता था। इसकी समिधा भी होती थी। ऋग्वेदीय उद्धरणों से संकेत मिलता है कि इसके वृक्ष बड़े और प्रवातशील वन्य प्रदेशों में होते हैं तथा इसमें मादकता भी होती है विशेषतः फलों में। इसका दन्तधावन निषिद्ध है। (देखें अक्ष)

बिम्ब (बी)^२—

बिल्व^३—यह गूप्प वृक्षों में है; यज्ञ में इसके गूप्प बनते थे। शांखायन आरण्यक में

१. पै०—११३२१८-१०; मै०—२११६; सा०—३१६१२; ष०—३१८; ४४;
का० औ०—२१३१२०; २२३१९; हि० औ०—१७२१२६; २२११३; वौ० औ०—१४११६;
आ० औ०—३० ३७; पा० गृ०—१२१; गो० गृ०—१५१५; हि० औ०—२९११४;
वि० ध०—६१२; आ० ध०—२१०२५१२; अ० प०—२६५११-५;
पा० ग०—४३१५४; पा० म०—५११२; १३

‘न स स्वोदक्षो वरुण द्युतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः ।

अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदन् तस्य प्रयोता ॥—ऋ० ७।८६।६

‘विभीदकः द्यूतसाधनोऽक्षः’—सा०

‘प्रावेया मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा हरिणे वर्वृतानाः ।

सोमस्येव मौजवतस्य अक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥’ ऋ०—१०।३४।१

‘बृक्षस्य शतशाखस्य मा कृन्त ! प्यावमृन्तवः ।

वैभीतकस्य यत् फलं तेन त्वोन्मदयामसि ॥’—पै० २०।२२।६-७

‘विभीतको विभेदनात् (विभेत्ता कोष्ठस्य—दुर्गं)—या० १।८

२. पै०—९१६।१०-११; कौ० सू०—३१८; ऋ० तं०—३१४९; पा० ग०—२१४३१;
४११४१; पा० म०—१११५८; ६११९४; ४११९७

३. मै०—३१९३; तं०—२११८; २; खि०—२६६; पा२२।१०; औ०—२०१३६।१५; ष०—
१११३२०; १३१३२०; १३१४४५; तां०—२११४१३; जै० ब्रा०—२ २७४; ऐ० ब्रा०—
२११; तै० ब्रा०—३८।१९।१; ३८।२०।१; सा०—२१२२; ११११२; का० औ०—२८।१;
६११९; २०११९; हि० औ०—४११२; ८।११; १३११७; १४२।४०; २६११६९; आप०
औ०—१२।३०; ७।११।१५-१६; वा० औ०—३१११; ५४; ५५; १६११५; १२।१३०;
पा० गृ०—१२१; काठ० गृ०—१४।१८; २८।२; २९।१; गो० गृ०—२१०।१२; आ०
गृ०—११९।१३; वौ० गृ०—२६।१२; जै० गृ०—११२; १९; वि० ध०—६११४;
४६।१६; गौ० ध०—१२२; वा० ध०—२०२१; वै० ध०—१८।१; बौ० ध०—१८।३०-
३४; ११११०; शं० लि० ध०—३६ (१); १६८; ४१७; कौ० सू०—८।१५; अ० प०—
२।१-३; ५।३३; २३।१४; २३।६५; २६।५१-५; ३१।६४; ३३।१७; ३३।५८; ३६।२४-५;
३६।२११; ४०।३२; ७०।१६-९; कर्म०—१३।१४; या० शि०—३३; पा०—४।३।३६;
१५१; ६।४।५३; पा० मा०—४।२।५२; ३।११; ६।४।५३; (बिल्वक) ४।३।४२;

[विस]

(१०७)

[विस]

बैल्वमणि का धारण विहित है जो सपत्नक्षपण, विष्टम्भजम्भन, दुःस्वप्ननाशन, रक्षोघ्न, रसायन तथा प्रजास्थापन, विषघ्न और शामक कहा गया है। इसके धारण से कुलज रोग नहीं होते हैं। इसके फल के भीतर पीले रंग की मज्जा होती है जिसे लोग खाते हैं। यह मांगलिक फलों में है, इसके जल से विवाह में कन्या को स्नान कराने का विधान है। उपनयन में इसका दण्डधारण विहित है। स्नातककर्म में बैल्वमणि का धारण निर्दिष्ट है। यह शीघ्रद्रव्यों में परिगणित है। इसके फल खाकर रहने को श्रीफलकृच्छ्र तथा पत्र खाकर रहने को पर्णकृच्छ्र कहा गया है। एक मास तक बिल्व, आमलक या पद्माक्ष पर रहने को श्रीकृच्छ्र कहते हैं। बिल्व का दन्तधावन विहित है। 'बिल्व' एक मान भी निर्धारित हुआ। अथर्व-परिशिष्ट में पुष्याभिषेक तथा समिधा के लिए इसका प्रयोग हुआ है। निरुक्त में भरण (पोषण करने के कारण इसकी संज्ञा 'बिल्व' निर्धारित हुई है। बिल्व एक आरोपणीय वृक्ष है।

विस—सायण ने इसका अर्थ 'पद्मकन्द' किया है। मूत्रावरोध में अन्य ओषधियों के

‘(प्रजापतेः प्राणेषूक्कान्तेषु) अथ यत् कुन्तापमासीत्, यो मज्जा, स सार्धं समवद्रुत्य श्रोत्रत उदभिनत् । स एष वनस्पतिरभवत् बिल्वः । तस्मात्तस्यान्तरतः सर्वमेव फलमाद्यं भवति । तस्मादु हारिद्र इव भवति । हारिद्र इव हि मज्जा ।’

—शा० १३।४।४८

‘परिविवृत्ताश्च यूष्याः बिल्वखदिरपलाशरौहीतकौदुम्बरप्रभृतयः’

—काठ० गृ० १।४।१८ (दे०)

‘बिल्वं भरणार्हा भेदनाद्वा’—या० १।१४

‘बिल्वैरामलकैर्वापि पद्माक्षैरथवाशुभैः । मासेन लीके श्रीकृच्छ्रः कथ्यते पुरुषोत्तमे ॥’

—शं० ध० ४४८

‘पलाशबिल्वपत्राणि कुशान् पद्मानुदुम्बरान् । काथयित्वा पिबेदापस्त्रिरात्रेणैव शुष्यति ॥’

—वा० ध० २७।११

‘न स सुसमश्नाति न क्लिब्वधं कृतं नैनं दिव्यो बहूणो हन्ति भीतम् ।

नैनं क्रुद्धं मन्यवोऽभियन्तीरामणि बैल्वं यो विभस्ति ॥

नास्य स्वचं हिंसति जातवेदा न मांसमश्नाति न हन्ति तानि ।

शतायुरस्मि जरदृष्टिः प्रैतीरामणि बैल्वं यो विभस्ति ॥

नास्य प्रजा दुष्यति जायमाना न शैलगो भवति न पापकृत्या ।

नान्यन् मिथस्तस्य कुलेषु जायते हरामणि बैल्वं यो विभस्ति ॥’—शा० आ० १२।४-८

१. शौ०—४।३।५; पै०—६।२।८; वि० ध०—४६।१५; पा० ग०—४।२।८०; ८६;

५।२।३५; पा० म०—४।३।१६६

‘आलबिसोलं फण्टं पाययति’—कौ० सू० २५।१८

‘विसं विश्यते भेदकर्मणः वृद्धिकर्मणो वा’—या० २।२४

बुर्बुर]

(१०८)

[भङ्ग(ङ्गा)

साथ इसका फाण्ट पिलाने का विधान है । अथर्ववेद में अनेक जलज द्रव्यों के साथ इसका उल्लेख है । विष्णुधर्मसूत्र में मूलकृच्छ्र में बिस के अश्वयवहार का निर्देश है ।

बुर्बुर^१—निघण्टु में जल का पर्याय है । पातञ्जल महाभाष्य में बब्बूल के लिए प्रयुक्त हुआ है । (देखें खदिर)

बृहती^२—शांखायन गृह्यसूत्र में अन्य ओषधियों के साथ इससे सूतिकागार के लेपन का विधान है । कोशिकसूत्र में पुंसवन में इसका प्रयोग है । हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र में बृहतीफल का उल्लेख है । सामविधान ब्राह्मण (२।३।४) में श्वेतपुष्पी बृहती का निर्देश है ।

बृहत् कण्टकारिका—

बृहद् दूर्वा—

ब्रह्मवृक्ष—

ब्रह्मसुवर्चला^३—पर्णकृच्छ्र में इसके पत्र में कथित जल पीने का विधान है ।

ब्राह्मी^४—यह मेध्य कही गई है । आहारशुद्धि के लिए भी इसका पान विहित है ।

भङ्ग(ङ्गा)^५—ऋग्वेद में जो 'भंग' शब्द आया है वह सोम का विशेषण है, उसका

१. निघ०—१।१२ (उदकनाम); पा० म०—१।१।४६

२. हि० श्रौ०—२।८।३।५; कौ० सू०—३।५।४; शां० गृ०—१।२३।१; बौ० पि०—१।१।४।२; पा० मा०—६।१।१।७३

'बृहती प्रसिद्धा'—शां० गृ० १।२३।१ (ना० भा०)

'बृहती नाम कण्टकारी'—शां० गृ० १।२३।१ (दा० प०)

३. अ० प०—१।१।५—१७;

४. कौ० सू० (प०)—८।२।२६

५. बौ० पि०—३।१।१

६. वि० घ०—४।६।२३; ५।१।२२;

७. सा०—२।७।४; ५; बा० घ०—२७।१०; शां० लि० घ०—३९।६; अ० प०—१।४।१।१०; पा० म०—६।४।१।७१ (ब्राह्मी औषधि);

'अष्टरात्रोपोषितो ब्राह्मोमुत्थाप्य'—सहस्रकृत्वः प्रारनीयात् श्रुतनिगादी भवति'

'पुष्पाणि वास्याः उदकेन संबत्सरं पक्वेन प्रारनीयात् श्रुतनिगादी भवति' ।

—सा० २।७।४—५

८. कौ० सू०—१।४।२८; १।६।१६; २।२।१४; ३।५।२८; ४।७।३९; बौ० श्रौ०—१।८।३।६।६; ७; (मादक वीरुध्); पा० ग०—४।१।४।१; ५।१।३।९; ६।६; पा०—५।२।४; पा० बा०—५।२।२९; श्रौ०—४।३।१ (सा०)

भचुण्ड]

(१०९)

[भव्य

अर्थ सायण ने शत्रुभञ्जक (भंगं शत्रूणां भञ्जकम्) किया है । अथर्ववेद में यह स्पष्टतः वनस्पति है । यहाँ सायण ने इसका अर्थ 'शण' किया है । कौशिकसूत्र (१४।२८) में मुञ्ज के साथ इसका पाश बनाने का उल्लेख है । इससे आहुवनीय अग्नि के परिस्तरण का विधान है (की० सू० २३।१४) । की० सू० (३५।२८) में इसकी बनी धनुर्ज्या का उल्लेख है । की० सू० (४।३९) में इसकी शय्या का निर्देश है । इन सब उद्धरणों से अथर्ववेदीय परम्परा में इसके बहुल प्रचार का संकेत मिलता है ।

भचुण्ड^१—श्राद्धकाल में दातव्य फलों के साथ इसका उल्लेख है ।

भण्डी^२—श्वेतपुष्प के अभाव में इसे छोड़कर अन्य पुष्प लेने का विधान है ।

भद्र^३—लाक्षा के अधिष्ठानों में इसका उल्लेख है ।

भद्रदारुणा^४—चन्दन, कुष्ठ आदि सुगंधित द्रव्यों के साथ इसके लेप का विधान है ।

भद्रभुञ्ज^५—उपनयनसंस्कार में ब्राह्मण के लिए इसकी मेखला का विधान है ।

भद्रमुस्त^६—नक्षत्रस्नान में इसका उपयोग है ।

भल्लातक^७—

भव्य —फलों में इसका उल्लेख है ।

‘उपो पु जातमन्त्रं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम् । इन्दुं देवा अयासिषुः ॥’—ऋ० १।६।१।१३

‘भंगं शत्रूणां भञ्जकम्’—सा०

‘पञ्च राजानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः । दूर्ध्वा अंगो यवः सहस्तेनो मुञ्चन्वंहसः ॥

—शौ० १।१।८।१५.

‘भंगः शणः’—सा०

‘उपरिप्लुता अंगेन हतोऽसौ फडिति’—का० ७।१।३; श० ४।१।१।२६

‘अंगेन अभिषवामर्देन’—सा०

१. शं० लि० ध०—२२०

२. जै० गृ०—१।१

३. शौ०—५।५।५;

पै०—२०।३।२;

४. अ० प०—१।८।३।१-३;

५. कौ० सू०—५।६।१; ५।७।१;

६. अ० प०—१।४।५।८

७. पा० उ० भो०—२।२।४२;

८. शं० लि० ध०—२२०

भञ्जफला]

(११०)

[भृङ्गराज]

भस्त्रफला^१—भस्त्रास^२—नाकुली और प्रियंगु के साथ इसका उल्लेख है । (देखें प्रियंगु)भाङ्गा^३—(देखें भङ्गा)

इसका आस्तरण में उपयोग होता था (देखें पूतीक)

भूर्^४—तुलसी और महादेवी के साथ इसके चूर्ण का प्रयोग वशीकरण में है ।भूमिपाशक^५—(देखें प्रियंगु)कुछ विद्वानों ने इसका लैटिन नाम *Ononis arvensis or spinosa* दिया है ।^६भूर्ज^७—भूस्तृण^८—निषिद्ध शाकों में पठित है ।भृङ्गरक^९—यह भृङ्गराज का वाचक है ।भृङ्गराज^{१०}—शिव और पलित में इसका प्रयोग है (देखें रामा) । हरिद्रा, झीलिका, इन्द्रवाहणी और पुष्पा के साथ लेप करने का विधान है । केश के वृद्धिकरण, हृदीकरण तथा संजनन के लिए काकमाचीफल के साथ इसके जल से प्रातः सायं अवसिचन करते हैं ।

१. पा० बा०—४११४

२. जै० ब्रा०—३१०१;

३. के० प०—२२१

४. 'तुलसी-भू-महादेवीचूर्णस्पृष्टस्तथा वशी'—अ० प० ३५२।९-११

५. सा०—२६१०;

६. Satya Prakash : Founder of Sciences of Ancient India, Appendix II, pages 163-164.

७. काठ०—३६६; कौ० सू०—३८।९;

'भूर्जो वै नामैष वृक्षः कार्या एतस्य सूचः'—मै० ११०।१२

८. वि० ध०—७९।१७; वै० ध० ३।५।८

९. कौ० सू०—२६।२२;

१०. पा० गृ०—१।२१;

'श्वेतकुष्ठापनोदनाय भृङ्गराजहरिद्रेन्द्रवाहणीनीलिकाः पिष्ट्वा शुष्कगोमयेन श्वित्र-प्रदेशं आलोहितदर्शनं प्रघृष्य लेपयेत् । पलितनाशनेऽपि पलितानि आच्छिद्य... विलिम्पेत् ।'—शौ० १।२३।१ (सा०)

के० प०—२६।२२-२४; ३।२८—शौ० ६।१३५ सा०

मङ्गल्य^१—सीमन्तोन्नयन में इनसे स्नान कराने का विधान है ।

मचकचातनी^२—अन्य ओषधियों के साथ इससे सूतिकागार के लेपन का विधान है ।

मञ्जिष्ठा^३—यह लोहितवर्ण होती है तथा इससे लाल रंग बनता था । उपनयन में क्षत्रियों के लिए माल्जिष्ठ वस्त्र का विधान है ।

मण्डूकी^४—अन्य ओषधियों के साथ उल्लेख होने के कारण यह भी वनस्पति ही है ।

मण्डूकपर्णी का ग्रहण इससे होता है । शतपथ ब्राह्मण में 'पशु' शब्द का प्रयोग होने से इससे मेढ़क लेते हैं । कौशिकसूत्र में एक स्थान पर (४०।४) मेढ़क तथा दूसरे स्थल (८२।२६) में स्पष्टतः 'मण्डूकपर्णी' शब्द है जिससे ओषधिविशेष का ग्रहण होता है ।

मदन^५—इसके कण्टकों का उल्लेख है । स्थावर विषों में मदनफल खिलाकर वमन कराने का विधान है ।

मदयन्ती^६—नक्षत्रस्नान तथा पुष्पाभिषेक में इसका उल्लेख है ।

मदावती^७—अथर्ववद में यह मद-मूर्च्छाकर ओषधिविशेष है । सर्प की माता का नाम भी मदावती कहा गया है । 'अभिखाता' इसका विशेषण है ।

१. वा० गृ०—१६।७

२. शां० गृ०—१।२३।१ (पम्पोटीति लोके प्रसिद्धा—ना० भा०; 'मचकचातनी नाम पटोली—रा० प०)

३. शां० ब्रा०—७।७; हि० श्रौ०—२६।१।७३; शां० गृ०—१।१।१२; कौ० गृ०—२।१।९; आ० गृ०—१।१।९९; वा० ध०—१।१।६५; गौ० ध०—१।२।१; कौ० सू०—३।८।९; अ० प०—५।८।१।७;

'लोहिनी-द्यौर्भवति यथा मञ्जिष्ठा'—ऐ० आ० ३।२।४।१०

४. 'शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुवाव शीयताम् ।

शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।

मण्डूक्यप्सु भुवं इमं स्वप्तिं शम्य ॥'—शौ० १।८।३।६०

(मण्डूकस्य स्त्री मण्डूकी तथा; यद्व मण्डूकपण्यस्थिया ओषध्या—सा०)

का० श्रौ०—१।८।१।१; बौ० श्रौ०—१०।४७; कौ० सू०—४०।४; ८२।२६ (प०)

'अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि तामिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधि'—

का० ९।१।२।२७; शौ०—४।१।५।१४

५. अ० प०—३६।१।१।१; के० प०—२।८।३

६. अ० प०—१।४३।६; १।४५।७; ५।१।४

७. पै०—१।९।५।८

'वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि'—शौ० ४।७।४

मधुघ^१—यह स्वाद में मधुर है तथा दीर्भाग्यताशन एवं गर्भवृंहण है । इसका मणि धारण भी विहित है । कौशिकसूत्र के टीकाकार ने इसे ज्येष्ठीमधुक लिखा है । अथर्ववेद (शी० ६१०३१३) के भाष्य में सायण ने इससे मधुकवृक्ष या यष्टिमधुक लिया है और दूसरे स्थल (११३४१४) पर मधुसावी पदार्थ का ग्रहण किया है । 'मधुघ' भी पाठान्तर है जो 'मधुदुघ' का संक्षिप्त रूप है ।

मधुक^२—(देखें मधुघ)—अथर्वपरिशिष्ट में मधुक की समिधा का उल्लेख है । सायण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है—'विरोहणशीला लता मधुभास्या' (शी० ११३४११)—संभाषा में विलय के लिए इसके भक्षण का विधान है । विवाह में मधुकमणि का बन्धन विहित है (शी० ११३४ सा०) जाङ्गम विषों में भी इसे पिलाने का विधान है (शी० ७१५७१-२; ७१५८१-८) ।

(मूर्च्छाकरमदयुक्ते विषोपादानभूते ओषधे—सा०)

'विहृहो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता'—शी० ६११६१२; ४१७५-६

१. पै०—२३२११-५; २३३११-५; २३४११-५; २३५११-५; ४१२०११-७; ६१६११-९;*

कौ० सू०—३५२१; ३८११७; ७६१८; ७९११०; अ० प०—३७१११-२; अ० अ०—११३४;

'मधोरहं मधुतरः मधुघान् मधुमत्तरः'—शी० ११३४१४

'आञ्जनस्य मधुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च । तुरौ भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुदभरे ॥'
शी०—६११०२३.

Ved. ind. ii—122.

२. शां० ब्रा०—१६१९; कौ० सू०—३२१५; अ० प०—२६१५६-७; पा० म०—५११७७

(स्थालपथं मधुकम्)

'वचां मधुकमित्येते आस्येऽवधार्यापां फेनेन...निगीर्य विवदेत् परिषदि राजनि चोत्तर-
वादी भवति ।'—सा० २७११३

'इयं वीरुमधुजाता मधुना त्वा खनामसि । मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृषि ॥
जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् । ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥
मधुमन् मे निक्रमणं मधुमन् मे परायणम् । वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंज्ञः ॥
मधोरस्मि मधुतरो मधुघान् मधुमत्तरः । सामित् किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥
परि त्वा परितस्नुनेच्छुणागामविद्विषे । यथा मां कामिन्यसो यथा मन्त्रापगा अरुः ॥'
—शी० ११३४११-९.

'ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते । एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥
ये ते पन्थानोऽव दिवा येभिर्विश्वेभ्यैरयः । तेभिः सुस्नया धेहि नो वसो ॥'
—शी० ७१५७१-२

मधुक्रोडा]

(११३)

[मधुला

मधुक्रोडा^१—

मधुजाता^२—यह मधुक का विशेषण है । सायण ने इसकी अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति की है :—

‘मधुनि मधुरसोपेते भूतले जाता उत्पन्ना । यद्वा मधुने मध्वर्थ उपभोक्तृणां वचसि माधुर्यसंपादनाय जाता उत्पन्ना । अथवा मधुना क्षीद्ररसेन जाता उत्पन्ना । तस्या उत्पत्ती क्षीद्ररस एव जलवत् कारणम् इत्यर्थः ।’

मधुमती^३—(देखें जीवला)

मधुयष्टिका^४—मूलविधि के प्रकरण में इसका उल्लेख है ।

मधुला^५—यह विषघ्न तथा मशकजंभनी कही गई है । सर्पविष में इसका प्रयोग है । यह मधुक का पर्याय है ऐसी सायण की मान्यता है ।

तिरश्चिराजेरसिताष्टदाकोः परि संभृतम् । तत्कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनश्व ॥
इयं वीरुमधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः । सा विहुतस्य भेषज्यथो मशकजंभनी ॥
यतो दष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि । अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम् ॥
अयं यो वक्रो विपर्ययको मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि ।

तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥

अरसस्य शार्कोटस्य नोचोनस्योपसर्पतः । विषं ह्य स्याद्विष्यथो एनमजीजभम् ॥
न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः । अथ किं पापयामुया पुच्छे विभर्ष्यभकम् ॥
अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः । सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥
य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च । आस्येन ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥

—शौ० ७।५।१-८

१. अ० शा०—१।५।४

२. पै०—२।१।१-५

‘इयं वीरुमधुजाता मधुना त्वा खनामसि । मधोरधि प्रजातासि सनो मधुमतस्कृषि ॥
—शौ० १।३।१

३. शौ०—८।७।६; पै०—२।३।१-२; २।३।५।१; ४।२०।१; ६।६।७

४. पा० गृ०—१।२।१;

५. मै०—४।१।१; पै०—४।१।१-७; २०।१।१८-९; ८।५।१-११; तै० आ०—४।२।५; ५।२।१३
अ० अ०—५।१।५

‘मधु त्वा मधुला चकार’—ऋ० १।१९।१।१०-१३;

‘ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः’—शौ० ५।१।५।१-११

‘इयं वीरुमधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः । सा विहुतस्य भेषज्यथो मशकजंभनी ॥

—शौ० ७।५।१२

८ द्र० च०

मधूक]

(११४)

[मसूय

मधूक^१—इसके मणिधारण का विधान है। शा० गृ० (५।१।१) में 'मधूक' शब्द सम्भवतः मधुमक्षिका के लिए प्रयुक्त है।

मधूलक^२—सायण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है—'मधुरसबहुलं जलमधूक-वृक्षपुष्पम्'

मध्वष्ठीला^३—

मन्धुक^४—संग्राम में विजय के लिए इसकी समिधा का प्रयोग होता है।

मयूरशिखा^५—

मरिच^६—ब्राह्मणों के लिए अपण्य द्रव्यों में पिप्पली के साथ इसका उल्लेख है। इस शब्द की उत्पत्ति द्राविड स्रोत से कही जाती है।

मला^७—(ओषधिविशेष)

मल्लिका^८—

मशकजम्बनी^९—(देखें मधुला)

मसूय^{१०}—

'उक्तविधगुणोपेता मधुकाख्या ओषधिः'—सा०

'मधुलावृषलिङ्गाभिः खलतुलपर्णो संक्षुद्य मधुमध्ये पाययति (सर्पविष-प्रकरणे)

—कौ० सू० २९।१५

१. शा० गृ०—१।१।१९; ४।१।३; ५।१।१; कौ० गृ०—१।८।९;

(मधूके विवदन्ते; यष्टिमधूकं केचिद् ब्रुवन्ते, मधूकवृत्तं पक्वं केचित्—भा०)

२. पै०—२।१।२; ८।१।०७; १९।३।१४; १९।५।२।१६; अ० प्रा०—३।४।१

'जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्'—शौ० १।३।४२

३. काठ०—३।७।१४

४. तै०—३।४।८२; बौ० श्रौ०—१।४।१८

५. पा० गृ०—१।२।१

६. पा० उ० ओ०—२।२।७५; आप० ध०—१।७।२०।१२

पा० म०—५।१।७७ (स्थालपथं मरिचम्)

T. Burrow : Sanskrit etymological notes, p. 8.

७. अ० शा०—२।१।४

८. पा० उ० वृ०—२।३।२; पा० म०—४।३।१६६ (पुष्प)

९. शौ०—७।५।६२; पै०—२०।१।३।८; कौ० गृ०—१।५।१।१; (मशकादनी)

१०. तै० ब्रा०—३।८।१४।६

मसूर]

(११५)

[मादानक

मसूर^१—बृहदारण्यक उपनिषद् में निर्दिष्ट दस ग्राम्य धान्यों में पठित है ।

मसूस्य^२—इसके सक्तु का विधान है ।

महादेवी^३—वशीकरण में इसका प्रयोग है ।

महाबला^४—

महारजन^५—इससे वस्त्र रंगा जाता था । यह कुसुम्भ का वाचक है ।

महावृक्ष^६—खा० गृ० के टीकाकार ने इसका अर्थ उदुम्बर किया है । यह रक्षोघ्न माना गया है ।

महावीहि^७—

महौषध^८—

मातुलुंग^९—

मादानक^{१०}—इसे मदनफल माना गया है । इससे सिद्ध दुग्ध नवजात बालक के लिए सोमनस्यजनन होता है ।

१. मा०—१८१२; का०—१९४४; तै०—४७४२; मै०—२११४;

काठ०—१८१; क०—२८१; वि० घ०—७९१४; शं० लि० घ०—१३२;

‘दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति—त्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खरवाश्च खलकुलाश्च ।’—बृ० उ० ६३१३

२. हि० श्रौ०—१४३३; आप० श्रौ०—२०१०५

३. अ० प०—३५२१९-११

४. अ० प०—७११७७ (देवताविशेष)

५. बृ० उ०—२३१६; वि० घ०—५०१२१; पा० वा०—४२१२

‘तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् यथा माहारजनं वासः—बृ० उ० २३१६; महारजनं हरिद्रा (शांकर)

६. पै०—१३१७; खा० गृ०—४११११; पं० वि० ब्रा०—७६११५; १४११२

‘यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः । तत्परेताप्सरसः प्रतिवद्धा अभूतन ॥’

—शौ० ४३७४

७. कौ० सू०—५४११; अ० प०—२३७२

८. अ० शं०—२१४; बृ० दे०—८५६ (पाठा)

९. पा० उ० भो०—२२६५

१०. कौ० सू०—१२१; के० प०—१२१

मांषी]

(११६)

[माष

मांसी'—इसका सौभाग्यजनन एवं वशीकरण प्रयोग है ।

मालती'—इसका दन्तधावन विहित है ।

माष'—यजुर्वेद में अन्य धान्यों के साथ इसका उल्लेख है । इसे अमेध्य और अयज्ञिय कहा गया है और ऐसा विधान है कि जिसे यज्ञ करना हो वह उसके पूर्व सायंकाल माष न खाए । यह शमीधान्य के अन्तर्गत है जिसका ब्रीहि, यव के साथ प्रयोग होता था । यह अण्डाकार होता है अतः प्रतीकरूप में पुंसवन में यव के साथ इसका प्रयोग विहित है । अथर्ववेद (शी० ६।१३०।१) में 'रथ-जिता' इसका पर्याय दिया है । कौशिकसूत्र में इसके मन्थ और पिष्ट का उल्लेख है । यह हेमन्त में पकता है (तै० ७।२।१०।२) ।

१. अ० प० ३५।१।१४-१५; ३५।२।१-७;

२. पा०—४।१।४१; वि० ध०—६।१।४;

३. मै०—४।३।२; मा०—१।८।१२; का०—१।९।४।४; क०—२।८।९; शौ०—६।१३०।१; १।२।१५३; पै०—१।७।३०।४; १।९।४।१०; २०।३९।३; नां०—१।६।१।१०; गो०—२।१।१७; का० ब्रा०—२।१।१।८; बां० श्रौ०—१।८।८; आप० श्रौ०—४।१।२८; वा० श्रौ०—२।१।१।५०; १।१।२।९; २; बां० गृ०—२।१।१।४४; जं० गृ०—१।१।१; ५; २।९; आ० गृ०—१।१।३।२; १।१।७।२; १।१।७।२; शां० गृ०—१।२।८।६; काठ० गृ०—४।५।५; गो० गृ०—२।१।६; १।१०।१०; क० प्र०—१।९।१०; वि० ध०—८।०।१; शां० लि० ध०—१।३२; १।४६; आप० ध०—२।७।१।६।२२; ऋ० तं०—५।२।७; कौ० सू०—७।०।५२; ७।१।६; १।३।१-३२; ३।६।१३; अ० प०—१।३।०।२; पा०—५।२।४; ५।३।७; पा० ग०—२।४।३।१; पा० वा०—८।४।१०; पा० म०—१।१।५।१; ५८; २।२।६; १।४।२७; ३।१।५६; ३।२।२८; ४।३।१।६६; ५।१।३।७; ६।१।१३; के० प०—३।१।२८

'माषाश्च मे'—मै० २।१।१४

'न माषाणामशनीपाद्यज्ञिया वै माषा न तस्य सायमशनीयात् यस्य प्रातः यद्यमाणः स्यात्'—मै० १।४।१०

'अमेध्या वै माषाः'—क० ३।१।१०; काठ० ३।२।७; तै० ५।१।८।१

'स वा आरण्यमेवाशनीयात् । या वा आरण्या ओषधयः; यद्वा वृक्षयम् । तदु ह स्माहापि बर्कुर्वाणिः—माषान् मे पचत, न वा एतेषां हविर्गृह्णीतीति' तदु तथा न कुर्यात् । ब्रीहियवयोर्वा एतदुपचम्—यच्छमीधान्यम्, तद् ब्रीहियवावेचैतेन भूयांसौ करोति । तस्मादारण्यमेवाशनीयात्'—श० १।१।१।१०

'अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रण्यादपि चन्द्रं त आहुः ।

माषाः पिष्टाः भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गृह्णं सचस्व ॥'—शौ० १।२।१।५३

'आरण्यं सायमाशेऽशनायमापमांसम्'—आप० श्रौ० ४।१।२८

'माषौ च यवं च पुंल्लिङ्गं कृत्वा दधिद्रप्सेनैनौ प्राशयेत्'—जै० गृ० १।५

माषपर्णी]

(११७)

[मुञ्ज

माषपर्णी^१—मिरिका^२—मुकुन्दक^३—जीली इसे पलाण्डुभेद मानते हैं । यह निषिद्ध शाकों में है ।मुक्तिका^४—

मुञ्ज^५—इससे इषीका (सींक) निकलती है । मुञ्ज की मेखला बनती थी तथा इसकी रस्सी में खाट, आसन आदि बिने जाते थे । काठक गृह्यसूत्र में 'सप्तमुञ्ज' शब्द की व्याख्या करते हुये व्याख्याकार ने लिखा है :—'सप्तमुञ्जो मुञ्जविशेषः'—

'इषीका यस्य हेमाभा पत्रं यस्य सुपिञ्जरम् ।

सप्तमुञ्ज इति ख्यातः स शरःपर्वटः स्मृतः ॥' (ब्राह्मणवल)

यह बड़ा मजबूत होता है और एक साल में तैयार हो जाता है । यह जलप्रधान तथा पित्तशामक कहा गया है (पै०) : यह सुपिर एवं धूमरक्तवर्ण होता है । छिन्न यज्ञशिर का यह योजक भी कहा गया है । मुञ्ज के तन्तुओं एवं प्रलवों का भी उल्लेख है ।

की० सू० में मूत्रसंग तथा गर्भसंसन—प्रकरण में इसका प्रयोग है । आस्त्राव (रक्त-आव) में भी इसका प्रयोग विहित है ।

(माषौ च वृषणवत्, यवं च क्षिरनवत् संनिवेश्य रेतोबिन्दुवत् अग्रगेन दधिविन्दुना सह प्राशयेत्—का०)

'माषमधुरकुलथोद्वालकवजं निर्वापणीयम्'—शं० ध० १३२

'निलमुद्गमाषयवगोधूमादीनां सस्यमुष्टिग्रहेषु न दोषः पथिकानाम्'—शं० ध० १४६

१. शौ०—२१२५३ (देखें वनस्पति)

२. पा० बा०—८४६;

३. वि० ध०—७९१७

४. कौ० सू० (प०)—८२१६

५. ऋ०—११६११८; काठ०—१९११०; क०—३०१८; ३१३१; शौ०—२३११-५; पै०—१०३२१२; २०३३६; शं०—६४३१७; ६६४१३; ६६४२१५; १६; ६७१११६; ५११२१८ ३२११३; १४११३१५; १४२१११६; जै० ब्रा०—११९; ऐ० ब्रा०—८५; शा० ब्रा०—१८७; गो०—२४६; तै० ब्रा०—३८१११; तै० आ०—५४४; जै० उ० ब्रा०—३११५२; क० उ०—२३११७; का० श्रौ०—२७११; ७३२२; १३२१९; १६२४३; १६३६; १६४३१; १७११९; २६२४७; १०; २६३३३; २६५१६; हिं० श्रौ०—७११२; १११३४; ११३३; २५; ६; १४११२०; २४११२०; २४२३; ४; २६; वौ० श्रौ०—२१२; ६१०; ९५; १३; १०१; १२; द्रा० श्रौ०—१०४१; ३; आप० श्रौ०—२२५०; १०३२९; १०१०१३; वा० श्रौ०—२४१११४; मा० गृ०—१११८; ११११८; १२२४७;

बा० गृ०—५११४; ६७; आ० गृ०—४१०१११; खा० गृ०—२१४२०; वो० गृ०—
 २१५११३; जै० गृ०—१११२; हि० गृ०—१११११४; आ० गृ०—११११११; पा० गृ०—
 २१५१२१; काठ० गृ०—११११६; ३१११४; ४१११२; गो० गृ०—२१०१८—१२; हि० श्री०—
 २६११६५; ६७; २१११३२; आप० ध०—१११२३३; ३५; ११७२११; बौ० ध०—
 ११३११४; वि० ध०—२७११८; गौ० ध०—११५; वा० ध०—१११५८; कौ० सू०—११४२८;
 २१११४; २५१६; २६१२; ३२; ३२३३; ३३११; २; ४६१२६; अ० प०—२८११३; ४०३१२;
 ऋ० प्रा०—८३२; पा०—३११११७; पा० ग०—४१११९९
 पा० म०—१११७१; ४२११२४;

Ved. ind. ii-165

‘मुञ्जवाणाम पर्वतः सोमोत्पत्तिस्थानम् । तत् आहृतत्वात् तेन मुञ्जतृणेन शोधितं
 अपगततृणमित्यर्थः ।’—ऋ० ११६११८ (सा०)

‘शरासः कुशरासः दर्भासः सैर्या उत । मौञ्जा अदृष्टा वैरिणाः सर्वे साकं न्यलिप्सत ॥’
 —ऋ० ११९११३

‘मौञ्जाः मुञ्जाः प्रसिद्धाः’ (सा०)

‘ऊर्गं वै मुञ्जाः ऊर्जेन परिगृह्णाति’—काठ० १९१११; तै० ५१११५;

‘संबत्सरेणैव मौञ्जं भवति’—तै० ५१११०५

‘यथा थां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।

एवा रोगं चास्त्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥’—शौ० ११२४

‘रोगः ज्वरातीसारादिरूपः’ ‘आस्त्रावो मूत्रातीसारः’—सा०

‘नि मुञ्जेषु यद् उदकं नि नडेषु यद् अन्तरम् ।

यत् समुद्रे यत् सिन्धौ तेनार्णि शमयानसि ॥—पै० ९१११२

‘अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत् । स मुञ्जं प्राविशत् । तस्मात् स सुषिरः, तस्माद्देवाभ्यन्तरतो
 धूमरक्त इव ।’—श० ६३११२६

‘यज्ञिया हि मुञ्जाः’—श० १२८३३६

‘अथ मौञ्जेन वेदेनोपमाष्टि ।’—श० १४११११६

(असावेव खलु वेदः बन्धुः छिन्नस्य यज्ञशिरसो बन्धकः—सा०)

१. यहाँ सायण की व्याख्या युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती । ‘अस्त्राव’ से रक्तस्त्राव का ग्रहण उचित है क्योंकि मुञ्ज पित्तशामक होने के कारण उसमें आमकर होगा । मूत्र पर तो उसका वर्षक प्रभाव होता है ऐसी स्थिति में मूत्रातिसार में उसका प्रयोग कैसे होगा ? संभवतः ‘रोग’ और ‘आस्त्राव’ ये दो शब्द क्रमशः निज और आगन्तु रोगों के वाचक हैं । सायण की निम्नांकित टिप्पणी से प्रतीत होता है कि वह इन शब्दों से युक्तिव्यपाश्रय और दैवव्यपाश्रय का ग्रहण करना चाहते थे :—“यद्यपि अत्र रोगशब्देन व्याधिसामान्यवाचिना आस्त्रावोऽपि गृहीतः तथापि एतन्मन्त्रसाध्या क्रिया आस्त्रावस्य विशेषतो निवर्त्तिकेति दर्शितुं आस्त्रावस्य पृथगभिधानम्”

मुतव]

(११९)

[मुस्ता

मुतव^१—कुश के अभाव में इसे छोड़ कर अन्य द्रव्यों को लेने का विधान है ।

मुद्ग^२—सीमन्तोन्नयन में इसका विधान है (देखें तिल) शा० आ० (१२।८) में मुद्गोदन का उल्लेख है ।

मुलाली^३—सायण ने इसे 'मृणाली' कहा है किन्तु यह कोई स्वतन्त्र वनस्पति प्रतीत होती है ।

मुसल^४—

मुस्ता^५—मुस्ता के फाण्ट का उल्लेख है । अथर्वपरिशिष्ट में वशीकरण में इसका प्रयोग है ।

'मौञ्जास्तन्तवः'—का० श्रौ० १३।२।१९

'मुञ्जाभावे दार्भम्'—द्रा० श्रौ० १०।४।३

'शरमयी मौञ्जी वा मेखला त्रिवृत्'—आप० श्रौ० १०।३।२९

'मुञ्जो विमुच्यत इषीकया'—या० ९।८

'अदो यदवधावस्यवत् कमधि पर्वतात् । तत् ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥
आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते । तेषामसि त्वमुत्तममनास्त्रावमरोगणम् ॥
नीचैः खनन्त्यसुराः अरुत्त्राणमिदं महत् । तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥
उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् । तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥
अरुत्त्राणमिदं महत् पृथिव्या अभ्युद्भूतम् । तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥'

—शौ० २।३।१-५

'आस्त्रवन्तीति आस्त्रावा अतिसारातिमूत्रनाडीघ्रणादयः'—सा०

'अरुः स्त्रायति पक्कं भवति उपशमनोन्मुखं भवति अनेनेति अरुत्त्राणम् ।'—सा०

१. गो० गृ०—१।५।१८; जै० गृ०—१।१

२. तै०—४।७।४२; का०—१९।४।४; सा०—१८।१२; काठ०—१८।९; क०—२८।९;

जै० गृ०—१।७; पा० गृ०—१।१।५।४; वि० घ०—८०।१; शं० लि० घ०—१४६;

'मुद्गाश्च मे'—मै० २।१।१४; पा०—४।४।२५; पा० स०—४।३।१५४ (शालीन् मुंके मुद्गैः)
४।३।१६६ (फलपाकशुषाम्); ५।१।३७; ५।१।९० (मुद्गा अपि हि षष्टिरात्रेण पच्यन्ते)

३. पै०—६।२।८

'आण्डीकं कुमुदं सं तनोति विसं शालूकं शफको मुलाली'—शौ० ४।३।४५

'मुलालीति मृणाली विवक्षिता'—सा०

Ved. Ind.—ii-168 (Some Part of an edible lotus)

४. 'मौसलाः परिधयः'—आ० श्रौ० (उ०) ३।७

५. अ० पृ०—३।२।९-११; हि० श्रौ०—१।४।३।२३;

'मौस्तफाण्टेन (कृतेन) परिवृत्की'—वा० श्रौ० ३।४।३।४४

मूर्वा]

(१२०)

[यव

मूर्वा^१—इसकी मेखला बनती थी ।मूलक^२—मूलशत^३—मूलविधि में इसका उल्लेख है ।मूलोदक^४—मृद्वीका^५—श्राद्ध में दातव्य अन्य फलों के साथ इसका उल्लेख है ।मेतिका^६—कौशिकसूत्र में 'रजनी' शब्द से इसका ग्रहण किया गया है । शिवत्र में इसका प्रयोग है ।मेषशृंगी^७—इसकी फली के कोश का उल्लेख है ।मोचक^८—इसका दन्तधावन निषिद्ध है ।यव^९—यह एक धान्य है जिसका वर्णन अत्यन्त प्राचीन काल से उपलब्ध होता है ।

१. 'मौलीज्यामौर्वीसौत्र्यो मेखलाः क्रमेण'—गौ० ध० ११५, भा० गृ० ११२

'मौर्वी क्षत्रियाय धनुर्ज्या वा'—कौ० सू० ५७१२

२. 'पलाण्डवादीन् निर्यासं श्वेतवृन्ताकं सुनिषण्णकं श्लेष्मातकं वृज्जकं चित्रकं शिग्रं भृश्वृणं कोविदारं मूलकं च वर्जयति ।'—वै० ध० ३१५८; पा० ग०—२१४३ ।

'मूलकेनोपदंशं भुंक्ते'—पा० म० ४११४८

३. पा० गृ०—११२१

४. आप० ध०—११११३७ (मूलोदकसंज्ञो वृक्षस्तस्य त्वचा ग्रथिता—वृ०)

५. पा० उ० भो०—२१२०, शं० लि० ध०—२२०

६. कौ० सू०—२६१२२

७. कौ० सू०—२८१९; ११

८. वि० ध०—६११५

९. ऋ०—११२१५; १६६३; १११७२१; ११३५८; ११७६१२; २१५६; २१४१११;

५८५३; ७३४; ८२३; ८२२६; ८६३९; ८७८१०; तै०—६२१०३; ६४१०५;

७२१०२; मा०—५२६; १८१२; २३३०; मै०—४२; काठ०—१५१०;

शौ०—८७२०; ११६ (सा०) ११८१५; १२११४२; १११२२; १६१४; २७ (सा०)

२८३; ६३०१; ६५०१२; ६९१११; ६१४०२ ६१४२१—३ पै०—१८११—८;

१९११—६; १६१४८; ज्ञ०—१११४२०; २५२२१; ३६११९; १०; धाराः१११; १२७२१९;

तै० ब्रा०—१८४१; शां० ब्रा०—४१२; द्वा० उ०—३११३; हि० श्रौ०—११६४७;

१५५२४; २३११६—८; १६; २५; बौ० श्रौ०—३१२; ५११; आप० श्रौ०—६८२९२—३;

यव]

(१२१)

[यव

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर इसका निर्देश है जहाँ संभवतः यह सामान्य धान्य वाचक है । अथर्ववेद में यव के मणिधारण का विधान है जो अनेक रोगों को दूर

६।८।३१।१४; वा० श्रौ०—३।२।७।६३; आ० श्रौ०—२।९; गो० गृ०—१।५।१९; १।७।२;
१।१०।१०; २।७।६८; २।९।६; काठ०आ०गृ०—१।६।४; २।३।३; ५।६।१९; श्रा०गृ०—१।३।१०;
१।२।४।३; १।२।८।६; ३।१।३; ४।४।९; आ० गृ०—१।१०।७; १।१।१३; ३।१।३।२; १।१।७।२;
२।५।१५; २।८।१५; २।९।७; ४।९।७; कौ० गृ०—३।१।२-४; ४.१।१; हिं० गृ०—२०।१।६;
जै० गृ०—१।५; ८; १।१; २४; बौ० गृ०—१।२।२६; १।१०।७; ८; स्वा० गृ०—२।२।३३-३४;
४।१।१०; आप० गृ०—३।९।५-८; वा० गृ०—१।४।६; मा० गृ०—१।१।१।२; २।१।५;
२।३।१०; बौ० पि०—१।१।७।२; १।२।१।१;
वि० ध०—१।३।२-४; ५।१।३५; ५९।७; ८०।१; गौ० ध०—१।९।१३; बौ० ध०—३।५।४;
३।९।१७; ४।५।२३; २५; ३।६।४-१०; श्रा० लि० ध०—१।६; १।४६; वै० ध०—१।७।५;
आप० ध०—२।७।१६।२२; हिं० श्रौ०—२।७।२।१७; २।८।४।१९; २९।१।७९; २९।३।१९;
कौ० सू०—७।५; ८।१६; २०; १।२; २।२।११; १२; २।५।१७; २।६।३५; २।८।१७-२०; ३।३।७;
३।५।४; ४।३।६; ५।८।१९; ७।८।१६; ७।९।१४; ८।२।१७; ८।४।३; अ० प०—५।५।६; १।२।१।३-६;
१।७।१।३-४; २।१।२।२; ४; २।३।७।२; ३।०।३।१; ३।०।४।२-३; ३।१।२।१; ७०।१।६-९; ७०।४।४;
के० प०—२।६।३३-४० (यवमणि); २।६।४३ (यवबुस)
क० प्र०—१।९।१०; २।२।२; या०—६।२६; ऋ० तं०—५।२।४;

पा०—४।३।४८; १४९; ५।१।७; ५।२।३; ६।२।७८; पा० वा०—४।१।४९

‘दीर्घशूको धान्यविशेषः’—सा० (श्रौ० ६।३।०१) ६।९।११

‘अश्वत्थो दभो वीरुधां सोमो राजाऽमृतं हविः ब्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्यौ ॥
श्रा०—८।७।२०

‘यो वै कशायाः सप्त मधुनि वेद मधुमान् भवति ।

ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानङ्गश्च ब्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥—श्रौ० ९।१।२२

‘पञ्च राजानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः । दभो भंगो यवः महस्तेनो मुञ्चन्वंहसः ॥

—श्रौ० ११।८।१५

‘यस्यामज्ञं ब्रीहियवौ’—श्रौ० १२।१।४२

‘यवोऽन्यान् हन्त्योषधिः । यवैद् यावयद् गोरश्चात् पुरुषात् विषम् । पै०—९।८।३

‘यवो राजा यवो भिषक् यवस्य महिमा महान् । यवस्य मन्थं पपिवान् इन्द्रश्चकार वीर्यम् ॥—पै० ९।८।४

‘शिवो तेऽस्तां ब्रीहियवौ अबलासौ अदो मधौ । एतौ यच्च विबाधेते एतौ मुञ्चतो मांहसः ॥—पै० १६।४।८

‘यद्युवत् तस्माद् यवा नाम’.....‘यः सर्वासामोषधीनां रसः आसीत् तं यवेषु अदधुः तस्माद् यत्रान्या ओषधयो श्लायन्ति तदेते मोदमाना वर्धन्ते ।’—श्रा० ३।६।१।९-१०
यवोऽसि धान्यराजाऽसि वारुणो मधुसंयुतः । निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रं ऋषिभिः स्मृतम् ॥—बौ० ध० ३।६।४-१०

यवक]

(१२२)

[यवस

करता है। ब्रीहि और यव अमृत दिव्य भेषज कहे गये हैं। सप्त मधुओं में इसकी गणना है। यह पाच उत्तम वीरुधों में परिगणित है। धान्यों में ब्रीहि और यव श्रेष्ठ कहे गये हैं। यव विष्वन्, बल्य तथा यक्षमनाशन है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रीहि, गोधूम आदि के साथ ग्राम्य तथा आरण्य अन्न में इसकी गणना है। यज्ञ में इसके सक्तु का विधान है। वसन्त में यव से आग्रयण होता है। सीमन्तोन्नयन, पुंसवन से लेकर अन्त्येष्टि तक सभी संस्कारों में यव आवश्यक है। सीमन्तोन्नयन में यवप्रसून का विधान है। यव से अनेक आहारकल्प, यावक, यवागू, मन्य, सक्तु, यवौदन, पायस आदि बनाने का उल्लेख है। विष्णुधर्मसूत्र में वत्सनाभविष में सात यव घी में मिलाकर लेने का विधान है। कौशिकसूत्र में इसकी गणना शान्त ओषधियों तथा मिश्र धान्यों में है।

सूत्रसंग में यव का प्रयोग विहित है। यवमणि का बन्धन तक्मनाशन गण तथा सर्वभैषज्य में निर्दिष्ट है। अथर्वपरिशिष्ट में यव से आदित्यमण्डक बनाने का विधान है।

यवक'—

यवस'—यह वन में होनेवाली यवसदृश वनस्पति है जो पशुओं के चोर के रूप में प्रयुक्त हुई है।

'पर्वण्याग्रयणं कुर्वीत वसन्ते यवानां शरदि ब्रीहीणाम्'—मा० गृ० २३।१०

'कलौ मांसाशनप्रतिषेधाद् यवौदनमेव श्रेयः'—हि० श्रौ० (वृ०) २८।४।१९

'पुंसवनं तृतीये मासि अन्त्येष्टि गृष्टेष्टते चरुं श्रपयित्वा.....' जुहुयात्, माषौ यवं च पुल्लिङ्गं कृत्वा दधिद्रव्येनैनां प्राशयेत्—जै० गृ० १।५

'अण्डरूपेण माषौ शिखरूपेण यवस्'—आ० गृ० (वृ०) १।१३।२-४

'आण्डौ स्थ इत्यभितो यवं सर्पपौ धान्यमाषौ वा'—हि० गृ० २०।१।६

'ब्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि—कौ० सू० ८।२०

'अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः। यवयावानो देवाः यावयन्त्वेनम् ॥—शौ० १।२।१३

'उशीनरवत् मद्गेषु यवाः'—पा० म० १।१।५६; ६।३।३४

'औलखलो यावकः इति... न च यावक उल्लखलादेवापकृष्याभ्यवहिते।

अवश्यं रन्वनादीनि प्रतीच्याणि।'—पा० म० ४।३।३५

'लुप् प्रकरणे फलपाकशुषामुपसंख्यानं कर्तव्यम्, ब्रीहयः यवा माषा मुदगाः तिला।

—पा० म० ४।३।१६६

इसके अतिरिक्त, पा० म०—४।१।४९; ५।२।४; ६।१।१३; १।४।५६; २।१।१७

Ved. ind. ii—187.

१. पा०—५।२।३

२. ऋ०—१।३।८।५; १।९।१।३; ३।४।३; ४।१।१०; ४।४।२।५; ७।१।८।१०; ७।८।७।२; ७।९।१।५;

७।१०।२।१; मा०—२।१।४३;

यवाप]

(१२३)

[रज्जुदाल

यवाप^१—

रक्तचन्दन —

रक्तशालि^२—

रजनी^३—किलास, पलित आदि में रंगने के लिए इसका प्रयोग विहित है। कौशिक-सूत्र की व्याख्या में दारिल ने इससे मेथिका का ग्रहण किया है। केशव ने पद्धति में हरिद्रा लिया है। अथर्ववेदीय सूक्त में 'नक्तं जाता' विशेषण हरिद्रा का है इस सम्बन्ध में सायण निश्चित नहीं हैं। (देखें हरिद्रा)

रज्जुदाल^४—यज्ञ में इसका यूप बनता था। टीकाकारों ने इसका अर्थ श्लेष्मातक किया है। यह श्लेष्मल तथा पिच्छिल द्रव्य है। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार इसके फल शिश्नवत् होते हैं तथा श्लेष्मा शुक्रवत्। ताण्ड्य ब्राह्मण (२१।४।१३) में 'निचुदार' पाठ है। इसका अर्थ भी श्लेष्मातक किया गया है। वस्तुतः रज्जुदाल श्लेष्मातक से भिन्न है।

श०—४१।४।१०; ८।७।३।१२; तै० ब्रा०—२।४।५।५; तै० आ०—१।२९।१;

'यवसानामारम्भे वर्त्तमानानां तृणानाम्'—सा० (ऋ० १।९४।११)

हि० श्रौ०—१।४।२।१; आ० गृ०—२।४।८; गौ० ध०—१।७।३;

१. क०—४६।४; काठ०—३०।१

पा० ग०—४।२।८०; ४।३।१४१; ५।२।१३५;

तौ अविताभिन्द्रो वा इति। तौ प्रापताम्। तयोर्थाः प्रोक्षणीरापः आसंस्ताभिरनु-
विस्त्र्य शीर्षे अच्छिन्तत्। तौ वृषश्च यवास्त्राभवताम्। तस्मात्तौ वर्षेषु शुण्यतः।
अद्रिर्हि हतौ।—काठ०—३०।१

२. आग्नि० गृ०—२।४।११।१८;

३. अ० प०—१।४।३।६

४. शौ०—१।२३।१-५; २०।१२।५।२; तै० ब्रा०—३।४।७।१; बौ० ध०—२।२।१७;

कौ० सू०—२६।२२; पा०—४।१।४१

नक्तं जातास्योपधे रामे कृष्णे अस्मिन्नि च। इदं रजनि रजय क्रिलासं पलितं च यत् ॥'
—शौ० १।२३।१

'रजयति स्वसंसृष्टं वस्त्रादिकं अर्थम् इति रजनी'—सा०

'कौशिकेले रजनि ग्रन्थेर्धनिमुपानहि पादस'—शौ० २०।१३।५।२

'प्रक्रामाय रजयित्रीम्'—तै० ब्रा० ३।४।७।१; 'वस्त्रेषु रज्जनकारिणीम्'—सा०

५. श०—१।३।४।५; ६; तै० ब्रा०—३।८।१९।१; ३।८।२०।१; जै० ब्रा०—२।२।७४; का०

श्रौ०—२०।४।१७; हि० श्रौ०—१।४।२।३८; बौ० श्रौ०—१।५।१४; वा० श्रौ०—३।४।१।५४-५५;

'प्रजापतेः प्राणेषूक्तान्तेषु शरीरं रजयितुमधियत। तस्य यः श्लेष्मासीत् स सार्धं समबद्रुत्य मध्यतो नस्त उदभिनत्। स एष वनस्पतिरभवत् रज्जुदालः। तस्मात् स

रथबन्धुर]

(१२४)

[रामा

रथबन्धुर^१—राजक्षपणी (राजपर्णी)^२—इमशान से उद्धरणीय ओषधियों में परिगणित है ।राजमाष^३—निषिद्ध द्रव्यों में पठित है ।राजवृक्ष^४—इसका मूल निषिद्ध तथा समिधा वर्ज्य कही गई है । इमशानायतन से उद्धरणीय ओषधियों में कर्णिकार आदि के साथ पठित है ।राजवृक्षपर्णी^५—राजिका^६—(देखें आसुरी)रामठ^७—

रामा^८—सायण ने इससे भृङ्गराज का ग्रहण किया है । यह अन्य ओषधियों के साथ श्वित्र और पलित में प्रयुक्त होती है । इसके प्रयोग का विधान यह है कि मूखे उपले से श्वित्रप्रदेश को रगड़े जब रक्त आने लगे तब भृङ्गराज, हरिद्रा, इन्द्र-वारुणी तथा नीलिका को पीसकर लेप करे । पलित में पके वालों को हटा कर लेप करे । गरुड़ के पित्त से इसकी उत्पत्ति बताई गई है । इससे इसके पैत्तिक स्वरूप (उष्णवीर्य) का संकेत मिलता है ।

श्लेष्मणः श्लेष्मणो हि समभवत् । तेनैवैनं तद्रूपेण समर्पयति । तद्यत् सोऽग्निष्टो भवति’—श० १३।१४।५; ६

‘श्लेष्मातको राज्जुदालः’—सा० (तै० ब्रा०—३।८।१९।१)

‘प्रजापतिर्वा एष वृक्षाणां यत् राज्जुदालः । तस्य यानि फलानि शिरनान्येव तानि, अथ यः श्लेष्मा रेत एव तत् !’—जै० ब्रा० २।२७४

‘रज्जुदालः श्लेष्मातकः गूँडी’ इति लोके प्रसिद्धः—का० श्रौ० (टि०) २०।१।१७

१. ‘दर्भः शोचिस्तृणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः । रथस्य बन्धुरम्’—शौ० १०।१।२

२. आग्नि० गृ०—३।५।५७; बौ० पि०—१।६।२

३. वि० ध०—७९।१८; पा० म०—५।१।२०

४. जै० गृ०—१।१; पा० गृ०—१।१; गो० गृ०—१।५।१५

‘पुरस्तादेव इमशानायतनात् ओषधीरुद्धारयति—पाठापृथिनपर्णीकर्णिकारराजवृक्ष-कण्टकतिलकविभीतकार्कशरश्वदंष्ट्राध्यण्डा अन्याश्च क्षीरिणीरनुत्तव्याः ।’

—हि० श्रौ० २५।१।४;

५. बौ० पि०—१।४।७

६. अ० प०—३।५।१६-१२

७. पा० उ०—१।१०।१

८. पै०—१।१६।१

रास्ना]

(१२५)

[रोहिण

रास्ना—यह मेखला के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है ।

रूप^२—पुष्पवर्ग की ओपधि है ।

रोष्य^३—यह गर्भहृण कहा गया है ।

रोषणाका^४—सायण ने इसे काष्ठशुक्राख्य पक्षिविशेष माना है किन्तु केशव इससे एक वनस्पति लेते हैं ।

रोहिणी—सायण ने इसे लाक्षा माना है । यह संधानीय तथा रोपण है । (देखें लाक्षा)

रोहितक^५—यह यूष्य वृक्षों में है; यज्ञ में इसका यूप बनाया जाता था । उपनयन में इसके दण्ड का भी विधान है ।

रोहिण —इसका हवन किया जाता था तथा इसके पिष्ट का लेप विहित है ।

नक्तं जानास्योपधे रामे कृष्णे असिक्वि च ।

इदं रजनि रज्य किलासं पलितं च यत् ॥

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।

आ त्वा स्वे विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ।

असिक्न्यस्योपधे निरितो नाशया पृषत् ॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।

दूध्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म रवेतमनीनशम् ॥—शौ० १२३१५-४

'व्याधितो जन अनया ओपध्या रमते इति रामा भृङ्गराजाख्या ओपधिः'—सा०

१. शौ०—१३११५५; का० ब्रा०—२१२४१२; तै० ब्रा०—२१२४१०; तै० आ०—४१२६;

२. 'शुक्लाः सुमनसस्तासामलाभे जपारूपकाकुत्थामण्डीकुरङ्गकवर्जं गन्धवत्यो वा'

—जै० गृ० ११३

३. कौ० सू०—३५२११;

४. कौ० सू०—२६१२०; ऋ०—१५०११२; शौ०—१२२४४; तै० ब्रा०—१५६१२२

Ved. ind. ii-227

५. शौ०—४१२१५-७; पै०—४१५१५-७; कौ० सू०—२८५५; अ० अ०—४१२

६. 'यत्र चमसं न्यौञ्जत्तो रोहितकोऽजायत तस्माद्रौहीतकः'—मै० ३११३; पै०—

१५१३; जै० ब्रा० (लोहितक)—१५९; का० श्रौ०—६११९; हि० श्रौ०—४११२;

बा० श्रौ०—१६११५; १२११३०; आप० श्रौ०—१२१३०; ७११११५-१६; बौ० गृ०—

२५११७; पा० गृ०—१२१; या० गृ०—२६१४; पा० ग०—४३११५२; ४११११२;

७. हि० श्रौ०—२४६१२; बौ० श्रौ०—१५; १०; १३; शां० श्रौ०—१२१६११

लकुच]

(१२६)

[लाक्षा

लकुच^१—लक्ष्मणा^२—मूलविधि-प्रकरण में इसका उल्लेख है ।लघुकण्टवारिका^३—लवङ्ग^४—लवणी^५—लशुन^६—लाक्षा^७—व्रणरोपण तथा अस्थि आदि के सन्धान के लिए प्रयुक्त है । प्लक्ष, न्यग्रोध

सु०—१३५; १४३; आ० ज्यो०—२१०

‘श्वो राज्ञः क्रय इत्युपकल्पयते’—रौहिणपिष्टानि—बौ० श्रौ० १५

‘अन्त्राणां रौहिणपिष्टलेपेन प्रध्वंसयति मज्जाम्’—हि० श्रौ० २४६१२

१. पा० उ० भो०—२१२७९

२. पा० गु०—११२१; शौ०—२१२५३

३. अ० प०—१८१११५१७

४. पा० उ०—१११२०

५. पा० ग०—४११४१

६. वा० ध०—१४३३; वै० ध०—२१५५; शं० लि० ध०—३४०; ४१८; सु० ध०—२१२२;

अ० प०—३६१७१—३;

७. शौ०—४१२११—७; ५५५१—९; पै०—६४४६; खि०—४७७; शं० लि० ध०—४०५;

कौ० सु०—२८१७; ३५२४; ३८१९; ७६१८; अ० प०—५०६५; ६५५७;

या० धि०—२१७; शौ० धृ०—८५१; अ० अ०—३२; पा०—४२२२;

पा० उ० भो०—२३१९९१; के० प०—२८१४

‘स्रष्टः पतति मांसेन लाक्ष्या लवणेन च’—वा० ध० २२७

रोहण्यसि रोहण्यस्थनश्चिह्नस्य रोहणी रोहयेदमरुन्धति ॥

यत्ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्टं त आत्मनि ।

धाता तद् भद्रथा पुनः सं दधत् परुषा परुः ॥

सं ते मज्जा मज्जा भवतु ससु ते परुषा परुः ।

सं ते मांसस्य विचरस्तं समस्थ्यपि रोहतु ॥

मज्जा मज्जा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु ।

असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥

लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम् ।

असृक् ते अस्थि रोहतु च्छिन्नं सं धेह्योषधे ॥

स उत् तिष्ठ प्र हि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः । प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥

यदि कर्त पतिस्वा संशश्चे यदि वाश्मा प्रहतो जघान ।

ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः ॥ —शौ० ४१२११—७

लिङ्गा]

(१२७)

[लोध्र

आदि वृक्षों से प्राप्त की जाती थी । यह रक्तवर्ण होती है । लाक्षाविक्रय निषिद्ध था । कौशिकसूत्र में सद्योव्रण में लाक्षाश्रुत क्षीर पीने का विधान है । यह रंगने के काम भी आती थी । केशवपद्धति (२८।४) में बल्लाघात, रक्तस्राव तथा अस्थिभग्न में लाक्षोदक से सिंचन का विधान है । (देखें अरुन्धन्ती और सिलाची)

लिङ्गा—सर्पविष में इसे पिलाने का विधान है (कौ० सू० २९।१५)

लिवुजा^१—

लोकेशी^२—(देखें आसुरी)

लोध्र^३—ऋग्वेद में 'लोध्र' शब्द है जिसका अर्थ टीकाकारों ने 'रक्तवर्ण' किया है । संभवतः इसकी छाल रक्ताभ होने के कारण इसकी संज्ञा 'लोध्र' हुई हो ।

रात्री माता नमः पितार्यमा ते पितामहः ।

सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वाहा ॥

यस्त्वा पिबति जोषति त्रायसे पुरुषं त्वम् ।

भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यंचनी ॥

वृत्तं वृत्तमारोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला । जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्पर्णी नाम वा असि ॥

यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुहंरसा कृतम् ।

तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पुरुषम् ॥

भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वात् खदिराद्वात् ।

भद्रान्न्यग्नोधात् पर्णात् सा न पृह्यन्वति ॥

हिरण्यवर्णं सुभगे सूर्यवर्णं वपुष्टमे । स्तं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि ।

हिरण्यवर्णं सुभगे शुष्मे लोमशवच्छणे । अपामसि स्वासा लाचे वातो हात्मा बभूव ते ॥

सिलाची नाम कानीनोऽजयभ्रु पिता तव ।

अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्तास्सुचिता ॥

अश्वस्यास्नः संपतिता सा वृक्षां अभि सिष्यदे ।

सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न पृह्यन्वति ॥ —शौ० ५।५।१-९

१. ऋ०—१०।१०।१३-१४; शौ०—६।८।१; १।८।१।१५-१६; गं०—१।१३।११; १२;

जै० ब्रा०—७६; कौ० सू०—३।५।२१; दंवि०—२।२

'लिवुजा व्रततिर्भवति, लीयते विभजन्तीति'—या० ६।२८

'यथा ताम्बूलादिवल्ली'—आश्लिष्यति'—सा० (शौ० ६।८।१)

'लेपेन उपचयेन जाता लिव्जा'—सा० (तां० १।१।३।११)

२. अ० प०—३।५।१-७;

३. पा० उ० भो०—२।३।२९

Ved. ind. —ii—283.

लोहिततूल]

(१२८)

[वया

लोहिततूल^१—यह अर्जुन नामक वृण का एक भेद माना गया है ।लोहितवृक्ष^२—वकुल^३—वङ्ग^४—शान्तवृक्षों में इसकी गणना की गई है ।वचा^५—यह स्मरणशक्ति तथा वाक्शक्ति को बढ़ाने वाली है । कौशिकसूत्र में दारिल ने इसका अर्थ वासा दिया है ।वज्जुल^६—वट^७—इसका दन्तधावन विहित है ।वधक^८—वन्दना^९—

वपा—(कौ० सू० ८।१६) यह शान्त ओषधियों में परिगणित है ।

१. 'हन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यो नस्तः सोमः समधावत्तानि बभ्रुतूलान्यर्जुनानि यो वपाया उत्विन्नायास्तानि लोहिततूलानि'—तां० ९।५।७

२. पै०—२०।५१।८

३. पा० उ० भो०—२।३।११०

४. कौ० सू०—८।१५; (शरवङ्गौ हिमवति प्रसिद्धौ—दा०; कन्यकुब्जे प्रसिद्धः (के०)

५. अ० प०—१।४४।१०; ५।१।५;

'वचामेतेन कल्पेन वाचो व्रतेन पूर्वेण प्राशनीयाच्छ्रुतनिगादी भवति ।' मत्स्याक्षक शंखपुष्पीवचारकेरटीघृतानि...पूतेनैव प्राशनीयाच्छ्रुतनिगादी भवति ।' वचायास्त्रिवृतं कारयेन् मणिं...तं मणिं कण्ठेन शिरसा वा धारयन् कथासु श्रेयान् भवति'

'वचां मधुकमित्येते आस्येऽवधाय अपां फेनेन...निगीर्य...परिषदि राजनि चोत्तरवादी भवत्युत्तरवादी भवति'—सा० २।७।१०-१३

६. पा० उ० भो०—२।३।११०; २।१२

७. शौ०—२०।१३।५३; पा० गृ०—१।१९; २।१; वि० ध०—४।३।३३; अ० प०—१।४३।१; २।५।१-५; पा० ग०—४।२।८०; ८६; पा०—६।२।८२; ५।१।१२१

८. 'ताजद्भंग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः'

'परुषानमून् परुषाद्धः कुशोऽनु हन्त्वेनान् वधको वधैः'—शौ० ८।८।३-४

९. ऋ०—७।५०।२; (वन्दनं पतवसंज्ञकं विषं विजामन् विविधजन्मनि परुषि वृक्षादीनां पर्वणि भुवत् उद्भवत्—सा०); शौ०—७।११।५।२; ७।१२०;

पै०—२०।१७।८; पा० वा०—३।३।१०७;

'वन्दना नाम लतानां वृक्षाणां चोपरि प्ररूढास्तदीयशाखां आवेष्टमानाः विचित्र-पर्णलतानिशेषाः'—सा० (शौ० ७।११।५।२)

वंश]

(१२९)

[वरण

वंश^१—इससे मकान छाये जाते थे । वन में उत्पन्न होने तथा शब्द करने से यह वंश कहलाता है । (देखें वेणु)

वरण^२—यह वल्य, रसायन, विषघ्न, रक्षोघ्न तथा यक्षमनाशन है । यज्ञ में इसकी परिधि तथा उलूखल, सुव, सुक् आदि पात्र बनते थे । राजयक्षा आदि में इसके मणिधारण का भी विधान है । यह शान्तवृक्षों में पठित है । वरणवृक्षों के आधिक्य से नदीविशेष की संज्ञा वरणावती हुई (शौ० ४।७।१) ।

१. ऋ०—१।१०।१; मै०—४।८।१०; तै०—१।६।१२।३; शौ०—३।१२।६; १।३।४;
पै०—१।६।३१।५; २०।२२।३; श्र०—१।१।२।२५; तै० ब्रा०—१।२।३।१; गो०—२।३।११;
शां० ब्रा०—१।१।४; २।४।७; शां० आ०—२।१०; ७।९; १०; ८।१; ९; चा० शौ०—१।४।१।६;
काठ० गृ०—१।१।२।२; आ० गृ०—२।८।१।३; पा० गृ०—१।२।१; बौ० पि०—२।६;
कौ० सू०—३।६।६; अ० प०—२।६।५।१-५; पा० ग०—५।१।५०; ६।३।१२०;
पा० म०—१।१।२ (वंशस्तम्ब); १४; ६।१।२०८

‘वंशो वनशयो भवति, वननाच्छ्रयत इति वा’—या० ५।५

२. मै०—१।६।७; शौ०—१०।३।१-२५; पै०—५।८।८; ११।६।१-१५; १।६।३।१-१०;
१।६।६।१-१०; १।६।५।१-४; तां०—५।३।९; १०; गो०—१।१।७; जै० ब्रा०—१२५;
श्र०—१।३।८।१।१; तै० आ० ६।९।२; छां०—२।२२।१; ३।८।१; ३; का० श्रौ०—१।३।३।७;
२।३।३।०; २।१।४।२।७; हिं० श्रौ०—१।४।१।२; चा० श्रौ०—१।२।४।३;
हिं० श्रौ०—२१।१।७।७; ४१; कौ० गृ०—५।८।४; बो० पि०—१।१।७।२; १।२।१।१;
कौ० सू०—८।१।५; १।२।२; २।६।३।७; ८।५।१।३; अ० प०—३।२।१।७; २४;
या०—१०।३; पा०—४।२।८।२; के० प०—२।६।३।३।४०; १।२।२-२३;

‘वरणा नाम वृक्षविशेषः’—सा० (शौ० ४।७।१)

“वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः । यचमो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥
इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च । देवानां सर्वेषां वाचा यचमं ते वारयामहे ॥
यथा वृत्र इमं आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः । एवाते अग्निना यचमं वैश्वानरेण वारये ॥
—शौ० ६।८।५।१-३

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा । तेना रभस्व त्वं शत्रून्प्र मृणीहि दुरस्यतः ॥
प्रेणान्छणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरं एता पुरस्तात् ।

अवारयन्त वरणेन देवा अस्याचारमसुराणां श्वः श्वः ॥

अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः ।

स ते शत्रून्धरान्पादयाति पूर्वस्तान्दमनुहि ये त्वा द्विपन्ति ॥

अयं ते कृत्यां विततां पौरुषेयादयं भयात् । अयं त्वा सर्वस्मात्पापाद्धारणो वारयिष्यते ॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः । यचमो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यदि धावादजुष्टाम् ।

परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥

६ द्र० च०

अरात्यास्त्वा निर्हत्या अभिचारादथो भयात् । मृत्योरोजीयसो वधाद्वरणो वारयिष्यते ॥

यन्मे माता यन्मे पिता आतरो यच्च मे स्वा यदेनश्चक्रमा वयम् ।

ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥

वरणेन प्रव्यथिता आतृष्या मे सधन्धवः । असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्वधमं तमः ॥

अरिष्टोऽहमरिष्टगुणायुष्मान्सर्वपूरुष । तं मायं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः ॥

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ।

स मे शत्रून्वि वाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥

ह्रमं बिभर्मि वरणमायुष्माज्जुतशारदः । स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशून्वो जश मे दधत् ॥

यथा वातो वनस्पतीन्वृक्षान्भनक्त्योजसा ।

एवा सपत्नान्मे भङ्ग्धि पूर्वाज्जातां उतापरान्वरणस्वाभि रक्षतु ॥

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान्प्सातो वनस्पतीन् ।

एवा सपत्नान्मे प्साहि पूर्वाज्जातां उतापरान्वरणस्वाभि रक्षतु ॥

यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः क्षीरे न्यर्पिताः ।

एवा सपत्नांस्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्यर्पिय पूर्वाज्जातां उतापरान्वरणस्वाभि रक्षतु ॥

तांस्त्वं प्र च्छिन्द्वि वरण पुरा दिष्टापुरायुषः ।

य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन्तेज आहितम् ।

एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुत्तु यशसा समनक्तु मा ॥

यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि ।

एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुत्तु यशसा समनक्तु मा ॥

यथा यशः द्युधिष्यां यथास्मिन्जानवेदसि ।

एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुत्तु यशसा समनक्तु मा ॥

यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्संभृते रथे ।

एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुत्तु यशसा समनक्तु मा ॥

यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः ।

एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं मेतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुत्तु यशसा समनक्तु मा ॥

यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः ।

एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुत्तु यशसा समनक्तु मा ॥

यथा यशो यजमाने यथास्मिन्यज्ञ आहितम् ।

एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुत्तु यशसा समनक्तु मा ॥

यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन्परमेष्ठिनि ।

एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुत्तु यशसा समनक्तु मा ॥

यथा देवेस्वमृतं यथेषु सत्यमाहितम् । एवा मे वरणो मणिः --- शौ० १०।१।१-२५

वर्षाभू]

(१३१)

[वालदुच्छ

वर्षाभू^१—‘वर्षाहू’^२ तथा ‘वर्षाह्वा’^३ शब्द भी आते हैं ।वराण^४—(देखें वीरण)वलीक^५—हृद्रोग, जलोदर तथा कामला में मधूदक में वलीकतृणों को मिलाकर इससे अवसिचन का विधान है ।वल्मीक^६—यह शान्त ओषधियों में परिगणित है ।वसुक^७—वाघातक^८—वातीकृतभेषजी^९—यह पिप्पली का पर्याय है ।वातीकृतनाशनी^{१०}—यह विषाणका के विशेषण रूप में है ।वार्त्ताकु^{११}—वर्जित शाकों में परिगणित है ।वालदुच्छ^{१२}—यह कोई गन्धयुक्त ओषधिविशेष है ।

१. पा०—६।४।८४; पा० म०—६।४।८४ (वर्षासु भवति, वर्षा वा भवते प्राप्नोतीति वर्षाभूरोषधिविशेषः—प्रदीप; ओषधिविशेषः, भेके तु ह्रस्वान्तः—उद्योत) आग्नि० गृ०—२।५।१०३; ११

२. मै०—३।१४।१९; मा०—२४।३८; बौ० औ०—१३।३७ (वर्षाहूस्तम्बम्); हि० औ०—(वर्षाहु)—२२।६।१८ (उत्कटे वर्षाहूस्तम्बं प्रतिष्ठाप्योन्नमय्य पृथिवीमिति वर्षाह्वां जुहोति) ‘वर्षाहुः पुनर्नवा’...व्या० Ved. ind. ii—517

३. ‘वर्षाह्वां जुहोत्येषा वा ओषधीनां वृष्टिवनिः’—तै० २।४।१०३;

४. पा० ग०—४।२।८०

५. के० प०—३०।१३ (मधूदके वलीकतृणानि प्रक्षिप्य.....व्याधितमवसिञ्चति) ‘क्षवन्ति वलीकान्युदकम्’—पा० म० ३।१।८७

६. कौ० सू०—८।१६

७. बौ० औ०—१४।२०।११; वैता० औ०—२६।१४; द्रा० औ०—१।५।३८; ला० औ०—५।१।१८

८. आ० औ० (उ०) ३।७ (वाघातकश्च वृचविशेषः—वृ०)

९. वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम्—शौ० ६।१०९।३

१०. विषाणका नाम वा असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी—शौ० ६।४४।३ ‘वाती आम्नावस्य रोगस्य शोषयित्री कृतनाशिनी कृतं रोगस्य निदानभूतं दुष्कर्म तस्य नाशयित्री’—सा०

११. वि० ध०—७९।१७

१२. ‘वालदुच्छस्य गन्धेन हिरण्यवर्चसेन च’—पै० २०।२०।२

वासा]

(१३२)

[विकङ्कत(तिका)

वासा^१—यह शान्तवृक्षों में परिगणित है ।

वास्तूक^२—

विकङ्कत(तिका)^३—ऋग्वेद (१।१९२।१) में 'कंकत' शब्द आया है जिसका सायण ने अर्थ किया है 'अल्पविष' । यज्ञ में इसके यूप, विभिन्न पात्रों तथा समिधा का प्रयोग होता था । यह यज्ञिय वृक्षों में प्रमुख हैं । शतपथ ब्राह्मण में परिधि के उपादानवृक्षों के प्रकरण में लिखा है कि यह पलाश का हो, यदि यह न मिले तो विकङ्कत का हो, उसके अभाव में कार्मर्य का हो, यदि यह भी न हो तो बिल्व, खदिर या उदुम्बर का हो । ये वृक्ष यज्ञिय होते हैं । ये आर्द्र होने चाहिए ।

१. कौ० सू०—८।१६ (वृषकः—दा०); ३९।६ (आटरूषकः—दा०); पा० ग०—८।२।९;
पा० ड० ओ०—२।३।१६८

२. पा० उ० वृ०—४।४१;

३. मै०—३।१।९; तै०—३।५।७।३; काठ०—१९।१०; २१।९; २७।८; क०—३०।८;
शौ०—५।८।१; ११।१२।३; पै०—७।१।८।१; श०—१।३।३।२०; १।३।४।१; १।२।४।१०;
५।२।४।१८; १५; ६।६।३।१; ९।२।३।३९; १।४।१।२।५; १।४।१।३।२६; का० ब्रा०—१।२।४।७;
तै० ब्रा०—१।१।३।१२; १।२।१।७; तै० आ०—५।२।५; ५।४।९; का० श्रौ०—१।३।३२;
२।८।१; ५।४।१३; १।५।२।२; १।६।४।३६; २।६।१।४; २।६।२।१०; हिं० श्रौ०—१।४।१२;
३।३।६; ८।१।१; १।१।३।१५—१६; १।३।८।१५; २।४।१।३; २।४।२।५; २।४।३।३;
बौ० श्रौ०—२।७; १२; ९।१; ५; १९; १०।१२; आप० श्रौ०—१।२।३०; १।५।१०; ५।५।५;
६।१।३।६; वा० श्रौ०—१।२।४।२; १।४।४।२; १।५।२।१०; २।१।२।२४; कौ० गृ०—२।६।९;
हिं० गृ०—२०।३।१९; कौ० सू०—४।८।८; अ० प०—२३।२।५; २३।४।५; २३।६।५;
पा० ग०—४।२।८०; ४।३।१४१;

'वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह—शौ० ५।८।१

'सैषा प्रथमा आहुतिः यद् विकङ्कतः'—श० ६।६।३।१

'परिष्युपादानभूतान् वृक्षान् विधत्ते'—ते वै पालाशाः स्युः, ब्रह्म वै पलाशः ब्रह्माग्निः
अग्नयोहि; तस्मात् पालाशाः स्युः । यदि पालाशान् न विन्देत् अथो अपि वैकङ्कताः
स्युः । यदि वैकङ्कतान् न विन्देत्—अथो अपि कार्मर्यमयाः स्युः । यदि कार्मर्यमयान्
न विन्देत् अथो अपि वैष्वा स्युः । अथो खादिराः अथो औदुम्बराः । एते हि वृक्षा
यज्ञियाः । तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति । ते वा आर्द्राः स्युः । एतद् हि एषां जीवसु,
एतेन सतेजसः, एतेन वीर्यवन्तः तस्मादार्द्राः स्युः'—श० १।३।३।२०; १।३।४।१

'विकङ्कतः गोकर्णः'—भा० (आप० श्रौ० १।२।३०)

'पञ्च पञ्च नानावृक्षीयाः समिधोऽभ्यादधाति ... अश्वत्थश्चोदुम्बरश्च पर्णश्च शमी च
विकङ्कतश्चेत्येदन्नानुपन्य भवति'—बौ० श्रौ० २।७

विडङ्ग]

(१३३)

[विषाणका

विडङ्ग^१—वितन्त्री^२—विदारी^३—श्राद्ध में दातव्य द्रव्य में पठित है । पुंसवन कर्म में भी इसका प्रयोग है ।

विबाध—(देखें खदिर)

विभीतक(क)^४—(देखें बिभीतक)

केशवृद्धिकरण तथा केशपतन में विभीतक-काय से अवसिञ्चन का विधान है ।

विशफ^५—विश्लिष्टभेषज^६—विश्वभेषज(जी)^७—ऋग्वेद (१।२३।२०) में जल को विश्वभेषजी तथा बात (१।१३।७।३) को विश्वभेषज कहा गया है ।विश्वामित्रतृण^८—विषदूषण(णी)^९—विषा^{१०}—तै० ब्रा० (३।७।१३।१४) में भी यह शब्द आया है जिसका अर्थ सायण ने 'व्यापिनी' किया है । यह बाणापर्णी का विशेषण है ।विषाणका (विषाणा)^{११}—यह रक्षोघ्न और क्रिमिघ्न कहा गया है । सहस्रचक्षु

१. पा० ग०—२।४।३१; पा० उ०—१।१२१

२. 'हमां खनाम्योषधिं वितन्त्रीं अनुतन्तुनाम्' पै०—३।२९।१-६

३. शं० लि० ध०—२२०; पागम०—५७

'फालचमसे सरूपवत्सायाः दुग्धे ब्रौहियवावधाय मूर्च्छयित्वाभ्यण्डे बृहतीपलाशविदार्यौ वा प्रतिनीय पैद्वमिव'—कौ० सू० ३।५।४ (विदारीवेलापलाशक इति प्रसिद्धः—दा०)

४. जै० गृ०—१।१; दं वि०—१।४; के० प०—३।०।९

विभीदको विभेदनात्' या०—१।८ (विभेत्ता कोष्ठस्य—हु०)

५. शौ०—३।९।१; Ved. ind.—ii-314

६. शौ०—२।७।५।२

७. शौ०—४।१३।३; ६।५२।३ (सर्वस्य रोगजातस्य शमनीम्—सा०); पै०—१।५८।३;

८. बौ० ध०—१।६।३ (टि०)

९. पै०—३।१५।१-६; १९।१३।४-६; २०।५६; ४।२२।१-७; ६।७।१-९;

१०. शौ०—७।११।८।२

११. विषाणका नाम वा असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी—शौ० ६।४४।३

'विशेषेण रोगनिवर्त्तनस्य संभवन्ती'—सा०

पै०—३।२२।१-६; ५।९।२; ८।६।१-११; १९।३।१।१-३

विषातकी]

(१३४)

[वीर(रि)ण

इसका विशेषण है। मजुमदार ने इसे *Gymnema sylvestre* माना है
(देखें अजशृंगी)

विषातकी^१—बाणापर्णी का विशेषण है।

विष्कन्धदूषण^२—यह जङ्गल का विशेषण है।

विष्णुक्रान्ता^३—यह पृथिवी के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। बाद में ओषधि-
वाचक बना।

विस्त्रंसिका^४—

विहह^५—यह सर्प का पिता कहा गया है।

विहल^६—

वीर(रि)ण^७—ऊपर भूमि में अधिक होता है। वास्तुप्रकरण में ऐसा विधान है कि जिस भूमि में कुश, वीरण अधिक हों वही वास्तु के लिए प्रशस्त है। कोशिकसूत्र में वीरणतुल का उल्लेख है। शिवत्र में श्वेतपुष्प वीरण की इषीकाओं के बन्धन का विधान है। अपचितभैषज्य-प्रकरण में भी इसका उल्लेख है। राजयक्ष्मा में इसका बन्धन विहित है (के० प० ३२।१३)। सायण ने शौ० ८।३ में वीरणतुल के साथ इङ्गिडाज्य के होम का उल्लेख किया है। प्राचीन शब्द 'वीरण' है।

१. 'वृष्टासि वृष्टिका विषा विषतक्यसि'—शौ० ७।१।८।२

'विषं आतंक्यति संयोजयति इति विषातकी'—सा०

२. पै० ३।७।१-६

३. तै० आ०—१०।१।८; बौ० श्रौ०—१२।१२

४. षो० पि०—१।६।२; आग्नि० गृ०—३।५।५ (विस्त्रंसिनीका)

५. 'विहहो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता' शौ०—६।१६।२

cf. विहह—Olibane (Jataka, iv-92) B. C. Law—Indian Culture,
Vol. XV, Nos. 1-4

Ved. ind.—ii-316

६. पै०—१९।५।८

७. ऋ०—१।१९।३; पै०—१।६।७; ९।७।१३; शौ०—१।२८ (सा०); श०—१३।८।१।१५;

ष०—५।२; आ० गृ०—२।७।४; कौ० सू०—१।८।१०; १३; २५।३०; २६।२६; ३२।१३;

'शरासः कुशरासो दर्भासः सैर्या उत । मौञ्जा अदृष्टा वैरिणाः सर्वे साकं न्यलिप्सत ॥

—ऋ० १।१९।३

'वैरिणाः वीरणप्रकाराः'—सा०

वीरतर]

(१३५)

[वेणु

वीरतर—सीमन्तोन्नयन में इसके शंकु का प्रयोग है ।

वीरोद्दीर्घ—यह सीमन्तस्यजनन तथा वशीकरण है ।

वृद्धपुत्री—यह आसुरी का पर्याय है । (देखें आसुरी)

वृश्चिकजम्बन—

वृष—सर्वविष में मधुला और लिंगा के साथ इसे खलतुलपर्णी में पीस कर मधुमन्थ में मिला कर पिलाने का विधान है । यह वासा का पर्याय है ।
(देखें वासा)

वृष्ण्यावती—

वेणु—यह बड़ा तथा सुषिर और पर्वयुक्त होता है । अग्नि के संपर्क से कृष्णवर्ण हो

‘समूलं हि पितृणाम् । वीरिणमिध्रे । एतत् ह अस्याः पिश्यमनतिरिक्तम् ।

अथो अघमेव तत् बद्धं करोति ।’—श० १३।८।१।१५

‘यस्मिन् कृशवीरिणं प्रभूतम्’—आ० गृ० २।७।४

‘वीरिणतूलमिश्रमिद्धिडं प्रपुटे जुहोति’—कौ० सू० २५।३०

‘शुक्लप्रसूनस्य वीरिणस्य चतसृणामिषीकाणामुभयतः प्रत्युष्टं बध्नाति’—कौ० सू० २६।२६

Ved ind.—ii-317; 318

१. ‘वीरतर शंकुना’.....‘सीमन्तमूर्ध्वं विनयति’—पा० गृ० १।१५।४

‘अथ वीरतरेण’.....’ गो० गृ०—२।७।६

(वीरास्तरन्त्यनेनेति वीरतरः शरः—टि०।)

२. ‘आक्षनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च ।

वीरोद्दीर्घस्य मूलेन मुखेन मर्दनं कृतम् ॥’—पै० २।७७।२

३. अ० प०—३।२।१-७

४. पै०—१।१७।१-२

५. (वृषदती); जै० ब्रा०—१।८०; २०९; कौ० सू०—२९।१५; ३३।१४

‘तयोर्थाः प्राज्ञणीराप आसंस्ताभिरनुविसृज्य शीर्षे अच्छिनत् । तौ वृषश्च यवाषश्चा-
भवताम् । तस्मात्तौ वर्षेषु शुष्यतः । अद्भिर्हि हतौ ।’—क० ४६।४; काठ० ३०।१

‘मधुलावृषलिंगाभिः खलतुलपर्णी संक्षुद्य मधुमन्थे पाययति’—कौ० सू० २९।१०

६. पै०—४।५।२

७. मै०—३।१।२; ३।२।४; ऋ०—८।५।३; खि०—३।७।३; काठ०—१३।१२; १९।१; २०।३;
क०—२९।८; ३१।५; पै०—१।५९।२; ४।१४।१शा०—२।६।१।७; ६।३।१।३।१; ४।१; शां०—४।१।३; तै० ब्रा०—३।९।७।१; का० ब्रा०—
२।१।३।२।१; तै० आ०—५।२।४; ५।३।२

जाता है। इससे अनेक शाखायें निकलती हैं। इसका फल यवाकार होता है जिसे वेणुयव कहते हैं और जो वसन्त में पकते हैं। इससे अनेक पात्र, सूर्प, दण्ड आदि बनते हैं। अपचितभैषज्य-प्रकरण में वेणु की तीक्ष्णाग्र शलाका से उसे विद्ध करने का विधान है। (देखें वंश)

वेणुदार्भूष^१—इसकी लकड़ी से धनुष बनते थे।

वेतस^२—यह जलीय प्रदेश में होता है। इसकी चटाई तथा चमस, शलाका आदि पात्र बनते थे। जलसंपर्क के कारण यह शीत तथा पित्तशामक माना गया है। इसकी गणना शान्तवृक्षों में है।

हिं० औ०—३१८२२; ११११११; ११५२१; ११६१७; २४१३; २४२५; ६;
का० औ०—१६२५; १८२१३; औ० औ०—९१; १०१९; आप० औ०—६१८३११४
मा० गृ०—२३१२; खा० गृ०—३१२४; शा० गृ०—४४२; जै० गृ०—११९;
हिं० गृ०—१९३३३; कौ० गृ०—२६१९; पा० गृ०—२६३१; काठ० गृ०—१३११;
बौ० ध०—१५३; ११४१०; ११; २६७; ३१११; कौ० सू०—३२८; अ० प०—
१८२२; २३१५; २३५१; ना० शि०—१३११; आप० शु०—८१२; ९१; ऋ० तं०—
४७६; तै० प्रा०—२१३८; पा० ग०—४२८०; ८६; ९१; ४३१३४; ४४१०३;
५११२२; ६४१५३; पा० म०—६१२१५

१. 'मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन शरप्रकृतिभूतो वृक्षविशेष उच्यते'.....अथवा मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन धनुःप्रकृतिभूतो वेणुदार्भूषसंज्ञको वृक्ष उच्यते'—सा० (शौ० ७७८१)

'वेणुर्वै वनस्पतिः फलग्रहितमः स एषां वीर्यवत्तमः'—मै० ३१२

'यावान् पुरुष ऊर्ध्वबाहुस्तावता वेणुना विमिमीत एतावद् वै पुरुषे वीर्यं वीर्येणैव विमिमीतस्यो एतावान् वै पुरुषे महिमा महिम्नो अवरुद्ध्ये।'—मै० ३१४

'आग्नेयो वै वेणुः'—तै० ५२५२

'तेजो वै वेणुः'—तै० आ० ५२१४

'वेणूनां पाकेन यवसदृशं धान्यं वेणुयवाः'—का० (हिं० औ० ३१८२२)

'वेणोरुद्गा इवामितोऽसमृद्धा अघायवः'—शौ० १२७३

'वेणोः वंशकाण्डस्य परितो वर्तमानाः उद्गाच्छन्तीति उद्गाः शाखा इव'—सा०

'अग्निर्वै देवेभ्योऽपाक्तामत्। स वेणुं प्राविशत्। स एतानि वर्माण्यानह्यत यानि पुरुषि। स एतं लोकमन्वचरद् यः सुषिरः। स यत्र यत्रावसत्तन्निरदहत्। तत् कस्मा-
चमभवत्।'—क० २९८

२. ऋ०—४५८५; मा०—१३३८; १७६; ९३; तै०—४२१६; ४६११२; मै०—२७१७;
२१०१; ३३६; का०—१४४१; १८१७; १९१७; क०—२८१; काठ०—१६१६;
१७१७; २१७; ४०७; शौ०—१०७४१; १८१५; पै०—८१३५; ९७१३; १७११२;
ज्ञ०—९१२२२; २४; ११५११; १२८३१५; १३३१३; १३२२१९; तै० ब्रा०—
३८१३; ३८१९२; जै० ब्रा०—१२३; तां—२११३३

वेत्र]

(१३७)

[व्याघ्रदन्ती

वेत्र'—

वेदतृण'—

वेष्टन'—

व्यल्कशा'—शाण्डदूर्वा का विशेषण है । (देखें शाण्डदूर्वा)

व्याघ्री'—अथर्वपरिशिष्ट में सिंही के साथ व्याघ्री का निर्देश है । अथर्ववेद में इसके मणि का उल्लेख है ।

व्याघ्रदन्ती'—पुण्याभिषेक के लिए कलश में स्थापनीय ओषधियों में पठित हैं ।

का० श्रौ०—१३।२।१९; १९।२।१०; २०।२।२; २०।८।२; हि० श्रौ०—१४।१।१४; ३७; १४।३।१३; १४।४।२४; बौ० श्रौ०—१०।४७; १२।८; १३।३७; १५।६; ३३; बा० श्रौ०—१०।४७; १२।८; १३।३७; १५।६; ३३; बा० श्रौ०—३।४।१।७; ३।४।३।२४; ३।४।५।९; हि० श्रौ०—२८।४।१०; कौ० गृ०—४।१।९; बो० पि०—१।१।७।२; १।१।४।२; कौ० सू०—८।१।५; २७।१०; ४०।३; ७; ८; ८२।२६ (प०); अ० प०—३६।२।२।१; ३७।८।२; ६५।३।२; ३; ८; निघ०—३।२९; या०—३।२१; पा०—४।२।८७; पा० ग०—४।१।४।१; ४।२।८७; ९१; ६।४।१।५३; अ० अ०—१०।१०; १८।३; के० प०—४०।१-२; पा० म०—१।१।५७

‘अपां वा एतत् पुष्पं यद् वेतसः’—मै० ३।३।६

‘वैतसः कटो भवति’.....अप्सुजो वेतसः’—मै० ३।३।६

‘यो वेतसं हिरण्यं तिष्ठन्तं सलिले वेद स वै गुह्यः प्रजापतिः’—शौ० १०।७।४१

‘उप धामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम् । अग्ने पित्तमपामसि’—शौ० १८।३।५

‘वेतसो नदीनीरगतो वृक्षविशेषः’—सा०

‘अप्सुयोनिर्वै वेतसः’—श० १२।८।३।५

‘वैतसो बितस्तं भवति’—या० ३।२१

‘वेतसो जलजम्बुकः’ टि० (का० श्रौ० १९।२।१०)

‘वेतसशाखाभिः कुशमुष्टिभिर्वा त्रिः प्रदक्षिणं प्रोक्षति गोसूक्तैरुपस्थानं मुच्यते सर्व-
रोगेभ्यः ।’—कौ० गृ० ४।१।९

१. कौ० सू०—४०।१०

२. ‘वेदः स्वस्तिः दुष्पणः स्वस्तिः’—शौ० ७।२९।१

‘वेदो नाम दर्भमुष्टिः’—सा०

३. पै०—४।१।४।१

४. शौ०—१८।३।६

५. ‘वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिषिष्टिपाः ।

अमोवाः सर्वाः रक्षांस्यप हन्स्वधि दूरमस्मत् ॥’—शौ० ८।७।१४; पै० १६।१३।४

अ० प०—१८।१।१५-१७

६. अ० प०—५।१।४

व्याघ्रपत्रक]

(१३८)

[व्रीहि

व्याघ्रपत्रक—

व्याधिवात—

व्यालक—

व्रीहि—व्रीहि और यव दिव्य तथा अमृत भोज माने गये हैं। यह विषध्न भी कहा गया है। इसके सक्तु, मासर, नरनहु, पायस आदि कल्प बनते थे। इसका आययण शरद् में होता था। शान्त ओषधियों तथा मिश्र धान्यों में इसकी गणना है। कृष्ण व्रीहि का लाजमंड ज्वर में देने का विधान है। पुंसवन, जातकर्म, चूड़ाकरण आदि संस्कारों में यह बहुशः प्रयुक्त होता है। महाव्रीहि का भी उल्लेख मिलता है।

१. पा० गृ०—१२१

२. फि०—२

३. पै०—९११०१०

४. तै०—१८१०११; जरा१०१३; मै०—३१०१२; ४३१२; काठ०—१०१६; १११५; मा०—१८१२; शौ०—६१४०१२; ८११८; ८१२०; ९११४; १११४१२; पै०—९११११२; १६१३१०; ऐ० ब्रा०—२८१७; २११११२; ८१६३; ४; श०—५३१३१२; ५५५५१२; जै० ब्रा०—११३३; वृ० उ०—६३३२२; छ्वां उ०—३१४३३; ५११५; हिं० श्रौ०—३८१२२; २३११६-८; बौ० श्रौ०—३१२; ५११; १७३१; आप० श्रौ०—१४१२६; २७; ६८१२१२-३; ६८३११४; वा० श्रौ०—१५५११; ३२१७६३; आ० श्रौ०—२१९; वि० ध०—५११७; ८०११; वै० ध०—२४११-२; आप० ध०—२७१६२२; २७१६२२; हिं० श्रौ०—२७२११७; गो० गृ०—१५१११; १४१२; २७११८; २९१६; काठ० गृ०—२३३३; शौ० गृ०—१३११०; १२४३३; १२८१६; ३११३; आ० गृ०—११०१७; ११११३; ११७२; २८११५; २९१७; ४९१७; कौ० गृ०—६११२-४; ४१११; जै० गृ०—१८; ११; २४; बौ० गृ०—१२१२६; २६१२१; २१११४४; ३१११४; खा० गृ०—२२१३३ ३४; ४१११०; मा० गृ०—११११२; २३११०; कौ० सू०—२६-७; ७५; ८११६; २०; १२१२; १८११३; २९११८; ३५१४; ४३१६; ५८११९; ६११८; २०; ७९११४; अ० प०—५५१६; २११२२; २३१७२; ३११२१; ७०११६-६९; ७०११४४; क० प्र०—११११०; पा०—३१११४८; ५२१२; ११६; ६२१३८; पा० वा०—३२१२४; पा० म०—३२१२४ (स्तम्बकरित्रीहिः); ४३११६६; ५२११५; ६११६६; १२१५८
 'व्रीहिमत्तं यवमत्तमयोमापमयो तिलम्'—शौ० ६१४०१२
 'शिवो तेस्त्वां व्रीहियवाववलासमद्रोमधौ । एतौ यक्षं विवाधेते एतौ सुञ्चनो अंहसः'
 —शौ० ८१२१८

'व्रीहियवश्च भेयजौ दिवस्पुत्रावमयौ'—शौ० ८१७२०

शरदि व्रीहाणाम्—बौ० श्रौ० ३१२

नवेन यजे शरदि व्रीहीणां वसन्ते यवानां वर्षासु श्यामाकानाम्—जै० गृ० ११४

शंखपुष्पी—यह सीभाग्यकरण एवं वशीकरण कही गई है। न्यस्तिका, सुभंगकरणी, सहस्रपर्णी, संवननी, समुष्पला, बभ्रु, कल्याणी आदि इसके पर्याय हैं। 'सभायामहत्वं वद' इससे मेध्य गुण-धर्म का भी संकेत होता है। केवल शंखपुष्पी के काथ पर रहने का पर्णकृच्छ्र नामक धार्मिक विधान था। सुराभाण्ड में रक्खा जल पीने पर बुद्धि के लिए सात दिनों तक शंखपुष्पीश्रुत दुग्ध पीने का विधान है। पारस्कर गृह्यसूत्र में मूलविधि के अन्तर्गत प्रधान मूलों में इसकी गणना है। शांखायन गृह्यसूत्र के भाष्य में यह सर्वविधि में परिगणित है। कौशिकसूत्र (१०।१६) में मेधाजनन-प्रकरण में किस्त्यनाभि और पिप्पली तथा शुक्लपुष्प तथा हरितपुष्प को स्पर्श से नवजात शिशु को चटाने का विधान है। केशवपद्धति में शुक्लपुष्प से शंखपुष्पी का ग्रहण किया गया है। सीभाग्यकरण के लिए इसके मूल का बन्धन विहित है। (देखें न्यस्तिका)

शण—इससे सूत्र निकाला जाता था। विष्कन्ध (शोषरोग—'रक्षः पिशाचादिकृतगत-प्रतिबन्धात्मकः शरीरशोषणरूपो वा विघ्नः—सा०) में इसके मणि का धारण किया

१. शौ०—६।१२९।१-३; ७।३८।३।५; ६।१३९।१-५; वि० ध०—४६।२३; ५।१२३;
वा० ध०—२७।११; बौ० ध०—२।१।२१; (शंखपुष्पी नाम समुद्रतीरे लताविशेषः—वि०)
पा० गृ०—१।२१; शां० गृ०—१।१।१२ (भा०) (शंखपुष्पी च कुष्ठं च लव्यको
नागकेसरम् । सर्वौषधय एताः स्युः मांगस्ये शुभकर्मणि ॥ इति हेमाद्रौ
सा०—२।३।३; कं० प०—३६।१२;

'शुक्लपुष्पहरितपुष्पे इति शंखपुष्पिका अ(ग)न्धपुष्पिका प्रसिद्धे—के० प० १०।१६

२. शौ०—२।४।५; (शणः प्रसिद्धः मणिबन्धनसूत्रप्रकृतिभूतः—सा०)

शान्—३।२।१।११; ६।६।१।२४; ६।६।२।१५; १६; ६।७।१।७; का० श्रौ०—७।३।२२;

हि० श्रौ०—१।१।३।३ (शणः पक्षिविशेषः—व्या०) २६।१।७१; द्रा० श्रौ०—५।२।४;

गो० गृ०—२।१०।८-१२; काठ० गृ०—१।४।८ (शाणी वरासी—आ०) १।५।९;

शां० गृ०—१।२४।११-१३; पा० गृ०—२।५।१६; वा० गृ०—५।१४; जै० गृ०—१।१२;

गौ० ध०—१।१७; वि० ध०—२७।१९; ६।१।५; वा० ध०—१।१।६०;

आप० ध०—१।१।२।४०; बौ० ध०—१।३।१४; कौ० सू०—२।५।२८; २७।३३; ५७।१३;

७२।१५; ७९।१५; नि० सू०—१।४।१; पा० ग०—४।१।९९;

पा० म०—४।१।६४; ५।२।४ (देखें उमा)

'शणश्च मा जङ्घिडश्च विष्कन्धादभिरक्षताम् । अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो
रसेभ्यः ॥—शौ० २।४।५

'तस्य यन्नेदिष्टमुत्तवमासीत् ते शणाः, तस्मात्ते पूतयो वान्ति'—श० ३।२।१।११

'शणा जरायु, तस्मात्ते पूतयः'—श० ६।६।१।२४;

Ved. ind. ii-350

शणफला]

(१४०)

[शतमूला

जाता था । सायण के अनुसार इसकी खेती की जाती थी किन्तु मूलपाठ से प्रतीत होता है कि यह वन्य ओषधि थी । यज्ञ में शण की मेखला पहनी जाती थी । यह सूत्रमय होती थी और इससे दुर्गन्ध आती थी । पौधे को पानी में सड़ा कर सूत्र निकालने से संभवतः दुर्गन्ध आ जाती थी । इस प्रकरण में मुञ्ज और उमा (अतसी) के साथ इसका उल्लेख है । ये सभी सूत्रमय द्रव्य हैं । इसकी रज्जु भी बनाई जाती थी । इसके सूत्रों से वस्त्र भी बनाया जाता था जिसका उपयोग उपनयन संस्कार में विशेषतः करते थे ।

मैकडोनल एवं कीय इससे *Cannabis sativa* (भंगा) या *Crotalaria juncea* का ग्रहण करते हैं ।

शणफला^१—

शतकाण्ड^२—यह दर्भ का पर्याय है । इसके साथ दुश्चयवन, सहस्रपर्ण, उग्रोषधि अच्छिन्नपर्ण, सहस्रकाण्ड, सहमान शब्द प्रयुक्त हुये हैं । सायण ने इसकी व्याख्या की है कि जो अनेक काण्डों (पर्वाँ) से युक्त हो । इसका मणिबन्धन आयुष्य माना गया है ।

शतपत्र^३—कौशिकसूत्र के पितृमेध-प्रकरण में मन्त्रोक्त ओषधियों में यह परिगणित है ।

शतपत्रा^४—(ओषधिविशेष)

शतपर्वा^५—यह रक्षोघ्न माना गया है ।

शतपुष्पा^६—अथर्वपरिशिष्ट में नक्षत्रस्तान-विधि में सीभाग्यकरण तथा पुष्याभिषेक के लिए कलश में डाली जाने वाली ओषधियों में पठित है ।

शतमूला^७—

१. पा० बा०—४११४

२. अ० शां०—१९१६; अ० अ०—१०१२१; शौ०—१९१३११-१०; १९१३११-५;

‘शतशब्दः अपरिमितवचनः, अनेकैः काण्डैः पर्वभिर्युक्तः’—सा०

३. पा० ग०—५१३१०७; कौ० सू०—८२१२६ (प०)

‘मन्त्रोक्ता ओषधीरुच्यतेः—शमीशाखा, दुग्ध, शतपत्र, पलाशपत्र, वेतसः, कर्णः, नदीफेनं च, अवका च, अगुरु, हेरुका, बृहद्दूर्वा. आकाशफेन, मण्डूकपर्णी, मुक्तिका—एताः मन्त्रोक्ता ओषधयः’—

४. अ० प०—७०११५

५. पै०—५११२;

६. पा० बा०—४११४; अ० प०—११४३१९; ५११५; ७११५

७. तै० आ०—१०११७

शतवार]

(१४१)

[शफक

शतवार^१—सायण ने इसका अर्थ किया है—जिसके सी मूल या शूक हों अथवा जो सैकड़ों रोगों को नष्ट करे । इसे हिरण्यशृंग तथा ऋषभ भी कहा गया है । इससे इसके शृंगाकार स्वरूप का संकेत मिलता है । यह रक्षोघ्न, दुर्णामचातन तथा वाजीकरण कहा गया है । विशेषतः दुर्णाम (अर्श) रोग के लिए यह प्रशस्त है । सायण ने इससे कुछ, पामा आदि चर्मरोगों का ग्रहण किया है ।

शतशाख^२—शतांकुर^३—

शतातृण^४—पितृमेघ के संभारों में सहस्रातृण के साथ इसका उल्लेख है ।

शतावरी^५—पारस्कर गृहसूत्र में मूलविधि के प्रकरण में इसका निर्देश है । अथर्व-परिशिष्ट में पुष्याभिषेक के लिए कलश में डाली जाने वाली ओषधियों में पठित है ।

शतिङ्ग^६—(ओषधिविशेष)

शफक^७—अथर्ववद के अनुसार यह जल में होने वाली वनस्पति है । डा० सूर्यकान्त

१. पै०—२।२०।४; २।२७।१-५; अ० शां०—१९।६; अ० ध०—१०।२२

'शतवारो अनीनशद् यच्चमान् रक्षांसि तेजसा ।

आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः ॥ १ ॥

शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्यः ।

मध्येन यच्चमं बाधते नैनं पाप्मातिवर्त्तते ॥ २ ॥

ये यच्चमासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः ।

सर्वा दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत् ॥ ३ ॥

शतं वीरानजनयच्छतं यच्चमानपावपत् ।

दुर्णाग्निः सर्वान् हत्वाव रक्षांसि धूनुते ॥ ४ ॥

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः ।

दुर्णाग्निः सर्वान् तृड्ढाव रक्षांस्यक्रमीत् ॥ ५ ॥

शतमहं दुर्णाग्निनीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम् ।

शतं शरवतीनां शतवारेण वारये ॥ ६ ॥—शौ० १९।३६।१-६

२. पै०—२०।२२।६-७; पै०—१९।१०।३;

३. तै० आ०—१०।१।७

४. कौ० सू०—८३।३

५. पा० ग०—४।१।१२३; पा० गृ०—१।२१; अ० प०—५।१।५; ७।१।५

६. अ० शां०—२।१४

७. 'आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली । एतास्त्वा धारा उप यान्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिबन्माना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥' शौ०—

४।३४।५;

शमक(का)]

(१४२)

[शमी

का कथन है कि इसके पत्ते शफाकृति होते हैं इसीलिए इसे शफक कहा गया है । इसका आधार संभवतः मैकडोनल एवं कीथ की ऐसी मान्यता है । इनका कथन है कि अथर्ववेद में यह सोम का नाम है किन्तु आप० श्रौ० में इससे भोज्य जलज वनस्पति अभिप्रेत है । मजुमदार इससे शृङ्गाटक (*Trapa bispinosa*) लेते हैं ।

शमक(का)^१—वाराह गृह्यसूत्र में शमी के साथ शमक का उल्लेख है जो विवाह के अवसर पर उदकुम्भ में डाला जाता है । कौशिकसूत्र में शान्त ओषधियों में इसकी गणना है । दारिल ने इसे संभवतः जल के समीप होने वाली तथा नन्दपुर में प्रसिद्ध कहा है ।

शमी^२—अग्नि के दाह को शान्त करने के कारण इसका नाम 'शमी' पड़ा । वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में ऐसा आख्यान है कि जब अग्नि अपने प्रचण्ड रूप में

पै०—६।२१।८; वै० को०—पृ० ५०५;

Ved. ind. ii-354; Ved. Pl.-660.

(शफाकृति: जलोत्पन्नः-सा०) आप० श्रौ०—१।१४।१४

१. पै०—१।१३।८।१; ३; वा० गृ०—१।४।६; कौ० सू०—८।१६ (शमका नन्दपुरे वार्यपृष्ठतो जाता वरणप्रसिद्धा-दा०) ३।१।१; पा० ग०—४।१।१०४

२. मै०—१।६।५; १२; १।१०।१२; ३।१।२; ४।१।१; क०—६।२; ७; ३०।८; ४६।८; काठ०—३६।६; तै०—५।१।९६; ४।७।४; शौ०—६।१।१।१ (अग्निदाहशमनहेतुर्वृक्षः शमी-सा०); ६।१२।१-३; ६।३०।२; ३; पै०—१।१।२।१; १।१२।५-६; श०—२।१।४।५; २।५।२।२; १।१।१।२२; १।२।३।३७; १।१।५।१।१३; १।५; १।३।८।४।१; ष०—५।२; का०—१।५।१।१०; सा०—३।३।५;

का० श्रौ०—४।२।१; ४।८।२०; ५।५।१; १।८।४।५; २।१।३।३०; २।५।८।२;

हि० श्रौ०—३।३।६; ५।२।४; ६; १।१।१।११; १।१।१।५-१६; २।४।२।५;

बौ० श्रौ०—२।७; १२; ५।६; आप० श्रौ०—५।१।२; ५।५।५; ८।२।५।१; ८।२।६।१३;

वा० श्रौ०—१।२।१।२; १।२।४।२; १।४।३।२; हि० श्रौ०—२।८।१।४।७; २।८।२।६; २।१।१।७९;

पा० गृ०—१।२; १९; श्रौ० गृ०—१।१।३।५; ४।१।७।३;

काठ० गृ०—२।१।३।२; ३।२।२; ३।७।३; ५।१।१।१; गौ० गृ०—१।७।१६;

हि० श्रौ०—१।१।१।५६; २०।३।१९; कौ० गृ०—२।६।९; ५।८।४; मा० गृ०—१।१।१।१०;

आ० गृ०—१।१।७।३; ४।६।४; बौ० पि०—१।१।१।२; वि० ध०—६।१।४;

कौ० सू०—८।१६; २।१९; ३।१।१; ८; ८।२।२६ (प०); ८।३।३; ४; ८।५।१४; १९; १३।७।५;

अ० प०—१।४।४।७; ५।५।६; २।१।२।३; २।१।१।४; ५; २।२।२।१; २।३।६।५; ३०।१।१७; ६।५।३।२;

निघ०—२।१; पा०—४।३।१।४२; ५।३।८।८; १।१।८; ८।३।९६; पा० ग०—४।१।४।१;

४।२।८।६; ५।२।२।४; ६।२।८।७; ४।२।८।६; ४।३।१।४२; ५।३।८।८; पा० म०—४।१।१२;

शमी]

(१४३)

[शमी

प्रकट हुये तो देवता भयभीत हो गये । ऐसी स्थिति में शमी ने उनके भय को शान्त किया । इससे यह संकेत मिलता है कि शमी की लकड़ी से अग्निज्वाला मन्द निकलती है, बहुत तीक्ष्ण और आशुकारी न होकर मन्द रूप में देर तक जलती है । यज्ञ में अश्वत्थ की उत्तरारणि तथा शमी की अधरारणि बना कर दोनों के संघर्ष से अग्नि उत्पन्न करते थे । यह पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि का प्रतीक माना जाता था ।

इसमें बहुत सी प्रतियाँ होती हैं । शमी तथा यव हेमन्त में शुष्क नहीं होते । बृहत्पलाशा, सुभगा, वर्षवृद्धा, ऋतावरी ये इसके पर्याय हैं ।

इसके पत्र, शाखा, काष्ठ आदि का उपयोग होता था । इसकी लकड़ी से शम्या आदि अनेक पात्र बनते थे तथा यज्ञवास्तु में भी इसका उपयोग होता था । यज्ञवृक्षों में इसकी गणना है ।

अथर्ववेदीय परम्परा में इसके अनेक औषधीय उपयोग दृष्टिगोचर होते हैं । शमीगर्भ अश्वत्थ के कोयले को मधुमन्थ में मिला कर पुंसवन के लिए स्त्री को

पा३।८८; ६।१।१०७; ७।३।९५; वे० प०—२८।९-१०; ३।१।८;

Prosopis spicigera तथा *mimosa suma* शमी के लिए लैटिन नाम दिये गये हैं (देखें *Ved. ind.* ii-354.)

शमीमश्वत्थ आरुढस्तत्र पुंसवनं कृतम् । तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीत्वा भरामसि ॥
—शौ० ६।१।१३

‘अग्निदाहशमनहेतुवृक्षः शमी’—सा०

‘परि धामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम् । रात्री जगदिवान्यद्वंसात्तेनाते वारये विषम् ॥
—शौ० ६।१।१३

‘यस्ते मद्भोक्तेषो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।

आरात् त्वदभ्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्गा वि रोह ॥’

बृहत्पलाशो सुभगो वर्षवृद्ध ऋतावरि । मातेव पुत्रेभ्यो मृदु केशेभ्यः शमि ॥

—शौ० ६।३।०२-३

‘तम् अशमयत्तज् शम्याः शमीत्वम्’—तै० १।६।५

‘यद्वै प्रजा वरुणो गृह्णाति शमीं च यत्वं च तं गृह्णाति; हेमन्तो हि वरुणस्तस्मादेतौ हेमन्न शुष्यतः’—काठ० ३६।६

‘तद्यदेतं शम्या अशमयन्; तस्माच्छमी..... शान्त्या एव न ज्ञेयम् ।—श० ९।२।३३७

‘शान्त्या अप्रदाहाय’—तै० ब्रा० १।१।३।११-१२ (शमयति अनेनेति द्युष्यत्या शमीति नाम संपन्नम्—सा०)

‘परःशतानि शमीपर्णानि भवन्ति’—तै० ब्रा० १।६।४।५

‘शमीपत्रसहस्रेण स्नानात् पुत्रं प्रसूयते’—अ० प० १।४।४।७

पिलाने का विधान है तथा इसका मणिबन्ध भी करते हैं। सर्पविष में भी इसे मधु में मिला कर पिलाते हैं। संभवतः इसके मद का भी प्रयोग होता था। इसके लगाने से केश गिर जाते हैं और नये बाल निकल आते हैं। कौशिकसूत्र में शमी शान्त वृक्षों में परिगणित है। भूतरक्षोग्रह के लिए मेघशृंगी के फलकोश से शमी-चूर्ण भात में मिला कर खिलाने का विधान है। अथर्वपरिशिष्ट में यह उल्लेख है कि शमीपत्र से मूलनक्षत्र में स्नान करने से पुत्र होता है।

कल्पग्रन्थों में इसकी समिधा, शंकु, सुवा, अग्नि, ध्रुवा आदि के लिए उपयोग है। पारस्कर गृह्यसूत्र में मूल विधि के अन्तर्गत इसका उल्लेख है। पितृ-मेघ-प्रकरण में भी अवका आदि के साथ श्मशान में डालने का विधान है।

शमीपत्रिका^१—अन्नप्राशन के बाद गोदान के संभारों में इसका उल्लेख है।

शमुक^२—शान्ति के प्रकरण में शमी आदि द्रव्यों के साथ इसका निर्देश है।

शम्याक^३—इसकी समिधा का उल्लेख है।

शंशप—(देखें शिशपा)

शर^४—यह अत्यन्त प्राचीन द्रव्य है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख मिलता है। वहाँ इसके घने जंगलों में साँपों के निवास का होना बतलाया गया है। सायण ने व्याख्या

१. कौ० सू०—५३।१; २;

२. काठ० गृ०—५।१८।१; (समुपहतेऽद्भुते वा शान्त्यै शमीं शमुकं शम्यवाकमश्वत्थ-
प्लवन्नयग्रोधोदुम्बरं दूर्वां च प्राचीनप्रसृतानि पङ्कदभर्षिज्जूलानि सुमनसश्चापामागं
सर्वबीजानि.....संसृजति)

३. कौ० सू०—३१।१; ८२।१२; १९

४. ऋ०—१।१९।३; (शराः वेणुदंडसदृशाः अन्तश्छिद्राः तृणविशेषाः—सा०)

मै०—२।१।६; तै०—५।२।६।२; काठ०—९।५; २८।४; शौ०—१।२।१; पै०—१।६।५।२;

श०—१।२।१।१; २; ३।१।३।१३; ३।२।१।३; का० वा०—२।२।२।१; ष०—३।८;

सा०—२।२।१;

का० श्रौ०—२।२।१।०; २।५।१।७; २।५।२।१९; हि० श्रौ०—७।१।२; १०।१।४;

१।७।३।२५; २।२।१।३; बौ० श्रौ०—६।१; १।४।१।६; आप० श्रौ०—१०।३।२९;

आ० श्रौ०—(उ०)—३।७—(शरो नाम वेणुसदृशः—वृ०); हि० श्रौ०—२९।१।४;

गो० गृ०—१।५।१।८; जै० गृ०—१।१; मा० गृ०—१।१।१।८; बौ० ध०—१।१।१।१;

कौ० सू०—१।६।१४; ३।६।१४; ४।७।१; १।१।५; ऋ० तं०—३।१।६; ५।२।५; सा०—५।४;

अ० अ०—१।२; मा० शि०—१।४।८; पा०—४।३।१।४४; ६।३।१।२०; ८।४।४९; ८।४।५;

पा० ग०—८।४।३।९; पा० म०—२।२।३।४; २।४।१।२; ६।१।८।३;

शर]

(१४५)

[शर

करते हुये लिखा है कि शर वेणुदण्डसदृश अन्तश्छिद्र तृणविशेष हैं । अथर्ववेद के अनुसार यह मूत्रजनन है अतः मूत्रसंग में लाभकर है ।

‘वज्रो वै शरः, विरचस्तायै । सतूला भवति’—श० ३।१।३।१३; ‘शरस्तृणविशेषः, तस्य मध्यशलाका इषीका’ (सा०)

के० प०—३२।८; ३५।३; २१; ४८।२१

‘शरासः कुशरासः दर्भासः सैर्या उत । मौञ्जा अदृष्टा वैरिणः सर्वे साकं न्यलिप्सत ॥

—श्र० १।१९।१३

‘अथ यस्य जातानि प्रमीयेरन्, न्यग्रोधशृङ्गान् शरमूलं चोत्थाप्य तदहस्त्रिवृत्तं कारयेन् मणिं...तृतीये गर्भमासि निदध्यात् मेखलायां मणिं धारयेत् । पुमांसं ह जनयति । जातस्य कण्ठेऽवसृजेत् कुमारमाज्यशेषं प्राशयेत् सर्वाणि स्रोतांसि तर्पयेदभ्यञ्जीता-हरहस्तत ऊर्ध्वमुपयुक्ते पुनः प्रयोगः शतं वर्षाणि जीवति जारयैव विज्रंसते ॥

—सा० २।२।१

शरो भुजः—का० श्रौ० २५।७।१७ (भा०)

सतूलया शरेषीकया दर्भेषीकया वा...आङ्क्ते—हि० श्रौ० १०।१।१४

शरः शृणातेः—या० ५।४ (शृणाति हिनस्तीति शरः)

“क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः”—शौ० ८।८।४

“विद्या शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥

विद्या शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥

विद्या शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥

विदुमा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे बालिति ॥

विद्या शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।

तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति ॥

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रितम् । एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥

प्र ते भिनग्नि मेहनं वन्नं वेक्षन्त्या इव ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥

अथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥”—शौ० १।३।१-९

कारणस्य अतिशयितवीर्यत्वप्रतिपादनेन तज्जन्यस्यापि शरस्य अमोघवीर्यत्वं उक्तम् ।

—सा०

१० द्र० च०

शतपथ ब्राह्मण में शर को वज्र माना है राक्षसों का विनाश करने के कारण । इस वनस्पति में तूलवत् भाग होता है तथा मध्य में शलाकावत् इषीका होती है । सामविधान में इसका मणिधारण पुंसवन में उपयोगी कहा गया है । नवजात शिशु को घी के साथ चटाने से बल्य तथा आयुष्य होता है । शर की चटाई या आसन बनाया जाता था ।

कल्पसूत्रों में इसकी चटाई, मेखला का उल्लेख बहुशः मिलता है । शर की रस्सी, खाट आदि बुनने के काम में भी आती थी । इसकी इषीका का उपयोग अञ्जन के लिए शलाका रूप में करते थे । केशवपद्धति में गण्डमाला-भैषज्यप्रकरण में शर से गण्डमाला को विद्ध करने का विधान है । स्त्री-वशीकरण के लिए तगर, शरखण्ड, अञ्जन, कुष्ठ, और ज्येष्ठीमधु को घी में मिला कर अंगों पर लेप करने का निर्देश है ।

इसकी पत्तियाँ तीक्ष्ण होने के कारण क्षत उत्पन्न करती हैं तथा काण्ड संभवतः बाणरूप में प्रयुक्त होता था अतः इसे शर कहते हैं ।

शलाञ्जाला^१—सायण ने इसका अर्थ सस्यमञ्जरी किया है ।

शल्मलि^२ (शल्मलि)—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है । विवाह के लिए शल्मलि के काष्ठ का रथ बनाया जाता था जो इसी के फूलों से सजाया जाता था । इसके फल विषाक्त कहे गये हैं और यह वृक्षों में सबसे बड़ा बतलाया गया है ।

गृह्यसूत्रों में इसका मूल निषिद्ध तथा समिधा वर्जित कही गई है । विष्णुधर्मसूत्र में इसका दन्तधावन निषिद्ध है । अथर्वपरिशिष्ट में वैतरणी नदी के वर्णन में इसका उल्लेख है । इसमें शल्म (कांटे) होने से इसकी संज्ञा 'शल्मलि' हुई है । इसके पुष्पों को 'शिम्वल' (ऋ० ३।५।३।२२) तथा किंशुक कहते हैं ।

१. शौ० ६।१६।४, (सस्यमञ्जरी—सा०) कौ० सू० ५।१।१६ (शिलाञ्जाला)

२. ऋ०—७।५०।३; १०।८।५।२०; काठ०—४।४।१; मा०—२३।१३; का०—२।५।१।१; तै०—७।४।१।१।१;

शा०—१३।२।७।४; तां०—१।४।१०; मं०—१।३।१।१; तै० ब्रा०—१।५।६।६;

पा० गृ०—१।२।१; गो० गृ०—१।५।१।५; जै० गृ०—१।१; वि० ध०—६।१।५; अ० प०—१।४।२;

या०—१।२।८; पा० ग०—४।१।८०; ४।२।८०; ८२; ६।२।८५; पा० उ० भो०—२।३।१२०

'सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृत्तं सुचक्रम् ।

आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये बहत्तुं कृणुस्व ॥'—ऋ० १०।८।५।२०

'शल्मलिः सुशरी भवति, शरवान् वा—या० १।२।८; ved. Ind. ii—366, 380

शाक]

(१४७)

[शाल]

शाक^१—कल्पसूत्रों में इसका उल्लेख है । आश्वलायन गृह्यसूत्र में वास्तुपरीक्षा-प्रकरण में उल्लेख है कि इसे उस भूमि से हटा देना चाहिये । कौशिकसूत्र में इसके फल एवं पत्र का निर्देश है । फलों का प्रयोग नेत्ररोगों में है ।

शा(श)कबलि^२—

शाण्डदूर्वा^३—यह जलप्रदेश में होनेवाली वनस्पति है । सायण ने इसे बृहद् दूर्वा कहा है जिसका मूल अण्डाकार तथा काण्ड दीर्घ हो ।

शात्^४—

शाम्यवाका^५—शान्तवृक्षों में इसकी गणना है ।

शार्ङ्गविष^६—हिमालयोद्भव शार्ङ्गविष सात यव की मात्रा में घी मिला कर देने का विधान है । इसके अतिरिक्त अन्य विष निषिद्ध हैं । वृत्तिकार ने इसका अर्थ—शृङ्गाकार वत्सनाभ किया है ।

शाल^७—पद्धतिकार ने नवजात शिशु के नामकरण के प्रसंग में धारण के लिए लिए शालमणि का विधान किया है ।

१. आ० गु०—२।७।५; दौ० ध०—१।१०।९; कौ० सू०—३०।४; ३३।१४; ११६।६;
पा० म०—४।३।१।५५

२. खि०—५।१५।१३

३. यं त्वमग्ने समदहस्तसु निर्वापया पुनः । क्याम्बूरस्य रोहतु शाण्डदूर्वा
व्यसकशा—शौ० १।८।३।६

जलसमीपे उत्पद्यमाना—अण्डाकृतिसमूलसहिता दीर्घकाण्डा वा दूर्वा शाण्डदूर्वा सा
बृहद्दूर्वैर्युज्यते—सा०

४. ऋ०—९।१५।६; या० २५।१

‘सोमो राजा यद् इमं लोकं आजगाम स शात्सु एव तद् उवास’—जै० ब्रा०—१।३।५४

५. कौ० सू० ८।१६;

(शाम्यवाका अपामार्गसदृशैः स्निग्धैः ह्रस्वतरागतपुष्पं वासकृति स्यात्—दा०)

६. ‘विषाण्यदेयानि सर्वाणि, ऋते हिमाचलोद्भवात् शार्ङ्गात्’ तस्य च यवसप्तकं
घृतप्लुतमभिशस्ताय दद्यात् ।’

वि० ध०—१।३२-४; (तच्च शृङ्गाकृतिवद् वत्सनाभसंज्ञकम्—वृ०)

७. पा० गु०—१।२१; कौ० सू०—५।८।१६ (पा०); पा० ग०—२।४।३१; ४।२।९०;
पा० म०—१।१।१; ३।३।१७ (शालसारः, खदिरसारः); ६।१।९१

शालातृण]

(१४८)

[शिशपा

शालातृण^१—

शालि^१—अभीष्ट वस्तु के न मिलने पर उसके सदृश अन्य द्रव्य के ग्रहण का विधान है। उदाहरणार्थ, कहा है कि ब्रीहि के अभाव में शालि लेना चाहिए।

शालूक^३—सायण ने इसका अर्थ उत्पलकन्द किया है। कौशिकसूत्र में पितृमेध के संभारों में इसका उल्लेख है। अथर्वपरिशिष्ट में वैतरणी नदी के वर्णन में निदिष्ट है। यह एक पृथक् वनस्पति प्रतीत होती है।

शिखण्डी^४—सायण ने इसका अर्थ मयूर किया है किन्तु अन्य वनस्पतियों के साहचर्य से यह वनस्पति ही प्रतीत होती है।

शियु^५—ऋग्वेद में यह जनपदविशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है। कौशिकसूत्र में कृमि-रोग में नवनीत मिलाकर इसके प्रदेह का विधान है। अथर्वपरिशिष्ट में उच्चाटन-कर्म में इसकी समिधा का उल्लेख है। धर्मसूत्रों में इसका दन्तधावन निषिद्ध है तथा श्राद्ध में इसका शाक वजित है।

शितीवार^६—

शिम्वल^७—शात्मलि का पर्याय है। यह शान्तवृक्षों में परिगणित है।

शिशपा^८—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। इसमें रथ के चक्के बनाये जाते थे। शान्त-

१. कौ० सू०—१८१०

२. अ० प०—७०/११६-९; ऋ० प्र०—पृ० ३३

(यथोक्तवस्त्वसंपत्तौ ग्राह्यं तदनुकारितम् । यवानामिव गोधूमाः ब्रीहीणामिव शालयः॥)

पा०—५१२३; पा० म०—११३२२; १३१२२; १२३१२; २१३१२; २१३१२; २१३१२ (लोहितशालि); ३३१३३; ६११५०; ३३१२१; ५३१५०;

३. शौ०—४३४५; पै०—६३२१८; कौ० सू०—८३३३; ८६६६; अ० प०—१३३२ (असि-पत्रवनं यत्र शालूकाः शात्मली तथा)

४. पै०—१३३४७; ९

‘यत्राश्वस्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः । तत्परेताप्सरसः प्रतिबद्धा अभूतन ॥’

—शौ० ४३७४

५. ऋ०—७१८१९ (जनपदविशेष); वि० ध०—६१३३; ७९१७; वै० ध०—३१५८;

कौ० सू०—२९२३; ३७५; अ० प०—२६५११-५; पा० ग०—२३४६७; ४१११०४; ४३१३६४; पा० ड० भो०—२११९७; अ० शा०—२०५

६. के० प०—३९५-१२

७. कौ० सू०—८१५ (शेरजीति प्रसिद्धः; शात्मलिः करण्टकः—दा०); १६

८. ऋ०—३५३१९; स्वि०—५१५२; शौ०—२०१२९७; पै०—१९३२१; २

कौ० सू०—८१६; ३४१; पा०—७३१; पा० ग०—४२१८०; ४३१३३९; १५०; ४११९९; पा० म०—२११५७; ५१२;

[शिरीष]

(१४९)

[शीपुद्रु]

वृक्षों में इसकी गणना है । अथर्ववेद (शी० ६।१२९।१-३) में 'शंशप' शब्द से इसका अभिधान है ।

शिरीष^१—यह शान्तवृक्षों में परिगणित है । गृह्यसूत्रों में गृहशान्ति तथा आग्रहायणी-कर्म में इसका उपयोग किया गया है । अथर्वपरिशिष्ट में नक्षत्रस्तान तथा पुण्याभिषेक में यह विहित है । इसका दन्तधावन प्रशस्त माना गया है ।

शिलाची (दी) (सिलाची)—यह अरुन्धती का पर्याय है । (देखें अरुन्धती एवं लाक्षा) ।

शीतपाकी^२—यह श्राद्ध में निषिद्ध कहा गया है ।

शीतबुध्न^३—

शीतिका^४—यह शीतप्रदेश में होनेवाली ओषधि है ।

शीपाल (ला)^५—ऋग्वेद में यह शैवाल के लिए प्रयुक्त शब्द है । यह नदियों में होता है । शीपाल शीतल तथा दाहशामक होता है ।

शीपुद्रु^६—(देखें चीपुद्रु)—इसका प्रयोग असित, विद्रध, लोहित, विसल्पक, बलास, शीर्षरोग, अंगरोग, सक्तिवल्ग और विलोहित में विहित है ।

१. प०—५।२; जै० आ०—१।२; १।३७।१; जै० गृ०—२।६; शा० गृ०—४।१७।३; कौ० सू०—८।१५; अ० प०—१।४३।१; पा२।१-३; ३।३।१-३; या० शि०—३३; पा० उ०—४।२७; पा० ग०—४।२।८०; ८२; ४।३।१३९; १।५०; पा२।३५; पा० म०—१।२।५१; ३।१।७
२. खि०—४।७।१; पै०—४।६।१; शौ०—५।५।१; ८

३. कृष्णाजाजोनिभं चैव शीतपाकी तथैव च । वर्जयेत्स्वर्णं सर्वं तथा जम्बूफलानि च ॥
—शं० ध० २३२

४. वा० श्रौ०—१।२।२।३१ (शीतबुध्नं दध्नातनक्ति)

५. शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति । मण्डूक्या सु सं गम हंसं स्वर्गिणं हर्षय ॥
ऋ०—१।०।१६।१४

“शीतिकाः शैत्ययुक्ता ओषधयः”—सा०; शौ० १।८।३-६० (शीतस्य कारिणि, ओषधि-विशेषस्येयं संज्ञा; शीतिकाख्यौषधिः—सा०)

६. ऋ० १।०।६।५; शौ०—६।१०।६।३ (सा०); २।०।१६।५; पै०—१।१।४।६; ष०—३।१; पा० ग०—४।२।८० (शीपाल);

पा० ग०—५।२।३६; जै० गृ०—१।१।७।८ (शैवाल)

पा० ग०—१।४।६।१; पा० गृ०—१।१।६।२; पै०—१।५।४ (शैवाल)

पा० ग०—४।२।८०; आ० गृ०—२।८।१।४; ४।४।८ (शीपाल)

‘मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे’—शौ० ६।१।२।३

७. पै०—१।९०।१-४

शीर्य]

(१५०)

[शेषहर्षणी

शीर्य^१—जैमिनीय गृह्यसूत्र तथा गोभिल गृह्यसूत्र में ऐसा उल्लेख है कि कुश के अभाव में शूकतृण, शर, शीर्य, बल्वज, मुतव, नल तथा शुण्ठ को छोड़कर अन्य तृणों का ग्रहण करे ।

शीर्षपर्णी^२—दारिल ने इसका अर्थ शिरीष किया है । यह पिशाचनाशन कहा गया है ।

शुण्ठ (ण्ठी)^३—गृह्यसूत्रों में 'शुण्ठ' शब्द एक तृणविशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है जो कुश के प्रतिनिधि के रूप में वर्जित है । यह शब्द 'अल्पकाय' या 'ह्रस्व' का वाचक है ।

शुक्लपुष्प (ष्पा)^४—केशव ने इससे शंखपुष्पी का ग्रहण किया है ।

शुक्लशात्^५—(देखें शात्)

शूकतृण^६—कुश के अभाव में इसका ग्रहण निषिद्ध है ।

शृङ्गवेर^७—

शृङ्गाटक^८—इसे श्राद्ध में देने का विधान है ।

शृङ्गी^९—(ओषधिविशेष)

शेषहर्षणी^{१०}—यह वाजीकरण ओषधि प्रतीत होती है । (देखें कपित्थ)

१. जै० गृ०—१।१; गो० गृ०—१।५।१८ (तेषामलामे शूकतृण-शर-शीर्य-बल्वज-मुतव-नल-शुण्ठवर्जं सर्वतृणानि)

पा० म०—२।२।३४ (शरशीर्यम्); २।४।१२

२. कौ० सू०—३।१८ (शीर्षपर्णिका शिरीषः), के० प०—३।१८

३. जै० गृ०—१।१; गो० गृ०—१।५।१८; हि० श्रौ०—१।७।१९ (शुण्ठाऽल्पकाया ह्रस्वेति यावत्-व्या०); आप० श्रौ०—१०।८।५ (शुण्ठी अल्पकाया); बो० पि०—१।६।२; आग्नि० गृ०—३।५।५।७

४. कौ० सू०—१०।१६

५. जै० ब्रा०—१।३।५४

६. जै० गृ०—१।१; गो० गृ०—१।५।१८

७. पा० उ० ओ० वृ०—२।३।६।१; पा० म०—२।१।३५ (शृङ्गवेरमिति च कटुकशब्दस्य); २।१।१ (मधुरो गुडः, कटुकं शृङ्गवेरम्)

८. शं० लि० घ०—२२०; पा० उ० ओ०—२।२।१००

९. पा०—४।१।४१;

१०. पै०—४।५।१-१० (तां त्वा वयं खनामस्य ओषध शेषहर्षणीम्)

शेफालिका]

(१५१)

[श्यामाक

शेफालिका^१—शेलु^२—शेव(वा)ल^३—यह जरायुपातन कहा गया है । (देखें—शीपाल)शैलेय^४—

शैवाल—(देखें शीपाल)

शोचि^५—सर्पविष-प्रकरण में दर्भ के साथ इसका उल्लेख है ।शोष्यन्ती^६—शीघ्र प्रसव के लिए गर्भिणी के शिर की ओर इसे रखते हैं ।श्मशानवृक्ष^७—

श्यामा^८—यह श्वित्र और पलित में उपयुक्त औषधि है । सर्वाङ्गीकरण के कारण 'सरूपंकरणी' भी इसका पर्याय है । यह संभवतः भृंगराज (देखें रामा) या नीली का वाचक है ।

श्यामाक^९—यह एक धान्यविशेष है । इसके दाने बहुत छोटे होते हैं । यह वर्षा ऋतु

१. पा० बा० ग०—४३१६७; पा० म० ५३१५५ (धौतकशैफालिकादयः प्रचालनवैजा-
त्यकृता वस्त्रस्य गुणविशेषाः—उद्योत)

२. पा० उ० भो०—२१११०५; (देखें डरहण सु० क० ८१२०)

३. पै०—११५४; के० प०—४०११-२; पा०—५३१८४

४. पा०—५३११०२

५. शौ०—१०४४२

६. आप० गृ०—६१४१३३-१४; मा० गृ०—११२२

७. आग्नि० गृ०—२६१८६

८. कौ० सू० १०६१७

'सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता । सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृषि ॥
श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अभ्युद्भूता । इदं मूषु प्रसाधय पुनरूपाणि कल्पय ॥
—शौ० ११२४३-४

९. तै०—११८११२; २३१२६; ४७४४२; मा०—१८११८; मै०—२१११४; का०—१०१२;
शौ०—११५०१४; २०१३५१२ (श्यामाकं पक्कं पीलु च वारस्या अकृणोर्वहुः)
श०—१०६१२२; १२७११९; कौ० ब्रा०—४१२; का० ब्रा०—२१११५; छां० उ०—
३११४३; हि० श्रौ०—२२११११; २३११६-८; बौ० श्रौ०—३१२; आप० श्रौ०—
६१८२९२; ३; ६१८३११४; वा० श्रौ०—३२७१६३; आ० श्रौ०—२१९; बि० घ०—
८०११; वै० घ०—११७५; बो० गृ०—३१११४; मा० गृ०—२३११२; वा० गृ०—११४६;
जै० गृ०—११४; कौ० सू०—८१२०; ११४; ७४१६; अ० प०—२३७१२;
नि० सू०—१०१९;

श्येनहृत]

(१५२)

[श्लेष्मातक

में पकता है । कल्पसूत्रों में वर्षा में इनके आम्रयण का विधान है तथा सोम के लिए शरद् में विहित है । शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र के रोमों से इसकी उत्पत्ति बतलायी गयी है जो इस पीधे के रोमश होने का प्रतीक है । श्यामाकसक्तु का सुरासंधान में भी प्रयोग किया गया है । सर्पबलि-प्रकरण में श्यामाक के आटे का घी या इक्षुरस में पायस (खीर) बनाकर देने का विधान है । अथर्वपरिशिष्ट में श्यामाकताण्डुल यज्ञसंभारो में निर्दिष्ट है ।

श्येनहृत^१—यह सोम का प्रतिनिधि द्रव्य है और उसके अभाव में लिया गया है ।

श्रीपर्ण^२—

श्रीफल^३—श्रीफल से अंशुपट्ट के शोधन का विधान है ।

श्रीवेष्टक^४—नक्षत्रस्नानविधि में इसका उल्लेख है ।

श्लेष्मातक^५—यह पापनामा वृक्षों में परिगणित है, इसकी समिधा वर्ज्य है । धर्मशास्त्र

‘यथा श्यामाकः प्रपतन्नपवान् नानुविद्यते’—श्रौ०—११।५०।४

(श्यामाको धान्यविशेषः—सा०)

ब्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा—श० १०।६।३।२

(श्यामाकतण्डुलो वा यथासूचमः—सा०)

‘लोमभ्य एवास्य चित्तमस्त्रवत्, ते श्यामाका अभवन्’—श० १२।७।१।९

‘वर्षासु श्यामाकैर्यजेत—आप० श्रौ० ६।८।३।१।१४

नवेन यजेत शरदि ब्रीहीणां, वसन्ते यवानां, वर्षासु श्यामाकानाम्—जै० गृ० १।२४

ब्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि—कौ० सू० ८।२०

यवब्रीहिमहाब्रीहिप्रियंगूणां हि तण्डुलाः ।

श्यामाकतण्डुलतिला आध्याद्याः श्रुतिचोदिताः ॥—अ० प० २३।७।२

१. यद्यरुणपुष्पाणि न विन्देयुः श्येनहृतमभिषुणुयात् । यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्, तस्या आहरन्त्यै सोमस्यांशुरपतत् । तच्छ्येनहृतमभवत् । तस्माच्छ्येनहृतमभिषुणुयात्—श० ४।५।१७।३; ४; ‘श्येनहृतं पूतीकानादरानरुणदूर्वाहरितकुशान् पूर्वालाभे पूर्वालाभे उत्तरान्’—का० श्रौ० २५।१३।२९
(खदिरादेर्वहुकालीनस्य वृक्षस्य ये वल्लीरूपा अंकुरा उत्पद्यन्ते तच्छ्येनहृतमिष्युच्यते—टि०)

२. अ० प० ३०।१।१७

३. वै० ध०—३।४।३

४. अ० प०—१।४३।४

५. का० श्रौ०—२१।३।२० (हि०); गो० गृ०—१।५।१५; पा० गृ०—१।२१

जै० गृ०—१।१; वा० ध०—१।४।३; वि० ध०—६।१।२; वै० ध०—३।५।८

अ० प०—१९।१।४; २१।३।५; के० प०—४।८।१

इवदंष्ट्रा]

(१५३)

[शचा

में यह निषिद्ध द्रव्य है तथा इसका दन्तधावन भी वर्जित है । यज्ञ की भूमि इससे रहित होनी चाहिये ।

इवदंष्ट्रा^१—श्मशानायतन से उखाड़ी जाने वाली ओषधियों में यह परिगणित है ।

इवेतक^२—सोम के प्रतिनिधि फाल्गुन के अभाव में इसे लेने का विधान है ।

इवेतगिरिकर्णिका^३—रक्षोघ्न, कृत्यादूषण, यज्ञस्य और वर्चस्य ओषधियों में इसकी गणना है ।

इवेतचन्दन^४—इसके अनुलेपन का उल्लेख है ।

इवेतपाकी^५—

इवेतफला^६—

इवेतवृन्ताक^७—यह वर्जित शाक है ।

श्वेता^८—पुण्याभिषेक के लिए कलश में स्थापनीय ओषधियों में यह पठित है ।

षष्टिक^९—

सचा^{१०}—एक वशीकरण प्रयोग में अन्य ओषधियों के साथ इसका उल्लेख है ।

१. 'पुरस्तादेव श्मशानायतनात् ओषधीरुद्धारयन्ति पाठा पृश्निपर्णी कर्णिकारराजवृक्ष-
कण्टकतिल्वकविभीतकाकशरश्वदंष्ट्राध्यण्डा अन्याश्च क्षीरिणीरनुत्तयाः'

—हि० श्रौ० २९।१।४

२. बौ० श्रौ०—१।४।३०

३. अ० प०—१।१।१५-१७

४. अ० प०—३०।३।७

५. पा० वा० ग०—४।३।१६५

६. पा० म०—४।१।६४

७. वै० ध०—३।५।८;

८. 'ओषधीस्तेषु सर्वेषु कलशेषूपकषयेत् । सहा च सहदेवां च बला चातिबला तथा ॥
मदयन्ती वचा श्वेता व्याघ्रदन्ती सुमंगला । शतावरी जयन्ती च शतपुष्पा सचन्दना ॥
प्रियंगु रोचनोशीरं भमृता च ससारिवा । अश्वत्थप्लक्षवित्वानां न्यग्रोधपनसस्य च ॥
शिरीषाम्रकपिशानां पल्लवैः समलंकृतान् । हेमरन्तौषधिवित्वपुष्पगन्धाधिवासितान् ॥

अ० प०—५।१।४-५; ५।२।१-३

९. पा०—५।१।९०; ५।२।३

१०. 'गोजरायुकमहस्तस्पृष्टं शोषसिवा प्रियंगुकां सहां सहदेवां अध्यण्डां भूमिपाशकां सचां
काचरुपुष्पीमित्येता उत्थाप्य तदहश्चूर्णांनि कारयेत्.....तेनानुलिप्ता यां यां उप-
स्पृशते सा सेनं कामयते'—सा० २।६।१०

सचीन]

(१५४)

[सदर्फला

सचीन^१—

सदंपुष्पा (ष्पी)^२—टीकाकारों ने इसका अर्थ त्रिसन्ध्या किया है । इसके मणि का धारण ग्रह, भूत आदि का निवारक कहा गया है । 'सहस्रचक्षु' इसका पर्याय है तथा यह गरुड की कनीनिका तथा कश्यप और सरमा का नेत्र कही गई है । सायण का कथन है कि नेत्र के सदृश इसके पुष्प होते हैं । गृह्यसूत्रों में 'सदापुष्पा' का विधान समावर्तन संस्कार में है । कौशिकसूत्र में सर्पविष में भी इसका प्रयोग है । चक्षु के साथ इसका सम्बन्ध होने से यह चक्षुष्य भी प्रतीत होती है ।

सदर्फला^३—

१. 'नमामि शच्यागतं सचीनं विषदूषणम्'—पै० ११४१२;
 २. शौ०—४१२०११-९; पै०—१३१०१११; कौ० गृ०—३११२-४; शां० गृ०—३११३
 कौ० सू०—२८७; ३९१६; (त्रिसन्ध्या-दा०; सन्ध्या—के०)
 के० प०—२८७ (सदंपुष्पा सन्ध्या प्रसिद्धा); ३९१५-१२

सदर्पुष्पा

आपश्यति प्रति प्रश्यति परा पश्यति पश्यति ।
 दिवमन्तरिक्षमाद्भूमिं सर्वं तद्देवि पश्यति ॥
 तिस्रो दिवस्तिष्ठः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् ।
 त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥
 दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका ।
 सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव ॥
 तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत् ।
 तथाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥
 आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
 अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥
 दर्शय मा यातुधानान्दर्शय यातुधान्यः ।
 पिशाचान्सर्वान्दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥
 कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्षयाः ।
 वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥
 उदग्रभं परिपाणाद्यातुधानं किमीद्विनम् ।
 तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥
 यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।
 भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्रदर्शय ॥

—शौ० ४१२०११-९

१. सदंपुष्पे सदंफले सदं इन्द्राभिरक्षताम्—पै० १३१०१११

सदाभद्रा]

(१५५)

[सर्जक

सदाभद्रा^१—गृहशान्ति-प्रकरण में गृह में इसके बन्धन का विधान है ।

सप्तपर्ण^२(र्णी)—इसकी माला के धारण का विधान है ।

समक्तभेषज^३—यह रक्षोघ्न, बल्य तथा आयुष्य है ।

समुष्पला^४—यह शंखपुष्पी का पर्याय है ।

संवननी^५—यह शंखपुष्पी का विशेषण है । इसका अर्थ वशीकरण है ।

संस्कन्दा^६—यह ओजस्य तथा गर्भस्थापन है ।

सरल^७—

सरूपंकरणी^८—यह सवर्णीकरण ओषधि है जो शिवत्र, पलित आदि में प्रयुक्त होती है ।

संभवतः भृंगराज या नीलिनी का कर्मवाचक पर्याय है । (देखें श्यामा)

सर्ज^९—इसका दन्तधावन विहित है ।

सर्जक^{१०}—यह हरितशाकवर्ग में निषिद्ध शाकों में सुरसा के साथ पठित है । संभवतः यह अर्जक है ।

१. जै० गृ०—२।६

२. के० प०—३८।२१; पा० म०—२।३।१ (सप्तपर्णः...पर्वणि पर्वणि सप्तपर्णान्यस्य); ८।१।१

३. 'दीर्घायुत्वाय सहसे मद्या अरिष्टतातये । सुपर्णो मह्यं अब्रवीत् एतत् समक्तभेषजं एतत् पुरुषभेषजम् ॥ —पै० ११।४०।३; २०।५४।९

४. संवननी समुष्पला बभ्रु कृत्याणि सं नुद । अमुं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥—शौ० ६।१३९।३; 'समुष्पला सम्यक् उत्सफला सर्ती—सा०

५. शौ०—६।१३९।३

६. संस्कन्दम् ओज ओजसा देवेभिर्नाम ते हितम् ।

हिरण्यनाम नाम ते संस्कन्दासि ओषधे ॥

सं ते शीर्षकपालानि सं योन्यां सं गवीन्योः ।

सं ते सर्वाण्यंगानि संस्कन्दासि ओषधे ॥

समुद्रो नदीभिः सं धावापृथिवी उभे ।

सं नया पत्न्या योन्यां संस्कन्दासि ओषधे ॥'—पै० ११।४८।१३-१६

७. पा० म०—३।१।९६

८. शौ०—१।२४।४ (असरूपं सरूपं क्रियते अनया—सा०)

९. वि० घ०—६।१।१४

१०. वि० घ०—७।१।१७

सर्जरस]

(१५६)

[सर्षप

सर्जरस^१—नक्षत्रस्नानविधि में इसका उल्लेख है ।सर्पसुगन्धा^२—सर्पविष का प्रतिषेधक है ।सर्षप^३—आवय भी इसका पर्याय आया है (शौ०—६।१६।१-२) । श्वेत और पीत

१. अ० प०—१।४३।४

२. 'शंखपुष्पीं सर्पसुगन्धां चोत्थाप्य तदहस्त्रिवृतं कारयेन्मणिम्...शतावरं तं मणिं कण्ठेन शिरसा वा धारयतो न सर्पभयं भवति' सा०—२।३।३; (बिस्वपत्रसङ्घ-जुद्धपत्रोपेतां विषमारणप्रयोगप्रसिद्धं एतद् द्वयम्—सा०)

३. छां० उ०—३।१४।३; सा०—२।२।१०; ३।१।७; ष०—५।२;

हि० गृ०—२०।१।६; १७; शां० गृ०—३।१।३; काठ० गृ०—३।१।११;

पा० गृ०—१।१६।२३; १।१९

कौ० गृ०—३।१।२-४; ४।१।१; जै० गृ०—१।८; बो० गृ०—२।१।१७;

मा० गृ०—२।३।२७

वा० गृ०—१।१।५; आप० गृ०—६।१।५।६; वि० ध०—१।१।१८; ७।१।७; वै० ध०—

३।४।३; शं० लि० ध०—१।६८

कौ० सू०—३०।१; ३।५।२०; अ० प०—६।१।९; ७।१।५; २।१।२।४; ३।१।२।१; ३।३।१।७;

३।५।१।६-१७; ३।५।२।९-११; ३।६।२।१; ३।६।१।८।१; ३।७।८।१; ६।६।२।२-३; ६।८।३।३;

७।०।२।१; पा० उ०—३।१।४।१; के० प०—२।५।२३; ३०।१-२; ३।५।२०

पा० म०—१।१।२; ५।३।५।५; ५।२।२।९; ८।३।४।१

गौरसर्षपान्...प्राश्नीयाद् दीर्घायुर्भवति'—सा०—२।२।१०

'एष मे आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा'—छां० ३।१।४।३

'आण्डौ स्थ इत्यभितो यवसर्षपौ धान्यमाषौ वा—हि० गृ०—२०।१।६

'अथातः शान्तिं करिष्यन् रोगात्तो भयात्तो वा...गौरसर्षपकृत्कैः स्नात्वा...गौरसर्षप-दूर्वाब्रीहियवानवनीय...अभिजुहोति'—कौ० गृ० ४।१।१

'अधिस्नातस्य निशायां सद्यःपांडितसर्षपतैलमौदुम्बरेण सुवेण...जुहोति'

—मा० गृ० २।१।४।२७

'त्रिवर्णसर्षपैः होमात् सह त्रिमधुरेण तु । संपद्यते सुतस्तस्य मेधावी श्रुतधारकः ।

—अ० प० ३।६।१।८।१

'दुग्धाक्तान् सर्षपान् हुत्वा तस्माद् भस्म मुखे क्षिपेत् ।

सर्वेषु व्यवहारेषु स भवत्यपराजितः ॥—अ० प०—३।६।२३।१

सर्षप

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ ।

दुर्गामा तत्र मा गृध्रदंलिंश उत वत्सपः ॥

पलालानुपलालौ शर्कुं कौकं मलिम्लुचं पलीजकम् ।

आश्रेषं वज्रिवाससमृच्छत्रीवं प्रमीलिनम् ॥

सर्षप]

(१५७)

[सर्षप

दो प्रकार के सर्षप का उल्लेख है । श्वेत के लिए 'नीवी' तथा पीत के लिए 'भार्य' शब्द अथर्ववेद में आया है (शी०—८।६।२०) । इसके दाने अण्डाकार

मा सं वृतो मोप सृप ऊरु माव सुपोऽन्तरा । कृणास्यस्यै भेषजं वजं दुर्गामिवातनम् ॥
दुर्गामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः । अरायानप हन्मः सुनामा खैणमिच्छताम् ॥
यः कृष्णः केश्यसुर स्तस्वज उत तुण्डकः । अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥
अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् । अरायांश्चक्रिष्किणो वजः पिङ्गो अनीनशत् ॥

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।

वजस्तान्सहतामितः क्लीब्रूपांस्तिरीटिनः ॥

यस्त्वा स्वपन्ती स्मरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।

छायामिव प्र तान्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम् ।

तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥

ये शालाः परि त्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।

कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्त्रिमाः ।

तानोषधे त्वं गन्धेन विपूचानान्वि नाशय ॥

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्गानि विभ्रति ।

वलीबा हव प्रनृत्यन्तो वने कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः ।

अरायान्वस्तवासिनो दुर्गन्धीरलोहितास्यान्मककाशयामसि ॥

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय विभ्रति ।

स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥

ये पूर्वे वध्वो यन्ति हस्ते शृङ्गाणि विभ्रतः ।

आपाकेष्टाः प्रहासिन स्तग्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि ॥

येषां पश्चात्प्रपदानि पुरः पाष्णीः पुरो मुखा ।

खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुरुभमुष्का अयाशवः ।

तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीवोधेन नाशय ॥

पर्यस्तात्ता अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः

अव भेषज पादय य इमां संविवृतस्त्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम् ।

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् । उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम् ॥

पदा प्र विध्य पाष्ण्यां स्थाली गौरिव स्पन्दना ॥

यस्ते गर्भं प्रतिमृशज्जातं वा मारयति ते । पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥

ये अग्नौ जातान्मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।

स्त्रीभागान्पिङ्गो गन्धर्वान्वातो अश्रमिवाजतु ॥

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत् । गर्भं त उग्रौ रक्षता भेषजौ नीविभार्यौ ॥

पवीनसात्तङ्गत्वाऽच्छायकादुत नम्रकात् ।

सल्लकी]

(१५८)

[सहदेवा(व)

बहुत छोटे होते हैं। सामविधान में सर्षप के आभ्यन्तर प्रयोग (आयुष्य), उद्वर्तन (अलक्ष्मीनाशन) तथा हवन का विधान है। गृह्यसूत्रों में पुंसवन, जातकर्म, समावर्तन, रक्षाविधान तथा शान्तिकर्म में इसका प्रयोग विहित है। विनायक प्रकरण में सद्यःपीडित सर्षपतैल की आहुति का उल्लेख है। धर्मसूत्रों में सर्षपशाक निषिद्ध माना गया है। शंख, शुक्ति, गोशृंग का शोधन सर्षप से करने का विधान है। कीशिक सूत्र में 'बजश्च पिंगलश्च' (श्वेत और पीत सर्षप) का गर्भहंहरण के रूप में प्रयोग है। अथर्वपरिशिष्ट के घृतकम्बल-प्रकरण में गौरसर्षप का उल्लेख है। उच्छुष्माकल्प-प्रकरण में त्रिवर्णसर्षप का निर्देश है। संभवतः इसमें श्वेत, पीत के अतिरिक्त रक्त सर्षप का भी समावेश है।

नेत्ररोग में सर्षपतैलाभ्यंग, सर्षपकाण्डमणिबन्धन तथा सर्षपशाक विहित है। सीमन्तकर्म में भी इसका प्रयोग है।

सल्लकी^१—सर्वंश^२—यह शान्तवृक्षों में पठित है।सह^३—पाँच श्रेष्ठ वीरुधों में इसकी गणना है।सहदेवा(व)^४—सामविधान में इसका वशीकरण प्रयोग है।

प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥

द्वयास्याच्चतुरक्षात्पञ्चपादानङ्गुरेः। वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरावृतात् ॥

य आसं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।

गर्भान्वादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥

ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।

बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विष्यताम् ॥

पिङ्ग रश्च जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रतुः।

आण्डादो गर्भान्मा दभन्वाधस्वेतः किमीदिनः ॥

अप्रजास्त्वं मातृवत्समाद्रोदमघमावयम्।

वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रतिमुञ्च तत् ॥—शौ० ८।६।१-२६

१. पा०—४।१।४१; पा० उ० भो०—२।२।७

२. कौ० सू०—८।१६ (शृगालवञ्चक-दा०)

३. पा०—३।१।१४०; पै०—६।२।१०; १।५।२३।१२

'पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः। दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नोमुञ्चन्वंहसः'

—शौ० १।१।८।१५

'सहः कश्चिद् ओषधिविशेषः'—सा०; Ved. ind. ii-44.

४. सा०—२।६।१०

सहदेवी]

(१५९)

[सहमाना(न)

सहदेवी^१—अथर्ववेद में अरुन्धती, विश्वरूपा, सुभगा, जीवला इसके विशेषण दिये गये हैं। यह बल्य, रक्षोघ्न तथा अनेक रोगों का विनाश करने वाली है। यह स्तन्यजनन भी है। पारस्कर गृह्यसूत्र में मूलविधि-प्रकरण में इसके मूल का निर्देश है। अथर्वपरिशिष्ट में कलश में डाली जाने वाली ओषधियों में परिगणित है। (देखें अरुन्धती, जीवन्ती और जीवला)।

सहमाना(न)^२—यह बल्य एवं रक्षोघ्न ओषधि प्रतीत होती है। अथर्वपरिशिष्ट के गणमाला—प्रकरण के आदित्यगण में 'विषासहि सहमाना' पठित है। इससे इसके विषघ्न कर्म का भी संकेत मिलता है। यह पृश्निपर्णी के विशेषण रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।

१. शौ०—६।५९।१-३; पै०—१९।१४।११; पा० गृ०—१।२१; अ० प०—५।१।४

के० प०—३९।५-१२

'अनहुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति। अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥

शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती। करत्पयस्वन्तं गोष्टमयचमां उत पूरुषान् ॥

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम्। सा नो रुद्रस्यास्तां हेति दूरं नयतु गोभ्यः ॥'

—शौ० ६।५९।१-३

२. मै०—२।७।१६;

'सहस्व मे अरातिं सहस्व पृतनायतम्। सहस्व सर्वं पाप्मानं सहमानास्योषधे ॥

मा०—१।२।९९

'आषाढासि सहमाना सहस्वरातिं सहस्व पृतनायतम्। सहस्रवीर्यासि मा जिन्व।'

—मा० १।३।२६

'जीवलां नधारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।

त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये ॥—शौ० ८।२।६

'सहमानां रोगस्याभिभवित्रीम्' (सा०)

'एवं महिमोपेताम् ओषधीं पाठाख्याम्'.....अथवा जीवलादयः प्रत्येकम्

ओषधिविशेषाः (सा०)

'यद् वः सहः सहमाना वीर्यं यच्च वो बलम्। तेनेमस्माद् यच्चमात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो

कृणोमि भेषजम् ॥—शौ० ८।७।५

'सहस्व यातुधानान् सहस्व यातुधानः। सहस्व सर्वा रक्षांसि सहमानास्योषधे ॥'

—पै० ६।८।१

पै०—२।१६।१-२; २।१७।१-५; ६।८।१-९; २०।१९।८; ५।१।७-८; अ० प०—३२।१।१९

सहस्रकाण्ड]

(१६०)

[सहस्रातृण

सहस्रकाण्ड^१—यह संभवतः दर्भ का पर्याय है ।

सहस्रचक्षु^२—शौनकीय अथर्ववेद में यह सर्दपुष्पा के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है । पैप्पलाद शाखा में यह विषाणा का पर्याय है जो वातीकृतभेषजी कही गई है ।

सहस्रपर्ण^३—यह दर्भ का पर्याय है ।

सहस्रपर्णी^४—यह शंखपुष्पी का पर्याय है । बहुवचनान्त प्रयोग होने पर इसी प्रकार की अन्य ओषधियों का बोध होगा । (देखें न्यस्तिका)

सहस्रवल्श^५—यह दर्भ का पर्याय है । (देखें शतवल्श)

सहस्रवीर्या^६—नक्षत्रस्नानविधि के प्रकरण में इसका उल्लेख है ।

सहस्रातृण^७—पितृमेघ के संभारों में शतातृण के साथ इसका उल्लेख है ।

सहस्वती^८—यह पाठा तथा पृश्निपर्णी का पर्याय है । सायण के मत में यह पृथक् भी कोई ओषधि हो सकती है ।

१. पै०—७।७।०; १२।४।३; १९।२३।२; २०।४३।१०

‘दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्तमम् । तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥
—शौ० २।७।३

२. शौ०—४।२०।३; पै०—३।२।१-६; ५।९।२; ८।६।१-११; १९।३।१।१-३
‘पृथिव्यां निष्ठितमसि विषाणा नाम वातीकृतभेषजी’—पै० १९।३।१।२

३. शौ०—१९।३।२।१

४. शौ०—६।१३।९।१; पै०—१६।१३।३; १२।४।१

‘यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः । ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्वंहसः ॥’
—शौ० ८।७।१३

५. श०—३।६।४।१६; तै० ब्रा०—३।२।२।६; ३।३।२।१

६. अ० प०—१।४३।६

७. कौ० सू०—८।३।३

८. उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति । सपर्णी मे परा धम पति मे केवलं कुरु ॥

—ऋ० १०।१४।१२

शौ०—८।२।६; पै०—१७।१३।१० (सहसिनी)

सहीयसी—शौ० ८।७।११; ३।१।८।६; १०।५।४३; पै०—१।६।३।२; १६।१३।१; १६।१३।२।९

सहस्य]

(१६१)

। सिंह

सहस्य^१—शतपर्व तथा सहस्रकाण्ड इसके विशेषण हैं ।

सहा^२—पुण्याभिषेक में कलश में डाली जाने वाली ओषधियों में परिगणित है ।

सारिवा^३—

साल^४—(देखें शाल)

साव्रस्क^५—मूत्रसंग में पिलाने का विधान है ।

सितीवार^६—(देखें शितीवार)

सिद्धार्थ^७—यह गौर सर्प है । (देखें सर्प)

सिद्धेश्वर^८—मूलविधि-प्रकरण में निर्देश है ।

सिध्नक(का)^९—श्रौतसूत्रों में इसकी लकड़ी से बने मुशल का उल्लेख है ।

सिपुन^{१०}—यह शान्तवृक्षों में पठित है ।

सिंह^{११}—रक्षोघ्न, कृत्यादूषण, वर्चस्य, आयुष्य ओषधियों में पठित है । श्वेतपुष्पी सिंह का मूल पीस कर नस्य देने से गर्भधारण होता है ।

१. सहस्येन भेषजेन दिव्येन शतपर्वणा । तेन सहस्रकाण्डेन कृणोमि पुनरामृतम् ॥'

पै०—११२३१२-८

२. अ० प०—५।१।४

३. अ० प०—५।१।५

४. 'निःसालां घृण्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम्'—शौ० २।१४।१ (सालो वृक्षविशेषः—सा०)

५. कौ० सू०—२।५।११

६. कौ० सू०—३९।६ (अपामार्गसदृशो महान्.....)

७. जै० गृ०—२।६; वि० ध०—७९।१६; अ० प०—१।४४।१०; १।४५।८; ५।५।६

८. पा० गृ०—१।२।१

९. का० श्रौ०—२०।२।३८; हि० श्रौ०—१।४।१।३३; (सैध्नको महासारो वृक्षो यस्य वृक्षस्य मध्ये लोहसमानं कृष्णारुणादिवर्णयुक्तं विधत्ते); वा० श्रौ०—३।४।१।२२; बौ० श्रौ०—१।५।५; हि० गृ०—१।४।३७; पा०—८।४।४

१०. कौ० सू०—८।१।५; १६; (अग्निस्वामी सिपुना धायटी प्रसिद्धः—दा०)

११. अ० प०—१।८।१।१५—१७

'सा यदि गर्भं न दधीत सिंहः श्वेतपुष्पाः...मूलमुत्थाय...निशायामुदपेषं पिष्ट्वा दधिणस्यां नासिकायामासिञ्चति'—पा० गृ० १।३।१।१

११ द्र० च०

सिलिन्द्र]

(१६२)

[सुर(सूकर) बालक

सिलिन्द्र'—

सिलुत्कक^२—इसके मणिधारण का विधान है ।सीबला^३—(वल्लीरूप ओषधिविशेष)सुगन्धितेजन^४—यह गन्धयुक्त ओषधिविशेष है जो यज्ञ में बहुशः प्रयुक्त होता था ।

'सुगन्धिक' शब्द भी इसके लिए आया है ।

सुनिषण्णक^५—यह वर्जित शाकों पठित है ।सुभगंकरणी^६—यह शंखपुष्पी का पर्याय है ।सुमंगला^७—पुष्पाभिषेक के लिए कलश में स्थापनीय ओषधियों में पठित है ।सुर(सूकर) बालक^८—वाजीकरण के लिए कपिकच्छूमूल तथा सुरबालक को दुग्ध में पका कर पिलाने का विधान है ।

२. पा० उ० भो०—२।३।३०

२. कौ० सू०—१।१२२

३. भा० शि०—४३

४. मै०—१।१०।४; ३।८।५; तै० ६।२।८।४; क०—३।९।४; श०—३।५।२।१७

तां ब्रा०—२।४।३।५; ऐ० ब्रा०—१।२८; जै० ब्रा०—१।१३

का० श्रौ०—१।४।१०; ५।४।१५; २।४।१९; १०; ७-११ अ०; १०।७।१४; २।५।२।२७

बौ० श्रौ०—४।१; आप० श्रौ०—७।२।५।१; हि० श्रौ०—१।८।३।३; बृ० दे०—७।७८

'यत् पृथितमुपश्लिष्टं स सुगन्धितेजनः'—मै० ३।८।५

'गन्धो ह्येषास्य सुगन्धितेजनम् । तद् यत् सुगन्धितेजनं भवति गन्धेनैवैनमेतत् समर्धयति'—श० ३।५।२।१७

'तस्यास्य देवदार्वासीन् मेदो मांसं च गुग्गुलुः ।

सुगन्धितेजनं स्नायु शुक्रं रजतकाञ्चने ॥

रोमाणि काशाः केशास्तु कुशाः कूर्चान्स्नानि च ।

अन्त्राणि चैवाप्यवका मज्जा सिकतशर्कराः ॥

असृक् पित्तं च विविधा धातवो गैरिकादयः ।'—बृ० दे० ७।७८

'सुगन्धितेजनं रोहितकः'—'सुगन्धितेजनं रोहिणपुष्पाणि'—का० श्रौ० टी०

सुगन्धितेजनं सुगन्धितृणम्—आ० श्रौ० भा०

सुगन्धितेजनस्तृणविशेषः यत् सुगन्धितेजनश्च जाठराग्नेर्भवति'—आप० श्रौ० बृ०

५. 'पलाण्डादीन् निर्यासं श्वेतवृन्ताकं सुनिषण्णकं श्लेष्मातकं वृज्जकं चित्रकं शिम्भूस्तृणं कोविदारं मूलकं वर्जयति'—वै० ध० ३।५।८

६. शौ०—६।१३।११

७. अ० प०—५।१।४

८. के० प०—४०।१४-१५

सुरसा]

(१६३)

[सोम

सुरसा^१—वर्जित शाक है ।सुरेश्वरी^२—यह राजिका का पर्याय है ।सुलक्ष्मणा^३—मूलविधि-प्रकरण में लक्ष्मणा के साथ सुलक्ष्मणा का उल्लेख है ।सुवर्चला^४—विष्णुधर्मसूत्र में सुवर्चला वर्जित शाकों में पठित है । वासिष्ठ धर्मशास्त्र में आहारशुद्धि के लिए ब्राह्मी, सुवर्चला तथा शंखपुष्पी दूध के साथ पीने का विधान है ।सुवर्णपुष्पी^५—सुषिर^६—वास्तुशमन में उदुम्बर, पलाश, यव आदि सात द्रव्यों में इसका उल्लेख है । यह वंश का पर्याय प्रतीत होता है ।सैर्य^७—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है । संभवतः यह काश है । इसकी मेखला यज्ञोपवीत में दी जाती थी ।सोम^८—यह वैदिक काल की एक प्रसिद्ध ओषधि था किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में भी यह सुलभ नहीं था । यह मुञ्जवान् नामक पर्वत पर होता था और

१. वि० ध०—७९११७

२. अ० प०—३५११६-१२; ३५२१९-११

३. पा० गृ०—११२१

४. कौ० सू०—३६११२; (सुवर्चला प्रसिद्धा त्रिसन्ध्यासहस्री—दा०), अ० प०—४१३६१२
पा० ग०—४१२१०; 'आहारशुद्धिं वक्ष्यामि तन्त्रे निगदतः शृणु । अक्षरलवणां
रूक्षां पिबेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥ त्रिरात्रं शंखपुष्पीं च ब्राह्मणः पयसा सह ।'

—वा० ध० २७१०

वि० ध०—७९११७

पा० म०—३११७ (सुवर्चला आदित्यमनु पर्येति)

५. अ० प०—१८११५-१७

६. भा० गृ०—२१५

७. शरासः कुशरासो दर्भासः सैर्या उत । मौञ्जा अदष्टा वैरिणः सर्वे साकं न्यलिप्सत ।

—ऋ० ११९१३

'सैर्याः तटाकादिप्रान्तोद्भवास्तृणविशेषा अश्ववाला इति प्रसिद्धाः'—सा०

हि० श्रौ०—२६११६८; आप० ध०—१११२३७

८. ऋ०—७९८११; १०१९४३; १४४५; १९२११; ३५३१४; ३४८११-२; ११६८३; ११२८७;

४१६११; १७९१४; ८१११७; ५३६१२; मै०—४८८५; २५५५; ३१९४; ३१११३

तै०—२११५५; ३२१५-६; श्रौ०—३२१११०; ७३१२; २५५७

५३४७—(सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु)

'अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः'—८१७२०

६।१२-३; ६।७।१-२; ६।५।१—(सा०). 'या ओषधयः सोमराज्ञीर्वह्नीः शतविचक्षणाः । बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो सुञ्जन्वहसः'—(शौ० ६।९६।१; ३); ६।१२३।५. ७।१५।४ (सा०) 'तस्याः सोमो राजा वत्सः आसीच्छन्दः पात्रम्'—(शौ० ८।१३।१४); ९।१।११-१३; ११।१।१८—(सोमस्य अंशवः लताखण्डाः—सा०); 'पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः । दभो भंगो यवः सहस्तेनो सुञ्जन्वहसः ॥ —शौ० ११।८।१५

१४।१।१-९; १९।१।७—(सोमः लतारूपः—मा०)

पै०—१।४६।१-६; २।८०।१-५; १४।१।१९; १५।५।१०

श०—३।२।४।१-२२; ३।३।३।१-८; 'देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्त-
स्यैत्तच्छरीरं यद् गिरयो यदरमानस्तदेषोशाना नामौषधिर्जायत इति ह स्माह श्वेत-
केतुरौहालकिस्तामेतदाहत्याभिषुण्वन्तीति—४।२।५।१५; 'सोमो वै देवानां हविः—
(४।४।२।१); ४।५।१०।१-८

जै० ब्रा०—१।१३; छान्दोग्यं ब्रा०—२।१।६; मं० ब्रा०—२।१।६

या०—२।५ (मत्सरः सोमः, मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः); ४।८—(मधु सोममित्यौषमिकं
माषते); ४।१९—(हरिः सोमो हरितवर्णः); ५।३—(सोमो दुग्धाम्भः क्षरति);
५।१२; ६।४—(ऋदूदरः सोमः); ११।२—(ओषधिः सोमः सुनोते, यदेनमभि-
षुण्वन्ति); ११।४—सोमं यं ब्रह्माणो विदुः चन्द्रमसम्); ११।५—(वायुः सोमस्य
रक्षिता साहचर्यात् । रसहरणाद्वा । समानां संवत्सराणां माम आकृतिः सोमः । रूप-
विशेषैरोषधिः । चन्द्रमाः वा); ११।१२; १८

तै० ब्रा०—१।४।४८; ऋ० ब्रा०—८।२

का० श्रौ०—७-११ अ० (सोमयाग); २५।१२।१७; १।४।१०—(पूर्तीकानां सोम-
शब्देनैव उपलक्षणं न द्रव्यान्तरबुद्ध्या)

हिं० श्रौ०—३।७।१८; ८।७।१९ (न वैश्यराजन्ययोः सोमभक्षणं विद्यते । यथा ब्राह्मणः
स्मेमं पिपासेन नैयप्रोधस्तस्मिनीराहृत्य ताः संपिष्य दधन्युन्मृज्य भक्षयति); ९।४।११;
५।१४; ७।१९; ११।५।२१; १३।५।४; १४।१।२३—(यं शिशुं) जातं पुरा वृणाघातात् सोमं
पाययन्ति स सोमपो भवति); १५।६।१२; १७।७।२८—(पञ्चमे वर्षे सोमा भवन्ति);
आप० श्रौ०—१।४।२४; २५; १०।१।१—(सोमः ओषधिविशेषः—भा०) तत्र सोम
ओषधिविशेषः, न चन्द्रो देवता वा यागकरणत्वश्रुतेः । न चोद्भिदादिवत् याग-
सामानाधिकरण्याद् नाममात्रमनर्थकम्; अन्धात्मके निष्पन्ने सञ्चारेऽभिषवादियोग्ये
पेयसंस्तुतिव्यतिरिक्तविशेषे तत्र तत्र मन्त्रार्थवादेभ्यः सोमशब्दावगतेः ब्रौह्मादिवत् याग-
साधनमेव । तथायुर्वेदे—'स्यामलाऽमला च निष्पन्ना क्षीरिणी त्वचि मांसला ।
श्लेष्मला वमनी वल्ली सोमः स्याच्छ्यागभोजनम् ॥'—वृत्तिः)

बा० श्रौ०—१।१।१।६४; आ० श्रौ०—२।१; आ० गृ०—३।३।३; पा० गृ० १।१।४।४

शां० गृ०—१।२०।१-५ (पुंसवन); गौ० ध०—१९।१३; बौ० ध०—१।३।३१;

शं० लि० ध०—१२४; कौ० सू०—२४।४, ५; ३१।२२; ३८।९; के० प०—१।६।३ (सोमाङ्कुर-
मणि); २५।२१; पा०—३।२।१०; ४।२।३०; ४।४।१३७; ५।४।१२५; ६।३।२७; १३।१; ७।२।३३

सोमावती]

(१६५)

[स्फूर्जक

वहाँ के निवासियों (गन्धर्वों) द्वारा लाया जाता था और खरीद कर काम में आता था । कुछ आदि औषधिद्रव्य सोम के सहचर कहे गये हैं । सोम औषधियों का राजा माना गया है ।

सोम बभ्रु, अरुण या हरिवर्ण कहा गया है । इसमें पर्व और अंगु होते हैं । इसका काण्ड अंगुल्याकार होता है । इसमें पत्र भी होते हैं । इसका रस उत्तेजक और मादक कहा गया है । पत्थरों या ओखल में पीस कर रस निकालते थे और दूध, दही, यवागू या मधु मिला कर उपयोग में लाते थे । दिन में तीन बार सोम-सवन का विधान है ।

ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम का विस्तृत वर्णन है । इसकी दुर्लभता के कारण ब्राह्मणकाल में इसके अभाव में पूतीक आदि प्रचलित हुये ।

सोमावती^१—यह ऋग्वेद में निर्दिष्ट है ।

सौवर्चल^२—सौभाग्यकरण में इसका प्रयोग है ।

स्थगर^३—तैत्तिरीय ब्राह्मण में इससे अलंकार करने का उल्लेख है । यह एक सुगन्धित द्रव्य है । उसीर के साथ अञ्जन एवं अभ्यंग में प्रयुक्त हुआ है । कौशिकसूत्र में स्थकर है और गर्भहृंहण के रूप में प्रयुक्त है ।

स्थूलंकरणी—(पा० ३।२।५६)

स्पन्दन^४—इससे रथ बनता था ।

स्पृक्का^५—

स्फूर्जक^६—पितृमेध-प्रकरण में इसका उल्लेख है । श्मशान में ये वृक्ष नहीं होने चाहिए ।

१. तै०—४।२।६।३; क०—२।५।४; ऋ०—१०।९।७।७; पै०—१।१।६।१०

२. के० प०—३।६।१२ (सौवर्चलं सूर्यवेलेति प्रसिद्धा)

३. तै० ब्रा०—२।३।१०।२; कौ० सू०—३।५।२।१; अग्नि० गृ०—१।७।१।१; गो० गृ०—४।२।२।७; क० प्र०—२।८।५; पा० ग०—२।४।६।३; ४।४।५।३

‘आञ्जनाभ्यञ्जने स्थगरोशीरमिति’—आप० गृ० ७।१।८।११

४. पा० ग०—४।३।१।४।१

‘अभिव्ययस्व खदिरस्य सारमोजो घेहि स्पन्दने शिशपायाम् ।

अत्र वीलो वीलित वीलयस्व मा मामादन्नादव जीहियो नः ॥

—ऋ० ३।५३।१९

५. पा० उ० भो० वृ०—२।२।६

६. का० श्रौ०—२।१।३।२०

‘नाशमगन्धान्, नाध्यण्डान्, न पृश्निपर्णीन्, नाश्वस्थस्यान्तिकं कुर्यात्, न बिभीतकस्य,

स्यन्दन]

(१६६)

[सक्त्यः]

स्यन्दन^१—यह शान्तवृक्षों में परिगणित है ।

स्योनाक^२—

सक्त्य^३—यह तिलक है । इसके मणिधारण का विधान है । यह बल्य, रक्षोघ्न तथा कृत्यानाशन है । यह ओषधियों में श्रेष्ठ कहा गया है । कौशिकसूत्र में यह शान्त वृक्षों में परिगणित है । इसे प्रतिसर भी कहते हैं ।

न तिस्रकस्य, न स्फूर्जकस्य, न हरिद्रोः, न न्यग्रोधस्य, ये चान्ये पापनामानः'

—शौ० १३।८।१।१६

१. कौ० सू०—८।१५; (मदन-दा०; हिमवति नर्मदायां प्रसिद्धः—के०)

२. पा० उ० ओ० वृ०—२।२।१४

३. शौ०—२।१।१-५; ८।५।१-११; पै०—१।५।७।१-५; १६।२।७।१-१०; १६।२।८।१-११

कौ० सू०—८।१५; ३९।१; अ० प०—३२।१।८; अ० अ०—२।११; ८।५;

'सक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि । आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥'

—शौ० २।१।१२

'सक्त्यस्तिलकवृक्षः तत्र भवः सक्त्यः'—सा०

तिलक (प्रतिसर)

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय वध्यते !

वीर्यवान्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः ।

प्रत्यक्कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहच्छनेनासुरान्पराभावयन्मनीषी ।

अनेनाजयद् धावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत्प्रदिशश्चतस्रः ॥

अयं सक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः ।

ओजस्वान्विशृद्धो वशी सो अस्मान्पातु सर्वतः ॥

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ।

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥

अन्तर्दधे धावापृथिवी उताहरत सूर्यम् ।

ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥

ये सक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते ! सूर्यं हव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥

स्त्राकृत्येन मणिना ऋषिणेव मनीषिणा । अजेयं सर्वाः पूतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराश्रुताः ।

उभयैस्ताः परा यन्तु परावतो नवन्ति नाग्याऽअति ॥

अस्मै मणिं वर्मं बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः ।

प्रजापतिः परमेष्ठी विराड्बैभानर ऋषयश्च सर्वे ॥

सक्]

(१६७)

[स्वधिति

सक्^१—यह शान्तवृक्षों में पठित है । इसके मूल का प्रयोग है ।

स्नेकपर्ण^२—

स्वधा^३—मजुमदार इसे एक वनस्पति मानते हैं ।

स्वधिति^४—

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान्जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव ।

यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥

स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा । अथो सपत्नकर्शनो यो विभर्तीमं मणिम् ॥

नैनं धनन्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्याः । सर्वा दिशो विराजति यो विभर्तीमं मणिम् ॥

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत् । अविभस्वेन्द्रो मानुषे विभ्रत्संश्रेणिगेऽजयत् ॥

मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति ।

प्रत्यक्स्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥

अयमिद्वै प्रतीवर्त ओजस्वान्संजयो मणिः । प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलेः ॥

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् । इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूरः पुरस्कृषि ॥

वर्म मे छावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः । वर्म मे इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥

ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे ।

तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टि र्यथासानि ॥

आ मारुचद्देवमणिर्महा अरिष्टतातये ।

इमं मेधिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे ॥

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृणमिमं देवासो अभिसंविशध्वम् ।

दीर्घायुस्त्वाय शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासत् ॥

स्वस्तिदा विशां पतिवृत्रहा विमृधो वशी ।

इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीर्षा अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा ।

स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥—शौ० ८।५।१-२२

१. कौ० सू०—८।१५ (स्रग्वंघौ हिमवत इति प्रसिद्धौ—दा०; मालवके प्रसिद्धः—के०)

३३।९; ११

२. मै० ४।१३।४; काठ०—१।१२।१; तै० ब्रा०—३।६।६।३

‘स्नेकपर्णाऽष्टीवन्ता षड्विंशतिरस्य वंक्रमः’—ऐ० ब्रा० २।६; १५

(स्नेकपर्णां करवीरपत्राकारौ—सा०)

Ved. ind. ii-491.

३. शौ०—६।९।६।३; Ved. Pl. 662

४. ऋ०—९।९।६।६; Ved. Pl. 662 (A great tree with heart wood according to Roth)

हृषुषा]

(१६८)

[हरिद्रा

हृषुषा'—

हरिचन्दन'—

हरिणी^३—अमृता, अपराजिता आदि द्रव्यों के साथ इसका उल्लेख है ।हरितपुष्पा^४—शुक्लपुष्पा (शंखपुष्पी), हरितपुष्पा, किंस्त्यनाभि तथा पिप्पली इन्हें नवजात शिशु को स्तन्य प्रारम्भ करने के पूर्व स्वर्णखण्ड से चटाने का विधान है । यह मेधाजनन है । केशव ने इससे अन्धपुष्पिका का ग्रहण किया है ।हरितभेषज^५—यह आञ्जन का विशेषण है ।हरिद्रा^६—इसका चूर्ण मधु और घृत के साथ लेने से मेध्य कहा गया है । भृंगराज, इन्द्रवाष्णी तथा नीली के साथ इसका प्रलेप श्वित्र तथा पलित में विहित है । केशव-पद्धति में इसके साथ पुष्पा का भी उल्लेख है । हृद्रोग तथा कामला में हरिद्रौदन खिला कर पूरे शरीर में उसके उद्घर्तन का विधान है । कौशिकसूत्र में सर्पविष आदि में घी के साथ पिलाने का उल्लेख है ।

१. पा० उ० भो०—२।३।१६४

२. पा०—२।४।३१

३. अ० प०—१८।१।१५—१७

४. अहं रुद्रेभिरिति शुक्लपुष्पहरितपुष्पे किंस्त्यनाभिपिप्पल्यौ जातरूपशकलेन प्राक् स्तनग्रहात् प्राशयति'—कौ० सू० १०।१६

'शुक्लपुष्पाहरितपुष्पे शंखपुष्पिका अन्धपुष्पिका प्रसिद्धे'—के० प० ११।१२

५. शौ०—४।१।३ 'हरितस्य पाण्ड्वादिरोगजनितस्य श्यामलत्वस्य निवर्त्तकम्'—सा०

६. हि० श्रौ०—२६।१।७४; आ० गृ०—१।१।९; कौ० गृ०—२।१।१०; वा० ध०—१।१।६६;

गौ० ध०—१।२।१; कौ० सू०—२६।१।८; २८।४; ३२।७; ३८।९; अ० प०—१७।१।३-४;

५०।६।४; ५२।४।५; ६३।४।९; के० प०—२६।१।८; २२-२४; ३०।१०; ३१।५

पा० वा०—४।२।२

'हरिद्रायास्तुलावरार्थं चूर्णयित्वा एतेनैव कल्पेन संवत्सरं यस्त्वेन प्राशनीयात् श्रुतनिगादी भवति' (पूर्वोक्तेन 'मधुसर्पिभ्याम्' इति—सा० २।७।९)

'नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्वि च । इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥

शौ०—१।२४।१

'हे ओषधे हरिद्राख्ये त्वं नक्तं रात्रौ जाता उत्पन्ना असि भवसि; अतस्त्वं श्वेत्य-निवर्त्तनेन काष्ण्यं आपादयितुं शक्ता भवसीत्यर्थः'

'रज्यति स्वसंस्पृष्टं वस्त्रादिकं अर्थम् इति रजनी'—सा०

'हरिद्रौदनं व्याधितस्य भोजनं दुत्वा तस्योच्छिष्टं चानुच्छिष्टं चैकत्र कृत्वा तेनोद्-घर्त्तनं शिरः प्रमृत्त्यारभ्य यावत्पादौ'—के० प० २६।१४

हरिद्रु]

(१६९)

[हिरण्यपुष्पी

हरिद्रु^१—श्मशान से इसे हटा देने का विधान है । मैकडोनल एवं कीय इससे देवदारु लते हैं किन्तु वस्तुतः यह *Adina cordifolia* है । (देखें हारिद्रव)

हरिद्रुपर्णी^२—

हरीतकी^३—मूत्रपुरीष-निरोध में कर्पूर के साथ इसका प्रयोग है ।

हारिद्रव^४—अथर्ववेद की व्याख्या में सायण ने इसका अर्थ पक्षिविशेष किया है ।
(देखें हरिद्रु)

हिङ्गु^५—वानप्रस्थ आश्रम में लवण, हिङ्गु, लशुन निषिद्ध किये गये हैं ।

हिरण्यपर्ण^६—यह सुवर्णवर्णपत्र वाली वनस्पति है । खिलस्थान में 'हिरण्यपर्णी' लाक्षा का विशेषण है ।

हिरण्यपुष्पी^७—इसका वशीकरण प्रयोग है ।

१. श०—१३।८।१।१६; पा० ग०—४।३।१०६; ४।४।५३

'हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय । शुक्लेषु मे हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ॥

अथो हारिद्रवेषु मे हरिमाणं निदध्मसि ॥'—ऋ० १।५०।११-१२

हारिद्रवेषु हरितालद्रुमेषु (सा०); तै० ब्रा०—३।७।६।२२; २३

२. पा० ग०—४।४।५३ 'न्यग्रोधाश्रयतिस्वकहरिद्रुस्फूर्जकविभीदकपापनामभ्यश्च'—

—का० श्रौ० २।१।३।२०

३. पा०—४।३।१६७; पा० वा०—१।२।५२; पा० ग०—४।१।४१ शौ०—१।३ (सा०)

देखें (कर्पूर)

४. ऋ०—१।५०।१२ (हरितालद्रुम—सा०); शौ०—१।२।३४

५. वै० ध०—१।७।१-३

६. खि०—४।७।७; मा०—२।१।५६; २।८।३३; का०—३०।२।९; ३०।३।१०

देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्णं प्रदिवस्ते अर्थम् ।

प्रदन्निणिद्रशनया निपूय ऋतस्य वलि पथिभी रजिष्ठैः ॥'—मै० ४।१३।७

'वनस्पतिहिरण्यपर्णी आश्विन्यां सरस्वत्या सुपिप्पल इन्द्राय पच्यते ।'—मै० ३।११।५

'होता यत्तच्छ्रुतक्रतुम् । हिरण्यपर्णमुक्थिनम् ।'—तै० ब्रा० २।६।१७।७

'हिरण्यपर्णशब्देन सुवर्णपर्णयुक्तो दशमप्रयाजदेवो वनस्पतिरुक्तः'—सा०

हिरण्यपर्णः सुवर्णपत्रोपेतः सुवर्णसदृशज्वालोपेतो वा'—सा० (तै० ब्रा० ३।६।११।२)

'हिरण्यपर्णं ऋतपर्णं...हिरण्यवर्णपर्णेति'—या० ८।१९

७. अ० प०—१।८।१।१६ (सुवर्णपुष्पी); 'हिरण्याक्षो मधुवर्णो हिरण्यपरिचिन्तने ।

अंको हिरण्यो यस्तव तेनास्यै पतिमावह ॥—पै० २।७।१।५

हिरण्यमूल]

(१७०)

[कण्टकी वृक्ष

हिरण्यमूल^१—मूलविधि के प्रकरण में इसका उल्लेख है ।

हेरुका^२—

ह्लादिका^३—

ओषधिगण

अकण्टक वृक्ष^४—

अनुलेपन^५—

अभय गण^६—

अम्ल^७—

अयाक्षिक काष्ठ^८—

आदित्यगण^९—इसमें विषासहि सहमाना का पाठ है ।

आयुष्य गण^{१०}—

कण्टकी वृक्ष^{११}—

१. पा० गृ०—११२१

२. कौ० सू० (प०)—८२।२६

३. ऋ०—१०।१६।१४: 'आह्लादकफलयुक्तैः वृक्षैः'—(सा०) 'शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति'—शौ० १८।३।६०

'ह्लादःसुखं तत्कारिणि; ह्लादकाख्यौषधिः'—सा०

४. कौ० सू०—८३।११

५. एतदेव कुमारीणां सटोद्धरणमत्रैवानुलेपनम्—काठ० गृ०—३।७।६ (अनुलेपनं सर्वौषधिकुङ्कुमप्रभृतिभिः—दे०)

६. अ० प०—३२।१।१९; कौ० सू०—१३९।७

७. वा० ध०—६।६३; बौ० ध०—१।८।२८

८. बौ० ध०—१।१०।१०

९. अ० प०—३२।१।१९

१०. अ० प०—३२।१।१९; कौ० सू०—५४।११

११. हि० श्रौ०—२४।२।५ (काण्टकीं च समिधम्); ११; २४।५।८; २८।१।७ (खदिरादयः); आ० गृ०—२।७।५ (कण्टकिक्षीरिणस्तु समूलान् परिखाय); ४।१।१३; पा० गृ०—१।२१; कौ० गृ०—२।६।९ [वज्रं समिध्]; ला० गृ०—४।२।८; या० शि०—३४

कषाय]

(१७१)

[नानाबीज

कषाय^१—

कृत्यागण^२—इसमें प्रतीचीनफल (अपामार्ग) तथा प्रतिसर (तिलक) का उल्लेख है ।

क्षीरीवृक्ष^३—

गन्धद्रव्य^४—चन्दन, कर्पूर, कुङ्कुम आदि द्रव्यों की आहुति, उदक तथा कल्क का प्रयोग है ।

चातन गण^५—इसमें पृश्निपर्णी का उल्लेख है ।

तक्मनाशन गण^६—इसमें दशवृक्ष, मृगशृंग, वरण का पाठ है ।

त्रिफला^७—दन्तमन्जन में इसका प्रयोग है

त्रिमधुर^८—दशवृक्ष^९—दुःस्वप्ननाशन गण^{१०}—धान्य^{११}—नानाबीज^{१२}—

१. वि० ध०—६११५; आप० ध०—१११२४१; बौ० ध०—२११२३

हि० श्रौ०—२६११७२

२. अ० प०—३२११२

३. आ० गृ०—२१७५

४. काठ० गृ०—२१७७ (गन्धाहुति—‘सुगन्धचन्दनघनसारादिद्रव्ययुतेनाहुतयो गन्धाहुतयः—दे०); २५२ (गन्धोदक); बो० गृ०—३१११४ जै० गृ०—२१५ (गन्धौषधि)

५. अ० प०—३२११३

६. अ० प०—३२११७

७. या० शि०—३६; ना० शि०—२१७३-६; पा०—६४१२२; पा० म० ४११६४

८. कौ० गृ०—१२०१८; अ० प०—३६१७१-३; १८१३; १९१३; ३०१३; ६९६९५

९. शौ०—२९११; पै०—२११०१५; अ० प०—३२११७

१०. अ० प०—३२११८

११. हि० गृ०—२०११६

१२. आप० श्रौ०—६८२९१६; आप० गृ०—१३११५ (ब्रीहियवादीनि-हरदत्त)

नानावृक्ष]

(१७२)

[वर्चस्य गण

नानावृक्ष^१—परिधिवृक्ष^१—पिप्पल्यादि शान्तिगण^३—फलोत्तम^४—भैषज्यगण^५—इसमें अष्वगिष्टा, वरण और पिप्पली का उल्लेख है ।मिश्रधान्य^६—यज्ञिय वृक्ष^७—यज्ञ में उपयुक्त वनस्पति इसमें आते हैं ।यशस्य^८—यूप्यवृक्ष^९—यज्ञ में यूप के योग्य पलाश, खदिर आदि वृक्षों का इसमें समावेश है ।रौद्रगण^{१०}—इसमें जलाशयेज का उल्लेख है ।वर्चस्य गण^{११}—

१. बौ० श्रौ०—२।७ (अश्वत्थ, उदुम्बर, पर्ण, शमी, त्रिकंकत); १०।५०; १२।५—(नाना-वृक्ष्याणि पत्राणि); १७।३१; १८।८; आप० श्रौ०—५।५।५; वा० श्रौ०—१।४।४।२; बौ० पि०—१।१७।२ (चतुरो नानावृक्ष्यान् परिधीन् पर्णमयवारणवैतसशमीमयान्)

२. पालाशयः समिधो नित्याः परिधिवृक्षाणां वा—काठ० गृ० १।४।१८ (परिधिवृक्षाश्च यूप्याः बिल्वखदिरपलाशरौहीतकौदुम्बरवदरप्रभृतयः । यज्ञिया वा सर्वे परिधिवृक्षाः—दे०; परिधिवृक्षा यज्ञिया यूप्या वा—आ०)

३. अ० प०—३।२।१२०

४. कौ० गृ०—१।७।१-२; शां० गृ०—१।११।२, काठ० गृ० २।८।२, १।१

५. अ० प०—३।२।१२४

६. ब्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि—कौ० सू० ८।२०

७. का० श्रौ०—७।४।८; द्वा० श्रौ०—५।२।१ (यज्ञार्हस्य वृक्षादेरश्वत्थस्य); आप० श्रौ० १।२।३० सा० गृ०—१।६।३; २।१।१; वा० गृ०—५।७।४; खा० गृ०—२।२।१०; ३।४।१०; ८।३; काठ० गृ०—२।६।१; (वटादीनामन्यतमस्य—दे०; अश्वत्थोदुम्बरादियज्ञियवृक्षो-द्भवा—आ०); गो० गृ०—१।९।१६ (यज्ञियानामेष्वपधिवनस्पतीनां फलानि); नि० सू०—१।१।१; बौ० गृ०—१।३।२; २।५।३५; बौ० ध०—१।३।१६; हि० श्रौ०—२।१।४।४०; बौ० पि०—३।१; ७; गौ० ध०—१।२।४; अ० प०—२।३।१२; ६।५; ९।४;

८. अ० प०—१।८।१।१४

९. आप० श्रौ०—७।१।१५ (यूप्याः वृक्षाः पलाशखदिरवैतवरौहीतकाः); वा० गृ०—६।३।१;

१०. अ० प०—३।२।१।१७

११. अ० प०—३।२।१।१०; १।८।१।१४; कौ० सू०—१।०।४-६

शर्मवर्मगण]

(१७३)

[सर्वसुरभि

शर्मवर्मगण^१—शाकवर्ग^२—शान्त^३—शान्तिकर्म में उपयोगी औषधियाँ इसमें आती हैं ।सप्तधान्य^४—सर्वगन्ध^५—सर्वतृण^६—सर्वबीज^७—सर्वरस^८—सर्वसुरभि^९—

१. अ० प०—३२।१।१४;

२. बौ० घ० १।१०।९

३. कौ० सू०—२६।४०; २७।५ (दश); १३।५; ८३।३-४; ५४।२०; १३९।३; २१।१८—
 (शान्तशाखा); २१।२—(शान्तफल); अ० प०—२६।२।३; ३१।२।४; ६९।१।५;
 कौ० गृ०—२।८।६ (शान्त इति शुष्क अथवा अकण्टक—वि०); कौ० सू०—५३।१-२
 (शान्ता ओषधी:); ९४।—; पलाशोदुम्बरजम्बुकास्पीलसम्बद्धशिरीषस्रतयवरण-
 बिह्वर्जगिहकुटकगर्हगलाबलवेतसशिम्बलसिपुनस्यन्दनारणिकारमयोक्तुन्युपतुदारव-
 शान्ता:—कौ० सू० ८।१५

‘चित्तिप्रायश्चित्तिशमीशमकासवंशाशाभ्यवाकातलाशापलाशवाशाशिशपाशिश्वलसिपुन-
 दर्मापामागाकृतिलोष्ठवल्मीकवपादूर्वाप्रान्तघ्रीहियवा: शान्ता:’—कौ० सू० ८।१६

४. अ० प०—१।१।१५; पा० गृ०—१।२।१

५. काठ० गृ०—२।८।२; ९।१; (सर्वगन्धै: सर्वौषधिभि:—आ०); पा० गृ०—१।२।१;
 मा० गृ०—२।६।४; २।१।२।३; अ० प०—१।४।२; २०।३।४

६. जै० गृ०—१।१

७. गो० गृ०—३।९।७; अ० प५—१।४।२; १०।१।१

८. मा० गृ०—२।६।४; १।४।२; अ० प०—२०।३।४

९. शा० गृ० १।१।२; खा० गृ०—३।१।७; का० श्रौ०—७।४।२ (पिप्पल्यादि:—मा०);
 २५।८।२; बौ० श्रौ०—१।७।३९; आप० गृ०—५।१।२।८; हि० गृ०—१।९।२।३;
 कौ० गृ०—१।७।१-२; १।१।८।१-२; कौ० सू० १६।२९; ५८।१२; ७६।३१; ८३।३; ८५।१९

सर्वोषध(धि)]

(१७४)

[सौम्यवृक्ष

सर्वोषध(धि)^१—

सुगन्धिबीज^२—

सौम्यवृक्ष^३—



-
१. बौ० श्रौ०—२११२; १३; १८; १०१७; ५०; ५७; का० श्रौ०—७४१२२; १७३१६;
 २११४४; मा० गृ०—२१६४; २११४२३; बो० पि०—३११२०; १११७२; खा० गृ०—
 ३११६; सर्वोषधेनापः फाणयेत्); जै० गृ०—११११ (सर्वोषधीभिः स्फाण्टमुदकम्);
 पा० गृ०—१११९; २१; शां० गृ०—११११२; गो० गृ०—३११११;

२. अ० प०—२१११४

३. प०—७०११६-९ (सौम्यवृक्षाश्रयाः कार्याः समिधः शान्तिमिच्छता)

ग्रन्थ-सन्दर्भ

- अथर्वप्रातिशाख्यम् : विश्वबन्धु शास्त्री, पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर, १९२३.
- अथर्ववेदपदानुक्रमणिका : विश्वेश्वरानन्द एवं नित्यानन्द, निर्णयसागर, बम्बई, १९०७.
- अथर्ववेदसंहिता (सायणभाष्यसंहिता) : भाग १-४, सं० विश्वबन्धु, होशियारपुर, १९६०-६२.
- अथर्ववेदीय दन्त्योष्ठविधि : सं० रामगोपाल शास्त्री, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९२१.
- अथर्ववेदीया पंचपटलिका : भगवद्दत्त, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९१०.
- अथर्ववेदीया बृहत् सर्वानुक्रमणिका : सं० रामगोपाल शास्त्री, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९२२.
- अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा : सं० भगवद्दत्त, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९२१.
- अष्टाध्यायी (पाणिनिविरचिता) : गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं० १९८५.
- आपस्तम्बधर्मसूत्रम् (हरदत्तमिश्रविरचितवृत्तिसमेतम्) : सं० चिन्नस्वामी एवं अ० सं० रामनाथ शास्त्री, चौखम्बा, बनारस, १९३२.
- आश्वलायनगृह्यसूत्रम् (नारायणकृतवृत्तिसमेतम्) : गोविन्द पुरुषोत्तम रानडे शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९३६.
- आश्वलायनश्रौतसूत्रम् (नारायणकृतवृत्तिसमेतम्) : सं० गणेश शास्त्री गोखले, आनन्दाश्रम, पूना, १९१७.
- ईशावास्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२४.
- उपनिदानसूत्रम् : सं० मंगलदेव शास्त्री, राजकीय संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, १९३१.
- उपनिषत्संग्रहः : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०.
- ऋक्तन्त्रम् (सामप्रातिशाख्यम्) : सं० सूर्यकान्त शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १९३३.
- ऋक्प्रातिशाख्यम् (उव्वटभाष्ययुतम्) : सं० युगलकिशोर व्यास एवं प्रभुदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत बुकडिपो, १९०३.
- ऋग्वेदप्रातिशाख्यम् : सं० मंगलदेव शास्त्री, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३१.
- ऋग्वेदसंहिता (सायणभाष्यसहित) : भाग १-५, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३३-१९५१.

(१७६)

- ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका : स्वामी दयानन्द सरस्वती, अजमेर, सं० १९४९.
- ऐतरेयब्राह्मणम् (सायणभाष्यसहितम्) : आनन्दाश्रम, पूना, १९३०.
- ऐतरेयारण्यकम् (सायणभाष्यसहितम्) : आनन्दाश्रम, पूना, १९५९ (तृ० सं०)
- ऐतरेयोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२२.
- ऐतरेयब्राह्मण भागः १-२, आनन्दाश्रम, पूना, १९३१ (द्वि० सं०)
- कठोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२४.
- कर्मप्रदीप (नारायणोपाध्यायकृत परिशिष्टप्रकाशसहितः) : सं० चन्द्रकान्त तर्कालंकार,
बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, १९०९.
- कात्यायनश्रौतसूत्रम् (कर्काचार्यकृतभाष्यसमेतम्) : भाग १, सं० नित्यानन्दपन्तपर्वतीय,
चौखम्बा, बनारस, १९२७.
- कात्यायनश्रौतसूत्रम् (कर्काचार्यकृतभाष्यसमेतम्) : भाग २, सं० गोपाल शास्त्री नेने,
डोगरा अनन्तराम शास्त्री, चौखम्बा, १९३९.
- केनोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२२.
- खादिरगृह्यसूत्रम् (रुद्रस्कन्दव्याख्यासहितम्) : ए० महादेव शास्त्री एवं एल० श्रीनिवासा-
चार्य, गवर्नमेण्ट आफ मैसूर, १९१३.
- गोभिलगृह्यसूत्रम् (मुकुन्दझाकृतव्याख्यासहितम्) : चौखम्बा, वाराणसी, १९३६.
- चारायणीय मन्त्रार्थाध्याय : सं० विश्वबन्धु शास्त्री, डी० ए० वी० कालेज,
लाहौर, १९३५.
- छान्दोग्यब्राह्मण (गुणविष्णु-सायणभाष्यसहित) : दुर्गामोहन भट्टाचार्य, संस्कृत कालेज,
कलकत्ता, १९५८.
- छान्दोग्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१९.
- जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (तलवकार उपनिषद् ब्राह्मण) : पं० रामदेव, डी० ए०
वी० कालेज, लाहौर, १९२१.
- जैमिनीय ब्राह्मण : रघुवीर एवं लोकाशचन्द्र, नागपुर, १९५४.
- ताण्ड्यमहाब्राह्मण (सायणभाष्यसहित) : सं० चित्रस्वामी शास्त्री, चौखम्बा, १९३५.
- तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम् (माहिषेयकृतपदक्रमसदनाख्यभाष्योपेतम्) : वी० वेंकट राम
शर्मा, युनिवर्सिटी आफ मद्रास, १९३०.
- तैत्तिरीयब्राह्मणम् (सायणभाष्यसहितम्) : भाग १-२, आनन्दाश्रम, पूना, १९३८
(द्वि० सं०)
- तैत्तिरीयसंहिता (सायणाचार्यभाष्यसंहिता) भाग १-६ : आनन्दाश्रम, पूना, १९४०-
१९४८.
- तैत्तिरीयारण्यकम् : आनन्दाश्रम, पूना, १८९७.

(१७७)

तैत्तिरीयोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२३.

दैवतसंहिता : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पारडी (सुरत), १९६४.

द्रव्यगुणविज्ञान : भाग २-३, प्रियव्रत शर्मा, चौखम्बा, १९७५ (तृ० सं०)

द्राह्यायणगृह्यसूत्रम् (रुद्रस्कन्दीयवृत्तिसमेत) : उदयनारायण सिंह, मधुरापुर

(मुजफ्फरपुर)

निधष्ठसमन्वितं निरुक्तम् : लक्ष्मणस्वरूप, पंजाब विश्वविद्यालय, १९२७.

निदानसूत्रम् (सामवेदीयम्) : सं० सत्यव्रत शर्मा, कलकत्ता, १८९६.

निरुक्तम् (दुर्गाचार्यकृतवृत्तिसमेतम्) : आनन्दाश्रम, पूना, भाग १-२, १९२४-२६.

पारस्करगृह्यसूत्र : सं० अनन्तराम डोगरा शास्त्री, चौखम्बा, बनारस, १९३९.

प्रश्नोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२४.

बृहदारण्यकोपनिषद् : गीताप्रेस, सं० २०२५.

बौधायनधर्मसूत्रम् (श्रीगोविन्दस्वामिविवरणोपेतम्) : सं० चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्बा, बनारस, १९३४.

बौधायनपितृमेधसूत्र : सी० एच० रावे, लीडन, १९११.

भरद्वाजगृह्यसूत्रम् : हेनरियेट जे० डब्ल्यू० सैलोमन्स, लीडन, १९१३.

माण्डूक्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२४.

मुण्डकोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२३.

मैत्रायणीय मानवगृह्यसूत्रम् (श्रीमदष्टावक्ररचितभाष्योपेतम्) : रामकृष्ण हर्षजी शास्त्री, सेण्ट्रल लाईब्रेरी, बड़ौदा १९२६.

लघुऋक्तन्त्रसंग्रहः (सामसप्तलक्षणसहितः) : सं० सूर्यकान्त, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १९४०.

वाराहगृह्यसूत्रम् : सं० श्री उदयनारायण सिंह, शास्त्र पब्लिशिंग हाउस, मधुरापुर, पो० बिधुपुर बाजार, जि० मुजफ्फरपुर, १९३४.

विष्णुस्मृतिः (नन्दपंडितरचितवैजयन्ती वृत्तिसमेतम्) : जुलियस जोली, चौखम्बा, १९६२.

वेदांगप्रकाश : अजमेर, सं० १९७०.

वैदिक कोश : सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, १९६३.

वैदिकपदानुक्रमकोषः भाग १-१९, सं० विश्वबन्धु, होशियारपुर, १९३५-१९६३.

व्याकरणमहाभाष्यम् (प्रदीपोद्योतसहितम्) : भाग १-५, गुरुकुल झज्जर (रोहतक), १९६१-६४.

व्याकरणवाङ्मय में आयुर्वेदीय सामग्री : भाग १-६, आचार्य प्रियव्रत शर्मा, आयुर्वेद विकास, मार्च-सितम्बर, १९६४.

१२ द्र० च०

(१७८)

- चतुर्थपञ्चाङ्गम् : सं० श्रीधर शर्मा वारे, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९४०.
 शाखायन आरण्यक : सं० श्रीधर शर्मा, आनन्दाश्रम, पूना, १९२२.
 शाखायन गृह्यसूत्रम् (श्रीनारायणप्रणीतभाष्यसहितम्) : राजकोट, १९३२.
 शिक्षासंग्रहः : सं० मुगलकिशोर व्यास, बनारस संस्कृत सीरीज, १८८९.
 शौनकीय बृहद्देवता ; रामकुमार खय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९६३.
 श्वेताश्वतरोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२३.
 षड्विंशब्राह्मणम् (सायणभाष्यसहितम्) : सं० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८१.
 षड्विंशब्राह्मण (सायणभाष्यसहित) : वी० आर० शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
 तिरुपति, १९६७.
 सत्याषाढ (हिरण्यकेशिविरचितं श्रौतसूत्रम्) : भाग १-९, आनन्दाश्रम, पूना,
 १९०७-१९३०.
 सामविधानब्राह्मणम् : वी० आर० शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६४.
 सिद्धान्तकौमुदी : सं० शिवदत्त शास्त्री, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई १९२६.
 स्मृति-सन्दर्भः : मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९३७.
 Āgñiveśya Gṛhyasūtra : ed. L. A. Ravi Verma, University of
 Travancore, 1940.
 Ancient Indian Flora: B. C. Law, Indian Culture, Vol. XV,
 Nos. 1-4, 1948-49.
 Āpastambīya Gṛhyasūtra : ed. M. Winternitz, Alfred Holder, (with
 the commentary of Haradatta & Sudarśanāchārya)
 Vienna, 1887.
 Āpastamba Śraūtasūtra : Vol. I. ed. Narsimhachar, Mysore, 1944.
 Vol. II, Ed. Shrinivasa Gopalacharya, Mysore, 1954.
 Āpastamba Śulvasūtram : ed. D. Shrinivashachar & Vidwan S.
 Narasimhachar, University of Mysore, 1931.
 Ārṣeya Brāhmaṇa : ed. Burnell, Mangalore, 1876.
 The Aṣṭādhyāyī of Paṇini : S. C. Vasu, Vol. I-II, Motilal Banarasi
 Dass, Delhi, 1962.
 The Atharvaveda and The Gopatha Brāhmaṇa : Maurice Bloomfield,
 Strassburg, 1899.
 The Atharvaveda Prāti Śākhyā : W. D. Whitney, C. S. S. Office,
 Varanasi, 1962.
 Atharvaveda Samhitā (Vol. I-II) : W. D. Whitney, Motilal
 Banarasidass, Delhi, 1962.

(१७९)

- Bodhāyana Gṛhyasūtra** : ed. R. Sharma Shastri, University of
Mysore, 1920.
- The Baudhāyana Śrauta sūtra** : ed. W. Caland, Asiatic Society,
calcutta, Vol. I-III, 1907-1913.
- The Dharmasūtra of Śaṅkhalikhita** : P. V. Kane, A. B. O. R. I.
(Vol. VII-VIII), Poona, 1926.
- The Etymologies of Yāska** : Siddheshwar Verma, Vishweshwaranad
Institute, Hoshiarpur, 1953.
- Founders of Sciences in Ancient India**, Satyaprakash, Appendix I
(pp. 161-63), The Research Institute of Ancient
Scientific Studies, New Delhi, 1965.
- Sri Gautam Dharma Śāstram** : ed. Adolf Freiderich Stenzler,
London, 1876.
- Gautama Piṭṛmedha sūtra** : ed. Caland, Leipzig, 1896.
- Glossary of Vegetable drugs in Bṛhatrayī** : Balwant Singh & K. C.
Chunekar, Chowkhamba, 1972.
- Gobhila Gṛhyasūtra (Eng. Tr.)** : Oldenberg, Sacred Books of the
East, Vol. XXX.
- Gopatha Brāhmaṇa** : D. Goastra, Leiden, 1919.
- Gṛhyasaṅgraha** : ed. Bloomfield, Journal of German Oriental
Society, Vol. 35.
- The Hymns of the Atharvaveda** : Vol. I-II, Ralph T. H. Griffith,
Chowkhamba, 1968.
- The Hymns of the Ṛgveda** : Vol. I-II, Griffith, Chowkhamba, 1963.
- The Hymns of the Sāmaveda** : Griffith, Chowkhamba, 1963 (4th ed.)
- India of Vedic Kalpasūtras** : Ramgopal, National Publishing
House, 1959.
- Jaimini Gṛhyasūtra** : ed. Caland, Motilal Banarsidass, Lahore, 1922.
- Jaiminīya Saṁhitā** : ed. Caland, Breslaw, 1907.
- Jaiminiya Śrautasūtra** : Leiden, 1906.
- Kāṇva Śatapatha Brāhmaṇa** : ed. Caland, Motilal Banarasidass,
Lahore, 1926.
- Kāthaka Gṛhyasūtra** : ed. W. Caland, D. A. V. College,
Lahore; 1925.
- The Kaucika sūtra of Atharvaveda** : ed. Maurice Bloomfield, New
Haven, 1889.

(१५०)

- Kauṣītaka Gṛhyasūtras** (with the commentary of Bhavatrāta) : ed.
T. R. Chintamani, University of Madras, 1944.
- The Kauṣītaki Upaniṣad** : Ed. Major B. D. Basu, The Sacred Books
of the Hindus Vol. XXXI-Pt. I., Nov.-Dec., Painini
Office, Allahabad. 1925
- Laugākṣi Gṛhyasūtra** (with the Bhāṣyam of Devapāla) : Ed.
Madhusudan Kaul Shastri, Jammu & Kashmir Govt.,
Shrinagar, 1928 (I), 1934 (II).
- Maitrāyaṇī Vārāhaśrautasūtra** : ed. W. Caland & Raghuvir,
Meharchand Laksmandas, Lahore, 1933.
- On the interpretation of doubtful words in the Atharvaveda** :
T. Chowdhury, J. B. O. R. S., Vol. XVII-Pt. I, 1930-31.
- The Orion** : B. G. Tilak, Poona, 1955 (4th ed.)
- Pāraskara Gṛhyasūtra** : ed. Adolf Freiderich Stenzler, Leipzig, 1976.
- The Parishīṣtas of Atharvaveda** : ed. G. M. Bolling & J. V. Negelein,
Leipzig, 1909.
- Ṛgveda Samhitā** (with Commentary of Sāyanācārya) : ed. F.
Maxmuller, Chowkhamba, 1966.
- Ṣaḍvīmśa Brahmaṇa** : ed. H. F. Eelsingh, Leyden, 1908,
Jivanand Vidyasagar, Calcutta, 1881.
- The Sāmavidhāna Brāhmaṇa** : ed. A. C. Burnell, London, 1873.
- The Śāṅkhāyana Āraṇyaka** : ed. A. B. Keith, Royal Asiatic Society,
London, 1908.
- Śāṅkhāyana Gṛhyasūtram** : ed. S.R. Sehgal, Munshi Ram Manoharlal,
Delhi, 1960.
- Śatapatha Brāhmaṇa** : ed. A. Weber, 1964 (2nd ed.)
- Some ātharvaṇic Portions in the Gṛhyasūtras** : B.C. Lele, Bonn, 1927.
- Śrautasūtra of Āpastamba** (with the commentary of Rudradatta) :
Richard Garbe, Asiatic Society, Calcutta, 1885.
- Sāmavidhāna** : ed. Burnell, London, 1873.
- Śvetāśvataropaniṣad** : ed. Swami Tyāgisānand, Madras, 1949.
- Taittirīya Samhitā** : A. B. Keith, Motilal Banarsidass, Delhi, 1967.
- The Twelve Principal Upaniṣads (Vol. II)** : Ed. E. Roer, Madras,
1931.
- The Twelve Principal Upaniṣads (Vol. III)** : Ed. Mitra & Cowell,
Madras, 1932.

(१८१)

Vaikhānasa Dharma praśna : ed. T. Ganapati Shastri, Trivandam,
1913.

Vanaspati : G. P. Majumdar, Calcutta University, 1927.

Vārāha Gṛhyasūtra (with short extracts from the Paddhatis of
Gaṅgādhara and Vāśiṣṭha) : ed. Dr. Raghuvir, Punjab
University, Lahore, 1932.

Śrī Vāśiṣṭha Dharmaśāstra : ed. Rev. Alois Anton Fuhrer, Govt.
Central Book Depot, Bombay, 1883.

Vedāṅga Jyotiṣam : ed. R. Shama Shastry, Mysore, 1936.

Vedic Index (Vol. I & II) : Macdonell A. A. & Keith A. B.,
Motilal Banarasidass, Delhi, 1958.

Vedic Plants : G. P. Majumdar, B. C. Law Vol. I, pp. 645-66,
Indian Research Institute, Calcutta 1945.



परिशिष्ट १

वनौषधियों के पर्याय तथा वैज्ञानिक नाम

पर्याय	वैज्ञानिक नाम
अक्ष बिभीतक, विभीदक, बभ्रु, कलि	<i>Terminalia belerica</i> Roxb.
अगव	<i>Aquillaria agallocha</i> Roxb.
अजशृंगी अराट्की, तीक्ष्णशृङ्गी	1. <i>Gynandropsis pentaphylla</i> DC. 2. <i>Cleome viscosa</i> Linn.
अजीता अपराजिता, अपरका, गिरिकर्णिका	<i>Clitorea ternatea</i> Linn.
अणु	<i>Panicum miliaceum</i> Linn.
अतसी कुमा, उमा	<i>Linum usitatissimum</i> Linn.
अतिबला कङ्कतदन्ती	<i>Abutilon indicum</i> (Linn.) SW.
अधःपुष्पी अन्धपुष्पिका, हरितपुष्पा	<i>Trichodesma indicum</i> R. Br.
अध्याष्टा	<i>Mucuna</i> sp.
अपामार्ग प्रतीचीनफल, प्रत्यक्पुष्पा, प्राचीनकण्टक	<i>Achyranthes aspera</i> Linn.
अमन्त्रि अमृता, गुडूची, ओजोमानो, कुद्रोचो,	<i>Tinospora cordifolia</i> (Willd) Miers.
चक्राङ्किता	
अमला आमलकी, आमलक, धात्री	<i>emblica officinalis</i> Gaertn.

(१८४)

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
जम्लिका	तिन्तिडोक	<i>Tamarindus indica</i> Linn.
जरट्टु	अरलु	<i>Ailanthus excelsa</i> Roxb.
जरणी		<i>Clerodendrum</i> <i>phlomidis</i> Linn. f.
जरिभेद		<i>Acacia leucophloea</i> Willd.
जरिष्ट	पूयवृक्षफल	<i>Sapindus mukorossi</i> Gaertn.
जरुंकर	भल्लातक	<i>Semecarpus</i> <i>anacardium</i> Linn. f.
जरु		<i>Calotropis procera</i> (Ait) R. Br.
जरुन	(१) वृणवाचक-फाल्गुन, वधुतूल, लोहिततूल (२) वृक्षवाचक-इन्द्रवृक्ष, ककुभ	<i>Terminalia arjuna</i> W. & A.
जलावू		<i>Lagenaria vulgaris</i> Ser.
जशोक		<i>Saraca indica</i> Linn.
जश्मगन्धा	अश्वगन्धा, अश्ववावती	<i>Withania somnifera</i> Dunal.
जश्मला		<i>Bergenia ligulata</i> (Wall.) Engl.
जश्मन्तक	अश्मयोक्त	<i>Bauhinia malaba-</i> <i>rica</i> Roxb.
जश्वत्य	पिप्पल, ब्रह्मवृक्ष	<i>Ficus religiosa</i> Linn.
जसन		<i>Pterocarpus</i> <i>marsupium</i> Roxb.
जहिच्छत्रक	सुम्प, छत्राक	<i>Agaricus campestris</i> Linn.
जाकाशफेन		<i>Cassytha filiformis</i> Linn.

(१८५)

पर्याय	वैज्ञानिक नाम
आखु	<i>Ipomoea</i>
अलजन हरितभेषज	<i>reniformis</i> Chois.
आटख	<i>Hardwickia binata</i> Roxb.
वृष, वासा	<i>Adhatoda vasica</i> Nees.
आदार	<i>Cymbopogon</i>
पूतोक, ऊतोक, भूस्तृण,	<i>martini</i> (Roxb) Wats.
आम्र	<i>Mangifera indica</i> Linn.
आरग्वध	<i>Cassia fistula</i> Linn.
वधक, बधक, बाधक, राजवृक्ष, व्याधिघात, शम्याक, बाधातक	
आर्द्रक	<i>Zingiber officinale</i> Roscoe.
शृङ्गवेर, गुण्ठी, महौषध	
आवय	<i>Brassica campestris</i>
सर्षप, तीक्ष्णतैल, नीविभार्य, (१) बज-सिद्धार्थ, गौरसर्षप पिङ्ग (२) कृष्णसर्षप	Var. <i>sarson</i> Prain.
आसुरो	<i>B. juncea</i> Linn.
राजिका, लोकेशी, सुरेखरी, वृद्धपुत्री, कटुका, कटुकपत्रा, रक्तवर्णा, किलासनाशन	<i>B. nigra</i> Linn.
शु	<i>Saccharum</i>
	<i>officinarum</i> Linn.
इङ्गिड	
इङ्गुदी	<i>Balanites</i>
	<i>aegyptiaca</i> (Linn) Delile.
इज्जल	<i>Barringtonia</i>
	<i>acutangula</i> (Linn) Gaertn.

(१८६)

पर्याय

वैज्ञानिक नाम

इत्कट		Sesbania
		bispinosa (Jacq)
		Fawcett & Rendle.
उच्छुष्मा	कपिकच्छू	Mucuna pruriens DC.
उत्तानपर्णा	सुभगा, देवजूता, सहस्वती, पाठा, सहमाना, सहीयसी	Cissampelos pariera Linn.
उदुम्बर	फलवृक्ष, महावृक्ष, ऊर्जवान्, उदोजस, भद्र	Ficus
उपवाका		glomerata Linn.
		Wrightia tomentosa
		Roem. & Schult
उपोदकी		Basella rubra Linn
उर्वाह	एर्वाह, कर्कटिका	Cucumis
		utilissimus Roxb.
उल		Skimmia laureola
		Sieb & Zucc. ex Walp
उशाना		
उशीर	नलद, वोरिण, वीरण	Vetiveria zizanioides (Linn) Nash.
ऊर्जयन्ती		
ऋतावरी	बृहत्पलाशा, सुभगा, वर्षवृद्ध	
ऋद्धि		habenaria sp.
ऋषभ		Microstylis wallichii Lindl.
एरका		Typha elephantina Roxb.
एरण्ड	ताजदभङ्ग	Ricinis communis Linn.
एला	त्रुटि	Elettaria
		cardamomum Maton.
कच्छुरा		Fagonia cretica Linn.

(१८७)

कटभी		<i>Albizzia procera</i> (Roxb) Benth.
कष्ट	कष्टकारी, कष्टाकी, लघुकष्टकारी, व्याघ्री, व्याघ्रदन्ती, सिही	<i>Solanum</i> <i>xanthocarpum</i> Schrاد & Wendle.
कदम्ब	नीप	<i>Anthocephalus</i> cadamba Mi.
कदर		<i>Acacia suma</i> Buch. Ham.
कदली		<i>Musa paradisiaca</i> Linn.
कनकनक	धतूर	<i>Datura stramonium</i> Linn.
कन्दली	शिलीन्ध्र	<i>Crinum</i> sp.
कपित्थक	दधित्थ	<i>Feronia limonia</i> (Linn) Swingle.
कमल	नलिन, पद्म, पुण्डरीक, पुष्कर, आण्डीक	<i>Nelumbo</i> nucifera Gaertn.
कम्पिल्लक	काम्पील	<i>Mallotus</i> philppinensis Muell Arg.
करंज		<i>Pongamia pinnata</i> (Linn.) Merr.
करवीर	सैकपर्ण	<i>Nerium indicum</i> Mill.
करीर		<i>Capparis aphylla</i> Roth.
कर्कटश	शृंगी	<i>Pistacia integerrima</i> Stew ex Brandis.
कर्कन्धु		<i>Zizyphys nummularia</i> W. H.
कर्पास		<i>Gossypium</i> herbaceum Linn.

(१८८)

पर्याय	वैज्ञानिक नाम
कपूर	Cinnamomum camphora Nees & Eberm,
कलञ्ज रक्तलशुन	Pisum sativum Linn.
कलाय	Scirpus kyssor Roxb.
कशेरुक	Peristrophe
काकजंघा	bicalyculata Nees.
काकवीर	Abrus precatorius Linn.
काकातनी काकिणी, गुग्जा, कृष्णल	Bauhinia variegata Linn.
काञ्चनार	Ranunculus sceleratus Linn.
काण्डीर	Aconitum sp.
कान्दाविष शार्ङ्गविष	Strychnos nuxvomica Linn
कारस्कर	Gmelina arborea Linn.
कार्णर्मय	Saccharum spontaneum Linn.
काश मरबवार	Blumea lacera DC.
कुकुन्दर	Crocus sativus Linn
कुङ्कुम	Jasminum multiflorum Andr.
कुन्द	Aloe vera Tourn ex Linn.
कुमारी बाला	Nymphaea alba Linn.
कुमुद उत्पल	Barleria prionitis Linn.
कुरष्टक	Dolichos biflorus Linn.
कुलत्थ खलकुल	Saccharum sp.
कुशर	

(१८९)

पर्याय	वैज्ञानिक नाम
कुपुम्भ	महारजन
कुष्ठ	नघ, नघमार, नघारिष, तक्मनाशन, अमृतपुष्प, त्रायमाण, दुर्नाम
कुस्तुम्बर	Carthamus tinctorius Linn.
कुष्माण्ड	Saussurea lappa C. B. Clarke Coriandrum sativum Linn.
कृमुक	कृमुक, अपस्कम्भ
कृष्णा	इन्द्रवारुणी, गवादनी, इन्द्रवल्ली, इन्द्राणी citrus coloyntis Schrad.
कृष्णाजाजी	Nigella sativa. Linn.
केशी	उद्दालक (वनकोद्वय)
कोद्वय	Paspalum scrobiculatum Linn. Zizyphus juJuba Lam.
कोल	कवल, कुवल, कवल, बदर
कोशकारी	कोशबिला
कोशातकी	Luffa acutangula Roxb.
क्षवक	Centipeda minima (Linn) A.Br. et Aschers.
खदिर	विबाध
खर्जूर	Acacia catechu Willd. Phoenix sylvestris Roxb.
खल्व	निष्पाव
गवेधुका	Dolichos lablab Linn. Coix lachryma-jobi Linn.
गुग्गुलु	Commiphora mukul (Hook ex Stocks) Engl.
गुन्द्र	पटेरक
गुवाक	पूग
	Typha angustata Bory and Chaub. Areca catechu Linn.

(१९०)

पर्याय

वैज्ञानिक नाम

गृञ्जन		<i>Triticum aestivum</i>
गोधूम		Linn.
चक्रमर्दक		<i>Cassia tora</i> Linn
चणक	कृष्णचणक	<i>Cicer arietinum</i> Linn.
चन्दन	श्वेतचन्दन	<i>Santalum album</i> Linn.
चम्पक		<i>Michelia campaka</i>
		Linn.
चित्रक		<i>Plumbago zeylanica</i>
		Linn.
चित्रपर्णी	पृश्निपर्णी, कण्वजम्भनी, सहस्वती, सहमाना, अंशुमती	<i>Uraria picta</i> Desv.
चीपुद्रु	शीपुद्रु, सरल, श्रीवेष्टक	<i>Pinus longifolia</i> Roxb
चेतन्ती		
जङ्गिड	विष्कन्धदूषण	
जपा		<i>Hibiscus rosa-sinensis</i>
		Linn.
जम्बीर		<i>Citrus limon</i> (Linn)
		Burm. f.
जम्बू		<i>Syzygium cumini</i>
		(Linn) Skeels.
जयन्ती		<i>Sesbania sesban</i> (Linn)
		Merr.
जर्तिल		
जाती	मालती	<i>Jasminum.</i>
		<i>grandiflorum</i> Linn.
जातीफल		<i>Myristica fragrans</i>
		Houtt.
जीवन्ती		<i>Leptadenia reticulata</i>
		W. & A.
तगर		<i>Valeriana wallichii</i> DC.
तण्डुलीयक		<i>Amaranthus spinosus</i>
		Linn.

(१९१)

पर्याय	वैज्ञानिक नाम
तमाल	<i>Garcinia morella</i> Desr.
तलाशा	तालीश
ताम्बूल	<i>Abies webbiana</i> Linn.
ताल	<i>Piper betle</i> Linn.
तिनिश	<i>Borassus flabellifer</i>
रथबन्धुर, स्यन्दन, स्यन्दन, तुन्यु	Linn.
तिन्दुक	<i>Ougeinia</i>
तिल	<i>dalbergioides</i> Benth.
तिलक	<i>Diospyros</i>
प्रतिसर, सक्त्य	<i>embryopteris</i> Pers.
तिल्वक	<i>Sesamum indicum</i>
तुलसी	Linn.
सुरसा	<i>Wendlandia exerta</i> Dc.
तृष्टा	<i>Ocimum sanctum</i>
घुणजंभनी, विषातकी, परिवृक्ता,	Linn.
बाणापर्णी, शरपुंखा, विषा	<i>Tephrosia purpurea</i>
त्रपुस	(Linn) Pers.
त्रायमाणा	<i>Cucumis sativus</i> Linn.
त्रिकण्टक	<i>Gentiana kurroo</i> Royle.
गोक्षुर, श्वदंष्ट्रा	<i>Tribulus terrestris</i> Linn.
दर्भ	(१ शतकाण्ड, सहस्रकाण्ड, सहस्रपर्ण, <i>Imperata cylindrica</i>
सहस्रवीर्य, दुश्च्यवन, वेदतृण, अच्छिद्रपर्ण	Beauv.
सहमान, सहस्रवल्ग, ग्रु. उग्रोषधि, सहस्य	<i>Desmostachya</i>
(२) कुश. अमृततृण	<i>bipinnata</i> Stapf.
दाडिम	<i>Punica granatum</i> Linn.
दारु	<i>Cedrus deodara</i>
देवदारु, कसाम्बु, भद्रदारु, पूतद्रु,	(Roxb.) Loud.
पूतदारु	<i>Berberis aristata</i> DC.
दारुहरिद्रा	पीतुदारु
दूर्वा	<i>Cynodon dactylon</i>
अषद्विष्टा, अनन्ता, आषाढा,	(Linn) Pers.
सहमाना,	

(१९२)

पर्याय

वैज्ञानिक नाम

सहस्रवीर्या, सहस्रकाण्ड, शतमूला,
शतांकुरा, शपथयोपनी, देवजाता वीर्य,
शतपर्वा, शाद्, अपाघा

द्राक्षा	मृद्वीका	<i>Vitis vinifera</i> Linn.
धन्वन		<i>Grewia tiliaefolia</i> Vahl.
धव		<i>Anogeissus latifolia</i> Wall.
धातकी		<i>Woodfordia fruticosa</i> Kurz.
धूपतृण		<i>Cymbopogon</i> sp. <i>Phragmites maxima</i> Blatter & Mc Cann.
नड		
नलदी	केशी, केशानी, मांसी, वालदुच्छ	<i>Nardostachys jatamansi</i> DC.
नाकुली		<i>Aristolochia indica</i> Linn.
नागकेशर		<i>Mesua ferrea</i> Linn.
नारङ्ग	नालिङ्ग	<i>Citrus reticulata</i> Blanc.
नारिकेल		<i>Cocos nucifera</i> Linn.
नितत्ती	काकमाची, काचीमाची, केशबृंहणी केशवर्धनी, जीवी, छुपुणीका, देवी	<i>Solanum nigrum</i> Linn.
निम्ब	पिचुमन्द	<i>Azadirachta indica</i> A. juss.
निर्गुण्डी		<i>Vitex negundo</i> Linn.
नीलिका	नीली, असिकनी, काला	<i>Indigofera tinctoria</i> Linn.
नीवार	आम्ब, नाम्ब	<i>Hygroryza aristata</i> Nees.
न्यग्रोध	बट	<i>Ficus bengalensis</i> Linn.

(१९३)

पर्याय

वैज्ञानिक नाम

न्यस्तिका	सुभगंकरणी, सहस्रपर्णी, शंखपुष्पी	<i>Convolvulus pluricaulis</i> Chois.
पत्तूर	बभ्रु, शुक्लपुष्पा, समुष्पला, संवननो	<i>Alternanthera sessilis</i> (Linn) R. Br.
पद्मक		<i>Prunus cerasoides</i> D. Don.
पनस		<i>Artocarpus heterophyllus</i> Lam.
परारिका		
परुषक	परुषवार, परुषाह्व	<i>Grewia asiatica</i> Linn.
पर्ण	पलाश, आह्व, किशुक	<i>Butea monosperma</i> (Lam) Kuntze.
पर्वट		<i>Fumaria indica</i> Pugsley.
पलाण्डु		<i>Allium cepa</i> Linn.
पाकदूर्वा	शाण्डदूर्वा, क्याम्बू, मुस्ता, व्यल्कशा, कम्बू	<i>Cyperus rotundus</i> Linn.
पाटली		<i>Schrebera swietenioides</i> Roxb.
पारिभद्रिका		<i>Erythrina indica</i> Lam.
पालक्य		<i>Spinacea oleracea</i> Linn.
पिचुक		<i>Hibiscus cancellatus</i> Roxb.
पिण्डालुक		<i>Dioscorea</i> sp.
पिण्डीतक		<i>Randia uliginosa</i> DC.
पिप्पली	अतिविद्धभेषजी, क्षिप्तभेषजो, वातीकृतभेषजो	<i>Piper longum</i> Linn.
पीलु		<i>Salvadora persica</i> Linn.

१३ द्र० च०

(१९४)

पर्याय	वैज्ञानिक नाम
पीलुमती	<i>Salvadora</i> sp.
पुत्रजीवक	<i>Putranjiva roxburghii</i> Wall.
पुनर्नवा वर्षाभू	<i>Boerhaavia diffusa</i> Linn.
पुन्नाग तुङ्ग	<i>Calophyllum</i> <i>inophyllum</i> Linn.
प्राक्पुष्पा	<i>Calotropis gigantia</i> (Linn) R. Br. ex Ait.
प्राचीनकण्टक	<i>Achyranthes aspera</i> Linn.
प्रियङ्गु फलवती	<i>Callicarpa macro-</i> <i>phylla</i> Vahl.
प्रियाल	<i>Buchanania lanzan</i> . Spreng.
प्लक्ष प्लक्षोदुम्बर, पिप्परी	<i>Ficus lacor</i> Buch-Ham.
बकुल बकुल	<i>Mimusops elengi</i> Linn.
बन्धुजीवक बन्धूक	<i>Pentapetes phoenicea</i> Linn.
बेला सहा, सहमाना, जीवला, वीर्यवती, विषदूषणी, नघारिषा, सहस्वती, अर्जुनपाकी, श्वेतपाकी,	<i>Sida cordifolia</i> Linn.
बल्वज	<i>Pollinidium angusti-</i> <i>foium</i> Comb. Nov.
बाल्लिका	<i>Coccinia indica</i> W. & A.
बिम्बो	<i>Aegle marmelos</i> Corr.
बिल्व श्रीफल	<i>Acacia arabica</i> Willd.
बुर्बुर	<i>Solanum indicum</i> Linn.
बृहतो बृहत् कण्टकारिका	
ब्रह्मसुवर्चला	

(१९५)

पर्याय	वैज्ञानिक नाम
ब्राह्मी	Bacopa monnieri (Linn) Pennell.
भंङ्ग	Cannabis sativa Linn.
भव्य	Dillinia indica Linn.
भूर्ज	Betula utilis D. Don.
भृङ्गराज	Eclipta alba Hassk.
भृङ्गरक, रामा, अलाका, श्यामा, सरूपकरणी	
मन्जिष्ठा	Rubia cordifolia Linn.
मण्डूकपर्णी	Centella asiatica (Linn) Urban.
मदन	Randia dumetorum Lam.
मादानक	
मदावती	अग्निखाता
मधुष	मधुक, यष्टीमधु, ज्येष्ठीमधु, मधुजाता, Glycyrrhiza glabra मधुयष्टिका, मधुला, मशकजम्भनी, Linn. मचकचातनी, मधूलिका, मध्वष्ठीला ऋतजात, ऋतावरी, क्लीतक
मधुक्रोडा	वाराही, सुकरवालक
मधूक	मन्धुक
	Dioscorea sp. Madhuca indica J. F. Gmel.
मयूरशिखा	शिखण्डी
	elephantopus scaber Linn.
मरिच	Piper nigrum Linn.
मल्लिका	मदयन्ती
	Jasminum sambac Ait.
मसूप	
मसूर	मङ्गल्य
	Lens culinaris Medic.
महाबला	Sida rhombifolia Linn.
मातुलुङ्ग	Citrus medica Linn.
माष	Phaseolus mungo Linn.
माषपर्णी	Teramnus labialis Spreng.
खलतुलपर्णी	

(१९६)

पयाय

वैज्ञानिक नाम

मुक्तिका		Jasminum sp.
मुद्ग		Phaseolus radiatus
मूर्वा		Linn.
मूलक		Marsdenia
मेषशृंगी		tenacissima W. & A.
यव		Raphanus sativus Linn.
यवाष		Gymnema sylvestre
रक्तचन्दन		R. Br.
रजनी	हरिद्रा, पीला	Hordeum vulgare Linn.
रज्जुदाल	निचुदार	Alhagi camelorum
राजमाष		Fisch.
रामठ	हिंगु	Pterocarpus
रोहिणी		santalinus Linn. f.
रोहितक	लोहितवृक्ष	Curcuma longa Linn.
लकुच		Olex scandens Roxb.
लवंग		Vigna cylindrica
लवणी		Skeels.
लशुन		Ferula foetida Regel.
लाक्षा	सिलाची, घृताची, जतु, अरुन्धती	Soymida febrifuga
		A. Juss.
		Tecomella undulata
		(G. Don) Seem.
		Artocarpus lakoocha
		Roxb.
		Syzygium
		aromaticum (Linn)
		Merr & M. Perry.
		Cicca acida (Linn)
		Merrill.
		Allium sativum Linn.
		Laccifer lacca (Kerr)

(१९७)

पर्याय	वैज्ञानिक नाम
लिंगा	<i>Bryonopsis laciniosa</i> Linn.
लोथ	<i>Symplocos racemosa</i> Roxb.
वचा	<i>Acorus calamus</i> Linn.
वज्जुल वेतस	<i>Salix caprea</i> Linn.
वन्दना	<i>Loranthus longiflorus</i> Desr.
वंश वेणु, तेजन, सुषिर, दण्डन	<i>Bambusa</i> <i>arundinacea</i> Willd.
वरण वराण, शमका, शमुक	<i>Crataeva nurvala</i> Buch-Ham.
वार्ताकु श्वेतवृन्ताक	<i>Solanum melongena</i> Linn.
वास्तूक	<i>Chenopodium</i> <i>album</i> Linn.
विकङ्कत	<i>Flacourtia indica</i> Merr.
विडंग	<i>Embelia ribes</i> Burm. f.
विदारी	<i>Puraria tuberosa</i> DC.
विषाणका सहस्रचक्षु, इन्द्राक्ष	<i>Saussurea</i> sp.
वीरतर	<i>Dichrostachys</i> <i>cineria</i> W. & A.
वेत्र	<i>Calamus tenuis</i> Roxb.
व्रोहि शालि, षष्टिक	<i>Oryza sativa</i> Linn.
शण	<i>Crotalaria juncea</i> Linn.
शणफला	<i>C. verrucosa</i> Linn.
शतपुष्पा	<i>Foeniculum vulgare</i> Mill.
शतवार हिरण्यशृंग, ऋषभ, दुर्गाम्बातन, शतावरी, बहुपुत्रिका, शतमूला, शतांकुरा	<i>Asparagus racemosus</i> Willd.

(१९८)

पर्याय

वैज्ञानिक नाम

शफक	शृंगाटक	<i>Trapa bispinosa</i> Roxb.
समी		<i>Prosopis spicigera</i> Linn.
शशप	शिशपा	<i>Dalbergia sissoo</i> Roxb.
शर	भद्र मुञ्ज	<i>Saccharum munja</i> Roxb.
	मुञ्ज, अरुन्नाण, आन्नावभेज	
शल्मलि	शिम्बल	<i>Bombax ceiba</i> Linn.
शाक		<i>Tectona grandis</i> Linn. f.
शाल	साल	<i>Shorea robusta</i> Gaertn.
शिपु		<i>Moringa pterygo-sperma</i> Gaertn.
शितीवार	सितीवार,	<i>Celosea argentea</i> Linn.
शिरीष	शीर्षपर्णी	<i>Albizzia lebbeck</i> Benth.
शीपाल	शेवल, शेवाल, शैवाल, अबका,	
	शोबला, शीतिका	
शेफालिका		<i>Nyctanthes arbor-tristis</i> Linn.
शेलु	श्लेष्मातक	<i>Cordia myxa</i> Roxb.
शैलेय		<i>Parmelia perlata</i> Ach.
श्यामाक		<i>Echinochloa frumentacea</i> Linn.
संदंष्टुपा	सहस्रचक्षु	<i>Alstonia scholaris</i> R. Br.
सप्तपर्ण		<i>Vateria indica</i> Linn.
सर्ज	सर्जक, सर्जरस	<i>Rauwolfia serpentina</i> Benth ex Kurz.
सर्पसुगन्धा		

(१९९)

पर्याय	वैज्ञानिक नाम
सल्लको	<i>Boswellia serrata</i> Roxb.
सवंशा	<i>Desmodium</i> <i>gageticum</i> Dc.
सह	<i>Sida</i> sp.
सहदेवी भेषजेश्वरी, सहस्रवीर्य, सप्तजित	„
सहदेव (वा) शपथयोपनी, सहमाना, पुनः सरा, अरुन्धती, विश्वरूपा, सुभगा, जीवला	„
सारिवा	<i>Hemidesmus indicus</i> R. Br.
सिद्धेश्वर सिद्धक	<i>Lagerstroemia</i> <i>parviflora</i> Roxb.
सुगन्धितेजन सुगन्धिक, तेजनी, तुम्बुर, तुम्बुर, तीक्ष्णवल्श	<i>Zanthoxylum alatum</i> Roxb.
सुवर्चला सोवर्चला	
सोम	
स्पृक्का	<i>Delphinium zalil</i> Aitch & Hemsl.
स्योनाक स्फूर्जक	<i>Oroxylum indicum</i> Vent.
हपुषा	<i>Juniperus communis</i> Linn.
हरिद्रु हरिद्रव	<i>Adina cordifolia</i> Benth & Hook. f.
हरीतकी पथ्या, अभया	<i>Terminalia chebula</i> Retz.



परिशिष्ट २

ऋग्वेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ एवं उनके पर्याय

१ अक्ष	२४ दर्भ	४७ वंश
२ अतसी	२५ दूर्वा	४८ विश्वभेषजी
३ अरट्ट	२६ नड	४९ वीरण
४ अवघ्नती	२७ परायती	५० वेणु
५ अश्वत्थ	२८ पर्ण	५१ वेतस
६ अश्वानती	२९ पाकदूर्वा	५२ शर
७ आञ्जन	३० पाकवलि	५३ शल्मलि
८ आयती	३१ पाठा	५४ शाकवलि
९ आलक	३२ पिप्पल	५५ शातृ
१० उत्तानपर्णा	३३ पिषती	५६ शिग्रु
११ उदोजस	३४ पुष्कर	५७ शिंशपा
१२ उर्वस्कि	३५ बल्वज	५८ शिलाची
१३ उलप	३६ बिभीतक	५९ शीतिका
१४ ऊर्जयन्ती	३७ बिल्व	६० शीपाल
१५ काकम्बीर	३८ भङ्ग	६१ सैर्य
१६ किशुक	३९ मधुला	६२ सोम
१७ कुशर	४० मुञ्ज	६३ सोमावती
१८ क्याम्बू	४१ यव	६४ स्पन्दन
१९ खदिर	४२ यवस	६५ स्वधिति
२० घृताची	४३ रोपणाका	६६ हिरण्यपर्ण
२१ जलाशभेषज	४४ लाक्षा	६७ ह्लादिका
२२ तेजन	४५ लिबुजा	
२३ त्रायमाणा	४६ लोध	

परिशिष्ट ३

यजुर्वेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ और उनके पर्याय

१ अपामार्ग	२८ गोधूम	५५ मन्धुक
२ अर्क	२९ घृताची	५६ मसूर
३ अर्जुन	३० चणक	५७ माष
४ अलाबू	३१ चतुष्कोण वनस्पति	५८ मुञ्ज
५ अवका	३२ जम्बीर	५९ मुद्ग
६ अश्वत्थ	३३ जत्तिल	६० यव
७ अश्ववार	३४ तिल	६१ यवस
८ अश्वावती	३५ तिल्वक	६२ यवाष
९ आञ्जन	३६ दर्भ	६३ रोहितक
१० आम्ब	३७ दूर्वा	६४ वंश
११ इक्षु	३८ नितली	६५ वरण
१२ उदुम्बर	३९ नीवार	६६ वर्षाहू
१३ उदोजस	४० न्यग्रोध	६७ वर्षाह्वा
१४ उपवाका	४१ पर्ण	६८ विकंकत
१५ करीर	४२ पीतुदार	६९ वृष
१६ कर्कन्धु	४३ पुष्कर	७० वेणु
१७ कार्मर्य	४४ पूतद्रु	७१ वेतस
१८ कुवल	४५ पूतीक	७२ ब्रीहि
१९ कुश	४६ पियंगु	७३ शमी
२० कृष्णल	४७ प्लक्ष	७४ शर
२१ क्रमुक	४८ बदर	७५ शल्मलि
२२ खदिर	४९ बल्वज	७६ श्यामाक
२३ खर्जूर	५० बिभीतक	७७ सहमाना
२४ खल्व	५१ बिल्व	७८ सुगन्धितेज
२५ गर्भुत्	५२ भूर्ज	७९ सोम
२६ गवेधुका	५३ मधुला	८० सोमावती
२७ गुग्गुलु	५४ मध्वष्ठीला	८१ श्लेकपर्ण
		८२ हिरण्यपर्ण



परिशिष्ट ४

अथर्ववेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ और उनके पर्याय

१ अक्ष	२७ अश्ववार	५३ ऋतावरी
२ अघद्विष्टा	२८ अश्वावती	५४ औक्षगन्धि
३ अजशृंगी	२९ असिकनी	५५ कंकतदन्ती
४ अजिर	३० अस्तृत	५६ कनकनक
५ अतसी	३१ आघाट	५७ कपित्थक
६ अतिविद्धभेषजी	३२ आञ्जन	५८ कबू
७ अहृष्टदहनी	३३ आण्डीक	५९ कमल
८ अपराजिता	३४ आलक	६० कम्बला
९ अपस्कम्भ	३५ आवयु	६१ कर्कटश
१० अपामार्ग	३६ आसुरी	६२ कर्कन्धु
११ अपाष्ठ	३७ आस्रावभेषज	६३ कर्करी
१२ अभिरोरुद	३८ इट	६४ कर्षफ
१३ अभ्रिखाता	३९ इन्द्राणी	६५ कल्मलि
१४ अमूला	४० इषीका	६६ कान्दाविष
१५ अरटु	४१ ईष्यभेषज	६७ किलासनाशन
१६ अराटकी	४२ उग्रीषधि	६८ किलासभेषज
१७ अरुन्धती	४३ उच्छुष्मा	६९ कुमुद
१८ अरुत्ताण	४४ उत्तानपर्णी	७० कुवल
१९ अर्क	४५ उत्सक्तभेषज	७१ कुष्ठ
२० अर्जुन	४६ उदुम्बर	७२ कूदी
२१ अलसाला	४७ उदोजस	७३ कृतव्यधनी
२२ अलाबू	४८ उन्नयन्ती	७४ केशदहणी
२३ अवका	४९ उर्वारिक	७५ केशवर्धनी
२४ अवालिन्स	५० उलप	७६ केशी
२५ अश्मला	५१ उर्जयन्ती	७७ कोशबिला
२६ अश्वत्थ	५२ ऋतजात	७८ क्याम्बू

(२०३)

७९ क्रकोष्मा	११० तेजन	१४१ पर्ण
८० क्लीवकरणौ	१११ तोदी	१४२ पर्णधि
८१ क्षिप्तभेषजी	११२ तोविलिका	१४३ पर्णा
८२ क्षुम्प	११३ त्रायमाणा	१४४ पला
८३ क्षेत्रियनाशनी	११४ त्रिवृत्	१४५ पलाश
८४ खदिर	११५ दण्डन	१४६ पाटा
८५ खत्व	११६ दर्भ	१४७ पिंग
८६ गुग्गुलु	११७ दशवृक्ष	१४८ पिप्पली
८७ गोधूम	११८ दारुपत्रा	१४९ पीला
८८ चतुरंगुल	११९ दिप्सोषधि	१५० पीलु
८९ चित्ति	१२० दुश्च्यवन	१५१ पुण्डरीक
९० चीपुद्गु (शीपुद्गु)	१२१ दूर्वा	१५२ पुनर्नवा
९१ चेतन्ती	१२२ देवमुनि	१५३ पुरुषभेषज
९२ च्युकाकणी	१२३ धव	१५४ पुष्कर
९३ जंगिड	१२४ नधारिषा	१५५ पुष्कला
९४ जलाषभेषज	१२५ नड	१५६ पुष्पा
९५ जाल्य	१२६ नद्य	१५७ पूतद्रु
९६ जीवन्त	१२७ नद्यमार	१५८ पूतिरज्जु
९७ जीवन्ती	१२८ नद्यारिष	१५९ पृश्निपर्णी
९८ जीवला	१२९ नराची	१६० पृषातक
९९ तरुणक	१३० नरिष्ठा	१६१ पैट्र
१०० तलाश	१३१ नलद	१६२ प्रतिसर
१०१ तस्तुव	१३२ नलदी	१६३ प्रबन्धिनी
१०२ ताजद्भंग	१३३ नानारोगभेषज	१६४ प्रमन्दनी
१०३ ताबुव	१३४ नितली	१६५ प्रेणी
१०४ ताष्टाधि	१३५ नीलागलसाला	१६६ प्लक्ष
१०५ तिल	१३६ नीविभार्य	१६७ बज
१०६ तीक्ष्णवल्श	१३७ न्यग्रोध	१६८ बभ्रु
१०७ तीक्ष्णशृंगी	१३८ न्यस्तिका	१६९ बला
१०८ तृष्टा (ष्टिका)	१३९ पुरुषवार	१७० बलासनाशिनी
१०९ तृष्टाधि (ष्टन)	१४० पुरुषाह्व	१७१ बलासभेषज

(२०४)

१७२ बल्बज	२०३ लिबुजा	२३४ व्याघ्री
१७३ बाल्लिका	२०४ लोहितवृक्ष	२३५ व्यालक
१७४ बिभीतक	२०५ बट	२३६ व्रीहि
१७५ बिम्ब	२०६ बधक	२३७ शंखपुष्पी
१७६ बिल्व	२०७ वंश	२३८ शण
१७७ बिस	२०८ वरण	२३९ शतकाण्ड
१७८ भंगा	२०९ वातीकृतभेषजी	२४० शतपर्वा
१७९ भद्र	२१० वातीकृतनाशिनी	२४१ शतवार
१८० मण्डूकपर्णी	२११ बालकुच्छ	२४२ शतशाख
१८१ मदावती	२१२ विकंतक	२४३ शफक
१८२ मधुघ	२१३ वितन्त्री	२४४ शमक (का)
१८३ मधुक	२१४ विवाध	२४५ शमी
१८४ मधुजाता	२१५ विशफ	२४६ शंशप
१८५ मधुमती	२१६ विशिलष्टभेषज	२४७ शर
१८६ मधुला	२१७ विश्वभेषजी	२४८ शलाज्जाला
१८७ मधूलक	२१८ विषदूषणी	२४९ शाण्डदूर्वा
१८८ मशकजंभनी	२१९ विषा	२५० शालूक
१८९ महावृक्ष	२२० विषाणका	२५१ शिखण्डी
१९० माष	२२१ विषातकी	२५२ शिशपा
१९१ माषपर्णी	२२२ विस्कन्धदूषण	२५३ शिलाची
१९२ मुञ्ज	२२३ विहल्ह	२५४ शीतिका
१९३ मुलाली	२२४ विह्वल	२५५ शीपाल
१९४ यक्षमनाशिनी	२२५ वीरण	२५६ शेषहर्षणी
१९५ यव	२२६ वीरोदीक	२५७ शेव (वा) ल
१९६ रजनी	२२७ वृश्चिकजंभन	२५८ शोचि
१९७ रथबन्धुर	२२८ वृष्ण्यावती	२५९ श्यामा
१९८ रामा	२२९ वेणु	२६० श्यामाक
१९९ रोहिणी	२३० वेतस	२६१ सचीन
२०० रोहितक	२३१ वेदतृण	२६२ सदंफला
२०१ रोपणाका	२३२ वेष्टन	२६३ समक्तभेषज
२०२ लाक्षा	२३३ व्यल्कशा	२६४ समुष्पला

(२०५)

२६५ संवननी	२७३ सहस्रपर्ण	२८१ सोम
२६६ संस्कन्दा	२७४ सहस्रपर्णी	२८२ सोमावती
२६७ सरूपंकरणी	२७५ सहस्वती	२८३ सक्त्य
२६८ सह	२७६ सहसिनी	२८४ स्वधा
२६९ सहदेवी	७७७ सहीयसी	२८५ हरितभेषज
२७० सहमाना	२७८ सहस्य	२८६ हारिद्रव
२७१ सहस्रकाण्ड	२७९ साल	२८७ हिरण्यपुष्पी
२७२ सहस्रचक्षु	२८० सुभगंकरणी	२८८ ह्लादिका



परिशिष्ट ५

ब्राह्मणग्रन्थों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ और उनके पर्याय

१ अक्ष	१७ इषीका	३३ कृष्णल
२ अतसी	१८ उदुम्बर	३४ क्याम्बू
३ अध्याण्डा	१९ उपवाका	३५ क्रमुक
४ अपामार्ग	२० उर्वारिक	३६ खदिर
५ अर्क	२१ उशाना	३७ गवेष्टुका
६ अर्जुन	२२ ऊतीक	३८ गोधूम
७ अवका	२३ ऊर्जावान्	३९ घृताची
८ अश्वगन्धा	२४ एरण्ड	४० चन्दन
९ अश्वत्थ	२५ करवीर	४१ जित्तिल
१० अश्ववार	२६ करीर	४२ तिल
११ असिकनी	२७ कर्कन्धु	४३ तिल्वक
१२ आञ्जन	२८ कवल	४४ दर्भ
१३ आदार	२९ काचकपुष्पी	४५ द्वर्वा
१४ आम्ब	३० कार्भर्य	४६ नलद
१५ आम्र	३१ काश	४७ नाकुली
१६ इल्य	३२ कुश	४८ नाम्ब

(२०६)

४९ निबुदार	७६ भंगा	१०३ वेणु
५० नीवार	७७ भस्त्रास	१०४ वेतस
५१ न्यग्रोध	७८ भूमिपाशक	१०५ ब्रीहि
५२ पद्म	७९ मन्त्रिजघ्ना	१०६ शण
५३ पर्ण	८० मण्डूकपर्णी	१०७ शतमूला
५४ पर्वतभेषज	८१ मधुक	१०८ शतांकुरा
५५ पलाश	८२ मधुला	१०९ शमी
५६ पाकदूर्वा	८३ मसूय	११० शर
५७ पीतदारु	८४ महावृक्ष	१११ शल्मलि
५८ पुण्डरीक	८५ माष	११२ शात्
५९ पुष्कर	८६ मुञ्ज	११३ शिरीष
६० पूतद्रु	८७ यव	११४ शीपाल
६१ पूतोक	८८ यवस	११५ शुक्लशात
६२ पृश्निपर्णी	८९ रजनी	११६ श्यामाक
६३ प्रतोद	९० रज्जुदाल	११७ श्येनहृत
६४ प्रप्रोथ	९१ रास्ना	११८ सचा
६५ प्रियंगु	९२ रोपणाका	११९ सर्पसुगन्धा
६६ प्लक्ष	९३ लिबुजा	१२० सर्षप
६७ फलवती	९४ लोहिततूल	१२१ सहदेवा
६८ फाल्गुन	९५ वचा	१२२ सहस्रवल्श
६९ बदर	९६ वंश	१२३ सुगन्धितेजन
७० बभ्रुतूल	९७ वरण	१२४ सोम
७१ बल्वजं	९८ विकंकत	१२५ स्थगर
७२ बिभीतक	९९ विषा	१२६ श्लेकपर्ण
७३ बिल्व	१०० विष्णुकान्ता	१२७ हरिद्रा
७४ बृहती	१०१ वीरण	१२८ हरिद्रु
७५ ब्राह्मी	१०२ वृष	१२९ हिरण्यपर्ण



परिशिष्ट ६

उपनिषदों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ और उनके पर्याय

१ अक्ष	१२ उदुम्बर	२३ पुण्डरीक
२ अगर	१३ कुल्माष	२४ मसूर
३ अणु	१४ कोल	२५ महारजन
४ अतसी	१५ खलकुल	२६ मुञ्ज
५ अमला	१६ खत्व	२७ यव
६ अर्क	१७ गन्धवृक्ष	२८ वरण
७ अर्जुन	१८ गोधूम	२९ त्रीहि
८ अश्वत्थ	१९ तिल	३० श्यामाक
९ असिकनी	२० न्यग्रोध	३१ सर्षप
१० आमलक	२१ पलाश	
११ आम्र	२२ पिप्पल	



परिशिष्ट ७

कल्पसूत्रों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ और उनके पर्याय

१ अकर्ण	११ अधः पुष्पी	२१ अमृततृण
२ अक्ष	१२ अध्याण्डा	२२ अमृता
३ अगर	१३ अनन्ता	२३ अम्लिका
४ अषट्पिष्टा	१४ अन्धपुष्पिका	२४ अंशुमती
५ अच्छिद्रपत्र	१५ अपरका	२५ अरणी
६ अजशृंगी	१६ अपराजिता	२६ अरुद्ध
७ अजीता	१७ अपाषा	२७ अरिमेद
८ अणु	१८ अपामार्ग	२८ अरिष्ट
९ अतसी	१९ अभया	२९ अर्क
१० अतिबला	२० अमन्त्रि	३० अर्जुन

(२०८)

३१ अलसाला	६४ उच्छुष्मा	९७ कर्कटिका
३२ अलाका	६५ उत्पल	९८ कर्कन्धु
३३ अलावू	६६ उदुम्बर	९९ कर्ण
३४ अवका	६७ उद्दालक	१०० कर्णिकार
३५ अशोक	६८ उपवाका	१०१ कर्पास
३६ अश्मगन्धा	६९ उपोदकी	१०२ कर्पूर
३७ अश्मन्तक	७० उपोलव	१०३ कलञ्ज
३८ अश्मयोक्त	७१ उमा	१०४ कवल
३९ अश्वगन्धा	७२ उर्वारिक	१०५ कशेरुक
४० अश्वत्य	७३ उल	१०६ कसाम्बु
४१ अश्ववार	७४ उलप	५०७ काकजंघा
४२ असन	७५ उशीर	१०८ काकमाची
४३ असिकनी	७६ ऊर्ध्वफल	१०९ काकातनी
४४ असिपत्र	७७ एकक्लीतक	११० काकिणी
४५ आकाशफेन	७८ एरका	१११ काकुत्था
४६ आकृतिलोष्ठ	७९ एरण्ड	११२ कापोती
४७ आखु	८० एला	११३ काम्पील
४८ आञ्जन	८१ ओजोमानी	११४ कार्ण्य
४९ आटरूष	८२ ककुच	११५ कालक्लीतक
५० आण्डीक	८३ ककुभ	११६ काला
५१ आदार	८४ कटभ	११७ काश
५२ आमलक	८५ कड्विन्दु	११८ किशुक
५३ आम्र	८६ कष्ट	११९ किरि
५४ आरवध	८७ कष्टकी वृक्ष	१२० कुकुस
५५ आलक	८८ कष्टाकी	१२१ कुङ्कुम
५६ आह्व	८९ कष्टक	१२२ कुटक
५७ इक्षु	९० कदम्ब	१२३ कुद्रीची
५८ इङ्गिद	९१ कदली	१२४ कुन्द
५९ इंगुदी	९२ कपित्थक	१२५ कुमारी
६० इन्द्रवल्ली	९३ कम्पिल्लक	१२६ कुमुद
६१ इन्द्रवाष्णी	९४ कम्बू	१२७ कुरण्टक
६२ इन्द्राक्ष	९५ करञ्ज	१२८ कुलत्थ
६३ इषीका	९६ करीर	१२९ कुश

(२०९)

१३० कुषुम्भ	१६३ गौरसर्षप	१९६ तिमिरकः
१३१ कुष्ठ	१६४ गोघूम	१९७ तिल
१३२ कूदी	१६५ गु	१९८ तिलक
१३३ कूष्माण्ड	१६६ चक्रमर्दक	१९९ तिल्वक
१३४ कृतव्यधनी	१६७ चक्राङ्किता	२०० तीक्ष्णतैल
१३५ क्रमुक	१६८ चणक	२०१ तुग्य
१३६ कृष्णक	१६९ चतुरंगुल	२०२ तुम्बर
१३७ कृष्णल	१७० चन्दन	२०३ तुलसी
१३८ कृष्णाजाजी	१७१ चम्पक	२०४ तुर्यन्ती
१३९ कृसर	१७२ चित्ति	२०५ तृण
१४० केर	१७३ चित्रक	२०६ तृप
१४१ केरु	१७४ चुपुणोका	२०७ तृष्टा (ष्टिका)
१४२ केशानी	१७५ छत्राक	२०८ तृष्टाघ (घ्न)
१४३ कोद्रव	१७६ जङ्गिड	२०९ तेजनी
१४४ कोविदार	१७७ जपा	२१० त्रपुस
१४५ कोशकारी	१७८ जम्बू	२११ त्रुटि
१४६ कौवीराल	१७९ जयन्ती	२१२ दधित्य
१४७ कोशातकी	१८० जर्तिल	२१३ दर्भ
१४८ कौहक	१८१ जलाषभेषज	२१४ दशपत्रा
१४९ क्याम्बू	१८२ जाती	२१५ दशवृक्ष
१५० क्रमुक	१८३ जातीफल	२१६ दाडिम
१५१ क्लीतक	१८४ जीवन्ती	२१७ दारु
१५२ क्वल	१८५ जीवी	२१८ दारुहरिद्रा
१५३ क्षीरिणी	१८६ ज्येष्ठीमधु	२१९ दिविधुवक
१५४ क्षुम्प	१८७ तगर	२२० दुर्नाम
१५५ खर्जूर	१८८ तण्डुलीयक	२२१ दूर्वा
१५६ खलकुल	१८९ तमाल	२२२ देवदारु
१५७ खलतुलपर्णी	१९० तलाशा	२२३ देवी
१५८ गर्मुत्	१९१ ताजदंभंग	२२४ द्राक्षा
१५९ गर्ह्य	१९२ ताम्बूल	२२५ द्रुषण (द्रुघ्नी)
१६० गलाबल	१९३ तार्छ	२२६ धन्वन
१६१ गवेधुका	१९४ तार्ष्टाघ	२२७ धव
१६२ गुग्गुलु	१९५ तिन्दुक	२२८ धूपतृण

१४ द्र० च०

(२१०)

२२९ नड	२६२ पिचुमन्द	२९५ बला
२३० नलद	२६३ पिण्डालुक	२९६ बल्वज
२३१ नलिन	२६४ पिण्डीतक	२९७ बहुप (पु) त्रिका
२३२ नागकेशर	२६५ पिप्पल	२९८ बाणापर्णी
२३३ नालिग	२६६ पिप्पली	२९९ बाधक
२३४ निम्ब	२६७ पीलु	३०० बाला
२३५ निर्गुण्डी	२६८ पुण्डरीक	३०१ बिभीतक
२३६ नीप	२६९ पुत्रजीवक	३०२ बिम्बी
२३७ नीलिका	२७० पुनर्नवा	३०३ बिल्व
२३८ नीली	२७१ पुन्नाग	३०४ बिस
२३९ नीलोत्पल	२७२ पुष्कर	३०५ बृहती
२४० नीवार	२७३ पुष्पा	३०६ बृहत्कण्टकारिका
२४१ न्यग्रोध	२७४ पूग	३०७ बृहद्दूर्वा
२४२ पटेरक	२७५ पूतद्रु	६०८ ब्रह्मवृक्ष
२४३ पथ्या	२७६ पूतीक	३०९ ब्रह्मसुवर्चला
२४४ पद्म	२७७ पूतुदार	३१० ब्राह्मी
२४५ पद्मक	२७८ पृश्निपर्णी	६११ भंगा
२४६ पनस	२७९ पृषातक	३१२ भचुण्ड
२४७ परशु	२८० पैद्व	३१३ भण्डी
२४८ पराचीन	२८१ प्रतिसर	३१४ भद्रदारुणा
२४९ परारिका	२८२ प्रमन्दनी	३१५ भद्रमुञ्ज
२५० परिव्याध	२८३ प्राचीनकण्टक	३१६ भव्य
२५१ पल्लवक	२८४ प्रान्त	३१७ भांगा
२५२ पर्ण	२८५ प्रायश्चित्त	३१८ भू
२५३ पलाण्डु	२८६ प्रियंगु	३१९ भूर्ज
२५४ पवाकस्ति	२८७ प्रियाल	३२० भूस्तृण
२५५ पाकदूर्वा	२८८ प्लक्षोदुम्बर	३२१ भृङ्गरक
२५६ पाटा	२८९ फलवृक्ष	३२२ भृंगराज
२५७ पारिभद्रिका	२९० फाल्गुन	३२३ भङ्गल्य
२५८ पालक्य	२९१ बदर	३२४ मचकचातनी
२५९ पालेवत	२९२ बधक	३२५ मल्लिष्ठा
२६० पाविका	२९३ बन्धुजीवक	३२६ मण्डूकपर्णी
२६१ पाशीमूष	२९४ बन्धूक	

(२११)

३२७ मदन	३६० मूलोदक	३९३ वषा
३२८ मदयन्ती	३६१ मृद्वीका	३९४ वंश
३२९ मद्रुघ	३६२ मेटिका	३९५ वरण
३३० मधुक	३६३ मेघशृङ्गी	३९६ वर्षाभू
३३१ मधुक्रोड	३६४ मोचक	३९७ वर्षाह
३३२ मधुक	३६५ यव	३९८ वलीक
३३३ मन्धुक	३६६ यवस	३९९ वल्मीक
३३४ मयूरशिखा	३६७ रक्तचन्दन	४०० वसुक
३३५ मरिच	३६८ रक्तशालि	४०१ वाधातक
३३६ मला	३६९ रजनी	४०२ वार्त्ताकु
३३७ मशकजंभनी	३७० रज्जुदाल	४०३ वासा
३३८ मसूर	३७१ राजक्षपणी	४०४ विकंकत
३३९ मसुस्य	३७२ राजमाष	४०५ विदारी
३४० महादेवी	३७३ राजवृक्ष	४०६ विश्वामित्रतृण
३४१ महाबला	३७४ राजवृक्षपर्णी	४०७ विष्णुक्रान्ता
३४२ महारजन	३७५ राजिका	४०८ विसंसिका
३४३ महावृक्ष	३७६ रामठ	४०९ वीरण
३४४ महाव्रीहि	३७७ रूप	४१० वीरतर
३४५ महौषध	३७८ रेणु	४११ वृद्धपुत्री
३४६ मादानक	३७९ रोहिणी	४१२ वृष
३४७ मांसी	३८० रोहितक	४१३ वेणु
३४८ मालती	३८१ रोपणाका	४१४ वेतस
३४९ माष	३८२ रोहिण	४१५ वेत्र
३५० मुकुन्दक	३८३ लक्ष्मण	४१६ व्याघ्री
३५१ मुक्तिका	३८४ लघुकण्टकारिका	४१७ व्याघ्रपत्रक
३५२ मुञ्ज	३८५ लशुन	४१८ व्याघ्रदन्ती
३५३ मुतव	३८६ लाक्षा	४१९ व्रीहि
३५४ मुद्गर	३८७ लिंगा	४२० शंखपुष्पी
३५५ मुसल	३८८ लिबुजा	४२१ शण
३५६ मुस्ता	३८९ लोकेशी	४२२ शतकाण्ड
३५७ मूर्वा	३९० वंघ	४२३ शतपत्र
३५८ मूलक	३९१ वचा	४२४ शतपत्रा
३५९ मूलशत	३९२ वट	४२५ शतपुष्पा

(२१२)

४२६ शतवार	४५८ शेवल	४९० सिद्धार्थक
४२७ शतातृण	४५९ शेवाल	४९१ सिध्रक
४२८ शतावरी	४६० शोध्यन्ती	४९२ शिपुन
४२९ शक्तिग	४६१ श्मशानवृक्ष	४९३ सिही
४३० शमक (का)	४६२ श्यामा	४९४ सिलृत्कक
४३१ शमी	४६३ श्यामाक	४९५ सुगन्धितेजन
४३२ शमीपत्रिका	४६४ श्येनहृत	४९६ सुनिषण्णक
४३३ शमुक	४६५ श्रीपर्ण	४९७ सुमंगला
४३४ शम्याक	४६६ श्रीफल	४९८ सुर (सूकर)
४३५ शर	४६७ श्रीवेष्टक	वालक
४३६ शल्मलि	४६८ श्लेष्मातक	४९९ सुरसा
४३७ शाक	४६९ श्वंदंष्ट्रा	५०० सुरेश्वरी
४३८ शाम्यवाका	४७० श्वेतक	५०१ सुलक्ष्मणा
४३९ शार्ङ्गविष	४७१ श्वेतगिरिकर्णिका	५०२ सुवर्चला
४४० शाल	४७२ श्वेतचन्दन	५०३ सुवर्णपुष्पो
४४१ शालातृण	४७३ श्वेतवृन्ताक	५०४ सुषिर
४४२ शालि	४७४ श्वेता	५०५ सैर्य
४४३ शालुक	४७५ सदपुष्पा	५०६ सोम
४४४ शिशु	४७६ सदाभद्रा	५०७ सौवर्चल
४४५ शितीवार	४७७ सप्तपर्ण (र्णी)	५०८ स्थगर
(सितीवार)	४७८ सर्ज	५०९ स्फूर्जक
४४६ शिम्बल	४७९ सर्जक	५१० स्यन्दन
४४७ शिशपा	४८० सर्जरस	५११ स्रक्त्य
४४८ शिरीष	४८१ सर्षप	५१२ स्रज्
४४९ शीतपाकी	४८२ सर्वशा	५१३ इरिणी
४५० शीतबुध्न	४८३ सहदेवी	५१४ हरितपुष्पा
४५१ शोपाल	४८४ सहमाना	५१५ हरिद्रा
४५२ शीर्य	४८५ सहस्रवीर्य	५१६ हिगु
४५३ शीर्षपर्णी	४८६ सहस्रातृण	५१७ हिरण्यपुष्पी
४५४ शुष्ठ (ण्ठी)	४८७ सहा	५१८ हिरण्यमूल
४५५ शुक्लपुष्पा	४८८ सारिवा	५१९ हका
४५६ शुकतृण	४८९ सात्रस्क	
४५७ शृंगाटक		

परिशिष्ट ८

पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा वार्तिक में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ

१ अक्ष	२९ कदर	५७ तमाल
२ अणु	३० कदली	५८ ताम्बूल
३ अतसी	३१ कन्दली	५९ ताल
४ अन्धकरणी	३२ कपित्थक	६० तिन्तिडीक
५ अमृता	३३ कमल	६१ तिल
६ अरट्ट	३४ करवीर	६२ तिलक
७ अरुणकर	३५ करीर	६३ दर्भ
८ अर्क	३६ कर्कन्धु	६४ दाडिम
९ अर्जुन	३७ कर्पास	६५ द्राक्षा
१० अर्जुनपाकी	३८ काण्डीर	६६ धातकी
११ अवका	३९ कारस्कर	६७ धात्री
१२ अशोक	४० कार्प्य	६८ नखरञ्जनी
१३ अश्वत्थ	४१ काला	६९ नड
१४ आञ्जन	४२ काश	७० नलद
१५ आमलक	४३ किश्लुक	७१ नारंग
१६ आम्र	४४ कुमुद	७२ नीप
१७ आर्द्रक	४५ कुलत्थ	७३ नीली
१८ इक्षु	४६ कुश	७४ न्यग्रोध
१९ इंगुदी	४७ कुस्तुम्बुरु	७५ पनस
२० इत्कट	४८ कोविदार	७६ पलाश
२१ इन्द्रवृक्ष	४९ कोशातकी	७७ पलितंकरणी
२२ उत्पल	५० खड (डा)	७८ पाटली
२३ उद्धुम्बर	५१ खदिर	७९ पिचुक
२४ उलप	५२ खर्जूर	८० पिप्पली
२५ उशीर	५३ गभीका	८१ पिप्पलीमूल
२६ एरका	५४ गवादनी	८२ पीतुदार
२७ कक्षतु	५५ जतु	८३ पीला
२८ कण्टकारिका	५६ जम्बू	८४ पीछु

(२१४)

८५ पुण्डरीक	१०८ लाक्षा	१३१ शिशपा
८६ पूग	१०९ वट	१३२ शिरीष
८७ प्लक्ष	११० वंश	१३३ शीपाल
८८ बकुल	१११ वरण	१३४ शृंगी
८९ बदर	११२ वर्षाभू	१३५ शेफालिका
९० बन्धूक	११३ वराण	१३६ शेव (वा) ल
९१ बल्वज	११४ विकंकत	१३७ शैलेय
९२ बिभीतक	११५ विडंग	१३८ शैवाल
९३ बिम्बी	११६ वृष	१३९ श्वेतपाकी
९४ बिल्व	११७ वेणु	१४० षष्ठिक
९५ बिस	११८ वेतस	१४१ सर्षप
९६ भंगा	११९ व्याधिघात	१४२ सल्लकी
९७ मालती	१२० ब्रीहि	१४३ सह
९८ माष	१२१ शण	१४४ सिध्दक
९९ मुञ्ज	१२२ शतपत्र	१४५ सोम
१०० मुद्ग	१२३ शतावरी	१४६ स्थगर
१०१ यव	१२४ शमक (का)	१४७ स्थूलंकरणी
१०२ यवक	१२५ शमी	१४८ स्पन्दक
१०३ यवाष	१२६ शर	१४९ हरिचन्दन
१०४ रजनी	१२७ शाल्मलि	१५० हरिद्रु
१०५ रोहितक	१२८ शाल	१५१ हरिद्रुपर्णी
१०६ लवंग	१२९ शालि	१५२ हरीतकी
१०७ लवणी	१३० शिग्रु	



विशेष रूप से वार्त्तिक में निर्दिष्ट

१ अजिनफला	६ एरका	११ जतु
२ अलाबू	७ कच्छुरा	१२ ताल
३ उमा	८ कन्दली	१३ तिल
४ ऋद्धि	९ काण्डपुष्पा	१४ नीली
५ एकपुष्पा	१० गुग्गुलु	१५ न्यग्रो

(२१५)

१६ पिण्डफला	२२ भस्त्रफला	२८ शणफला
१७ पिप्पली	२३ महारजन	२९ शतपुष्पा
१८ प्रत्यकपुष्पा	२४ माष	३० हरिद्रा
१९ प्राकपुष्पा	२५ मिरिका	३१ हरीतकी
२० प्रान्तपुष्पा	२६ यव	
२१ भंगा	२७ ब्रीहि	

परिशिष्ट-९

पातञ्जल महाभाष्य में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ

१ अक्ष	२१ कर्पास	४१ चम्पक
२ अलावू	२२ कलाय	४२ जतु
३ अशोक	२३ कशेरुक	४३ जम्बू
४ अश्वत्थ	२४ काकिणी	४४ तिमिरक
५ असिबनी	२५ काण्डपुष्पा	४५ तिल
६ आमलक	२६ काण्डीर	४६ तुम्बुरु
७ आम्र	२७ कारस्कर	४७ तेजन
८ आम्र	२८ काश	४८ त्रपुस
९ इक्षु	२९ किशुक	४९ त्रिवृत्
१० इंगुदी	३० कुद्रीची	५० दाडिम
११ इरिका	३१ कुमुद	५१ दूर्वा
१२ उत्पल	३२ कुरर	५२ हन्धु
१३ उदुम्बर	३३ कुवल	५२ देवदारु
१४ उमा	३४ कुश	५३ द्राक्षा
१५ कक्षतु	३५ कोविदार	५४ दर्भ
१६ कंक	३६ कोशातकी	५५ दाडिम
१७ कदली	३७ खदिर	५६ नाम्ब
१८ कपित्थक	३८ गर्मुत्	५७ निष्पाव
१९ करवीर	३९ गवेधुका	५८ नीप
२० कर्कन्धु	४० चन्दन	५९ नील

(२१६)

६० न्यग्रोध	७७ बुर्बुर	९४ शण
६१ पनस	७८ बृहती	९५ शमी
६२ पलाण्डु	७९ ब्राह्मी	९६ शर
६३ पलाश	८० मधुक	९७ शाक
६४ पाटली	८१ मरिच	९८ शाल
६५ पिप्पली	८२ मल्लिका	९९ शालि
६६ पीलु	८३ माष	१०० शिशपा
६७ पुष्कर	८४ मुञ्ज	१०१ शिरीष
६८ पूतीक	८५ मुद्गा	१०२ शीर्य
६९ प्रियंगु	८६ मूलक	१०३ शृंगवेर
७० प्लक्ष	८७ यव	१०४ शेफालिका
७१ बदर	८८ राजमाष	१०५ श्वेतफला
७२ बल्वज	८९ वंश	१०६ सप्तपर्ण
७३ बिभीतक	९० वर्षाभू	१०७ सरल
७४ बिम्बी	९१ वेणु	१०८ सर्षप
७५ बिल्व	९२ वेतस	१०९ सुवर्चला
७६ बिस	९३ ब्रीहि	

परिशिष्ट-१०

यास्ककृत निरुक्त में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ

१ अक्ष	१० किशुक	१९ लिबुजा
२ अपामार्ग	११ कुम्प	२० वंश
३ अरणी	१२ चन्दन	२१ वेतस
४ अर्क	१३ पुष्कर	२२ शर
५ अर्जुन	१४ पृश्निपर्णी	२३ शल्मलि
६ असिकनी	१५ विभीतक	२४ शात्
७ अहिच्छन्नक	१६ बिल्व	२५ सोम
८ उदुम्बर	१७ मुञ्ज	२६ हिरण्यपर्ण
९ उशीर	१८ यव	

द्रव्यगुण का इतिहास

द्रव्यगुण का इतिहास

द्रव्यगुण

मानवजीवन के लिए द्रव्य सर्वाधिक महत्व का पदार्थ है। द्रव्य में ही गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से स्थित होते हैं तथा सामान्य-विशेष के क्रम से इसका उपयोग किया जाता है। इस प्रकार षट्पदार्थ द्रव्य को ही केन्द्र बना कर स्थित हैं। जीवन के लिए हितकर-अहितकर द्रव्यों का ज्ञान प्रदान करना आयुर्वेद का एक विशिष्ट प्रयोजन है^१ क्योंकि आहार एवं औषध के रूप में प्रयुक्त होकर ये स्वास्थ्यरक्षण एवं विकारप्रशमन का कार्य करते हैं। चिकित्सा के चतुष्पाद में भी द्रव्य का विशिष्ट स्थान है^२ क्योंकि ज्ञानवान् एवं कुशल योद्धा जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र के बिना लक्ष्यवेध नहीं कर सकता उसी प्रकार दक्ष चिकित्सक भी बिना साधनभूत द्रव्य के अकिञ्चित्कर होता है। अतएव प्राचीन काल से द्रव्य, उसके गुणकर्म तथा विविध प्रयोगों के सम्बन्ध में अध्ययन-अनुसन्धान होता रहा है।

मौलिक सिद्धान्त

आधार—सृष्टि के अन्य पदार्थों की भाँति शरीर पाञ्चभौतिक है, द्रव्यों के आहरण तथा परिहार से क्रमशः शरीर की वृद्धि और ह्रास होता है अतः स्वभावतः यह अनुमान किया गया कि द्रव्य भी पाञ्चभौतिक हैं और इनमें जो गुण हैं वही शरीर में भी हैं। अतः प्रकृति-साधर्म्य के कारण विभिन्न द्रव्यों के प्रयोग से शरीर का साम्य, वृद्धि और क्षय होता है।^३

पञ्चमहाभूतों के ही जैविक प्रतिनिधि हैं त्रिदोष जिनके द्वारा विविध शारीर व्यापारों का संचालन होता है। अतः उपर्युक्त गुणों के कारण ये त्रिदोष को भी प्रभावित करते हैं। रसों का संघटन महाभूतों के द्वन्द्व से होता है। विपाक भी महाभूतों के न्यूनाधिक्य का परिणाम है। वीर्य की भी वही स्थिति है चाहे उसे गुणात्मक मानें या द्रव्यात्मक। इस प्रकार आयुर्वेदीय द्रव्यगुणशास्त्र मूलतः पञ्चमहाभूतवाद पर अवलम्बित है।

१. च० सू० ३०।२१

२. च० सू० १।३

३. सु० सू० ४।१४

(२२०)

निर्धारण—रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव का निर्धारण प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा किया गया है। द्रव्यस्थित रस का परिज्ञान रसनेन्द्रिय से साक्षात् संपर्क के द्वारा करने का उपदेश है। इससे स्पष्ट है कि किसी द्रव्य को जीभ से चखकर विविध उत्पन्न लक्षणों के आधार पर रस का निर्धारण किया जाता था। आहारद्रव्यों में सर्वप्रथम छः रसों का निर्धारण हुआ होगा तथा तत्तद् रसों के सेवन से शरीर-मन पर जो प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ उस आधार पर रसों के गुणकर्म निर्धारित किये गये।

विपाक का निर्धारण प्रकृति-पर्यवेक्षण तथा कर्म-परीक्षण के आधार पर किया गया। प्रकृति में यह देखा जाता है कि अग्नि (ताप) के कारण द्रव्य के रस एवं गुण में परिवर्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, आम का फल बाल्यकाल में कषाय, तारुण्य में अम्ल, प्रौढ़ता में मधुराम्ल तथा पक्व होनेपर मधुर हो जाता है। इसी प्रकार चावल पकाने पर उसका माधुर्य अतिशयित एवं अभिव्यक्त हो जाता है। इन बाह्य प्राकृतिक पदार्थगत प्रक्रियाओं को देखने से अनुमान किया गया कि मानव-शरीर में भी आहत द्रव्यों का रस जाठराग्नि के द्वारा पक्व होने पर परिवर्तित या अभिव्यक्त हो जाता है। इसी परिणाम को विपाक कहा गया। अस्थायी त्रिविध अवस्थापाक (प्रपाक) से पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए, इसे 'विपाक' संज्ञा दी गई क्योंकि इसका स्वरूप अन्तिम एवं स्थायी होता है जिससे शरीर के दोष-धातु-मल प्रभावित होते हैं। ऐसा लगता है कि सुश्रुत सम्भवतः विपाक से जाठराग्निजन्य पाक का भी ग्रहण करते थे।^१ रस के समान विपाक का ज्ञान भी आहारद्रव्यों से ही प्रारम्भ हुआ होगा। इसके अतिरिक्त, शारीरिक प्रभाव को देखकर भी विपाक का निर्धारण किया गया। उदाहरण के लिए, पिप्पली का रस कटु है किन्तु यह वृष्य एवं रसायन कर्म करती है। इस आधार पर यह विमर्श किया गया कि कटुरस तो अवृष्य और धातुक्षपण है किन्तु इसके विपरीत कर्म को देखने से ऐसा अनुमान होता है कि उसका रस अवश्य ही (जाठराग्नि द्वारा) परिवर्तित होकर मधुर हो जाता है जिससे ये कर्म होते हैं। अतएव पिप्पली का विपाक मधुर निर्धारित किया गया। चरक ने विपाक त्रिविध (मधुर, अम्ल और कटु) कहा किन्तु द्रव्य के सभी कर्मों का पर्यवसान बृंहण या लंघन में होने के कारण विपाक भी दो (गुरु और लघु) माने गये जैसा कि सुश्रुत का कथन है। चरक ने 'विपाकः कर्मनिष्ठया' (च० सू० २६।६३) के द्वारा तथा सुश्रुत ने विपाक-प्राधान्यनिरूपण (सु० सू० ४०।८) के प्रसंग में यद्यपि विपाक के स्वरूप का संकेतमात्र किया है तथापि वाग्भट ने ही सर्वप्रथम विपाक का लक्षण निर्धारित किया जो अद्यावधि प्रचलित है^२।

१. प्रियव्रतशर्मा : विपाक का स्वरूप, सचित्र आयुर्वेद, १९६९

२. अ० ह० सू० १।२०

(२२१)

औपधद्रव्यों का प्रयोग करने पर शरीर-मन पर स्पष्टतः उनका कर्म दृष्टिगोचर होता है। इस कर्म के लिए कारणभूत जो शक्ति द्रव्य में निहित होती है उसे 'वीर्य' संज्ञा दी गई। यह निष्कर्ष अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर निकाला गया।^१ ऐसा देखा गया कि इस शक्ति के रहने पर ही कर्म होता है और इसके नष्ट हो जाने पर कर्म नहीं होता। द्रव्य के किसी विशिष्ट अंग में वह शक्ति निहित होने से उसीका प्रयोग होता है तथा द्रव्य जीर्ण होने पर या सड़-गल जाने पर निर्वीर्य होने के कारण निष्क्रिय हो जाता है।

शक्तिरूप वीर्य का स्वरूप गुणात्मक है, यह द्रव्य के सारभाग में रहता है और विविध कर्मों का सम्पादन करता है। इस आधार पर यद्यपि वीर्य के गुणात्मक, द्रव्यात्मक और कर्मात्मक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है तथापि वस्तुतः यह गुणात्मक ही है। बीस गुर्वादि गुणों में जो शक्तिसम्पन्न और कार्मुक होते हैं वही वीर्य की कोटि में पहुँच पाते हैं। इन बीस गुणों में आठ गुण इस प्रकार के माने गये हैं जिन्हें वीर्य कहा गया है। सुश्रुत और नागार्जुन ने आगे चलकर कर्मण्य गुणों की संख्या दस कर दी। इन सबका समाहार कर शीत और उष्ण दो वीर्य माने गये जो ब्राह्मणकालीन अग्नीषोमीय सिद्धान्त पर आधारित हैं। त्रिदोषवाद की दृष्टि से अग्नि पित्त तथा सोम कफ का प्रतिनिधि है (वायु योगवाह होने के कारण दोनों का गुण अवस्थानुसार धारण करता है)। चरक ने यद्यपि शक्तिमात्र को वीर्य कहा तथापि अष्टविध तथा द्विविध वीर्य का वर्णन कर उनको भी स्वीकृत किया। इसके अतिरिक्त चरक ने षट्कर्म (च० सू० २२।४) तथा रससंख्या-विमर्श (च० सू० २६।८) के सन्दर्भ में गुस्-लघु, शीत-उष्ण, तथा स्निग्ध-रूक्ष इन छः वीर्यों की स्थापना कर षड्विधवीर्यवाद का भी संकेत किया है जिसका स्पष्ट उल्लेख वाग्भट ने अष्टांग-संग्रह (सू० १७।९-१०) में किया है।

चरक के शक्तिमात्रवीर्यवाद का मीमांसकों के शक्तिवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह स्मरणीय है कि मीमांसा शक्ति को एक पृथक् पदार्थ के रूप में मान्यता देती है।

जिन कर्मों की व्याख्या न की जा सकी उनमें प्रभाव को आधार बनाया गया। चिन्त्य शक्ति को वीर्य तथा अचिन्त्य शक्ति को प्रभाव कहा गया। शरीरज्ञान एवं विकृतिविज्ञान विशद न होने के कारण विशिष्ट व्याधियों में द्रव्यों की कर्मप्रक्रिया की व्याख्या न की जा सकी। ऐसे द्रव्यों को व्याधिप्रत्यनीक कहा गया और ऐसा कर्म प्रभावजन्य माना गया यथा अर्जुन की हृद्यता, शिरीष की विषघ्नता, खदिर की कुष्ठघ्नता आदि। जैसे दो पुरुषों में कर्मसादृश्य होने पर भी फलविशेष की उपलब्धि

१. च० सू० २६।६२

(२२२)

होने पर अदृष्ट पुनर्भव की कल्पना की गई जैसे ही दो समान द्रव्यों में कर्म का अन्तर दृष्टिगत होने पर विशिष्ट द्रव्य में स्थित अचिन्त्य कर्म प्रभावजन्य माना गया यद्यपि 'द्रव्यस्वभाव' के रूप में प्रभाव द्रव्य के स्वाभाविक संघटनवैशिष्ट्य का भी बोधक हो सकता है। उस काल में रसायनशास्त्र का विकास न होने के कारण द्रव्य के कार्य-कारी अंश का परिज्ञान न होना स्वाभाविक भी था। चरक ने प्रभाव को अचिन्त्य (प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते—च० सू० २६।६७) कह कर अपनी सीमा स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दी किन्तु सुश्रुत ने हेतु से विरत होकर शास्त्र एवं परम्परा में अन्ध श्रद्धा रखने का जो उपदेश किया वह भविष्य के लिए अतीव हानिकर सिद्ध हुआ यद्यपि परवर्ती कुछ आचार्यों ने ऐसे तथ्यों की व्याख्या का प्रयत्न किया है। यह स्मरणीय है कि सुश्रुत ने प्रभाव का पृथक् वर्णन न कर वीर्य के अन्तर्गत ही प्रभावजन्य कर्मों का भी उल्लेख किया है^१। वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि से वीर्य और प्रभाव में चिन्त्य-अचिन्त्य का भेद न होकर सामान्य-विशिष्ट का भेद है। सामान्य कर्म वीर्यजन्य तथा विशिष्ट कर्म प्रभावजन्य है। इस प्रकार प्रभाव में अचिन्त्यता पर जोर न देकर विशिष्टता को महत्त्व देना चाहिये। चरक का यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण 'यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम्' के द्वारा स्पष्टतः उद्घोषित है। यह सही है कि विशिष्ट कर्म की प्रक्रिया अचिन्त्य रही है किन्तु मध्यकालीन टीकाकारों ने विशिष्टता को दबा कर अचिन्त्यता को ही अधिक उछाला। 'शक्तिद्विविधा चिन्त्याचिन्त्यभेदेन, चिन्त्या शक्तिः वीर्यम्, अचिन्त्या शक्तिः प्रभावः' के बदले 'शक्तिद्विविधा सामान्यविशिष्टभेदेन, सामान्या शक्तिः वीर्यम्, विशिष्टा शक्तिः प्रभावः' कहना आर्ष विचारधारा के अधिक निकट होगा।

कर्म के प्रसंग में 'संयोगे च विभागे च कारणं' (च० सू० १।५२) तथा 'कर्म चेष्टितमुच्यते' (च० सू० १।४९) ये दो लक्षण कर्म के दिये गये हैं। पहला लक्षण द्रव्यक्रिया (Drug action) तथा दूसरा लक्षण धातु-प्रतिक्रिया (Tissue response) का द्योतक है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

मनुष्य ने पार्श्ववर्ती पशु-पक्षियों द्वारा औषधों का ज्ञान प्राप्त किया। अनेक वनस्पतियों के पत्र, कन्द, मूल फल आदि का तो वह आहाररूप में स्वयं ग्रहण कर अनुभव करता था, साथ-साथ पशु जिन वनस्पतियों का ग्रहण करते थे उनके प्रभाव का भी पर्यवेक्षण किया जाता था। रुग्ण होने पर पशु-पक्षी एक विशेष प्रकार की वनस्पति खाकर नीरोग हो जाते थे। ऐसे द्रव्यों का मनुष्य भी अपने ऊपर प्रयोग करने लगा होगा। चरक ने जिन स्तन्यजनन औषधियों की गणना की है वे पशु और मनुष्य दोनों में समान रूप से कार्यकर हैं। सम्भवतः इन तृणों का पशुओं में

१. प्रियव्रतशर्मा: प्रभाव की अचिन्त्यता चिन्तनीय, सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर, १९७३

(१२१)

स्तन्यजनन कर्म देखकर मनुष्यों में प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।^१ अथर्ववेद में यह लिखा है कि जितनी औषधियां चर कर गायें, भेंड़ें और बकरियां स्वस्थ रहती हैं वे सभी तुम्हारा कल्याण करें। इसके अतिरिक्त, अनेक औषधियों के नाम पशु-पक्षियों के आधार पर रखे गये हैं। इस प्रायोगिक कार्य में रूपसाधर्म्य का सिद्धान्त भी सहायक हुआ होगा यथा लाक्षा का रक्तस्त्राव में, हरिद्रा का कामला में इत्यादि। वैदिक काल में अनेक औषधीय कर्मों का निर्धारण प्रयोग के द्वारा हो चुका था। अथर्ववेद में ऐसे अनेक कर्मों और प्रयोगों का उल्लेख मिलता है।^२

प्रकृति का कार्यकलाप स्वतः होता रहता है वह किसी पूर्वनिर्धारित नियम की प्रतीक्षा नहीं करता। नियमों का निर्धारण बाद में इन कर्मों की व्याख्या के लिए होता है। पके हुए फल न जाने कब से पेड़ से टपकते रहे हैं किन्तु न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का नियम बाद में ही निर्धारित किया। प्रयोग पहले होते हैं, सिद्धान्त बाद में बनते हैं यही स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसी प्रकार औषधों का प्रयोग परम्परा से चला आ रहा होगा जिसकी व्याख्या के लिए रस-गुण-वीर्य-विपाक का सिद्धान्त निर्धारित हुआ।

रुः या सात पदार्थ, पञ्चमहाभूत, रस, गुण, शक्ति, विपाक, स्वभाव आदि का भारतीय दर्शनों में भी पर्याप्त विवेचन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैद्यों और दार्शनिकों के पारस्परिक सहयोग से एक ओर आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों का विकास हुआ और दूसरी ओर दर्शनों की सैद्धान्तिक विचारधारा की सम्पुष्टि व्यावहारिक धरातल पर हुई। आयुर्वेद प्रत्यक्षसाध्यता के कारण जैसे वेद के प्रामाण्य में सहायक बना सम्भवतः उसी प्रकार समस्त दर्शनों का भी। इस प्रकार आयुर्वेद दर्शनों पर आश्रित न होकर दोनों अन्योन्याश्रित हैं किंवा वैदिक एवं दार्शनिक सिद्धांतों की स्थापना एवं विकास में आयुर्वेद ने सबल अवलम्ब प्रदान किया।

द्रव्यों का यातायात

आयुष्य और अनायुष्य द्रव्यों के परिज्ञान से आयुर्वेद का आरम्भ होता है अतः द्रव्यों का कालनिर्णय एक कठिन कार्य है। संभवतः यह आयुर्वेद ही के समान अनादि है। किन्तु व्यावहारिक अनुभव के द्वारा नये-नये द्रव्यों का परिज्ञान होता गया जिसके कारण क्रमशः उपयोगी द्रव्यों की संख्या में वृद्धि होती गई। इसके

१. वीर्यशालिषष्टिकेज्जुवालिवादार्भकुशकाशगुन्द्रेकटकतृणमूलानीति दशेमानि स्तन्य-जननानि भवन्ति—च. सू. ४।२०

२. देखें प्रथम अध्याय, पृ. ३१-३६

(२२४)

अतिरिक्त, पारस्परिक संपर्क के कारण एक देश से दूसरे देश में द्रव्यों का आयात-निर्यात होता रहा है जिससे अन्य देशों में होने वाली ओषधियों का प्रवेश अन्यत्र हुआ जो कालक्रम से आत्मसात् कर ली गई। भारत का संपर्क अन्य देशों से अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। असीरिया, बैबिलोन (बाबुल), मिस्र आदि देशों के साथ इसका व्यापारिक संपर्क चिरकाल से रहा है जिसके माध्यम से द्रव्यों का आदान-प्रदान होता रहा है। सुमेर और हड़प्पा का सीधा संपर्क २३०० ई० पू० से कहा जाता है। सिन्ध का बना सूती कपड़ा समुद्री मार्ग से बाबुल पहुँचता था। अथर्ववेद के 'तैमात, अलगी-विलगी, उरुगुला और ताबुव' शब्द भी बाबुली भाषा के कहे जाते हैं।^१ बावेरुजातक (३३५) से भी इसकी पुष्टि होती है। स्थल और जलमार्गों से द्रव्य एक देश से दूसरे देशों में जाते रहे हैं। मधुक और मरिच स्थलपथ से आते थे (काशिका ५।१।७७)। सुप्पारकजातक (४६३) से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय नाविकों को एक ओर सुवर्णद्वीप (मलेशिया), रत्नद्वीप (लंका) और दूसरी ओर फारस की खाड़ी, लालसागर और भूमध्यसागर का पता था। अतः द्रव्यों के इतिहास के अध्ययन के लिए देश की प्राकृतिक संपदा के अतिरिक्त अन्य देशों के साथ संपर्क, वाणिज्य के केन्द्र एवं मार्ग, समय-समय पर विदेशियों का आक्रमण एवं प्रभुत्व आदि बातों पर भी विचार करना आवश्यक होता है। वाङ्मय इस ज्ञान का प्रमुख स्रोत है। इसमें सांस्कृतिक वाङ्मय, यात्रा-विवरण, राजाओं का रोजनामचा (जहाँगीरनामा आदि), राजवृत्त (आईन-ए-अकबरी आदि), अन्य देशों का इतिहास, वाणिज्यवृत्त, राजनीतिक इतिहास आदि प्रमुख हैं।

भारत में प्राचीनकाल में यूनानियों तथा शक-कुषाणों का संपर्क हुआ। गुप्तकाल में रोम के साथ व्यापार बढ़ा। मध्यकाल में अरब के व्यापारी सर्वत्र छा गये; उनके माध्यम से द्रव्य एक देश से दूसरे देश में जाने लगे। यह स्मरणीय है कि उनका संबन्ध एक ओर युरोप और अफ्रीका तथा दूसरी ओर चीन और भारत से था। कुस्तुनतुनिया एक समय में विश्व का प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था जहाँ युरोप, अरब, चीन, मध्य एशिया और भारत के व्यापारी परस्पर मिलते थे और द्रव्यों का विनिमय करते थे। प्राचीनकाल में बाल्हीक भी ऐसा ही केन्द्र था।

मध्यकाल में तुर्कों, अफगानों और मंगोलों का भारत पर आधिपत्य भी एक महत्वपूर्ण घटना है। इनके साथ अनेक ऐसे द्रव्य यहाँ प्रसिद्ध हुये जो पहले अज्ञात थे। वे अपने साथ अरब के देशों से हकीम भी लाये जिनके संपर्क से तत्कालीन चिकित्साविधियाँ भी प्रभावित हुईं। यह स्वाभाविक है कि विजेता जिन द्रव्यों का

१. मोतीचन्द : सार्थबाह, पृ० ३१, ४३

(११५)

व्यवहार करते हैं उनकी प्रजा भी उनका अनुसरण करने लगते हैं। जो पद्धति राजा को प्रिय होती है उसका प्रचार आसानी से हो जाता है। उसी प्रकार आधुनिक काल में पुर्तगाली, फ्रांसीसी, डच और अंगरेजों का आगमन एक विशिष्ट घटना है। इसी समय कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की और इसके बाद वहाँ के अनेक द्रव्य जो अब तक बाहर अज्ञात थे, प्रविष्ट हो गये।

बौद्ध जातकों के अनुसार पश्चिमी समुद्रतट पर भरुकच्छ, सुप्पारक तथा सौवीर और पूर्वी समुद्रतट पर करम्बिय, गंभीर और सेरिव मुख्य बन्दरगाह थे जहाँ से जलमार्ग द्वारा वस्तुओं का आयात-निर्यात होता था। अन्तर्देशीय और विदेशी व्यापार में चन्दन का विशिष्ट स्थान था। अगुरु, तगर तथा कालीयक की भी माँग थी। सिंहल और दूसरे देशों से नानाविध रत्न आते थे यथा नीलम, ज्योतिरस, सूर्यकांत, चन्द्रकांत, माणिक्य, वैडूर्य, हीरक और यशव आदि। हाथीदांत भी प्रचलित था। महाभारत (२।२७।२५-२६) के अनुसार दक्षिणसागर के द्वीपों से चन्दन अगुरु, रत्नमुक्ता, स्वर्ण, रजत, हीरक और प्रवाल आते थे। इनमें से चन्दन, अगुरु, स्वर्ण और रजत तो संभवतः वर्मा और मध्य एशिया से आते थे; मोती और रत्न सिंहल से (सिंहल रत्नद्वीप कहा गया है) और प्रवाल भूमध्यसागर से। हीरक, शायद बोनियों से आते थे। कपिश (काबुल) से शराब आती थी। उत्तरापथ का व्यापारिक मार्ग हैमवत मार्ग और दक्षिणापथ का दक्षिणपथ है। हैमवत मार्ग बलख से हिन्दुकुश होकर भारत आता था और दक्षिणपथ कोशाम्बी, उज्जयिनी और प्रतिष्ठान को जोड़ता था। दक्षिणापथ शंख, हीरक, रत्न, मोती और सोने के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था।

कोटिल्य अर्थशास्त्र में व्यापारिक वस्तुओं पर शुल्क का विधान है। इस प्रसंग में शंख, हीरक, मुक्ता, प्रवाल, रत्न, हरताल, मनःशिला, सिन्दूर, धातुएँ, चन्दन, अगुरु, कटुक, मद्य, हाथीदांत, कपास, गंधद्रव्य, औषध, लवण, क्षार, तैल आदि का उल्लेख है जिससे इनके प्रचलित व्यापार का बोध होता है। कोटिल्य के अनुसार मौर्यकाल में रत्नों का व्यापार खूब चलता था। अनेक रत्न-उपरत्न देश के कोने-कोने से तथा अनेक विदेशों से आते थे। कीमती रत्न बलूचिस्तान के मूला दर्रा और सिंहल से आते थे। बिल्लीर विन्ध्यपर्वत और मलाबार से आता था। नीलम और जमुनिया लंका से आते थे। हीरे बरार, मध्यप्रदेश, अश्मक (गोलकुण्डा) और कलिंग से आते थे। अलसन्दक नामक प्रवाल सिकन्दरिया से आता था। मौर्य-युग में गन्धद्रव्यों की भी बड़ी माँग थी। चन्दन के अनेक प्रकार दक्षिण भारत, जावा, सुमात्रा, तिमोर और मलयएशिया (सुवर्णद्वीप) तथा आसाम से आते थे। अगुरु आसाम, मलयएशिया, हिन्दचीन और जावा से आता था।

१५ द्र० च०

(२२६)

कनिष्क का साम्राज्य उत्तर में पेशावर से लेकर बुखारा, समरकन्द और ताशकन्द तक फैला था। मर्व से खोतान और सारनाथ तक उसकी सीमा थी तथा वह सीर-दरिया से ओमान के समुद्र तक फैला था। उस युग में कुषाणों और रोमन-साम्राज्य का संबंध काफी दृढ़ हुआ। इस काल में हाथीदांत, रेशमी कपड़े, रत्न, जड़ी-बूटियाँ, मसाले आदि रोम को जाने लगे और वहाँ से सोना भारत में आने लगा। दक्षिण भारत में कोलकड, कावेरीपट्टनम्, मुचिरि आदि प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे जहाँ से समुद्री मार्ग खुलते थे। रोम में भारतीय मोती की बड़ी माँग थी। काली मिर्च, जटामांसी, दालचीनी, कूठ और इलायची अधिकतर अरब यात्री स्थलमार्ग से लाते थे। औषधद्रव्यों में इनके अतिरिक्त सोंठ, गुग्गुलु, लवंग, हींग, अगुरु का स्थान था। नील, शक्कर और तिल का तेल भी जाता था। भारतीय नींबू, केले, आड़ू और जर्दालु खाने तथा औषध के काम में आते थे। हीरा, अकीक, स्फटिक, जमुनिया, वैडूर्य, नीलम, माणिक्य, पेरोजा आदि रत्नों की माँग रोम में बहुत थी। रोमन व्यापारी मालो से मुरा और लोहवान का निर्यात करते थे। अदन और मोजा लोहवान के व्यापार के बड़े केन्द्र थे। लोहवान यहाँ हद्रमीत (लोहवान का देश) से आता था। यहाँ तुरुष्क का व्यापार भी होता था। मोजा अरब व्यापारियों का मुख्य अड्डा था जहाँ से बोल आदि बाहर भेजे जाते थे। रोमन व्यापारी भारतीय माल के लिए अदन या सकोतरा जाते थे, जहाँ यूनानी, अरबी और भारतीय व्यापारियों से उनकी भेंट होती थी। फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों में भारत से ताँबा, चन्दन, सागवान तथा शीशम की लकड़ियाँ आती थीं। भारतीय व्यापारी लालसागर होकर सिकन्दरिया तक पहुँचते थे और रोम साम्राज्य के यूनानी व्यापारी क्रमशः सीधे भारत तक आने लगे। बार्बरिकोम के बन्दरगाह से कुष्ठ, गुग्गुलु, दारुहरिद्रा, जटामांसी, पिरोजा, लाजवर्द, नील आदि बाहर भेजे जाते थे।

भड़ौच (भृगुकच्छ) के बन्दरगाह से निर्यात होने वाले द्रव्यों में जटामांसी, कुष्ठ, गुग्गुलु, हाथीदांत, अकीक, दारुहरिद्रा (रसाब्जन), पोपल आदि प्रमुख थे। अयातित द्रव्यों में ताँबा, रांगा, सीसा, प्रवाल, पुखराज, तुरुष्क, संखिया, अब्जन आदि मुख्य थे। भड़ौच सातवाहनों की राजधानी पैठन (प्रतिष्ठान) और दक्षिणापथ के प्रसिद्ध नगर तेर (तगर) से संबद्ध था जहाँ से दक्षिण का माल वहाँ पहुँचता था। सुपारा के अतिरिक्त, कल्याण का बन्दरगाह भी काम में आने लगा था। दक्षिण में केरल का बन्दरगाह मुजिरिस अत्यन्त प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ रोमन और अरब जहाज लगे रहते थे। यहाँ से काली मिर्च, तेजपात, मोती, हाथीदांत, जटामांसी, रत्न, कछुए की खोपड़ियाँ आदि बाहर जाती थीं और बाहर से सिंगरिफ

(३२७)

आदि आता था। कोयम्बटूर में वैडूर्य की खानें थीं। संभवतः चेरों (केरलीयों) के हाथ में काली मिर्च के व्यापार का एकाधिकार था, पाण्ड्यों के हाथ में मोती का और चोलों के हाथ में वैडूर्य का। पाण्ड्यों के राज्य में समुद्रतट पर एलानकोट (किलोन) और कोलकोई दो बन्दरगाह थे। रोमन और यूनानी व्यापारी पूर्वी समुद्रतट पर भी जाते थे जहाँ पाण्डिचेरी, कावेरीपट्टनम्, मसुलीपट्टन आदि बन्दरगाह थे। कर्लिंग में भी हीरे मिलते थे और वहाँ से तेजपात, जटामांसी और मोती आदि बाहर भेजे जाते थे। संभवतः यूनानी व्यापारी वहाँ जाते थे। टॉलेमी ने उन्नीस नगरों का नाम दिया है जिनमें तामलुक (ताम्रलिप्ति) और पाटलिपुत्र प्रमुख हैं। अरबों ने भारत से कपूर, हरड़, बहेड़ा, जायफल, नारियल, इमली, देवदारु-निर्यास, पान-सुपारी, शीतलचीनी, कालीयक शादि का भी निर्यात करना प्रारंभ कर दिया था। द्रवतुष्क, अंजन, मैन्सिल और संखिया का आयात होता था। मूंगा भूमध्यसागर से, सीसा स्पेन से, ताँबा साइप्रस से, रांगा लुसिटानिया और गलेशिया से आता था। तक्कोल या कक्कोल (मलय प्रायद्वीप के पश्चिमी तट का एक स्थान) से बड़ी इलायची, लवंग और अगुरु का निर्यात होता था। तक्कोलम् नामक एक गाँव मद्रास के पास भी है जिससे 'श्रीकाकुलम्' बना है। सबसे अच्छा चन्दन मैकासार और तिमोर से और सर्वोत्तम अगुरु चम्पा और अनाम से आता था। गोशीर्षचन्दन मैकासिरी चन्दन है।

जैन वाङ्मय में व्यापार की वस्तुओं में केशर, अगर, चोआ, कस्तूरी, इक्षुर शंख और नमक का मुख्यतः उल्लेख है। जैन साधु यात्रा में कुछ आहार-द्रव्य, औषधियाँ, मलहम-पट्टी साथ लेकर चलते थे। उस काल में चम्पा से ताम्रलिप्ति और वहाँ से सुवर्णद्वीप और कालियद्वीप (जंजीबार) तक जहाज बराबर चला करते थे। अनेक सुगन्धित द्रव्य, रत्न और सुवर्ण यहाँ आते थे और यहाँ से दालचीनी, मुरा, जटामांसी, अगर, तगर, नख, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, लूठ आदि द्रव्य बाहर भेजे जाते थे। ईरान से भी व्यापारिक संबन्ध था। वहाँ शंख, चन्दन, अगर और रत्न भारत से जाते थे और ईरान मंजीठ, चाँदी, सोना, मोती और मूंगे भेजता था।

गुप्तयुग में चीन और भारत का संबन्ध और निकटतर हुआ जो सन् ६१ ई० में हान राजा मिंग के काल में स्थापित हुआ था। अधिक संख्या में भारतीय मलय-एशिया और हिन्दचीन भी जाने लगे। इस काल में भी भृगुकच्छ, सुपारा, कल्याण और ताम्रलिप्ति मुख्य बन्दरगाह थे। कौसमस (छठी-शती) लिखता है कि सिंहल उस समय व्यापार का प्रमुख केन्द्र था और समुद्री मार्ग में वह चीन और भारत की-

(१२६)

मध्यस्थता करता था। कल्याण का बन्दरगाह ताँवा, तीसी और एरण्ड के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था तो सिन्ध के बन्दरगाह में कस्तूरी, एरण्ड और जटामांसी का व्यापार प्रमुख था। कौसमस ने लवंगप्रदेश और चीन का भी उल्लेख किया है।

७वीं शती में चीन ने अपना समुद्री व्यापार बढ़ाया। इधर अरबों का भी प्रभुत्व बढ़ा, उन्होंने फारस की खाड़ी पर अधिकार कर लिया और भारत में भड़ोच तथा थाने पर धावा भी बोल दिया। नवीं शती तक अरब इतने प्रबल हो गये कि १४वीं शती तक लाल सागर से लेकर दक्षिण चीन के समुद्र तक इन्हीं का बोलवाला रहा। अरबी व्यापारी चीन तथा पूर्वी द्वीप समूह के स्थानों से सामान भारत के बन्दरगाहों पर लाते थे और वहाँ से पुनः युरोप आदि देशों में भेजते थे। सिन्ध पर अधिकार होने के बाद अरबों का व्यापार और बढ़ा। बसरा भारतीय व्यापार का केन्द्र बन गया। यहाँ से अरब जानेवाले द्रव्यों में प्रमुख थे—कपूर, लवंग, जायफल, बकम, चन्दन, कस्तूरी, कबाबचीनी, नारियल, हाथीदाँत, रत्न, कालीमिर्च, अगुरु, शंख, कुलंजन, दालचीनी, हरे, तूतिया, बेंता, सुपारी तथा अन्य जड़ी बूटियाँ और गन्धद्रव्य। बसरा से खजूर आता था। तांकिन में अगर, सीप, नमक, लोहा, सोना, चाँदी, इंगुर आदि; अनाम में कपूर, कस्तूरी, चन्दन, सीसा, रांगा आदि; कम्बुज में हाथी दाँत, विविध अगुरु, डामर, सोंठ; मलयप्रायद्वीप में इलायची, अगर, विजयसार की गोंद; पूर्वी सुमात्रा में कच्छपपृष्ठ, कर्पूर, अगुरु, लवंग, चन्दन और इलायची; बोर्नियो में चार तरह के कपूर, कछुए की खोपड़ी; जावा में हाथीदाँत, मोती, कपूर, सौँफ, लवंग, इलायची, पीपल, मिर्च, सुपारी, गंधक, केसर; सिंहल में रत्न का व्यापार प्रमुख था। भारत में मलाबार के समुद्रतटीय व्यापार में निर्यात की सामग्री रत्न, शीशा, इलायची आदि अन्य गन्धद्रव्य तथा आयात के द्रव्यों में चन्दन, लवंग, कपूर रेवन्दचीनी, इलायची और अगुरु प्रमुख थे। गुजरात से नील, विजयसार की गोंद, हरड़ अरब देशों को जाती थी। चोलमंडल से मोती, हाथीदाँत, मूँगा, शीशा, इलायची आदि द्रव्य बाहर जाते थे।^१

१३वीं शती में वेनिस नगर विश्व का एक प्रधान व्यापारिक केन्द्र था। वहाँ का एक व्यापारी मार्को पोलो ने मध्य एशिया के राजा किबलई खाँ के आमन्त्रण पर मध्य एशिया, चीन और भारत के कुछ भागों का भ्रमण किया और १२९५ ई० में उसके एक मित्र ने उसके वृत्तान्त को लिपिबद्ध किया।^२ इस यात्राविवरण से तत्कालीन

१. मोतीचन्द : सार्थबाह (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५३) पृ० ६७-२११

२. The Travels of Marco Polo (The arion Press, New york)

(२२९)

व्यापारिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है अतः उसके कुछ संबद्ध अंश उद्धृत किये जा रहे हैं ।

१. अर्मिस (फारस) के बन्दरगाह पर भारत के सभी भागों से व्यापारी पहुँचते थे जो मसाले, औषधियाँ, रत्न, मोती, हाथियाँ आदि लाते थे । (पृ० ४१)
२. बसरा में संसार भर में सबसे अच्छे खजूर होते थे । भारत से जो मोती यूरोप को जाता था वह बसरा में बेधा जाता था । (पृ० २६)
३. सपगर्न में सर्वोत्तम खरबूजे होते थे । (पृ० ५२)
४. कैकन में सैन्धव लवण की पहाड़ियाँ हैं जो विश्वभर में सर्वोत्तम मानी जाती हैं । (पृ० ५३)
५. सक्कर से रेवन्दचीनी संसार के सभी भागों में भेजी जाती है । (पृ० ७६)
६. कनबलु (मध्य एशिया) नामक स्थान विश्व का एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था । (पृ० १५३)
७. कचानफु में अदरक, कुलंजन और अनेक औषधियाँ होती हैं जो विश्व के अन्य भागों में अज्ञात हैं । (पृ० १७८)
८. तिब्बत में कस्तूरी और अनेक औषधियाँ होती हैं । (पृ० १८५)
९. कन-गिड नगर के बाद कपूर के जंगल हैं (पृ० २५२)
१०. चीन के समुद्र में अनेक द्वीप हैं जहाँ सुगन्धित वृक्ष, मसाले, औषधियाँ, अगुरु तथा पीपल और काली मिर्च होती हैं । (पृ० २६६)
११. जावा में पीपल, जायफल, कुलंजन, पालक, कबाबचीनी, लवंग, मसाले, और औषधद्रव्य होते हैं । (पृ० २७०)
१२. निकोबार द्वीप—श्वेत और रक्तचन्दन, नारियल, लवंग, बकम और औषधियाँ (पृ० २८०)
१३. सिंहल—सर्वोत्तम बकम, रत्न (पृ० २८२)
१४. मलाबार—पीपल, सोंठ, नारियल, कबाबचीनी (पृ० ३०५)
१५. गुजरात—नील, पीपल, सोंठ, कपास (पृ० ३०६)
१६. सकोतरा—अम्बर (पृ० ३११)
१७. मडागास्कर—अम्बर, लालचन्दन, हाथीदाँत (पृ० ३१२)
१८. जंजीबार—हाथीदाँत (पृ० ३१५)

मध्यकाल में अरब की बढ़ती शक्ति के कारण सिकन्दरिया पर यूरोपवासियों का प्रभुत्व प्रायः समाप्त हो गया और इसके विकल्प में कुस्तुनतुनिया चीनी और भारतीय मालों की मण्डी के रूप में उभरा । कुस्तुनतुनिया के पतन के बाद वेनिस व्यापारिक उत्कर्ष पर आया और वेनिस के व्यापारी विश्व भर में छा गये ।

(२३०)

मलाबार प्राचीन काल से एक प्रमुख बन्दरगाह रहा है। विशेषतः कालीकट मसालों, पीपल, सोंठ और अन्य भारतीय सामानों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध रहा। पुर्तगाल से वास्को डि गामा नामक नाविक १४९८ ई० में कालीकट पहुँचा। वहाँ के राजा ने उपहारस्वरूप उसे बहुत-सा लोहवान और ५० थैलियाँ कस्तूरी की दीं। १५०५ ई० में इन लोगों ने कालीकट में एक किला बना लिया। भारत में फिरंगियों का यह प्रथम केन्द्र बना। धीरे-धीरे सैनिक शक्ति के सहारे पुर्तगालियों ने अरब व्यापारियों को वहाँ से खदेड़ दिया और समस्त व्यापार अपने हाथों में कर लिया। १५०६ ई० में इन लोगों ने सिंहल, मडागास्कर और सकोतरा की खोज की। इसके पूर्व १४९४ ई० में कोलम्बस अमेरिका की खोज कर चुका था जिससे अनेक नये द्रव्य विश्व भर में प्रचलित हुये। १५०० ई० में ब्राजिल की खोज हुई जहाँ से बकम (ब्राजिल वुड) यूरोप को भेजा जाने लगा। इसके पूर्व यह भारत से जाता था। १५१० ई० में पुर्तगालियों ने अपनी राजधानी गोवा में स्थापित कर ली। १५११ ई० में मलक्का पर आक्रमण किया और १५१५ ई० में वे चीन पहुँचे। १५६४ ई० में मोलक्कास पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सारा समुद्री व्यापार पुर्तगालियों के अधिकार में आ गया। वेस्पुच्ची का कथन है जब पुर्तगाली कालीकट पहुँचे उस समय वहाँ प्रभूत मात्रा में पीपल, दालचीनी, अदरक, सोंठ, लवंग, जायफल, जावित्री, कस्तूरी, जवाब, तुरष्क, लोबान, सनाय, मस्तकी, धूप, बोल, सफेद और लालचन्दन, अगुरु, कपूर, अम्बर, लाह, अफीम, मुसम्बर और अनेक जड़ी बूटियाँ एकत्रित थीं। रत्नों में हीरा, माणिक्य और मुक्ता प्रमुख थे।

पुर्तगालियों की सफलता से प्रेरित होकर १५९४ ई० में डचों का आगमन हुआ। १५८० ई० में अंग्रेजों की योजना प्रारम्भ हुई। १६३३ ई० में फ्रांसीसी वेड़ा भी पहुँचा। अपनी कूटनीति से अंगरेजों ने अन्ततः भारत पर आधिपत्य स्थापित कर लिया।^१

द्रव्यों का कालनिर्णय

द्रव्यों के कालनिर्धारण का आधार निम्नांकित रूप में व्यवस्थित किया जा सकता है :—

१. ऋग्वेद—ऋग्वेद में उल्लिखित द्रव्य^२ प्राचीनतम हैं। इनका अस्तित्व लगभग ४००० ई० पू० से है—यथा सोम आदि।

१. F. C. Danverse : The Portuguese in India (London, 1874)

२. पृ० ३७

(२३१)

२. अथर्ववेद—अथर्ववेद में जिन द्रव्यों^१ का निर्देश है वे १००० ई० पू० से हैं—यथा अपराजिता आदि ।

३. चरकसंहिता—चरकसंहिता में निर्दिष्ट द्रव्य ई० पू० के हैं—यथा प्रियंगु आदि ।

४. दृढबल तथा वाग्भट—चरकसंहिता के दृढबलकृत अंश तथा अष्टांगहृदय में निर्दिष्ट द्रव्य छठीं शती के पूर्व के हैं । विराहमिहिर की रचना (बृहत्संहिता) में निर्दिष्ट द्रव्य निश्चित रूप से इसकी पुष्टि करते हैं—यथा तुरुष्क आदि^२ ।

५. वृन्दमाधव—मध्यकाल का यह प्रथम चिकित्साग्रन्थ है । इसमें निर्दिष्ट द्रव्यों का अस्तित्व ९ वीं शती के पूर्व से होगा—यथा पारसीक यवानी आदि ।

६. सोढल और शार्ङ्गधर—१२-१३वीं शती के इनके ग्रन्थ मध्यकाल की प्रतिनिधि रचनायें हैं । मुसलमानों के साथ जो द्रव्य भारत में आये उनका उल्लेख इसमें हुआ है—यथा अहिफेन, आकारकरभ आदि ।

७. भावप्रकाश—१६वीं शती में मुगलों के उत्कर्ष के साथ-साथ युरोपवासियों का संपर्क भी हो चुका था । अतः इसमें निर्दिष्ट विशिष्ट द्रव्यों का संबन्ध इससे जोड़ना चाहिए—यथा चोपचीनी ।

८. योगरत्नाकर एवं शालिग्रामनिघण्टु—१७वीं से १९वीं शती तक अंगरेज इस देश में प्रतिष्ठित हो चुके थे अतः युरोपवासियों के साथ जो द्रव्य यहाँ आये वे पूर्णतः प्रचलित होकर निघण्टुओं में समाविष्ट हो गये—यथा तमाखु, पपीता आदि ।

कतिपय विशिष्ट द्रव्य

भारतवर्ष एक प्राचीनतम देश है जिसकी सीमा अद्यतन सीमा से बड़ी थी; आज के पड़ोसी देश कभी भारत के ही अङ्ग थे । इसके अतिरिक्त जल एवं स्थल मार्गों के द्वारा इसका संपर्क सुदूर देशों से था । प्राचीनकाल में मिस्र, असीरिया, बैबिलोन आदि जो सभ्यतासंपन्न देश थे उनसे भारत का व्यापारिक संपर्क था । अनेक भारतीय उन देशों में जाकर बस भी गये थे जिनके द्वारा इस देश के अनेक द्रव्य वहाँ प्रचलित हुये । तत्तद् भाषाओं में उनके नाम इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं ।^३ इस संपर्क के माध्यम से अनेक द्रव्य अन्य देशों से यहाँ आयातित हुये ।

१. पृ० ३८

२. P. V. Sharma : Common Plants of the 6th Cent. A. D. [As Described in the Bṛhat Saṃhitā of Varāha Mihira (505-587 A. D.), Bulletin of Indian Institute of History of Medicine, Vol. VI, No. 1., PP. 8-27, January, 1976.

३. पूना से प्रकाशित शिबकोष की भूमिका में अनेक आयुर्वेदीय द्रव्यों के असीरियन नाम दिये गये हैं ।

(२३२)

विनिमय का यह क्रम स्वाभाविक, उपयोगी एवं आवश्यक होने के कारण निरन्तर चलता रहा जिसके फलस्वरूप अनेक भारतीय द्रव्य विदेशों में प्रविष्ट हुये और अनेक विदेशी द्रव्य भारत में आकर यहाँ की मिट्टी में घुल मिल गये। यहाँ तक कि आज यदि ऐसे द्रव्यों को विदेशी कहा जाय तो लोगों को आश्चर्य ही होगा। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे अध्ययन का महत्त्व है अतः यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण द्रव्यों की चर्चा की जायगी।

वानस्पतिक द्रव्य

औषधवर्ग

१. अकरकरा (*Anacyclus pyrethrum* DC.)—यह पौधा उत्तरी अफ्रीका का मूल निवासी है जहाँ से दक्षिणी युरोप में प्रविष्ट हुआ। मुख्यतः अलजीरिया में इसके मूलों का संग्रह कर बाहर भेजा जाता है।^१ भारत में यह मुसमलानों के साथ पहुँचा। मध्यकालीन ग्रन्थ सोढलकृत गदनिग्रह में 'आकल्लक' नाम से इसका प्रयोग सर्गप्रथम दृष्टिगोचर होता है।^२ भावप्रकाश में इसका वर्णन 'आकारकरभ' नाम से दिया गया है। किसी ने 'आकुलकरा' भी लिखा है।

२. अजमोदा (*Apium graveolens* Linn.)—इसका उल्लेख चरक, सुश्रुत और वाग्भट तीनों ही संहिताओं में मिलता है। वाट के मत में इसके नाम पर संप्रति जो द्रव्य प्रचलित है वह युरोप का निवासी है और युरोपवासियों के साथ यहाँ आया। उन्हीं के उपयोग के लिए यह बागों में लगाया जाता रहा।^३ कण्डोल ने बलूचिस्तान तथा भारत के पावत्य प्रदेशों में भी इसका मूल स्थान माना है।^४ बृहत्समी में उल्लेख होने से यह द्रव्य प्राचीन प्रतीत होता है।

३. अयापान—(*Eupatorium ayapana* Vent.)—यह दक्षिण अमेरिका का निवासी है। 'अयापान' ब्राजिल में प्रचलित संज्ञा है जो भारत में अपनाई गई।^५ संभवतः युरोपवासियों के साथ यह द्रव्य यहाँ आया। बंगाल में इसका विशेष प्रचलन था। वहाँ के कविराज और डॉक्टर इसका प्रयोग करते रहे। १९ वीं शती के आयुर्वेदविज्ञानम् (द्रव्यस्थान, आर्यवसंज्ञाहिमं) में विशल्यकरणी नाम से इसका वर्णन है।

१. George Watt : A Dictionary of The Economic Products of India, Vol. I, P. 237

२. भाग १, पृ० २०८, ३९५ (चौखम्बा संस्करण, १९६८)

३. वाट : बही पृ० २७१

४. A. D. Candolle : Origin of Cultivated Plants, P. 89

५. वाट : भाग ३, पृ० २९३

(२३३)

४. अहिफेन (*Papaver somniferum* Linn.)—‘अहिफेन’ शब्द अरबी ‘अपयून’ का संस्कृत रूपान्तर है । १२ वीं शती के सोडलकृत गदनिग्रह (भाग १, पृ० २०८) में सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है । निघण्टुओं में सर्वप्रथम धन्वन्तरिनिघण्टु में ‘अफूक’ नाम से इसका वर्णन किया गया है । संभवतः इसी समय मुसलमानों के साथ यह इस देश में आया और इसकी गुणकारिता के कारण वैद्यसमाज ने इसे पूर्णतः अपना लिया । वेदनास्थापन, निद्राजनन, स्तंभन आदि कर्मों में इसका विशेष प्रयोग होने लगा । यह भूमध्यसागर के निकटवर्ती प्रदेशों—स्पेन, अल्जीरिया, सिसिली, ग्रीस और साइप्रस में स्वतः उत्पन्न होता है । इसकी खेती संभवतः युरोप या उत्तरी अमेरिका में प्रारंभ हुई होगी । ऐसा प्रतीत होता है कि पौधा पहले से ज्ञात था जो शाक के रूप में प्रयुक्त होता था और उसके फलनिर्यास (अहिफेन) का ज्ञान बाद में हुआ । प्रारम्भिक ग्रीक तथा रोमन वाङ्मय में पौधे का उल्लेख मिलता है । ग्रीक विद्वान थियोफ्रेस्टस (३ री शती ई० पू०) ने फलनिर्यास की जानकारी प्राप्त की जिसका अनुसरण परवर्ती विद्वानों ने किया । इस प्रकार अहिफेन की खोज का श्रेय ग्रीक विद्वानों को है । प्राचीन मिस्र में इसके अस्तित्व का कोई संकेत नहीं मिलता । प्लिनी (प्रथम शती) ने सर्वप्रथम मिस्री अहिफेन का उल्लेख किया है । डायस्कोरिडस (२ री शती) के काल में एशिया माइनर का प्रमुख उद्योग अहिफेन का उत्पादन था । यद्यपि इसकी खोज का श्रेय ग्रीकों को है तथापि इसका सुदूर पूर्वी देशों में प्रसार अरबों द्वारा हुआ । फारस होते हुए भारत और चीन में इसका प्रवेश हुआ । भारत के समान चीन में भी इसका प्रवेश लगभग १२ वीं शती के प्रारम्भ में हुआ । उस काल के लिन हूंग नामक विद्वान की रचना में सर्वप्रथम इसका उल्लेख मिलता है । अरब व्यापारी भारत के कालीकट नामक बन्दरगाह पर अफीम लेकर आते थे । वे व्यापारी मलक्का पहुँच कर चीनी वस्तुओं से अफीम का विनिमय करते थे । १५ वीं शती में भारत में मुसलमानों ने काम्बे तथा मालवा में इसकी खेती प्रारंभ की जिस पर राज्य का नियंत्रण था । अकबर के काल में इसके अतिरिक्त, फतेहपुर, इलाहाबाद और गाजीपुर में भी इसकी खेती होने लगी थी जिसका उल्लेख अबुल फजल ने किया है ।^१

५. इसबगोल (*Plantago ovata* Forsk.)—यह फारस और पश्चिमोत्तर प्रदेश में होता है । इसका विशेष प्रयोग मुसलमान हकीम करते रहे । यही कारण है कि आयुर्वेदीय निघण्टुओं में इसका वर्णन नहीं है । हाल के निघण्टुओं में नामा-

१. बाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० २३-२६

(२३४)

न्तर से इसका वर्णन किया गया है यथा शीतबीज (आयुर्वेदविज्ञान), ईषद्गोल (शालिग्रामनिघण्टु), ईश्वरबोल (सिद्धभेषजमणिमाला) । ये संस्कृत रूपान्तर ध्वनिपरक हैं, वस्तुतः फारसी 'अस्पगोल' शब्द का अर्थ है अश्वकर्ण क्योंकि इसके बीज तदाकार होते हैं ।

६. उच्चटा—चरकसंहिता के दृढबलकृत अंश (सिद्धि० १२।४५, ४६, ४४) में उच्चटा का उल्लेख एवं वृष्य बस्तियों में प्रयोग हुआ है । आगे सुश्रुत तथा वाग्भट ने भी इसका प्रयोग किया है । वात्स्यायनकृत कामसूत्र में भी इसका उल्लेख है । ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में इस द्रव्य का वाजीकरणार्थ प्रयोग प्रारंभ हुआ । बाद में भी यद्यपि यह नाम चलता रहा किन्तु मूल द्रव्य अज्ञात होकर इसके स्थान पर मध्यकाल में गुब्जा और आधुनिक काल में उदंगन लिया जाने लगा । अष्टांगनिघण्टु, धन्वन्तरिनिघण्टु आदि निघण्टुओं में इसका वर्णन किया गया है ।^१

६. कङ्कोल (*Piper Cubeba* Linn. f.)—मूलतः यह जावा का निवासी कहा जाता है किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में ही इसका प्रवेश और प्रसार समस्त भारत में हुआ होगा क्योंकि इसका उल्लेख चरक आदि प्राचीन संहिताओं में है ।

७. करवीर (*Nerium odorum* Soland)—मदनपाल और धन्वन्तरि निघण्टुओं में श्वेत और रक्त द्विविध करवीर का वर्णन है । पीतकरवीर (*Thevetia neriiifolia* Juss) मूलतः अमेरिका और पश्चिमी द्वीपसमूह का वासी है ।^२ सम्भवतः १५वीं शती के लगभग इसका प्रवेश भारत में हुआ कैयदेवनिघण्टु और राजनिघण्टु ने पीतकरवीर का वर्णन किया है ।^३

८. कर्पूर—यह एक प्राचीन द्रव्य है जिसका बृहत्त्रयी में उल्लेख है । भारत में इसके वृक्ष नहीं होते; सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया, आदि द्वीपों में होते हैं । कपूर इसी वृक्ष (*Dryobalanops camphora* Colbr.) का निर्यास है । चरक ने कर्पूर-निर्यास का उल्लेख किया है । यह बरास (सुमात्रा के तन्नामक नगर के आधार पर), बोर्नियो या मलयकर्पूर कहा जाता है, लोकभाषा में इसे भीमसेनी कर्पूर कहते हैं । बाद में चीन और जापान के एक वृक्ष (*Cinnamomum camphora* Nees-Eberm.) की शाखाओं को उबाल कर जो कर्पूर निकाला जाता है वह भारत में प्रविष्ट हुआ, इसे निघण्टुकारों ने पक्व कर्पूर की संज्ञा दी । धन्वन्तरिनिघण्टु में एक ही

१. देखें—उच्चटा : शृगुनाथसिंह एवं प्रियव्रतशर्मा, सच्चित्र आयुर्वेद, अक्टूबर, ७१

२. घाट : भाग ६, खण्ड ४, पृ० ४३

३. पीतकरवीरकोऽन्यः पीतप्रसवः सुगन्धिपुष्पश्र—करवीरादिवर्ग, ७

(२३५)

कपूर का उल्लेख है, पक्क कपूर का नहीं। सोढलनिघण्टु (१२वीं शती) में कपूरत्रितय (पक्व, अपक्व और चीनक) का वर्णन है। 'चीनक' संज्ञा विशेषतः चीन से आनेवाले कपूर के लिए प्रयुक्त हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि ११वीं शती के आसपास पक्क कपूर का समावेश भारत में हुआ। इसके अतिरिक्त कुकरोधा, तुलसी, तमाबु, बन अजवाइन आदि से भी कपूर निकाला जाता था। यह स्मरणीय है कि राज-निघण्टु में अनेक प्रकार के कपूरों का उल्लेख है। यह भी ध्यातव्य है कि प्रारम्भ में कपूर का प्रयोग बाह्य रूप में नस्य, लेप, मुखशुद्धि आदि में तथा तैल को सुवासित करने के लिए होता था। बाद में क्रमशः इसका प्रयोगक्षेत्र बढ़ा और कपूरवटी, कपूरसव आदि का आभ्यन्तर व्यवहार होने लगा।

यद्यपि भारत में इसका प्राचीन काल से उपयोग हो रहा था तथापि ग्रीक और रोमन चिकित्सकों को इसका ज्ञान न था। छठीं शती में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। १३वीं शती में मार्को पोलो ने कपूर के वृक्षों का जंगल देखा और १५६३ ई० में गासिया डी ओर्टा ने बतलाया कि यूरोप के कपूर का स्रोत चीन है और यह कि कपूर दो प्रकार का होता है।^१

९. कलम्बा—'कलम्बक इति लोके' करके भावप्रकाशनिघण्टु में पीतचन्दन का वर्णन किया गया है और कालेयक पर्याय दिया है। कालेयक चरक में निर्वाण लेप में प्रयुक्त हुआ है, अतः यह प्राचीन द्रव्य है किन्तु 'कलम्बक' (*Jateorhiza palmata* Miers.) भारत में यूरोपवासियों के आगमन के बाद प्रचलित हुआ और तब शायद कालेयक से सीलोन या नकली कलम्बा (*Coscinium fenestratum* (Gaertn.) Colbr.) का इसके अभाव में ग्रहण किया जाने लगा।

१०. कुपीलु (*Strychnos nuxvomica* Linn.)—बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है अतः इसका प्रवेश उसके बाद ही हुआ होगा। धन्वन्तरिनिघण्टु में काकपीलु और कुपीलु शब्द तिन्दुक के प्रसंग में आये हैं। 'विषतिन्दुक' शब्द भी तिन्दुक के एक भेद के लिए प्रयुक्त हुआ। बाद में विषतिन्दुक के नाम से कुचला का वर्णन सोढलनिघण्टु में तथा कारस्कर नाम से राजनिघण्टु में किया गया है। भावप्रकाश में कुपीलु मर्कट-तिन्दुक तथा कुचला दोनों के लिए है। कहीं विषमुष्टि या सुद्रमुष्टि भी कहा गया है। मुसलमानों ने भारत से इसका ज्ञान प्राप्त किया। १६ वीं शती के मध्य में इसकी जानकारी यूरोप में हुई।^२ सम्भवतः रसाचार्यों द्वारा इसका विशेष प्रचार-प्रसार हुआ।

२. वाट : भाग २, पृ० ८४-८७

१. वाट : भाग १, खण्ड ३, पृ० ३८०

(२३६)

११. कुमारी (Aloe Sp.)—बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं मिलता इससे स्पष्ट है कि बाद में इसका प्रवेश हुआ। सर्वप्रथम अष्टांगनिघण्टु और उसके बाद भोजकृत राजमातृण्ड में (केवल बाह्य प्रयोग) यह द्रव्य दृष्टिगोचर होता है। आभ्यन्तर प्रयोग के लिए इसका प्रचलित योग कुमार्यासव सोढलकृत गदनिग्रह (१२वीं शती) में वर्णित है। धन्वन्तरिनिघण्टु में इसका उल्लेख नहीं है। हेमचन्द्रकृत निघण्टुशेष में भी नहीं है। सम्भवतः १०वीं शती के लगभग भारत में इसका आयात हुआ; ११वीं शती में बाह्य प्रयोग प्रारम्भ हुआ और पूर्ण परिज्ञात होनेपर १२वीं शती में इसके अन्य औषधयोगों का निर्माण होने लगा और आभ्यन्तर प्रयोग भी प्रचलित हुआ।^१

यह द्रव्य मूलतः अफ्रीका के पार्श्ववर्ती द्वीपों का निवासी है। पूर्वपार्श्व में स्थित सकोतरा और पश्चिम पार्श्व के कनारी^२ द्वीपसमूह में प्रचुरता से पाया जाता है जहाँ इसके जंगल हैं। सिकन्दर के नेतृत्व में यूनानी जब सकोतरा द्वीप के स्वामी बने तब इसका ज्ञान उन्हें हुआ। यूनानी चिकित्सकों ने इसका प्रयोग आरम्भ किया और तदनन्तर अरबी चिकित्सकों ने इसे अपनाया किन्तु ब्रिटेन तथा भारत में १०वीं शती तक इसका पता नहीं था। जब अमेरिका का पता लगा तब देखा गया कि जमायका, बारबेडोस आदि द्वीपों में भी यह बहुत होता है। सम्भवतः कनारी द्वीपसमूह से इसका निर्यात वहाँ हुआ।^३

१२. कुलिंजन—प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं है। चीनी भाषा का लियांग-कियांग और अरबी का खलज्जान हिन्दी में कुलञ्जन बना। अंगरेजी में यही गलज्जल हुआ। यह दो प्रकार का होता है बड़ा और छोटा। बड़ा कुलञ्जन (*Alpinia galanga* willd) जावा और सुमात्रा में होता है; इसका फल भी इलायची के समान व्यवहृत होता है। छोटा कुलञ्जन (*Alpinia officinarum* Hance) चीन का बासी है और वहाँ से युरोप और भारत में भेजा जाता है। छोटा कुलंजन अधिक कार्यकर होता है। परवर्ती ग्रीक चिकित्सकों तथा अरबी हकीमों ने इसका व्यवहार प्रारम्भ किया। १२ वीं शती में यह उत्तरी युरोप पहुँचा। उस काल में यह भारत में भी था क्योंकि सोढलकृत गदनिग्रह में इसका योग 'कुलिञ्जनाद्यावलेह' वर्णित है (भाग १, पृ० ३४४)। १३ वीं शती में पूर्वी मसालों

१. रसार्णव में कुमारी का उल्लेख होने से यह १०वीं शती से पूर्व का नहीं हो सकता।

२. इस द्रव्य की 'कुमारी' संज्ञा का सम्बन्ध सम्भवतः इसके मूलस्थान 'कनारी' से है। सम्भवतः 'कन्या' शब्द का सम्बन्ध भी देशभाषक 'केनिया' से है।

३. वाट : भाग १, पृ० १९९-१८०

(२३७)

के साथ-साथ यह अदन, लालसागर और मिस्र होते सीरिया पहुँचता था जहाँ से भूमध्यसागर के क्षेत्रों में वितरित होता था। १६ वीं शती में गोवा में पुर्तगाली वायसराय के चिकित्सक गार्सिया डी ओर्टा ने इसके उपर्युक्त दो भेदों का परिज्ञान किया।^१ इसी काल में लिखे गये भावप्रकाशनिघण्टु में भी कुलञ्जन के दो भेदों का वर्णन किया गया है एक महाभरी वचा के नाम से और दूसरा स्पूलग्रंथि के नाम से। पहली उग्रगन्धा और दूसरी सुगन्धा है। स्पष्टतः पहला भेद चीनी (छोटा) कुलञ्जन है और दूसरा जावा (बड़ा) कुलञ्जन। राजनिघण्टु ने कुलञ्जन के नाम से इसका वर्णन किया है। धन्वन्तरिनिघण्टु में इसका वर्णन नहीं मिलता। यह संभव है कि जावा कुलञ्जन का चिरकाल से दक्षिणभारत में एलापर्णी (रास्ना) के नाम से प्रयोग होता रहा हो और चीनी कुलञ्जन मध्यकाल में अरबी व्यापारियों के द्वारा आया हो।

१३. कृष्णबीज—(*Ipomoea hederacea* Linn. Jacq.)—यद्यपि यह भारत में होता है तथापि इसका प्रयोग बहुत बाद में प्रारंभ हुआ क्योंकि इसका वर्णन प्राचीन निघण्टुओं में उपलब्ध नहीं होता। 'श्यामा' नाम से यह लिया जाता हो यह बात अलग है। राजनिघण्टु में कालाञ्जनी नाम से इसका वर्णन है। सिद्धभेषजमणि-माला में यही नाम (कालाञ्जनिका) दिया है। आयुर्वेदविज्ञान में श्यामबीज नाम से है।

१४. केशर (कुङ्कुम) (*Crocus sativus* Linn.)—बाल्हीकदेश (बल्ख) से आने के कारण इसका एक पर्याय बाल्हीक है। यह ज्ञातव्य है कि बाल्हीक उस काल में विश्व का एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था जहाँ युरोप, अरब, मध्य एशिया, चीन आदि के व्यापारी इकट्ठे होकर द्रव्यविनियम करते थे। चरक और सुश्रुत में काश्मीरज पर्याय इसके लिए नहीं आया है। संभवतः तबतक काश्मीर में इसकी खेती प्रारम्भ नहीं हुई हो। सर्वप्रथम उत्तरगुप्तकाल में वाग्भट्टकृत अष्टांग-हृदय में 'काश्मीरज' शब्द कुङ्कुम के लिए प्रयुक्त हुआ। उसके बाद धन्वन्तरि निघण्टु तथा अमरकोश में भी 'काश्मीरज' और 'काश्मीरजन्मा' शब्दों का प्रयोग कुङ्कुम के लिए हुआ है। जहाँगीर ने पाम्पुर और किश्तबाद में केशर की खेती का

१. घाट, भाग १, पृ० १९२-१९६

इसका 'अल्पीनिया' नाम इटालियन वनस्पतिशास्त्री प्रॉस्पर अल्पिनस के नाम पर पड़ा।

(२३८)

वर्णन किया है। वह लिखता है कि विश्व में सबसे अधिक केशर पाम्पुर में होता है और इससे भी अच्छा केशर किशतवार का है।^१

१५. क्षीरचम्पक (गुलाचीन) (*Plumeria acutifolia* Poirel.)—यह अमेरिका का निवासी पोधा है जो संभवतः युरोप से संपर्क होने पर आधुनिक काल में इस देश में प्रविष्ट हुआ। मन्दिरों के आसपास अधिक होने से इसे मन्दिरपुष्प (Temple flower) भी कहते हैं।

१६. चन्द्रशूर (*Lepidium sativum* Linn.)—यह फारस देश का पोधा है जो मुसलमानों के साथ यहाँ आया और उन्हीं के द्वारा सीरिया, ग्रीस, मिस्र और अबीसीनिया में फैला^२। संभवतः भावप्रकाशनिघण्टु के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं इसका वर्णन नहीं मिलता। हिन्दी में इसे चनसुर और हालिम तथा फारसी में सिपंदान या तुखम इस्पंदान कहते हैं। 'चनसुर' से ही भावमिश्र ने संस्कृत 'चन्द्रशूर' बनाया।

१७. चव्य (*Piper chaba* Hunter.)—मूलतः मोलक्कस द्वीप का वासी पोधा है।^३ बृहत्त्रयी में इसका प्रयोग होने से स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में भारत में इसका प्रचार-प्रसार हो गया था।

१८. चोपचीनी (*Smilax china* Linn.)—यह चीन जापान में होने वाला पोधा है। फिरंग-रोग के औषध के रूप में चीन से इसका आयात भारत में १६वीं शती में हुआ। युरोप में भी इसी काल में यह ज्ञात हुआ।^४ भावमिश्र ने फिरंगरोग के साथ-साथ अपने निघण्टु में चोपचीनी का वर्णन द्वीपान्तरवचा के नाम से किया है। यह विशेषतः 'फिरंगामयनाशनी' कही गई है।

१९. चौह्वार (*Artemisia maritima* Linn.)—यद्यपि हिमालय प्रदेश में यह वनस्पति उत्पन्न होती है तथापि बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरि निघण्टु में यवानीविशेष के रूप में इसका वर्णन है। यह एक उत्तम क्रिमिघ्न द्रव्य है। इससे सैण्टोनिन निकाला जाता है जो केंचुए के लिए रामबाण है।

२०. जयपाल (*Croton tiglium* Linn.)—यह जमालगोटा के नाम से

१. तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० ९२-९३; भाग २, पृ० १३८

२. वाट, भाग ४, पृ० ६२८; कण्डोल, पृ० ८६-८७

३. वाट, भाग ६, खण्ड ३, पृ० २५६

४. वाट : भाग ६, खण्ड ३, पृ० २५३-२५४

जॉली : इण्डियन मेडिसिन, पृ० १५५-१५६

(२३९)

प्रसिद्ध है। इसका छोटा वृक्ष मलक्का, बर्मा और लंका में विशेष होता है।^१ प्राचीन-काल में संभवतः भारत में सर्वत्र मिलने वाली वनस्पति 'दन्ती' (*Baliospermum montanum* Muell. Arg.) के मूल का प्रयोग रेचनकर्म के लिए होता था। बाद में बीजों का भी प्रयोग होने लगा। जयपाल के बीज दन्तीबीज की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण एवं कार्यकर होते हैं। चीन के माध्यम से जयपाल अरब और फारस होता हुआ मुसलमानों के साथ भारत पहुँचा। इसका फारसी नाम 'दन्दचीनी' यह बतलाता है कि यह चीन देश का दन्तीबीज है। मध्यकाल के पूर्व यह नाम नहीं मिलता। धन्वन्तरिनिघंटु में दन्ती के प्रकरण में 'रेचक' शीर्षक से जयपाल का वर्णन है। क्षिप्रकार्यकारी रसोषधों में इसका प्रयोग प्रचलित हुआ। रसरत्नसमुच्चय में जयपाल के योग मिलते हैं। यह भी संभव है कि प्राचीन काल में द्रवन्ती नाम से जमालगोटा का प्रयोग होता हो और बाद में 'द्रवन्ती' के बदले 'जयपाल' शब्द प्रचलित हो गया। इसके बाद व्यवहार में द्रवन्ती का प्रयोग प्रायः बन्द हो गया यह भी इस पक्ष में एक प्रमाण है।

२१. जातीफल (*Myristica fragrans* Houtt.)—चरक, सुश्रुत और वाग्भट में मुखशुद्धि आदि के लिए जातीफल का प्रयोग विहित है। प्रीतिकर गन्ध होने के कारण इसका नाम 'जाती' है और फल (बीज) का प्रयोग होने से यह द्रव्य जातीफल (जायफल) नाम से प्रचलित हुआ। इसके वृक्ष मोलक्कास द्वीप के मूल निवासी हैं, वही से इनका प्रवेश प्राचीन काल में ही भारत में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्य प्रयोग होने के बावजूद भी इसका औषधीय प्रयोग मध्यकाल के पूर्व प्रारंभ नहीं हुआ। सोढलकृत गदनिग्रह (१२ वीं शती) में सर्वप्रथम कास में जातीफलादि चूर्ण का विधान है। इसके बाद दीपन-पाचन, ग्राही तथा शुक्रस्तम्भन के रूप में शार्ङ्गधर (१३ वीं शती) में इसका प्रयोग हुआ। भोजकृत राजमार्त्तण्ड में जातीफल के बाह्यत्वक् का लेप व्यङ्ग्यरोग में विहित है। संभवतः उस समय बीज के साथ-साथ संपूर्ण फल या त्वक् भी आता हो क्योंकि शुष्क बीज का बाह्यत्वक् पृथक् करना कठिन है या जातीत्वक् से जावित्री का अभिप्राय हो। धन्वन्तरिनिघण्टु तथा अमरकोश में जातीफल का वर्णन मिलता है।

२२. तमाखु (*Nicotiana tabacum* Linn.)—इसका पोधा मूलतः मध्य या दक्षिण अमेरिका का वासी है। इसकी जाति का नामकरण (*Nicotiana*) जीन

१. वाट : भाग २, पृ० ६१८

भारत में इसके वृक्ष बंगाल, आसाम, दक्षिण भारत में होते हैं। 'जयपाल' नाम बंगाली कविराजों ने ही सम्भवतः प्रचलित किया क्योंकि बंगाल में इसे जयपाल ही कहते हैं।

(२४०)

निकॉट ऑफ निस्मस के सम्मान में किया गया जिसने इस पीछे का प्रवेश फ्रांस में कराया था। स्पेन के व्यापारी जो फिलिपाइन द्वीप समूह में बसे थे अपने साथ तमाखु वहाँ लेते गये थे क्योंकि अमेरिका से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ से व्यापारियों द्वारा मनीला होते यह १६२० ई० में चीन पहुँचा। भारत में यह पुर्तगालियों के माध्यम से १६ वीं शती के अन्त में प्रविष्ट हुआ। १६०५ ई० में इसका प्रथम उल्लेख मिलता है^१। आयुर्वेद में सर्वप्रथम इसका वर्णन १७ वीं शती के ग्रन्थ योगरत्नाकर में मिलता है।

२३. ताम्बूल (*Piper betle* Linn.)—धन्वन्तरिनिषण्ड में 'बहुला' शीर्षक से इसका वर्णन है; नागवल्ली इसका एक प्रमुख पर्याय कहा गया है। प्राचीन संहिताओं में केवल मुखशुद्धि आदि के लिए इसका स्वल्प उल्लेख है। इसका पोधा जावा का आदिवासी है।^२ उन द्वीपों में सर्प अधिक होते हैं अतः संभवतः उद्भव-स्थान के आधार पर इसका नाम 'नागवल्ली' हुआ। वहाँ से संभवतः दक्षिण भारत में आया। 'ताम्बूल' शब्द दक्षिण भारतीय भाषा से निष्पन्न प्रतीत होता है। इसके अन्य दक्षिण भारतीय नाम भी द्रष्टव्य है। मध्यकाल में इसका औषधीय प्रयोग प्रारम्भ हुआ, पारद के संस्कारों में भी इसका उपयोग होने लगा। राजनिषण्ड में अनेक प्रकार के ताम्बूल कहे गये हैं। बाद में 'पर्ण' से 'पान' शब्द विशेष प्रचलित हुआ। पर्णखण्डेश्वर रस प्रसिद्ध है (भैषज्यरत्नावली, ज्वराधिकार)।

२४. ताल (*Borassus flabellifer* Linn.)—यह अफ्रीका का मूल निवासी है।^३ प्राचीन संहिताओं में इसका प्रचुर उल्लेख होने से स्पष्ट है कि भारत में इसका प्रवेश अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ होगा। ताल की एक जाति 'हिन्ताल' का उल्लेख केवल एक ही स्थल (च० क० १।८) पर दृढ़बल ने किया है।

२५. तुरुष्क (*Styrax officinale* Linn.)—चरक के दृढ़बलकृत अंश में केवल एक ही स्थल (चि० २८।१८३) पर गन्धद्रव्यों में इसका पाठ है। सुश्रुत ने एलादि गण में इसे समाविष्ट कर लिया है। तुरुष्क (*Solid storax*) उपर्युक्त वृक्ष का

१. कण्डोल : पृ० ११९-१४३

वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० २३-३६; भाग ५, पृ० ३५१-३५२

पी० के० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ४१०-४३८

२. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० २४८

गोडे : वही, पृ० ११३-१६८

३. वाट : भाग ५, पृ० ४३२

(१४१)

निर्यास है। यह वृक्ष एशिया माइनर के आसपास होता है। हेनबरी ने यह सिद्ध किया है कि प्राचीन तुर्ष्क ठोस होता था और बहुत थोड़ा निकलने के कारण कीमती था^१ अतः क्रमशः बाद में तरल शिलारस (Liquid storax) इसके स्थान पर प्रचलित हुआ। प्रथम शती तक लालसागर द्वारा भारत में तुर्ष्क के आने का प्रमाण मिलता है। शिलारस (सिल्हक) एक भिन्न वृक्ष (Liquidamber orientalis Miller) का तरल निर्यास है जो एशिया माइनर में होता है^२।

धन्वन्तरिनिघण्टु में तुर्ष्क का वर्णन है। यह 'यावन' (यवनदेशोत्पन्न), कल्क और पिण्डक (ठोस) कहा गया है। सिल्हक भी इसका एक पर्याय है। सोढलनिघण्टु में तुर्ष्क से पृथक् सिल्हक का पाठ है। भावप्रकाश में 'कपितैल' शब्द इसकी तरलता का द्योतक है। इससे स्पष्ट है कि प्रारंभ में तुर्ष्क और सिल्हक भिन्न होते हुए भी बाद में पर्यायवाची बन गये यहाँ तक कि संस्कृत 'तुर्ष्क' शब्द का अरबी रूपान्तर 'उस्तुरक' शिलारस के लिए प्रचलित हुआ।

२६. तुवरक (Hydnocarpus wightiana Blume.)—चरक में इसका उल्लेख नहीं है। सुश्रुत ने इसका प्रभूत उपयोग किया है। इसके वृक्ष पश्चिमार्णवभूमि (पश्चिमी घाट) के जंगलों में होते हैं। इसके बीजों के तैल का उपयोग कुष्ठ और प्रमेह में किया गया है। आश्चर्य है कि निघण्टुओं में भी इसका वर्णन नहीं मिलता केवल आयुर्वेदविज्ञान में 'कुष्ठवैरी' नाम से वर्णित है। यह तथ्य सुश्रुत का दक्षिण-भारत से विशेष सम्पर्क सूचित करता है। गदनिग्रह में सुश्रुत के अनुसार ही तुवरक-कल्प का विधान है।

२७. धत्तूर (Datura metel Linn.)—चरक में इसका उल्लेख नहीं है। सुश्रुत में केवल दो प्रयोग बीज के हैं एक बाह्य, नाडीव्रण में उपयोगी तैल में और दूसरा आभ्यन्तर अलर्कविष में। अष्टांगहृदय में अलर्कविष वाले प्रयोग के अतिरिक्त, धत्तूरपत्रस्वरस का उपयोग खालित्यरोग में किया गया है। राजमार्तण्ड में सर्पविष में भी धत्तूर का प्रयोग है। चक्रदत्त में धत्तूरमूल की खीर बनाकर उन्माद में प्रयोग करने का विधान है। रसरत्नसमुच्चय में ज्वर, यक्ष्मा, ग्रहणी, शूल आदि में धत्तूर का प्रचुर उपयोग है। गदनिग्रह में धत्तूरमद के प्रतीकार का विधान है जिससे प्रतीत होता है कि मादक द्रव्य के रूप में भी सम्भवतः उपयोग होता था। धन्वन्तरिनिघण्टु, सोढलनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में यह रक्तदोषहर, व्रणघ्न एवं

१. इरिसिंग (७वीं शती) ने अपने यात्रा-विवरण में सीरिया से आने वाले सम्भवतः इसी बहुमूल्य गोंद का निर्देश किया है।

२. बाट : भाग ५, पृ० ७८-७९

१६ द्र० च०

(२४२)

उवरण कहा गया है। उपविषों में इसकी गणना है। इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि मध्यकाल में इसका प्रयोगक्षेत्र विशेषतः रसशास्त्रीय आचार्यों के निर्देशन में अधिक विकसित हुआ।

२८. धूम्रपत्रा (*Aristolochia bracteata* Retz.)—इसे कीड़ामारी भी कहते हैं। कृमिघ्नी के नाम से सोढलनिघण्टु तथा धूम्रपत्रा के नाम से राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। संभवतः मध्यकाल में भारत में इसका प्रचार हुआ। उल्हण ने इसे 'कीटमारिणी' कहा है। अतः उस काल (१२ वीं शती) में इसका प्रयोग प्रचलित था।

२९. पर्णबीज (*Bryophyllum calycinum* Salisb.)—अणुरोपण होने से इसे जल्मेहयात कहते हैं। यह मोलक्कस का मूलतः निवासी पौधा है। अंगरेजों के द्वारा भारत में लाया गया है। कहते हैं, श्रीमती क्लाइव इसे १७९९ ई० में लायीं और तभी यह कलकत्ता के वानस्पतिक उद्यान में लगाया गया^१।

३०. पर्णयवानी (*Coleus aromaticus* Benth.)—यह मोलक्कस का मूल निवासी है। वहाँ से आधुनिक काल में यहाँ लाया गया और आजकल बागों और गमलों में लगाया मिलता है। पाषाणभेद के प्रतिनिधि द्रव्य के रूप में भी लोग इसका ग्रहण करते हैं और लोकभाषा में इसे पथरचूर कहते भी हैं।

३१. पारसीकयवानी (*Hyoscyamus niger* Linn.)—यह युरोप और मध्य एशिया का मूल निवासी है। भारत में अरबी एवं फारसी ग्रन्थों में पहले देखा जाता है^२। भारतीय चिकित्सा में लगभग ९वीं शती में प्रविष्ट हुआ। वृन्दमाधव में कृमिघ्न के रूप में इसका सर्वप्रथम उल्लेख है। धन्वन्तरिनिघण्टु में यवानीविशेष के रूप में इसका वर्णन है। यावनी, तुरुष्का आदि पर्याय तथा इसका लोकनाम 'खुरासानी अजबायन' इसका सम्बन्ध यवन या तुरुष्कदेश से बतलाते हैं। सम्भवतः अरब-वासियों के सम्पर्क से यह यहाँ पहुँचा।

३२. पिपरमिण्ट (*Mentha piperata* Linn.)—यह युरोप, उत्तरी अमेरिका तथा एशिया के कुछ भागों में वन्य रूप में पाया जाता है। भारत में संभवतः आधुनिक काल में व्यवहृत होने लगा।

१. बाट : भाग १, पृ० ५४३

२. वही, भाग, पृ० ३१९-३२१

३. बाट : भाग ५, पृ० २२९-२२१

(२४३)

पुदीना इसीकी एक जाति है जो मूलतः पश्चिमी हिमालय, तिब्बत, अफगानिस्तान, युरोप तथा पश्चिमी और मध्य एशिया का निवासी है^३। इसका प्रयोग भी यहाँ आधुनिक काल से प्रारंभ हुआ।

मध्यकालीन निघण्टुओं में इसका वर्णन नहीं मिलता। आधुनिककालीन शालिग्रामनिघण्टु (कर्पूरादिवर्ग) में पुदीना के गुणकर्म का उल्लेख है। सिद्धभेषजमणिमाला (शाकवर्ग) में भी 'पुदीनाक' नाम से पठित है।

३३. पूग (*Areca catechu* Linn.)—मूलतः यह कोचीन-चीन और मलाया का निवासी है वहीसे सर्वत्र फैला। लैटिन नाम (*Areca*) मलयभाषा के नाम का ही रूपान्तर है^१। सर्वप्रथम यह दक्षिण भारत, उसके बाद बंगाल-आसाम में प्रचलित हुआ। संस्कृत भाषा में इसके सभी नाम लोकभाषीय नामों के रूपान्तर हैं यथा गुवा (बंगाली-आसामी) से गुवाक; कमुगु (तामिल) से क्रमुक तथा बोक्क-वक्क (तेलुगु) से पूग शब्द निष्पन्न है। बृहत्त्रयी में चरक और अष्टांगहृदय में केवल एक ही स्थल पर पूग का उल्लेख है किन्तु सुश्रुत में अनेक स्थलों पर इसका पाठ है। इससे पता चलता है कि या तो सुश्रुत दक्षिण भारत से संबद्ध हों या उनका अस्तित्व ऐसे परवर्ती काल में हो जब पूग का प्रचुर प्रचार सर्वत्र हो चुका हो। धन्वन्तरिनिघण्टु में पूग का वर्णन है; राजनिघण्टु में दक्षिणभारतीय अनेक प्रदेशों के अनुसार इसके भेदों का वर्णन किया गया है। चरकसंहिता में उपलब्ध होने से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही भारत में पूग प्रचलित है।

३४. गन्धप्रियंगु (*Prunus mahaleb* Linn.)—मराठी भाषा में यह गहुला के नाम से प्रसिद्ध है। गन्धद्रव्य के रूप में बम्बई के बाजार में बिकता है। कराँची में स्त्रियाँ इसकी माला बनाकर पहनती थीं। गहुला का वृक्ष मध्य एशिया तथा यूरोप का मूल निवासी है; बलूचिस्तान और सिन्ध में इसके पेड़ लगाये गये हैं।^२ महर्षि चरक का सम्बन्ध विशेषतः पश्चिमोत्तर प्रदेश से या अतः संभवतः उनका गन्धप्रियंगु यही हो।

३५. बन्बूल (*Acacia arabica* Willd.)—बृहत्त्रयी में बन्बूल का उल्लेख नहीं है इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में इसका औषधीय प्रयोग नहीं था^३ यद्यपि यह ज्ञात था (महाभाष्य १।१।४५)। सोढल निघण्टु में सर्वप्रथम बन्बूल और उसके फल

१. चही, भाग १, पृ० २९०

२. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० ३४७

३. यद्यपि यह वृक्ष ज्ञात था। देखें पातञ्जल महाभाष्य १।१।७।४५

(२४४)

का गुण निर्दिष्ट है। राजनिघण्टु में बर्बुर नाम से है। गदनिग्रह में बब्बूलपल्लव (अतिसार) तथा बब्बूलासव (राजयक्ष्मा) का विधान है। सोढलनिघण्टु में 'गुन्द्र' शब्द से अनेक गोंदों का उल्लेख हुआ है जिनमें संभवतः बब्बूल की गोंद भी अन्तर्भूत होगी। इस प्रकार लगभग ११वीं या १२वीं शती में मुसलमानों के संपर्क से इसका औषधीय प्रयोग प्रारम्भ हुआ। अरबी चिकित्सकों ने इसे मिस्रदेश से सीखा था जहाँ ईसा से १७०० वर्ष पूर्व से इसका प्रयोग होता रहा था। यूरोप में बबूल की गोंद मिस्र और तुर्किस्तान से इटालियन व्यापारियों के द्वारा सर्वप्रथम १३४० ई० में पहुँची। इसके बाद १४४९ ई० से अफ्रीका के पश्चिमी तट से इसका नियमित व्यापार पुर्तगालियों द्वारा संचालित होने लगा।^१

३६. बर्बरी (*Ocimum basilicum* Linn.)—यह पौधा मध्य एशिया और पश्चिमोत्तर प्रदेश का मूल निवासी है।^२ बृहत्त्रयी में बर्बरी का उल्लेख नहीं है और न ध्वन्तरिनिघण्टु में। सर्वप्रथम संभवतः मदनपालनिघण्टु में बर्बरीत्रितय का वर्णन है। राजनिघण्टु में बर्बर नाम से संभवतः इसीका वर्णन है। अष्टांगहृदय में भी बर्बर है (उत्तर० ३।६०); दोनों यदि एक ही हैं तो वाग्भट के काल से ही इसका प्रयोग मानना होगा किन्तु इस विषय पर निघण्टुओं के मीनधारण से सन्देह होता है। अधिक संभावना है कि १२वीं शती के बाद ही 'बर्बरी' का विशेष प्रचार हुआ यद्यपि यह अन्य नाम से प्राचीन ग्रन्थों में निर्दिष्ट हो सकती है।

३७. बोल (*Balsamodendrom myrrha* Nees.)—बोल उपर्युक्त वृक्ष का निर्यास है। यह वृक्ष अरब तथा लालसागर के किनारे-किनारे अफ्रीका में मूलतः होता है।^३ 'रस' शब्द से चरक के दृढबलकृत अंश (चि० २८।१५०) में इसका उल्लेख है। पुनः अष्टांगहृदय में रस, जातीरस आदि शब्दों से इसका अभिधान है। इससे स्पष्ट है कि गुप्तकाल में आयुर्वेदीय क्षेत्र में उसका प्रवेश हुआ। ध्वन्तरिनिघण्टु में बोल का वर्णन है।

३८. मधुयष्टी (*Glycyrrhiza glabra* Linn.)—यह पौधा दक्षिण यूरोप, एशिया माइनर, अमीनिया, साइबेरिया, फारस, तुर्किस्तान और अफगानिस्तान का मूल निवासी है। इसकी खेती इटली, फ्रांस, रूस, जर्मनी, स्पेन और चीन में होती है। भारत में भी इसका प्रयास किया गया है किन्तु अभी भी मध्य एशिया, फारस

१. बाट : भाग १, पृ० ५८

२. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग ७, पृ० ७९

३. बाट, भाग १, पृ० ३६७

(२४५)

आदि देशों से इसका आयात होता है।^१ चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं में इसका प्रचुर प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल से भारत के वैद्य इसका व्यवहार कर रहे हैं। बाहर से खरीद कर आयातित करने के कारण संभवतः इसका पर्याय 'क्लीतक' हुआ हो। उद्भवभेद से यह दो प्रकार की मानी गई है— शुष्क प्रदेश में होने वाली स्थलज और सजल प्रदेश में होने वाली जलज। फारस की नदियों की घाटी में होने वाली मधुपष्ठी ही संभवतः जलज कही गई है। डल्हण के अनुसार मधुपष्ठी के समान ही कोई मधुरमूल 'प्रपीण्डरीक' कहलाता था। संभव है, यह भी मधुपष्ठी का ही कोई भेद हो।

३९. मस्तगी (*Pistacia lentischus* Linn.)—इसे रूमी मस्तगी कहते हैं क्योंकि यह भूमध्यसागरवर्ती प्रदेशों में बहुलता से होता है।^२ यह उपर्युक्त वृक्ष की गोंद है। यूनानी हकीम लोग इसका विशेष व्यवहार करते रहे उनके माध्यम से ही यह भारत में प्रविष्ट हुआ। सोढलकृत गदनिग्रह^३ (१२वीं शती) में सर्वप्रथम इसका प्रयोग मिलता है। सिद्धभेषजमणिमाला (सुगन्धिवर्ग) में भी इसका वर्णन है।

४०. महानिम्ब (*Melia azedarach* Linn.)—प्राचीन काल में इस शब्द से 'अरलु' (*Ailanthus excelsa* Roxb.) का ग्रहण करते थे। मध्यकाल में इससे वकायन लेने लगे और अरलु श्योनाक का पर्याय हो गया। वकायन चिरकाल से अरब और फारस में व्यवहृत होता रहा। भारत में यह मुसलमानी हकीमों द्वारा संभवतः सर्वप्रथम दक्षिणी अञ्चल में प्रविष्ट हुआ। फारसी में इसे आजाद दरख्त कहते हैं^४। इसी आधार पर इसका हिन्दी-संस्कृत नाम (द्रेक, द्रेकी, द्रेवका) तथा लैटिन नाम पड़ा है। धन्वन्तरिनिघण्टु में निम्बविशेष करके महानिम्ब (वकायन) का वर्णन है। डल्हण ने भी इसका महानिम्ब, पर्वतनिम्ब, विषमुष्टि आदि नामों से उल्लेख किया है^५।

४१. माजूफल (*Quercus infectoria* oliver.)—'माजू' यह फारसी नाम

१. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग ४, पृ० १५१

वाट : भाग ३, पृ० ५१३

२. वही, भाग ६, खण्ड १, पृ० २७०

३. भाग १, पृ० ३८५ (आवर्त्तकाद्यासव)

४. वाट : भाग ५, पृ० २२१-२२२

५. देखें 'महानिम्ब' शीर्षक मेरा लेख धन्वन्तरि, संदिग्ध-वनौषधि विशेषांक,

१९७५

(१४६)

है। यह वृक्ष ग्रीस, एशिया माइनर, सीरिया और फारस का मूल निवासी है।^१ इसकी शाखाओं पर उत्पन्न कीटगृह फलाकार होने से माजूफल कहते हैं। इसी का संस्कृतीकरण 'मायाफल' हुआ। भोजकृत राजमार्तण्ड (स्त्रीरोगाधिकार, ४४) में योनिशैथिल्यहर योग में मायाफल का प्रयोग है। गदनिग्रह में भी इसका उल्लेख है। राजनिघण्टु में मायाफल का वर्णन है। अरबी हकीमों के सम्पर्क से इसका प्रयोग प्रारंभ हुआ। इस वृक्ष के दक्षिणभारतीय नाम 'माचिकाई' होने के कारण यह भी सन्देह होता है कि प्राचीनों की 'माचिका' यही हो।

४२. मेंहदी (*Lawsonia alba* Lam.)—अरबी और फारसी में इसे हिना कहते हैं। यह फारस के आसपास मूलतः होती है, वहाँ से अफ्रीका और भारत में इसका प्रसार हुआ^२। संभवतः मुसलमानों के साथ यह भारत में आया। मिस्र में २००० ई० पूर्व इसके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है।

सुश्रुत (चि० २५।४२) में मदयन्तिका के पत्रों का विधान अंगराग में किया है। डल्हन ने इसका अर्थ 'मेंहदी' किया है—'मदयन्तिका मेंहदी इति लोके, यस्याः पिष्टैः पत्रैर्नखानां रागं क्षिय उत्पादयन्ति'। निघण्टुकारों ने मदयन्तिका मल्लिका के पर्यायों में लिखा है। सुश्रुत का अभिप्राय चाहे जो हो, डल्हन द्वारा 'मेंहदी' का स्पष्ट उल्लेख होने से यह सिद्ध है कि १२वीं शती के पूर्व भारत में इसका प्रसार हो चुका था।

राजमार्तण्ड में मदयन्तिका, अश्वगन्धा और मोचरस के द्वाय से योनिप्रक्षालन का विधान है (योनिस्कंचोचनार्थ स्त्रीरोगाधिकार, ४५)। यहाँ 'मदयन्तिका' संभवतः मेंहदी है। यही योग गदनिग्रह में भी उद्धृत है। रसरत्नाकर (वादिलखण्ड, अ० ६) में मेंहदीपत्रस्वरस से भावना देने का विधान है। किसी निघण्टु में इसका वर्णन उपलब्ध नहीं होता। संभवतः कोई विशेष औषधीय प्रयोग न होने से वैद्यों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। आधुनिक ग्रन्थों में नखरन्जक (शालिग्रामनिघण्टु), गुञ्जीघपुष्प (सिद्धभेषजमणिमाला) नाम से इसका वर्णन है। २०वीं शती में लिखे गये द्रव्यगुण के ग्रंथों में मदयन्तिका नाम से ही इसका वर्णन है।^३

१. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० ३७६

२. वही, भाग ४, पृ० ५९७

गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ३४७-२५६

३. यादवजी : द्रव्यगुणविज्ञानम्, उत्तरार्ध, खण्ड २, पृ० २०९

प्रियव्रत शर्मा : द्रव्यगुणविज्ञान, भाग २, पृ० १७३

(२४७)

४३. यवासशर्करा (Manna)—फारस और अरब देशों में यवासा के पीधों से एक प्रकार की शर्करा निकलती है उसे इकट्ठा कर तुरल्लजीन नाम से बाहर भेजते हैं^१ यही यवासशर्करा है। चरक में इसका उल्लेख नहीं है किन्तु सुश्रुत और अष्टांगहृदय में है। ऐसा लगता है कि संभवतः पूर्वगुप्तकाल में भारत में इसका प्रचार हुआ। धन्वन्तरिनिघण्टु में यवासशर्करा और राजनिघण्टु में तवराजशर्करा के नाम से इसका वर्णन है।

अरब और फारस में मदार से भी एक प्रकार की शर्करा निकाली जाती थी।

४४. युकेलिप्टस (Eucalyptus sp.)—यह आस्ट्रेलिया का मूल निवासी है। अंगरेजों द्वारा नीलगिरि में १८६३ ई० में इसे लगाया गया।^२

४५. रामबाँस (Agave)—यह मध्य अमेरिका विशेषतः मेक्सिको का मूल निवासी है। १६वीं शती में पुर्तगालियों द्वारा भारत में इसका प्रचलन हुआ।^३ इसके रेशों से रस्सी बनाने के कारण मगध में इसे मुरब्बा (मूर्वा ?) कहते हैं।

४६. रेवन्दचीनी (Rheum emodi Wall.)—अरबी और फारसी में यह रेवन्द कहलाता है, चीन से आने के कारण 'चीनी' शब्द इसमें जुट गया। यद्यपि यह भारत में उत्पन्न होता है तथापि चीनी द्रव्य भारतीय द्रव्य की अपेक्षा उत्तम माना जाता है। अत एव इसी का प्रयोग अधिक होने के कारण 'रेवन्दचीनी' नाम ही प्रचलित हो गया। राजनिघण्टु में वर्णित 'हिमावली' संभवतः रेवन्द ही है। हिमावली सर, तिक्त, कुष्ठण, उदररोगहर कही गई है। इसका एक नाम हृदानी भी है। ग्रन्थिक, रंगकुष्ठक आदि इसके पर्याय सार्थक हैं। आयुर्वेदविज्ञान और शालिग्राम-निघण्टु में 'पीतमूली' तथा सिद्धभेषजमणिमाला में 'रेवतिका' नाम से इसका वर्णन है।

४७. लवंग (Syzygium aromaticum (Linn) Merr and M. Perry) यह मोलक्कास का मूल निवासी है।^४ चरक, सुश्रुत, वाग्भट में इसका प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि भारत में इसका प्रचार प्राचीन काल से ही है यद्यपि यह द्वीपान्तर^५ से ही आता रहा है। गन्धद्रव्यों में इसका प्रमुख स्थान रहा है। प्रारंभ

१. वाट : भाग ५, पृ० १६५-१६६

२. वेथ ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० २०३

वाट : भाग ३, पृ० २८०

३. वेथ ऑफ इण्डिया, भाग १, पृ० ३८

४. कण्डोल : पृ० १६२

५. द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैः—१५० ५।५७

(२४८)

में मुखशुद्धि के लिए तथा तैलों को सुगन्धित करने के लिए प्रयुक्त होता था। बाद में इसके अन्य औषधीय प्रयोगों का प्रारंभ हुआ।

४८. वत्सनाभ (*Aconitum chasmanthum* Stapf. ex Holmes) चरकसंहिता के दृढबलकृत अंश (चि० २३।११) में केवल एक स्थल पर मूलज स्थावर विषों में वत्सनाभ की गणना है। सुश्रुत में भी केवल कल्पस्थान में विषप्रकरण में इसका उल्लेख है। अष्टांगसंग्रह में विषोपयोग नाम एक स्वतंत्र अध्याय है। इससे प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में विषों का चिकित्सा में उपयोग प्रारम्भ हुआ जिनमें वत्सनाभ प्रमुख था। क्रमशः तान्त्रिक संप्रदाय में रसशास्त्र के साथ-साथ विषों का भी चिकित्सोपयोग बढ़ता गया। रसरत्नसमुच्चय में विस्तार से विषकल्प का वर्णन है।

४९. विजया—(*Cannabis sativa* Linn.) 'भंग' शब्द ऋग्वेद (९-६१-१३) में अभिषववाचक है। अथर्ववेद (११-८-१५) तथा कौशिकसूत्र (१४।२८, १६।१६; २२।१४, २५।२८, ४७।३८) में भी उपलब्ध है यद्यपि कौशिकसूत्र में यह केवल सूत्र के निमित्त प्रयुक्त है। कात्यायन ने भी पाणिनिसूत्र (५।२।२९) पर अपने वार्तिक में इसका विधान किया है। यह लगभग १००० ई० पू० चीनी सम्राट् शेन नाङ् के भेषज-संग्रह में भी निर्दिष्ट है। यह समस्त विश्व में सूत्रों एवं बीजों के लिए उगाया जाता रहा है। ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में इसकी उपयोगिता केवल सूत्रों तक ही सीमित थी जो कोशों में इसके पर्याय 'शण' से द्योतित होता है।^१ बाद में भंगा मादक द्रव्य के रूप में प्रयुक्त होने लगी और तब 'मातुलानी' कहलाने लगी।^२ पर्यायरत्नमाला विजया से शिवा (हरीतकी) और जयन्ती (तर्कारी) लेता है, भंगा नहीं। धन्वन्तरिनिघण्टु अष्टवर्ग के अन्तर्गत मेदाविशेष के रूप में विजया का वर्णन करता है। यह सब इसके विकासक्रम में संक्रान्तिकाल का बोधक है। भंगा के औषधीय प्रयोग सोढलकृत गदनिग्रह से प्रारम्भ हुए हैं और उसके बाद क्रमशः बढ़ते गये हैं। भंगा के संबंध में यह विचित्र तथ्य है कि यद्यपि इसका अस्तित्व वैदिक काल से है तथापि इसका औषधीय प्रयोग मध्यकाल में तान्त्रिकों या अरबी चिकित्सकों के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। यह मध्य एशिया का मूल निवासी माना जाता है।^३

१. त्रिकाण्डशेष, ३।६५; निघण्टुशेष, ३९७; आनुजीदीक्षितव्याख्या, अमरकोश

२।१।२०

२. अमरकोश २।१।२०; निघण्टुशेष ३९७

३. चाट : भाग २, पृ० १०३-१०८

(२४९)

५०. शल्लकी (*Boswellia serrata* Roxb.)—शल्लकी का उल्लेख बृहत्संहिता के तीनों ग्रन्थों में है किन्तु इसके निर्यास (कुन्दरु) का उल्लेख अपेक्षाकृत स्वल्प है। चरक में केवल दृढबलकृत अंश (चि० २६।६४; २८।१५१) में है; सुश्रुत में केवल एक स्थल पर है और अष्टांगहृदय में दो स्थलों पर है। यह स्मरणीय है कि निर्यासों का अधिक प्रयोग यूनानी हकीमों ने प्रचलित किया; कुन्दरु का भी विशेष प्रयोग बाद में उन्हीं के द्वारा हुआ।

५१. सनाय (*Cassia angustifolia* Vahl.)—मूलतः दक्षिणी अरब तथा सोमाली तट पर यह होता है।^१ अरबी चिकित्सकों ने लगभग ९वीं शती में इसका प्रयोग प्रारम्भ किया। भारत में मुसलमानों के संपर्क से आया। निषण्टुओं में इसका स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। राजनिषण्टु में भूम्याहुल्य को मार्कण्डेय, महोषध, कुष्ठकेतु आदि पर्यायों से कहा है। यह तिक्तरस है तथा ज्वर, कुष्ठ आदि में उपयोगी है। इसीको आगे निषण्टुकारों ने मार्कण्डिका करके वर्णन किया है^२ जो सनाय से भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि मार्कण्डिका वमन-विरेचन दोनों है तथा अत्यधिक तिक्त है जबकि सनाय केवल विरेचन है और उतना तिक्त भी नहीं है। मार्कण्डिका देवदाली की कोई जाति है। परवर्ती निषण्टुकारों ने मार्कण्डिका से पृथक् स्वर्णपत्री नाम से सनाय का वर्णन किया है।^३ भावप्रकाश में स्वर्णपत्री नहीं है। सिद्धभेषजमणिमाला में 'सनायकी' नाम से वर्णित है।^४ इससे संकेत मिलता है कि आधुनिक काल में ही इसका अधिक प्रचार हुआ।

५२. सर्पगन्धा—इसका उल्लेख सुश्रुतसंहिता (क० ५।८४) में है। 'सर्पसुगन्धा' शब्द भी आया है (अ० ह० चि० १४।१०४)। भारत में 'पागल की जड़ी' के नाम से चिरकाल से इसका प्रयोग परंपरा में होता रहा है। १७ वीं शती में युरोपीय विद्वानों को इसकी जानकारी हुई। फ्रेंच वनस्पतिविद् प्लुमियर ने १७०३ ई० में डॉ राबुल्फ के नाम पर इसका लैटिन नाम 'राबुल्फिया सरपेण्डिता' रखा। आयुर्वेदिक एवं तिब्बती कालेज, दिल्ली के डा० सलीमुज्जमा सिद्दीकी एवं रफत हुसेन सिद्दीकी ने सर्वप्रथम १९३१ ई० सर्पगन्धामूल से सक्रिय तत्त्वों को पृथक् कर इण्डियन केमिकल सोसाइटी के जर्नल में इसका विवरण प्रकाशित किया था। सर्पगन्धा-

१. वेबथ ऑफ इण्डिया, भाग २, पृ० ९३-९४

वाट : भाग २, पृ० २१२-२१४

२. भावप्रकाशनिषण्टु, गुड्ड्यादि वर्ग, २८९-२९०

३. शालिग्रामनिषण्टु, गुड्ड्यादि वर्ग; आयुर्वेदविज्ञान, विरेचनीय वर्ग

४. द्वितीय गुच्छ, हरीतक्यादि वर्ग, श्लो० ६३

(२५०)

मूल पटना के बाजार में मँगाये गये थे ।^१ आज यह विश्वविख्यात औषध है । चिकित्साजगत् में विश्व के लिए भारत की यह ऐतिहासिक देन है ।

५३. सिन्दूरी (*Bixa orellana* Linn.)—यह अमेरिका का मूल निवासी है^२ । मदनपालनिघण्टु, राजनिघण्टु तथा भावप्रकाशनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है । इससे प्रतीत होता है कि १४वीं शती के पूर्व भारत में इसका प्रसार हो गया था ।

५४. सिनकोना (*Cinchona succirubra pavon*)—यह वृक्ष दक्षिण अमेरिका का मूल निवासी है । पेरू के स्पेनी वाइसराय की पत्नी, काउण्टेस ऑफ सिनकोन (Countess of Cinchon) ने इसके द्वारा रोगमुक्त होने के बाद १६३९ ई० में युरोप में इसे प्रविष्ट कराया था । पादरी लोग इसकी छाल का उपयोग अधिक करते थे अतः यह पेरुबियन बार्क, जेसुइट बार्क और काउण्टेस पाउडर के नाम से विदित था । १७४२ ई० में लिनियस ने 'सिनकोना' प्रजाति की स्थापना की^३ । अंगरेजों ने इसे भारत में भी लगाना शुरु किया । दक्षिणभारत (नीलगिरि) और उसके बाद बंगाल (दार्जिलिंग) में बड़े पैमाने पर इसका रोपण किया गया । १८२० ई० में पेलिटियर और कैवेंटो (Pellitier and Caventow) ने सिनकोना छाल से किनीन को पृथक् किया^४ जो विषमज्वर के लिए रामबाण सिद्ध हुआ । आयुर्वेद के निघण्टुओं में सम्भवतः आयुर्वेदविज्ञान में 'शाखिमूल' करके इसी का वर्णन है । आचार्य यादव जी ने अपने द्रव्यगुणविज्ञान में इसे स्थान दिया है किन्तु निघण्टुकार इसे पूर्णतः आत्मसात् नहीं कर सके ।

५५. सोम—यह ऋग्वेदकालीन अतिप्राचीन द्रव्य है । ऋग्वेद में इसका विधान विस्तार से वर्णित है जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय इसका प्रचार पर्याप्त था । सम्भवतः इसकी उपलब्धि सर्वत्र न होने के कारण ब्राह्मणकाल में इसके अभाव में प्रतिनिधि-द्रव्यों का विधान किया । सम्प्रति तो यह द्रव्य पूर्णतः सन्दिग्ध हो गया है^५ ।

५४. हिङ्गु (*Ferula foetida* Regel)—इसके पौधे दक्षिणी तुर्किस्तान, पूर्वी

१. The Rauwolfia Story—CiBA Pharma, Bombay. 1945

२. वेबथ आफ इंडिया, भाग १, पृ० १९६

३. वाट : भाग २, पृ० २९०

४. R. Ghosh's Pharmacology, Calcutta, 1969, P. 752

५. इस संबन्ध में देखें—आर० गॉर्डन बासन का लेख, जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, भाग ९१, सं० १, अप्रिल-जून, १९७१, पृ० १६९-१८७

(२५१)

फारस की बालुकामय मरुस्थली, और पहाड़ियाँ, खोरासान, अफगानिस्तान तथा कैस्पियन सागर और अराल सागर के बीच मध्य एशिया के प्रदेश में होते हैं^३। संस्कृत में इसके 'बाल्लीक' और 'रामठ' पर्याय देशवाचक ही हैं। चरक आदि संहिताओं में प्रचुर उपयोग होने से यह स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में ही हिगु का प्रचार यहाँ हो गया था।

पुष्पवर्ग

१. गुलाब (*Rosa centifolia* Linn.)—यह काकेशस तथा असीरिया का मूल निवासी है^४। संस्कृत में इसके लिए 'शतपत्री' शब्द व्यवहृत हो रहा है। धन्वन्तरिनिघण्टु में शतपत्री का वर्णन तरुणी से पृथक् है। इससे स्पष्ट है कि ये दो भिन्न द्रव्य हैं। चरक और सुश्रुत में तरुणी है, शतपत्री नहीं। आधुनिककालीन निघण्टुओं ने भी 'शतपत्री' नाम से ही इसका वर्णन किया है^५। कुछ ग्रन्थों में तरुणी और शतपत्री दोनों गुलाब के वाचक हैं। 'शतपत्री' शब्द 'सेण्टीफोलिया' का संस्कृत रूप है। यद्यपि २००० ई० पू० से गुलाब के संकेत मिलते हैं तथापि प्लिनी (पहली शताब्दी) ने सर्वप्रथम इसका वानस्पतिक विवरण स्पष्ट रूप से दिया। गुलाबजल निकालने का कार्य फारस से प्रारम्भ हुआ। खलीफा मामून (८१०-८१७ ई०) के राज्यकाल में इसका निर्माण प्रचुरमात्रा में होता था जो चीन, भारत, मिस्र, स्पेन, मोरक्को आदि देशों में भेजा जाता था। अकबर के राज्यकाल में फारस से गुलाब के पौधे लाकर भारत में लगाये गये। १६१२ ई० में नूरजहाँ की माँ ने गुलाब के अतर का आविष्कार किया।^६ फिर भी जहाँगीर के समय देश में बहुत ज्यादा गुलाब नहीं थे^७।

३. गुलब्बास (*Mirabilis jalapa* Linn.)—यह पौधा पेरू (दक्षिण अमेरिका) का आदिम वासी है। अतः इसे 'पेरू का चमत्कार' (*Marvel of Peru*) भी कहते हैं।^८ बागों में शोभा के लिए लगाते हैं। आयुर्वेदीय निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं है।

१. वाट : भाग ३, पृ० ३३५

२. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० ५६०

३. देखें आयुर्वेदविज्ञान, शालिग्रामनिघण्टु, सिद्धमेषजमणिमाला

४. गोबे: स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० १५-४२

५. तुजुक-पु-जहाँगीरी, भाग १, पृ० ४३५

६. वाट : भाग ५, पृ० २५३

(२५२)

३. गेंदा (*Tagetes erecta* Linn.)—यह अफ्रीका और फ्रांस का मूल निवासी है। 'झण्डू' नाम से राजनिघण्टु तथा शालिग्रामनिघण्टु में वर्णित है। सिद्धभेषजमण्डाला में 'सहस्रा' (हजारा) नाम से है।

४. चम्पक (*Michelia campaca* Linn.)—चरकसंहिता में चम्पक का उल्लेख नहीं है। वाग्भट में केवल चम्पकाह्वय अगद में चम्पक का नाम मात्र है। सुश्रुत में ४-५ स्थलों पर उल्लेख है। इससे पता चलता है कि गुप्तकाल में चम्पक का प्रचार हुआ। अमरकोष और धन्वन्तरिनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है। बृहत्संहिता में चम्पकगन्धि तैल का वर्णन है।^२

५. जपा (*Hibiscus rosa-sinensis* Linn.) बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु में भी इसका उल्लेख नहीं है। अमरकोष, पर्यायिरत्नमाला और राजनिघण्टु आदि में है। यह चीन का मूल निवासी कहा जाता है।^३ संभवतः गुप्तकाल में यह भारत में आ चुका था क्योंकि कालिदास ने मेघदूत में जपापुष्प का उल्लेख किया है।^४

६. सूर्यमुखी (*Helianthus annuus* Linn.)—यह मेक्सिको और पेरू का आदिम निवासी है। युरोप में १६वीं शती के अन्त में प्रविष्ट हुआ। भारत में १६वीं शती के पूर्व ही इसका प्रचार हो चुका था क्योंकि आईन-ए-अकबरी में 'आफताबी' नाम से इसका उल्लेख है।^५ निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

७. स्थलकमल (*Hibiscus mutabilis* Linn.)—यह मूलतः चीन का निवासी है^६ संप्रति भारत में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। धन्वन्तरिनिघण्टु में पद्म-चारणी नाम से इसका वर्णन है। भावप्रकाश में इसका स्पष्ट वर्णन है।

फलवर्ग

१. अंजीर (*Ficus carica* Linn.)—यह अफगानिस्तान, फारस तथा सीरिया से लेकर काकेशस तक के मूमध्यसागरवर्ती भूभाग में मूलतः होता है।^७

१. वही, भाग ६, खण्ड ३, पृ० ४०२

२. गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ५७-६७

३. वाट, भाग ४, पृ० २४०

४. सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः—मेघदूत, पूर्व० ३८

५. वाट : भाग ४, पृ० २१०

६. वही, पृ० २४२

७. वाट : भाग ६, पृ० ३४७

(२५३)

संहिताओं में फलवर्ग में तथा चरक में श्रमहर गण में जो फल्गु है वह अंजीर ही है। मगधसम्राट् बिन्दुसार (३री शती ई० पू०) ने सीरिया के राजा अन्तियोक्स से अंजीर मँगवाये थे। सुश्रुत की भद्रोदुम्बरी भी यही है। मलय और काकोदुम्बरिका नाम से कथित द्रव्य इससे भिन्न (कठगूलर) है जो चरक के तित्तस्कन्ध में पठित है। मध्यकालीन निघण्टुओं में दोनों एक कर दिये गये हैं। आगे चलकर दोनों पुनः पृथक् हो गये। पी० के० गोडे ने गुणकर्म की दृष्टि से विचार नहीं किया अतः भ्रान्त हों गये।^१ फल्गु वृंहण है जबकि काकोदुम्बर कषाय-तित्त और लेखन है। यह सही है कि अच्छे अंजीर उपर्युक्त प्रदेशों से आते थे किन्तु यहाँ भी अंजीर बुरे नहीं थे।^२

२. अनानास (*Ananas sativa* Linn.)—यह दक्षिण अमेरिका (ब्राजिल) का मूल निवासी है। वहाँ यह नानस कहा जाता है इसीका लैटिन रूपान्तर 'अनानास' है। इसका प्रवेश यूरोप में १५१३ ई० तथा भारत में १५९४ ई० में हुआ। यहाँ पुर्तगालियों द्वारा सर्वप्रथम बंगाल में प्रचलित हुआ। इसका उल्लेख आईन-ए-अकबरी^३ और जहाँगीरनामा^४ में मिलता है। शालिग्रामनिघण्टु में अनानास का वर्णन किया गया है।

३. अमरुद (*Psidium guyava* Linn.)—यह मूलतः अमेरिका का निवासी है। भारत में यूरोपवासियों द्वारा आधुनिक काल में प्रविष्ट हुआ। 'पेरूक' नाम से शालिग्रामनिघण्टु में इसका वर्णन है। 'पेरूक' शब्द इसके मूल निवासस्थान (पेरू) का बोधक है। निघण्टुरत्नाकर में 'अमरुफल' नाम से है। 'अमरुद' वस्तुतः नासपाती का फारसी नाम है, तदाकार होने में सम्भवतः वही नाम इसका पड़ गया। बाबर-नामा (पृ० ५०३-५१४) में अमरुदफल (अमृतफल ?) संभवतः नासपाती है।

४. आरुक (*Prunus* sp.)—आड़ू चीन का आदिवासी है। वहाँ से ग्रीस, रोम होते हुए अतिप्राचीन काल में ही भारत पहुँचा। चरकसंहिता में इसका उल्लेख है। ध्रुवन्तरिनिघण्टु में आरुक चतुर्विध कहा गया है।

१. गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० २९५-३१३

२. जहाँगीर अहमदाबाद के अंजीर तारीफ करता है—देखें तुजुक-ए-जहाँगीरी भाग १, पृ० ४१३, ४२७

सबसे बड़ा अंजीर ७½ तो० का था—वही, पृ० ४३५

३. पृ० ७०

४. 'फलों में अनानास, जो फिरङ्गी बन्दरगाहों पर होता है, सुगन्धि एवं सुस्वादु है। हजारों की संख्या में प्रतिवर्ष आगरा के गुल-अफ्शां में होते हैं।'

—तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० ५०६

(२५४)

जहाँगीर लिखता है कि उसके पिता (अकबर) के पूर्व भारत में शाह-आलू नहीं थे^१, वे काबुल से मँगाकर कश्मीर में लगाये गये। उस समय १०-१५ पेड़ फल से लदे थे। इसके अतिरिक्त, उसने कश्मीर में जर्दालू, नासपाती, सेव, अमरूद, अंगूर, अनार, तरबूज और खर्बूज के फलों का उल्लेख किया है (वही, भाग २, पृ० १४६)। बर्नियर लिखता है कि 'सेव, नासपाती, अंगूर और खर्बूजे के ताजे फल तथा सूखे फल, आलूबुखारा, जर्दालू, किशमिश, मुनक्का (काला और सफेद) मुख्यतः उजबेक से दिल्ली आते थे (यात्राविवरण, पृ० ११८-११९)। इसके अतिरिक्त, फारस, बलख, बुखारा और समरकन्द से भी आते थे (वही, पृ० २४९)।

५. कर्मरंग (*Averrhoa carambola* Linn.)—बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु तथा पर्यायरत्नमाला में भी नहीं है। मदनपालनिघण्टु, राजनिघण्टु, भावप्रकाश आदि में है। चक्रपाणि (च० सू० २६।१३१) ने इसका उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि लगभग १०वीं शती में इसका प्रचलन भारत में हुआ। यह भी संभव है कि किसी अन्य नाम से प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख हो।

६. काजू (*Anacardium occidentale* Linn.)—यह अमेरिका का मूल निवासी है। यूरोपवासियों द्वारा भारत में इसका प्रचलन हुआ। निघण्टुरत्नाकर तथा सिद्धभेषजमणिमाला में काजूतक नाम से इसका उल्लेख है।

७. खर्बूज (*Cucumis melo* Linn.)—यह पश्चिमोत्तरप्रदेश, बलूचिस्तान और पश्चिमी अफ्रीका का मूल निवासी है। बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है (संभव है, किसी अन्य नाम से हो)। मदनपालनिघण्टु और उसके बाद भावप्रकाश-निघण्टु में इसका वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि मुसलमानी काल में लगभग १२वीं-१३वीं शती में इसका भारत में प्रचार हुआ। ख्वारिज्म (खुरासान) के खर्बूजे बहुत प्रसिद्ध थे। उसके टुकड़े सुखाकर भारत और चीन भेजे जाते थे।^२

८. खर्जूर (*Phoenix dactylifera* Linn.)—बृहत्त्रयी में खर्जूर का प्रचुर

१. बुखारा से आलू का निर्यात भारत और चीन को होता है—इब्नबतूता, भाग ३, पृ० ५५० (इसी कारण उसका नाम 'आलूबुखारा' पड़ गया)।

२. वही, पृ० ५४७

जहाँगीर लिखता है—'फारस के व्यापारी यज्द के अनार और करीज के खर्बूजे लाते थे। ऐसे फल मेरे पिता के समय नहीं आते थे। उस समय जहाँगीरी इत्र (इत्र गुलाब) भी नहीं था। जहाँगीर करीज के खर्बूजों की तारीफ करते नहीं आघाता।—तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० २७०, ४२२.

(२५५)

प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि इसका भारत में प्रचलन प्राचीन काल में ही हो गया था। यों इसका मूल निवास अफ्रीका, मिस्र, सीरिया और अरब है। पिण्डखर्जूरिका का उल्लेख धन्वन्तरिनिघण्टु में खर्जूरीविशेष करके है। भावप्रकाश में खर्जूर पिण्डखर्जूर और छोहारा तीनों का वर्णन है। सोढलकृत गदनिग्रह में छोहाराद्य चूर्ण (कृमिरोग) है। 'खर्जूर' शब्द संभवतः अरबी-फारसी (खुर्मा) से निष्पन्न है। यह निश्चित है कि 'पिण्डखर्जूर' शब्द उत्तम जाति के खर्जूर के लिए है जो बाहर से आता था। मार्को पोलो लिखता है कि बगदाद के पास बसरा में संसार का सर्वोत्तम खर्जूर होता है (यात्राविवरण, पृ० २६)।

९. चिलगोजा (*Pinus gerardiana* Wall.)—यह निकोचक है जिसका अपभ्रंश 'नेवजा' पहाड़ी नाम है। बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख है अतः यह प्राचीन-काल से ही प्रचलित है। यह विशेषतः ईरान, अफगानिस्तान में होता है और उन्हीं प्रदेशों से भारत में आता रहा है। टीकाकारों ने इसे उत्तरापथ में उत्पन्न और वहीं प्रसिद्ध कहा है।^१

१०. तरबूज (*Citrulus vulgaris* Schrad.)—यह अफ्रीका का मूल निवासी है। चरकसंहिता में नहीं है। सुश्रुतसंहिता में कालिन्द नाम से तथा अष्टांग-हृदय में कालिंग नाम से है। कैयदेवनिघण्टु तथा भावप्रकाशनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है। संभवतः गुप्तकाल के आसपास इसका प्रवेश यहाँ हुआ और क्रमशः इसका प्रचलन बढ़ता गया।

११. नारिकेल (*Cocos nucifera* Linn.)—यह मलयद्वीप तथा इण्डोनेशिया का मूल निवासी है किन्तु अत्यन्त प्राचीनकाल में ही दक्षिणभारत तथा बंगाल में इसका प्रवेश हुआ। बृहत्त्रयी में इसके प्रयोग उपलब्ध हैं। नारिकेलोदक चरक में नहीं है, सुश्रुत और वाग्भट में है। सम्भवतः गुप्तकाल में इसका प्रचार बढ़ा। अरब और फारस में भारत के माध्यम से ही नारिकेल गया; अरबी नारगील और फारसी नारगील शब्द नारिकेल से ही निष्पन्न हैं।

१२. नासपाती (*Pyrus communis* Linn.)—चरक और सुश्रुत में 'टंक' शब्द से उल्लेख है। यह मदनपाल तथा भावप्रकाश निघण्टुओं में 'अमृतफल' कहा गया है। नासपाती को फारसी में अमरूद कहते हैं, संभवतः इसी का संस्कृत रूपान्तर अमृतफल^२ है। इसका स्थान पश्चिमी एशिया है। प्राचीन संहिताओं में उल्लेख होने से यह ज्ञात होता है कि इसका प्रचार प्राचीनकाल से था।

१. चक्र० च० सू० २७।१५७, डरहण, सु० सू० ४६।१८७

२. बाबरनामा (पृ० ५०३-५१४) में भी 'अमरदफल' है।

(२५६)

१३. नारंग (*Citrus reticulata* Blanc.)—यह सुश्रुत में 'नारंग' नाम से तथा चरक में 'नागरंग' नाम से है। कुछ लोग इसे चीन और कोचीन-चीन का मूल निवासी मानते हैं और भारत में वहाँ से आयातित बतलाते हैं किन्तु कुछ लोग इसे मूलतः भारतीय मानते हैं। जो भी हो, संहितोक्त होने से यह प्राचीन द्रव्य है इसमें कोई सन्देह नहीं।^१

१४. पपीता (*Carica papaya* Linn.)—यह मेक्सिको तथा पश्चिमी भारतीय द्वीपसमूह का मूल निवासी है। अमेरिका में इसे 'पपाया' कहते हैं उसी से 'पपीता' शब्द निष्पन्न हुआ है। आधुनिक काल में इसका प्रवेश यूरोपवासियों के माध्यम से हुआ है। केवल शालिग्रामनिघण्टु में 'एरण्डचिर्भट' नाम से इसका वर्णन हुआ है।

१५. पिश्ता (*Pistacia vera* Linn.)—यह मुख्यतः सीरिया में होता है। इसके अतिरिक्त, दमस्कस, मेसोपोटामिया तथा खुरासान में होता है। कुछ लोग 'अभिषुक' और कुछ लोग 'मुकूलक' शब्द से पिश्ता का ग्रहण करते हैं। दोनों शब्द प्राचीन संहिताओं में मिलते हैं अतः प्राचीनकाल से ही भारत में इसका प्रचलन रहा है^२।

१६. राजबदर (उन्नाव) (*Zizyphus vulgaris* Linn.)—यह चीन का मूल निवासी कहा जाता है। चरक में इसका उल्लेख नहीं है। सम्भवतः उसके बाद ईरान और फिर सिन्ध में इसका प्रवेश हुआ। 'सौवीर' (सुवीरदेशोत्पन्न) शब्द से सुश्रुत और अष्टांगहृदय में इसका वर्णन है। राजनिघण्टु में राजबदर शब्द भी है।

१७. बादाम (*Prunus amygdalus* Baill.)—फारस और उसके पश्चिम एशिया माइनर, सीरिया और अलजीरिया में यह मूलतः होता है। 'वाताम' शब्द से बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख है अतः यह अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में प्रचलित है। वाताम आदि कुछ फलों को टीकाकारों ने औत्तरापथिक-उत्तरापथ में उत्पन्न तथा वहीं प्रसिद्ध कहा है।^३ इब्नबतूता (१३२५-१३५४ ई०) जब इस देश में पहुँचा तब मुलतान के गवर्नर को किशमिश और बादाम भेंट किया। इस सम्बन्ध में उसकी टिप्पणी है कि ये द्रव्य भारत में नहीं होते और खुरासान से आयातित होते हैं अतः भारतवासियों के लिए ये सर्वोत्तम उपहार हैं।^४ जहाँगीर के समय बादाम के

1. Ranjit Singh : Fruits, National Book Trust, 1969, P. 65.

२. यह औत्तरापथिक फलों में परिगणित है और फारस आदि देशों से आता था। मार्को पोलो ने खुरासान में पिश्ता और बादाम के पेड़ देखे थे। इब्नबतूता ने हेरात में इसके पेड़ों का उल्लेख किया है।

३. चक्र० च. सू. २७।१५७; डक्कण, सु. सू. ४६।१८६

४. गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कस्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ३५७-३६४

(२५७)

कुछ पेड़ भारत में (कश्मीर में और उसके बाहर भी) थे। वह लिखता है कि कश्मीर के पेड़ १० मार्च को और बाहर के पेड़ १० फरवरी को फूलते हैं।^१ मार्को-पोलो ने खुरासान में थैकन की पहाड़ियों में बादाम और पिस्ता के पेड़ देखे थे^२।

१८. बिही (*Cydonia vulgaris Pers.*)—फारस के उत्तर में कास्पियन सागर के निकट, काकेसस के दक्षिण और आनातोलिया में यह स्वतः उगता है और वन्य रूप में पाया जाता है। उधर से ही सम्भवतः मुसलमानों के साथ भारत में आया। किसी निघण्टु ने इसका वर्णन नहीं किया है।

१९. बीजपूर (*Citrus medica Linn.*)—चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं में वर्णित है। यह मूलतः भारतीय है और यहीं से मेसोपोटामिया, मीडिया और वहाँ से यूरोप में फैला।^३

२०. मधुकर्टी (*Citrus decumana Linn.*)—यह मलय द्वीपसमूह की मूल निवासिनी कही जाती है। भारत में इसका प्रवेश जावा से हुआ।^४ बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है, धन्वन्तरिनिघण्टु तथा परवर्ती मदनपाल, कैयदेव तथा भावप्रकाशनिघण्टुओं में वर्णित है। सम्भवतः भारत में इसका प्रवेश ८वीं-९वीं शती में हुआ।

२१. रसभरी (*Physalis pruviana Linn.*)—यह अमेरिका की मूल निवासी है। आधुनिक काल में पुर्तगालियों द्वारा भारत में इसका प्रवेश हुआ। सिद्धभेषज-मणिमाला में चिरपोटिका नाम से इसका वर्णन है। अन्य निघण्टुओं में इसका वर्णन नहीं मिलता।

२२. लवली—संहिताओं में इसका फल, कटु, तिक्त और सुगन्धि कहा गया है। आजकल जो द्रव्य लिया जाता है उसका फल कच्चा होने पर कषायाम्ल और पकने पर मधुराम्ल हो जाता है। इसे लोक में हरफारेवड़ी (*Cicca acida (Linn.) Merrill*) कहते हैं। इसका स्पष्ट वर्णन भावप्रकाश के पूर्व नहीं मिलता अतः वह उत्तर मध्यकाल में प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। बंगाल में इसे हरिफल कहते हैं। बिहार आदि में प्रचलित 'हरफारेवड़ी' शब्द 'हरिफल + लवली का संयुक्त रूप है। लवली के स्थान पर इसका प्रचार होने पर ही यह शब्द बना होगा।

१. तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग २, पृ० १४४

२. यात्रा-विवरण, पृ० ५३

३. वाट : भाग २, पृ० ३४९

४. Ranjit Singh, 'Fruits', P. 65, National Book Trust, 1969,

(२५८)

२३. लीची (*Nephelium litchi* Camb.) यह दक्षिणी चीन का मूल निवासी है। सर्वप्रथम बंगाल में यह १८वीं शती के अन्त में आयातित हुआ। वहाँ से देश में अन्यत्र फैला। अभी भी मुजफ्फरपुर (संप्रति बिहार में किन्तु पहले बंगाल का भाग) लीची का प्रमुख केन्द्र है। सिद्धभेषजमणिमाला में 'एलचीफल' के नाम से इसका वर्णन है।

२४. लोकाट (*Eriobotrya japonica* Lindl.) यह जापान का मूल निवासी है। वहाँ से भारत में प्रचलित हुआ।^१

२५. सीताफल (*Anona squamosa* Linn.) यह क्यूबा, जमायका आदि पश्चिम भारतीय द्वीपों का मूल निवासी है। धन्वन्तरिनिघण्टु आदि में इसका उल्लेख नहीं है केवल १९वीं शती के निघण्टुओं में 'गण्डगात्र' नाम से वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि भारत में इसका प्रचलन आधुनिक काल में युरोपवासियों के माध्यम से हुआ।

२६. सेव (*Pyrus malus* Linn.)—यह मूलतः यूरोप, अनातोलिया, काकेसस का दक्षिणी अञ्चल तथा गिलन (फारसी भूभाग) में होता है। यद्यपि कुछ लोग चरक-सुश्रुतोक्त 'सिम्बितिका' से इसका ग्रहण करते हैं तथापि स्पष्ट रूप से सेव का वर्णन सर्वप्रथम भावप्रकाश में मिलता है। संभवतः यह युरोपवासियों के माध्यम से भारत में आया।

शाकवर्ग

१. अलानु (*Lagenaria siceraria* standl.)—कुछ लोग इसे अमेरिका^२ और कुछ लोग अफ्रीका या एशिया^३ का मूलनिवासी कहते हैं। जो भी हो यह भारत में प्राचीन काल से प्रचलित है क्योंकि प्राचीन संहिताओं में इसका वर्णन उपलब्ध है।

२. अइवबल्ला (*Medicago sativa* Linn.)—इसे अरबी में फिस्फिसत और फारसी में इस्फिशत कहते हैं। इसीसे 'हिस्फिथ' शब्द यहाँ भी प्रचलित हुआ^४। इसका मूलस्थान काकेसस के दक्षिण अनातोलिया, फारस, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान आदि है। संभवतः एशिया माइनर से इसका विशेष रूप से प्रारम्भ हुआ यद्यपि भारत में भी पश्चिमोत्तर प्रदेश में होता है। ग्रीक इसे मेडिकाई और रोमन

१. वेरथ ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० १८६

२. वाट : भाग ४, पृ० ४७२-४७४

३. Wealth of India, Vol. VI, P. 16-18.

४. अश्वबला तुरष्कदेशे बृहत्पत्रा मेथिकामेद एव हिस्फिथ इति लोके

—दरहण, सु. सु. ४६, शाकवर्ग, ४६

(२५९)

माडका कहते थे क्योंकि यह उस समय मीडिया से लाया गया था। चूँकि चरक-संहिता में इसका उल्लेख केवल एक स्थान पर दिव्य औषधियों के प्रकरण में हुआ है (च० चि० १।४।७) इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि उस काल में यह औषधि ज्ञात थी तथापि यह सुलभ न थी। संभवतः इसका कारण इसका सुदूर देश या देश में भी दुर्गम स्थान में होना था। सुश्रुत में तीन स्थलों पर इसका उल्लेख है^१, दो स्थलों पर चिकित्सा के प्रसंग में और एक स्थल शाकवर्ग में है जहाँ अश्वबला के शाक का विधान है। इससे उस काल में इसके विकसित प्रचार की सूचना मिलती है। संभवतः इस देश में इसका प्रचार-प्रसार मध्यकाल के प्रारम्भिक भाग में हुआ क्योंकि सुश्रुत के टीकाकार ब्रह्मदेव (११वीं शती) और बल्लहण (१२वीं शती) ने इसे तुष्कदेश में होनेवाला लिखा है।^२

४. आलू (*Solanum tuberosum* Linn.)—यह चिली (अमेरिका) का आदिनिवासी है। चिरकाल से वहाँ चिली से जिराण्डा तक इसकी खेती की जाती थी। अमेरिका की खोज के बाद वहाँ से युरोप में सर्वप्रथम स्पेन में १५८० और १५८५ के बीच पहुँचा। भारत में यह पुर्तगालियों द्वारा १६वीं या १७वीं शती में आया।^३ शालिग्रामनिघण्टु और सिद्धभेषजमणिमाला में 'अल्लुक' नाम से इसका वर्णन है। इसका अंगरेजी नाम 'पोटैटो' भ्रम के कारण इसे 'बटाटा' (शकरकन्द) समझ कर दिया गया। शकरकन्द का अमेरिकी नाम 'बटाटास' है। बम्बई में अभी भी आलू को बटाटा कहते हैं।

५. कोहड़ा (काशीफल या पीतकूष्माण्ड) (*Cucurbita maxima* Duchesne)—रोमन और मध्ययुग में इसका प्रयोग युरोप में होता था। कैण्डोल इसे अमेरिका का मूलनिवासी मानते हैं। भारत में संभवतः आधुनिक काल में इसका प्रवेश हुआ। शालिग्रामनिघण्टु ने पीतकूष्माण्ड का वर्णन किया है।

६. गाजर (*Daucus carota* var. *Sativa* DC.)—यूनानी हकीम इसे 'डुकुस' कहते थे और 'कैरो' का अर्थ होता है मांस। इसीसे इसका लैटिन नाम निष्पन्न

१. अश्वबला हिस्फिथो मेथिकाभेदः—ड० (सु० चि० ६।५)

२. 'ब्रह्मदेवस्तु अश्वबला यवनभूमौ मेथिकाकारबीजा भवतीत्याह'

—ड० (सु० चि० १।१८३)

देखें—गोडे : स्टडीज इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १. पृ० ३८४-४०९

वैद्य बापालाल : अश्वबला और मेथी, यादव-स्मृतिग्रन्थ, उत्तरार्ध, पृ० १०८-११४

३. जॉर्ज वाट, भाग ६, खण्ड ३, पृ० २६६

(२६०)

हुआ है। यह युरोप, अबीसीनिया, उत्तरी अफ्रीका, अरब और साइबेरिया का मूल निवासी कहा जाता है। यद्यपि हूकर इसे कश्मीर और पश्चिमी हिमालय का मानते हैं। सम्भवतः मुसलमानों के साथ मध्यकाल में इसका प्रवेश भारत में हुआ क्योंकि आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु में 'गृञ्जर' नाम से वर्णन है।^१ भावप्रकाश ने गृञ्जन (गाजर) नाम से वर्णन किया है।

७. गोभी (*Bassica oleracea* Linn.)—यह युरोप का मूलनिवासी है और युरोपवासियों के साथ १६वीं १७वीं शती में भारत में आया।^२ फ्रेंच भाषा में इसे 'कैबस' कहते हैं। जिससे कैबेज, कोबी आदि शब्द निष्पन्न हैं। शिर (कैपुट) के समान आकृति होने के कारण संभवतः यह नाम पड़ा। शालिग्रामनिघण्टु में पुष्प-गोभी, पत्रगोभी, ग्रन्थिगोभी नाम से इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया है।

८. टमाटर (*Lycopersicum esculentum* Mill.)—यह पेरू (अमेरिका) का मूलनिवासी है। अमेरिका की खोज के बाद यूरोप में इसका प्रसार हुआ और वहाँ से भारत में लगभग १७वीं शती में आया।

९. पालक (*Spinach oleracea* Linn.)—युरोपियन विद्वान् इसे फारस का मूल निवासी मानते हैं। कैण्डोल का कथन है कि इसका कोई संस्कृत नाम नहीं है किन्तु चरक और सुश्रुत में पालङ्क्य या पालङ्की शब्द से इसका उल्लेख हुआ है। भारत में यह प्राचीन काल से व्यवहृत हो रहा है।

१०. बैंगन (*Solanum melongana* Linn.)—इसे कुछ लोग भारत^३ और कुछ अरब का मूलनिवासी है। अरबी में इसे बादंगन और फारसी में बादिगान कहते हैं। इसीसे 'बैंगन' शब्द निष्पन्न है। प्राचीन आयुर्वेदीय निघण्टुओं में वृन्ताक नाम से और परवर्ती निघण्टुओं में 'वातिगन' नाम से इसका वर्णन है। अरबवासियों के संपर्क से इस देश में 'बैंगन' नाम का प्रचार-प्रसार हुआ। डल्हण ने 'बंङ्गण' इति लोके, लिखा है। (सु० सू० ४६।२६२)।

११. भिण्डी (*Abelmoschus esculentes* (L.) Moench.)—यह अफ्रीका का मूल निवासी है। मिस्र में १२१६ ई० में उपलब्ध था। संभवतः मध्य काल में इसका प्रचार भारत में हुआ। केवल शालिग्रामनिघण्टु में भिण्डा नाम से

१. करवीरादिवर्ग, ६९-७०। इससे अनुमान होता है कि १०वीं शती के पहले इसका प्रचार हो चुका था।

२. देखें आइन-ए-अकबरी, पृ० ६६

३. B. Chaudhary : Vegetables, p. 50, National Book Trust, 1967;

वाट : भाग ६, खण्ड ३, पृ० २५८-२५९

(२६१)

इसका वर्णन मिलता है। इसकी एक अन्य जाति डेइस (*Hibiscus ficulnens* Linn.) का वर्णन संभवतः डिण्डिश नाम से है। बंगाल में भिण्डी को ही डेइस कहते हैं।

१२. **मूँगफली** (*Arachis hypogaea* Linn.)—मूलतः यह दक्षिण अमेरिका का निवासी है। वहाँ से भारत में १६वीं शती के बाद ही इसका आगमन हुआ होगा। इसका उल्लेख निघण्टु में नहीं मिलता।

१३. **शकरकन्द** (*Ipomoea batatas* Poir.)—यह दक्षिण अमेरिका का मूल निवासी है। 'बटाटास' इसका अमेरिकन मूल नाम है। इसीके सादृश्य के कारण आलू को भी 'बटाटा' और अंगरेजी में 'पोटैटो' कहा जाने लगा। यह संभवतः पुर्तगालियों द्वारा यहाँ लाया गया तथा १७वीं या १८वीं शती से इसकी खेती होने लगी। निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं है। डल्होउत्त 'सकलकन्द' भिन्न है (सु० सु० ४६।३०६)।

अन्न-पान

१. **कुटू** (*Fagopyrum esculentum* Moench.)—इसके आँटे का आजकल लोग फलाहार में प्रयोग करते हैं। यह मूलतः मध्यएशिया-मन्चुरिया और साइबेरिया का निवासी है। ग्रीक और रोमन लोगों को यह अज्ञात था। युरोप में मध्यकाल में रूसी और तातारी लोगों के द्वारा पहुँचा। संभवतः तातारियों के माध्यम से यह भारत में पहुँचा। इसकी एक दूसरी जाति (*F. emarginatum* Meissner.) चीन तथा पूर्वोत्तर भारत में ऊँचे पार्वत्य प्रदेश में होती है।^१

२. **चणक** (*Cicaria orientalis* Linn.)—यह मूलतः काकेशस पर्वत के दक्षिण और फारस के उत्तरवाले भूभाग का निवासी है। फारस से ग्रीस तक के क्षेत्र में यह फैला था। ग्रीस में इसका प्रचार बहुत था, वे इसकी खेती भी करते थे। ग्रीक भाषा में इसे 'एरिबेन्थस' (*Erebinthos*) और क्रिओस (*Krios*) तथा लैटिन में साइसर कहते थे।^२ कहा जाता है, संस्कृत का 'हरिमन्थ' शब्द संभवतः ग्रीक एरिबेन्थस का रूपान्तर है।^३ चरक के काल (ई० पू० २री शती) में यह भारत में पूर्णतः प्रचलित था इसमें सन्देह नहीं।

१. कण्डोल : पृ० ३४८-३५०

२. वही, पृ० ३२३-३२५

३. पी० के० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० १९३-२४०

(२६२)

३. चीनक (*Panicum miliacum* Linn.)—बृहत्संहिता में इसका उल्लेख होने से यह अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में प्रचलित है। यह मूलतः मिस्र और अरब का निवासी माना जाता है।^१ इसके नाम से प्रतीत होता है कि इसका संबंध चीन से भी हो।

४. ज्वार (*Hordeus sorghum* Linn.)—मिस्र देश में २२०० ई० पू० में इसके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। प्राचीन संहिताओं में ज्वार शब्द से तथा मध्यकालीन एवं आधुनिक ग्रन्थों में 'यावनाल' शब्द से इसका उल्लेख किया गया है।^२ इससे सिद्ध है कि भारत में यह प्राचीन काल से प्रचलित है। संभवतः मिस्र देश से अत्यन्त प्राचीन काल में इसका प्रवेश भारत में हुआ। मगध के प्रदेश में 'मसुरिया जिनोर' इसकी संज्ञा इसके मिस्रदेशीय स्रोत का स्मारक है।

५. तवक्षीर (*Curcuma angustifolia* Roxb.)—इसे लोकभाषा में तिबुर कहते हैं। यह विलायती अरारोट (*Maranta arundinacea* Linn.) का भारतीय प्रतिनिधि द्रव्य है। दक्षिण भारत में विशेषतः आन्ध्र और मलबार में प्रचुरता से होता है। चरक और मुश्रुत में यह नहीं मिलता। वाग्भट में सर्वप्रथम मिलता है^३। संभवतः वंशलोचन की अनुपलब्धि के कारण उसके स्थान पर इसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ। 'वंशरोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम्' करके मध्यकालीन टीकाकारों ने इसका उल्लेख किया है^४।

६. त्रिपुट (*Lathyrus sativus* Linn.)—इस नाम से इसका उल्लेख सुश्रुत (सू० ४६।२७) में तथा खण्डिका नाम से चरक (सू० २७।२७) में है। लोकभाषा में इसे 'खिसारी' कहते हैं। यह सतीन (बड़ी मटर) तथा कलाय (छोटी मटर) से भिन्न द्रव्य है। वाग्भट ने 'कलाय' से ही त्रिपुटक का ग्रहण किया और मटर के लिए 'सतीन' शब्द रक्खा। कलाय (त्रिपुट) के अतिसेवन से उत्पन्न खज्जरोग 'कलायखज्ज' कहा जाने लगा। इसका क्षेत्र मूलतः काकेशस पर्वत का दक्षिण अंचल तथा भारत का उत्तरी भाग है।^५

१. कण्डोल : पृ० २७८

२. वही, पृ० ३८३

P. K. Gode : studies in Indian Cultural History, Vol. I, P. 577-282

३. अ० सं० सू० १२-२९

अ० ह० सू० ३०।५१

४. चक्र० च० चि० २।१।३०

५. वाट; भाग: ४, पृ० ५९१

(२६३)

८. मक्का (*Zey mays* Linn.)—इसका वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता । यह अमेरिका का मूलनिवासी है । पेरू और मेक्सिको में चिरकाल से इसकी खेती होती थी^१ । अमेरिका की खोज के बाद इसका प्रसार सर्वत्र हुआ । भारत में सम्भवतः १६ वीं शती में पुर्तगालियों के साथ आया । रघुनाथ गणेश नवहस्त (१५७५-१७०० ई०) कृत भोजनकुतूहल तथा लोलम्बराजकृत वैद्यावतंस में इसका उल्लेख है । कतोभट्ट ने अपने निघण्टुसंग्रह (जूनागढ़, १८९३) में इसका नाम 'महाकाय' दिया है^२ ।

९. अतियव (*Avena orientalis* Schreber.)—यह पूर्वी समशीतोष्ण युरोप तथा मध्य एशिया का मूलनिवासी है । प्राचीनकाल से इटली और ग्रीस में इसकी खेती होती थी^३ । चरक में इसका उल्लेख नहीं है, सुश्रुतसंहिता में है ।

१०. राजमाष (*Vigna sinensis* Savi)—चरक और वाग्भट में 'राजमाष' तथा सुश्रुत में 'अलसान्द्र' शब्द से इसका उल्लेख हुआ है । 'अलसन्द' शब्द प्राचीन ग्रन्थों में अलेक्जेंड्रिया के लिए प्रयुक्त हुआ है अतः इसका 'अलसान्द्र' पर्याय उस स्थान से इसका सम्बन्ध सूचित करता है^४ । सम्भवतः सिकन्दर के आक्रमणकाल के बाद इसका प्रवेश भारत में हुआ । इसकी मुख्यतः तीन जातियां होती हैं । भावप्रकाश ने भी तीन जातियों का उल्लेख किया है ।

११. साबूदाना (*Manihot utilisissima* Pohl.)—इसके वृक्ष अमेरिका के मूलनिवासी है । यह ब्राजिल से लेकर पश्चिमी द्वीपसमूह तक प्रचुर पाया जाता है ।^५ इसके तने के स्टार्च से दाने बनाकर बाजार में बिकते हैं । पथ्य और फलाहार में इसका प्रयोग होता है । युरोपवासियों के साथ यह भारत में आया । सिद्धभेषजमणिमाला में^६ इसका उल्लेख मिलता है ।

१२. सोयाबीन (*Dolichos soja* Linn.)—इसका मूल क्षेत्र कोचीन-चीन से लेकर जापान और जावा तक है । प्राचीन काल से इसकी खेती चीन और जापान

१. वाट : भाग ६, खण्ड ४, पृ० ३२८

२. पी० के० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कस्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० २८३-२९४
मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित (१९६७) वैद्यावतंस में यह अंश उपलब्ध नहीं है ।

३. कण्डोल, पृ० ३७३-३७६

४. प्रियव्रत शर्मा : चरकचिन्तन, पृ० ६५

५. कण्डोल, पृ० ५९

६. २।१७९

(२६४)

में होती रही है। सर्वप्रथम मोलक्कस से इसका पीधा कलकत्ता बोटानिकल गार्डन में लाया गया था।^१ सम्प्रति पीष्टिक आहार के सम्बन्ध में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है। आयुर्वेदीय निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

१३. कॉफी (*Coffea arabica* Linn.)—यह अबीसिनिया, सूडान, गिनी तथा मोजाम्बिक में मूलतः होता है। मिस्र देश में प्राचीन काल से इसका व्यवहार होता था। वहां इसे 'कवे' कहते थे जिससे फ्रांसीसी 'काफे' और बाद में 'कोफी' शब्द निष्पन्न हुआ। ग्रेट ब्रिटेन में कोफी की पहली दुकान १६५२ ई० में खुली। भारत में यह किसी मुसलमान द्वारा १८वीं शती में सर्वप्रथम मैसूर में लाया गया। इसकी खेती १८३० ई० में प्रारंभ हुई^२।

१४. चाय (*Thea sinensis* Linn.)—इसका मूल स्थान चीन तथा भारत (आसाम, मणिपुर) माना जाता है किन्तु चीन में इसका प्रचार अत्यन्त प्राचीन काल से है जब कि भारत में इसका प्रचलन आधुनिक काल में हुआ। चीन में पेंटसो (२७०० ई० पू०) तथा राई (३०० ई० पू०) ने चाय का उल्लेख किया है। चीनी यात्री इत्सिंग (७वीं शती) भी भारतयात्रा में चाय साथ लाया था और उसका सेवन करता था। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चाय की खेती प्रारम्भ की। १६६४ ई० में उसने तत्कालीन इंग्लैण्ड के सम्राट् को चाय का एक डब्बा उपहारस्वरूप भेजा था।^३ आयुर्वेदविज्ञान में 'श्यामपर्णी' तथा शालिग्रामनिघण्टु में 'चाय' नाम से इसका वर्णन है।

जान्तव द्रव्य

जन्तुओं के अवयवों—शृंग, खुर, नख, पित्त आदि—तथा उनसे प्राप्त अन्य द्रव्यों का प्रयोग^४ धिरकाल से चिकित्सक करते आ रहे हैं किन्तु यह क्षेत्र भी सीमित नहीं रहा। इसमें भी नये द्रव्यों का समावेश होकर उनकी संख्या बढ़ती रही। यहाँ कुछ विशिष्ट द्रव्यों का ही वर्णन किया जायगा।

१. कण्डोल, पृ० ३३०-३३२

२. वाट : भाग २, पृ० ४६१-४६५

३. वही, भाग २, पृ० ७५-७७

कण्डोल, पृ० ११७-११९

गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ३७०-३७३

४. च० सू० १।६९-७०

(२६५)

१. अम्बर (Ambergris)—‘अम्रिजार’ शब्द से इसका वर्णन धन्वन्तरिनिघण्टु (६।२१-२२) में मिलता है किन्तु संहिताग्रन्थों में नहीं मिलता । अतः स्पष्ट है कि संहिताकाल के बाद मध्ययुग में इसका समावेश आयुर्वेद में किया गया । अन्य निघण्टुओं में भी इसका वर्णन प्रायः नहीं मिलता । रसरत्नसमुच्चय में साधारण रसों में इसका वर्णन है । इससे स्पष्ट है कि वैद्य इसका प्रयोग कम ही करते थे, इसका विशेष प्रयोग यूनानी हकीम करते रहे । यह मुसलमानों के साथ १० वीं शती के कुछ पूर्व भारत में प्रविष्ट हुआ । ‘अम्बर’ शब्द अरबी ‘अनवर’ का रूपान्तर है । अनेक कोषों ने सुगन्धित द्रव्य करके इसका उल्लेख किया है । अमरकोष में यह नहीं है ।^१ मैडागास्कर, मोजाम्बिक, सोकोतरा, निकोबार आदि द्वीपों में यह समुद्र से एकत्रित किया जाता रहा है ।

२. कस्तूरी (Musk)—प्राचीन संहिताओं में इसका उल्लेख नहीं है इससे प्रतीत होता है कि चिकित्सा में इसका प्रयोग मध्यकाल में प्रचलित हुआ । लेप में भी पहले शीतकाल में कुङ्कुम और अगुरु तथा उष्णकाल में चन्दन का लेप करते थे ।^२ बाद में उष्णलेप में कस्तूरी का प्रयोग होने लगा ।^३ यह एक उत्तम गन्धद्रव्य है जिसकी माँग सारे संसार में रही । औषध में भी इसका प्रयोग प्रायः सभी चिकित्सापद्धतियों में उत्तेजक के रूप में हुआ । यह स्पष्ट है कि पहले लेप के रूप में इसका बाह्य प्रयोग और उसके बाद औषधीय आभ्यन्तर प्रयोग प्रारम्भ हुआ । तिब्बत, नेपाल, आसाम, कश्मीर आदि प्रदेशों में कस्तूरीमृगों से यह प्राप्त होता था । भारत के व्यापारिक द्रव्यों में यह प्रमुख था । १४४८ ई० में जब वास्को डि गामा कालीकट पहुँचा तो वहाँ के राजा ने भेंटस्वरूप कस्तूरी की ५० थैलियाँ उसे दीं ।^४ अफजल खाँ ने बिहार से जहाँगीर को अगुरु और चन्दन आदि के साथ कस्तूरी का कोष भेंट किया था ।^५

३. नख (Helix aspera)—यह एक गन्धद्रव्य है । बृहत्संहिता में उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में इसका प्रयोग होता था । मुश्रुतसंहिता के एलादिगण के

१. P. K. Gode : History of Ambergris in India, Studies in Indian Cultural History, Vol. 1, PP. 9-18

२. देखें ऋतुचर्याप्रकरण च० सू० ६, अ० ह० सू० ३

३. बृहत्संहिता और हर्षचरित आदि में कस्तूरी का उल्लेख और प्रयोग है जिससे सूचित होता है कि गुप्तकाल में इसका प्रयोग प्रारम्भ हो गया था ।

४. Danverse : The Portuguese in India, P. 56

५. तुलुक-ए-जहाँगीरी, पृ० २०६

(२६६)

गंधद्रव्यों में व्याघ्रनख और शुक्ति (नख) दोनों हैं किन्तु चरक में इसका उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि चरकोत्तर काल में इसका प्रचलन हुआ।

४. पूति (Civet)—गन्धमार्जार की वृषणवत् ग्रन्थि से एक सुगन्धित पदार्थ निकलता है यही पूति या गन्धमार्जारवीर्य के नाम से वर्णित है। प्राचीन संहिताओं में यह उपलब्ध नहीं होता^१। गन्धद्रव्य के रूप में बृहत्संहिता के गन्धयुक्ति-प्रकरण में भी नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु में लोमशबिडाल, भावप्रकाश में गंधमार्जार-वीर्य तथा राजनिघण्टु में 'जवादि' नाम से इसका वर्णन है। सोमेश्वरकृत मानसोल्लास में विलेपन तथा धूपद्रव्यों में इसका उल्लेख है (१।३।९९६; १।३।१६९७-९९)। इससे अनुमान है कि १० वीं शती के लगभग इसका व्यवहार प्रारम्भ हुआ। भारत में यह मालाबार प्रान्त में होता है; अफ्रीका और दक्षिण एशिया में अधिक है। इसका औषधीय प्रयोग मध्यकाल में प्रारम्भ हुआ। इसकी ग्रन्थि सुखाकर 'खट्टाशी' नाम से बेचते थे, इसमें भी कुछ गन्ध होती है अतः तैल को सुवासित करने के लिए इसका व्यवहार होता था। हकीम लोग इसका व्यवहार करते थे। भारत में गन्धद्रव्यों का जो व्यापार था उसमें इसका प्रमुख स्थान था।

बर्नियर ने अपनी यात्रा (१६५६-१६६८ ई०) के क्रम में इसका वर्णन किया है।^२ इथियोपिया का राजदूत जब औरंगजेब के दरबार में आया तब उसे राजा की ओर से एक बड़े (आधा फुट व्यास) वृषशृंग में भरकर जवाब भेंट किया गया (वही, पृ० १३५)।

५. प्रवाल-मुक्ता आदि—समुद्र से प्राप्त प्रवाल, मुक्ता और शंख, का प्रयोग ई० पू० से हो रहा है क्योंकि चरकसंहिता में इसका उल्लेख और प्रयोग है। हिन्दमहासागर से ये द्रव्य प्राप्त कर विदेशों में भी भेजे जाते थे। रोमन स्त्रियाँ भारतीय मोती बड़े चाव से पहनती थीं। मध्यकाल में बसरा में भारतीय मोतियों का वेधन होकर तब युरोप भेजा जाता था। भूमध्यसागर से भी प्रवाल भारत में

१. सुश्रुतसंहिता (सूत्र० ४६।७६) में 'पूतिघास' का उल्लेख पर्णमृगों में है। डरहण ने इसकी व्याख्या में लिखा है—'पूतिघासो वृषबिडालः सुगन्धिवृषणः 'कर्पूरक' इति लोके'। सुश्रुत का क्या अभिप्राय है कहना कठिन है किन्तु डरहण ने स्पष्टतः 'पूति' का ही यहाँ वर्णन किया है।

२. बंगाल का वर्णन करते हुए लिखा है—यहाँ सर्वोत्तम लाह, अफीम, जवाब, पीपल, और अनेक औषधियाँ होती हैं।

एफ० बर्नियर : ट्रेवल्स इन दी मुगल इम्पायर (पृ० डी० १६५६-१६६८), दिल्ली (द्वि० सं०, १९६८) पृ० ४३७-४४०

(२६७)

आता था। इन समुद्री-पदार्थों का व्यापार दक्षिण भारत से विशेष होता रहा। चरक-काल में इनके चूर्ण का प्रयोग था, बाद में रसशास्त्र के आविर्भाव के बाद इनकी भस्म बनने लगी। हकीमों के संपर्क से गुलाबजल से घोंटकर मुक्ता और प्रवाल की पिष्टि बनाई जाने लगी।

चरक में प्रवाल का प्रयोग तो है (१।१।५८ आदि) किन्तु मुक्ता का प्रयोग एक ही स्थल (चि० १७।१२५) पर केवल दृढ़बलकृत अंश में है। इससे अनुमान होता है कि प्रवाल का प्रयोग पहले प्रारम्भ हुआ और मुक्ता का औषधीय प्रयोग गुप्तकाल में प्रचलित हुआ। शंख का प्रयोग भी चरक में है। शुक्ति का प्रयोग वाग्भट से प्रारम्भ होता है (अ० ह० सू० १५।४३, ३०।१६ आदि)। वराटक और शम्भूक का प्रयोग संभवतः मध्यकाल में प्रारम्भ हुआ।

६. शरीरधातु—रक्त, मांस, मेद, शुक्र आदि का चिकित्सार्थ प्रयोग चरककाल से ही होता रहा।^१ अत्यधिक रक्तस्राव होने पर अजा का रक्त पीने का विधान है। क्षय-शोष के मांसाहारी प्राणियों का मांसाहार विहित है। चतुःस्नेहों में मेद और मज्जा समाविष्ट हैं। शुक्रक्षय में अनेक प्राणियों के शुक्र और अण्ड का सेवन करने का विधान है। मांसवर्ग में विभिन्न जन्तुओं के मांस का गुणधर्म बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि उनका औषधीय प्रयोग अवश्य था और लोग आहार में भी उसका सेवन करते थे। बौद्धधर्म के प्रभाव से मांसाहार सीमित हो गया। सम्राट् अशोक ने अपनी पाकशाला में मांस प्रायः वर्जित कर दिया था। धर्मशास्त्रों में भी मांसाहार को निकृष्ट माना गया। तब भी मांसाहार अब तक चला ही आ रहा है।

७. शारीरमल—विभिन्न प्राणियों के मूत्र का प्रयोग चिकित्सा में चिरकाल से होता रहा है।^२ मध्यदेश में गौ की बहुलता के कारण गोमूत्र का ही प्रयोग विशेष हुआ। मरुप्रदेश में विशेषतः ऊँट, बकरी और भेड़ के मूत्र का प्रयोग होता रहा। पुरीष में गोवर (गोमय) का प्रयोग पञ्चगव्य के रूप में हुआ है। अश्वशक्त् का भी प्रयोग क्रिमिघ्नरूप में विहित है।^३ अजा-शक्त् का यक्ष्मा^४ और नेत्ररोगों में प्रयोग है। नरमूत्र का भी प्रयोग विष आदि में हैं।

८. स्तन्य—नारी तथा अनेक पशुओं के स्तन्य का प्रयोग भी चरकसंहिता (सू० १।१०७) में विहित है अतः ई० पू० से इसका प्रचलन है। मध्य एशिया

१. च० शा० ६।९

२. च० सू० १।९५

३. च० वि० ७।२४

४. सु० उ० ४१।५४

(२६८)

तथा मरुप्रदेशों में ऊँट का दूध व्यवहृत है। गुजरात में बकरी का दूध अधिक प्रयुक्त होता है।^१

द्रव्यगुण का वाङ्मय

प्राचीन काल

वैदिक निघण्टु—वैदिक वाङ्मय द्रव्यगुण का प्राचीनतम स्रोत है। ऋग्वेद में भारत की प्राचीनतम वनस्पतियों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में इनकी संख्या और भी अधिक हो गई।^२ भारत जैसे विशाल देश में यह स्वाभाविक ही था कि जैसे-जैसे वनस्पतियों का परिचय तथा उनके गुणकर्मों का ज्ञान होता गया वैसे-वैसे ग्रन्थों में उन्हें स्थान मिलता गया। वैदिक वाङ्मय में भी निघण्टु से द्रव्यगुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसके कारण आज भी द्रव्यगुण के ग्रन्थ 'निघण्टु' नाम से प्रचलित हैं। निघण्टु एक प्रकार के शब्दकोष हैं जो पर्यायों के द्वारा वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। इन्हीं की व्याख्या निरुक्त है जो छः वेदांगों में अन्यतम है। पर्यायों के माध्यम से द्रव्यों के सम्बन्ध में जानकारी देने की परम्परा आगे भी चलती रही। कुछ काल बाद द्रव्यों के गुणकर्म भी उसमें समाविष्ट किये जाने लगे और निघण्टुओं की दूसरी धारा प्रवाहित हुई। इस प्रकार द्रव्यगुण का वाङ्मय दो रूपों में उपलब्ध होता

१. जहाँगीर को श्वासकष्ट और हृच्छूल हुआ तब हकीम रूहुल्ला के निर्देशानुसार उसने ऊँटनी और बकरी का दूध लेना शुरू किया। तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग २, पृ० २२२। जहाँगीर ने लिखा है—'एक हिरनी दुहने पर चार सेर दूध देती थी जो गाय या भैंस के दूध के समान ही लगता था। लोग कहते हैं, यह श्वास-रोग में लाभकर है।—वही, भा० १, पृ० १४८

हकीम अली ने ऊँटनी का दूध बतलाया जो लाभकर हुआ।

—वही, भाग २, पृ० ४६

२. देखें—इसी ग्रन्थ का पूर्वखण्ड

G. P. Mazumdar : Vedic Plants, B. C. Law Vol. Pt. I
P. P. 645-666

Jyotir Mitra : Medicinal Plants of Vedic Antiquity, Nagarjuna,
Vol. XIII, No. 12; Vol, XIV, Nos. 1-3, August—November.
1970

दिनेशचन्द्र शर्मा : वेदों में द्रव्यगुणशास्त्र (आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर,
१९६८-६९ ई०)

(२६९)

है एक जिनमें केवल द्रव्यों के पर्याय होते हैं, गुणकर्म नहीं होते यथा पर्यायरत्नमाला और दूसरे जिनमें पर्याय के साथ गुणकर्म भी होते हैं यथा मदनपालनिघण्टु। वाग्भटकृत अष्टांगसंग्रह से ही औषधद्रव्यों के गुणकथन की विधिवत् परंपरा प्रारम्भ होती है यद्यपि चरक और सुश्रुत में भी इनके गुणकर्म छिटपुट वर्णित हैं।

संहितोत्तरनिघण्टु—काश्यपसंहिता के उपोद्घात में पं० हेमराज शर्मा ने यह सूचना दी है कि उनके पास सुश्रुतसंहिता की कोई हस्तलिखित प्रति है जिसके अन्त में लिखा है 'अतः निघण्टुर्भविष्यति' और फिर इसके अन्त में 'इति सोश्रुत्यां संहितायां महोत्तरायां निघण्टुः समाप्तः' है। यद्यपि इस ग्रन्थ के स्वरूप, विषयवस्तु आदि के सम्बन्ध में कोई सूचना इस प्रसंग में नहीं दी गई तथापि इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन संहिताओं के पीछे परिशिष्ट में निघण्टुभाग जोड़ने की परम्परा रही हो और सम्भवतः इसी कारण ग्रन्थ के मुख्य कलेवर में द्रव्यगुण का वर्णन पृथक् से नहीं किया गया। सिद्धसारसंहिता के उत्तर भाग में निहित निघण्टु से भी इस तथ्य की संपुष्टि होती है।

रसवैशेषिक—सम्भवतः सुश्रुतप्रतिस्कर्त्ता नागार्जुनद्वारा इसकी रचना पांचवीं शती में की गई (देखें पृ० ५५)। यह नरसिंहकृतभाष्य के साथ त्रिवेन्द्रम् से १९२८ में प्रकाशित हुआ है। चिकित्सकलिका-व्याख्या में चन्द्रट ने रसवैशेषिक को अनेक बार (पृ० १७, १८, २२) उद्धृत किया है किन्तु यह सम्भवतः उससे भिन्न कोई चिकित्सा-ग्रन्थ प्रतीत होता है।

मध्यकाल

अष्टांगनिघण्टु—वाहटाचार्यकृत अष्टांगनिघण्टु या अष्टांगहृदयनिघण्टु की पाण्डुलिपियाँ दक्षिणभारत के पुस्तकालयों में हैं। इनके आधार पर प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित होकर यह हाल ही में प्रकाश में आया है।^१ इसमें अष्टांगहृदय में कथित गणों के द्रव्यों का पर्यायशैली से वर्णन है। इसके बाद कुछ प्रकीर्ण द्रव्यों का भी वर्णन किया गया है।

इसके प्रणेता वाहटाचार्य अष्टांगहृदयकर्त्ता वाग्भट से भिन्न व्यक्ति हैं।

कुछ द्रव्य इसमें ऐसे भी हैं जो अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय दोनों में नहीं है यथा पूति^२ जेज्जट, पर्यायरत्नमाला (दोनों ९वीं शती), चक्रपाणि (११वीं शती) आदि

१. कुण्डस्वामी शास्त्री शोध-संस्थान, मद्रास, १९७३

२. इसके अतिरिक्त अन्य ऐसे तथ्य हैं जो भिन्नता प्रदर्शित करते हैं। देखें—
उपर्युक्त ग्रन्थ की भूमिका, पृ० २२

(२७०)

ने इस निघण्टु का उपयोग किया है^१ अतः यह उनसे पूर्व ८वीं शती का है ।

पर्यायरत्नमाला—यह शिलाहृदनिवासी इन्द्रकरसूनु माधव की रचना है । अनेक विद्वान् इसे इन्दुकर मान तदात्मज माधव को रुग्विनिश्चय (माधवनिदान) कर्ता के रूप में ग्रहण करते हैं किन्तु, जैसा पिछले अध्यायों में दिखाया गया है, अनेक माधवों के मध्य कम से कम तीन माधव स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् उभरते हैं—

१. रुग्विनिश्चयकर्ता माधव (चन्द्रकरात्मज)

२. पर्यायरत्नमालाकार माधव (इन्द्रकरसूनु)

३. द्रव्यगुणकर्ता माधव

इस प्रकार पर्यायरत्नमाला के रचयिता माधव उपर्युक्त दोनों माधवों से भिन्न हैं । इनके पिता का नाम इन्द्रकर था और निवासस्थान शिलाहृद था । शिलाहृद भागलपुर के पास पुरातन विक्रमशिला विश्वविद्यालय का अधिष्ठान पथरघट्टा नामक स्थान है । संभव है, माधव इस विश्वविद्यालय में अध्यापक रूप से संबद्ध हों ।^२

तारापद चौधरी ने इन्हें रुग्विनिश्चयकर्ता मानकर इनका काल ७वीं शती निर्धारित किया है^३ किन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न होने के कारण इसे स्वीकृत नहीं किया जा सकता । रुग्विनिश्चय सर्वप्रथम वृन्द (९वीं शती) द्वारा उद्धृत ही नहीं अपितु अनुसृत है जबकि पर्यायरत्नमाला को सर्वानन्द^४ (१२वीं शती) के पूर्व किसी ने उद्धृत नहीं किया । आभ्यन्तर साक्ष्यों के आधार पर यह धन्वन्तरिनिघण्टु के पूर्व ठहरता है क्योंकि धन्वन्तरिनिघण्टु में अहिफेन, भंगा और यशद का वर्णन है तथा रसरत्नसमुच्चय के वचन भी उसमें मिलते हैं^५ जब कि पर्यायरत्नमाला में इनका अभाव है । यह स्मरणीय है कि पर्यायरत्नमाला में 'विजया' शब्द हरीतकी और तर्कारी के लिए आया है,^६ भंगा के लिए नहीं । पर्यायरत्नमाला में वार्त्तिक के

१. अमरकोशव्याख्याकार सर्वानन्द (१२ वीं शती) ने भी वाहट (निघण्टु) को उद्धृत किया है—

'मत्स्यण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुरुवत्तराः इति तु वाहटः'—वैश्यवर्ग ९।४३

२. भिषजा माधवेनैषा शिलाहृदनिवासिना । यत्नेन रचिता रत्नमालेन्द्रकरसूनुना ॥

३. पर्यायरत्नमाला—तारापदचौधरीसंपादित, पटना युनिवर्सिटी जर्नल, भाग २, १९४६, भूमिका, पृ० १-२

४. अमरकोश—भाग २, पृ० ९१; ८१ भाग ३, पृ० २३९, २४५, २८२ आदि ।

'माधव'; 'रत्नमाला', 'वैद्यकरत्नमाला' नामों से इसके उद्धरण हैं ।

५. धन्वन्तरिनिघण्टु ६।४, २७, २८

६. शिवाजयन्योर्विजया ।

(२७१)

लिए 'वातिगन' शब्द आया है जो फारसी 'वादिगान' से निष्पन्न है। इसमें पारद, गंधक, अम्रक आदि का वर्णन है जो रसशास्त्र की विकसित स्थिति का द्योतक है जब कि माधवचिकित्सित में कोई रसयोग नहीं है। ब्रध्नरोग का वर्णन माधवनिदान में नहीं है जब कि वृन्दमाधव में है; पर्यायरत्नमाला में भी यह शब्द आया है। यह सब तथ्य पर्यायरत्नमालाकार को ८वीं शती के बाद ले जाते हैं। इसके अतिरिक्त, इस ग्रंथ का उपसंहारपद्य 'सुरूपा सुपदन्यासा सत्कुलोत्था सुभाषिणी' महाकवि माध के एक पद्य की अनुकृति है। माध ७वीं या ८वीं शती के थे।

इस प्रकार पर्यायरत्नमाला का काल धन्वन्तरिनिघण्टु (१० वीं शती) के कुछ पूर्व तथा ८ वीं शती के बाद अर्थात् ९वीं शती सिद्ध होता है।

सिद्धसारनिघण्टु—बौद्ध आचार्य दुर्गगुप्तात्मज रविगुप्तकृत सिद्धसार के उत्तरभाग में निघण्टु है। यह 'सारोत्तरनिघण्टु' के नाम से भी विदित है। इसमें कुल १९३ अनुष्टुप् पद्य हैं और अन्त में द्रव्यावली है। मुख्य ग्रन्थ सिद्धसार के द्वितीय अध्याय में द्रव्यगणों का विवरण है।

इस निघण्टु में अनेक विशेषतायें हैं जिनसे द्रव्यों पर नया प्रकाश पड़ता है। सालासारादिगण को इसमें शालादिगण नाम दिया है। वाग्भट ने अष्टांगहृदय में इसे असनादि कहा है और इसमें 'त्रिहिम' का पाठ किया है जब कि इसमें 'चन्दनद्वय' है। लघुपञ्चमूल में गोक्षुर के स्थान पर एरण्ड है। महामाया को कण्ठकाढ्या कहा है। यह अभी तक अप्रकाशित है।

चन्द्रट (१० वीं शती) ने अपनी रचनाओं—योगरत्नसमुच्चय तथा चिकित्सा-कलिका-न्याख्या—में सिद्धसार को उद्धृत किया है। चन्द्रनन्दन ने भी पदार्थचन्द्रिका में इसे उद्धृत किया है। अतः इसका काल ९वीं शती होना चाहिए। आगे चलकर अरुणदत्त, विजयरक्षित, निश्चलकर, आढमल्ल तथा शिवदाससेन ने भी इसे उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट है कि १५वीं शती तक इसका प्रचार विद्वत्समाज में था।

१. अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्बुद्धिः सन्निबन्धना ।

शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥—शिशुपालवध २।११२

२. देखें प्रोफेसर आर. इ. इमेरिक के निम्नांकित लेख :—

1. The Sanskrit Text of Siddhasāra—Bulletin of The school of oriental and African studies, London, Vol. XXXIV, Pttrt 1, 1971, pp. 91-112.

(२७२)

निघण्टु—चक्रपाणि ने दो स्थलों पर निघण्टु के वचन उद्धृत किये हैं।^१ इससे स्पष्ट है कि यह निघण्टु चक्रपाणि (११ वीं शती) के पूर्व का होगा। यह इतना प्रचलित रहा होगा कि केवल 'निघण्टु' कहने से उसीका बोध होता होगा जैसे निदान कहने से माधवनिदान का। अमरकोश के व्याख्याकार क्षीरस्वामी^२ (११ वीं शती) और सर्वानन्द^३ (१२ वीं शती) ने भी अनेक स्थलों पर निघण्टु को उद्धृत किया है। श्रीकण्ठदत्त ने वृन्दमाधव की व्याख्या में 'निघण्टु' (३९।६) और 'निघण्टुकार' (१।२०१) का उल्लेख किया है। आढमल्ल की शाङ्गधरसंहिता-व्याख्या में भी निघण्टु उद्धृत है (खण्ड २, ६।९-११)। शिवदाससेन (१५ वीं शती) ने भी उसे उद्धृत किया है।^४

धन्वन्तरिनिघण्टु^५—अब तक यह प्राचीनतम निघण्टु माना जाता रहा। कुछ विद्वान् कहते हैं कि अमरकोश का वनोपधिवर्ग धन्वन्तरिनिघण्टु पर आधारित है^६ अतः उसका काल अमरकोश (५ वीं या ६ठीं शती) के बहुत पूर्व होगा जबकि कुछ

II. On Ravigupta's Ganas—B. S. O. A. S., London, Vol. XXXIV, Part 2, 1971, pp. 363-75.

III. New light on the Siddhasāra—B. S. O. A. S., London, Vol. XXXVII, Part 3, 1974, pp. 628-54.

१. पिण्याकः तिलकत्कः, निघण्टुकारस्त्वाह—पिण्याको हरितशिगुः ।

—च० सू० २७।४

‘लेलीतकः पाषाणभेदः औत्तरापथिकः, उच्यते हि निघण्टौ—

आसीद् दैत्यो महाबाहुर्लेलिहानो महासुरः ।

योजनानां त्रयस्त्रिंशत् कायेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥

विष्णुचक्रेण संछिन्नः पपात धरणीतले ।

वसा तस्य समाख्याता लेलीतक इति चितौ ॥’—च० चि० ७।७०

२. अमरकोश (क्षीरस्वामी तथा सर्वानन्द की व्याख्याओं के सहित), त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, १९१५ (भाग २), १९१७ (भाग ३), भाग २, पृ० २, १००, २९२; भाग ३ पृ० २१६, २४३ ।

३. वही, भाग ४ (१९१७)—पृ० ११३

४. चक्रदत्त (कलकत्ता संस्करण), पृ० ७०, ११७

५. आनन्दाश्रम पूना, १९२५

६. Amarakosa, Oriental Book Agency, Poona, 1941, Introduction, PP. VII-VIII

(२७३)

लोग अमरकोष को ही १० वीं शती में मानते हैं^१। अस्तु, किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व विभिन्न साक्ष्यों पर विचार करना चाहिए।

बाह्य साक्ष्य—१. हेमाद्रि एवं अरुणदत्त (१३ वीं शती) ने इसे उद्धृत किया है अतः १३ वीं शती के बाद का नहीं हो सकता।

२. हेमचन्द्र (१२ वीं शती) ने अभिधानचिन्तामणि की व्याख्या में तथा वर्धमान (१२ वीं शती) ने गणरत्नमहोदधि में इसे उद्धृत किया है अतः यह १२ वीं शती के पूर्व का है। मंख (१२ वीं शती) ने भी अपने पूर्ववर्ती कोशों में इसका उल्लेख किया है।^२

३. अमरकोष के व्याख्याकार क्षीरस्वामी (११ वीं शती) ने इसे उद्धृत किया अतः यह ११ वीं शती के पूर्व का है।

आन्तरिक साक्ष्य—१. ग्रन्थकर्ता के प्राक्कथन से पता चलता है कि इनके पूर्व कई निघण्टुओं की रचना हो चुकी थी जिनका सार लेकर यह निघण्टु बनाया गया है।^३ इससे सिद्ध है कि धन्वन्तरिनिघण्टु आद्य निघण्टु नहीं है बल्कि अनेक निघण्टुओं की अनुगामिनी रचना है।

२. ग्रन्थ के प्रारम्भ में धन्वन्तरि को नमस्कार किया गया है तथा ग्रन्थ को धन्वन्तरि के मुख से प्रादुर्भूत कहा गया है^४। इसके अतिरिक्त धन्वन्तरि के कर्तृत्व का कोई सम्बन्ध नहीं है जिससे इसकी प्राचीनता प्रमाणित हो। ऐसा आख्यान अपनी कृति का महत्त्व स्थापित करने के उद्देश्य से किसी परवर्ती लेखक द्वारा जोड़ा गया होगा।

३. इसके विपरीत, इसमें अफिहेन^५, जयपाल^६, अग्निजार^७, विजया^८ आदि ऐसे द्रव्यों का वर्णन मिलता है जो मध्यकाल में मुसलमानों के सम्पर्क से यहाँ

१. त्रिकाण्डशेष, प्रस्तावना, पृ० ७

२. भागुरिकायहलायुधहुगामरसिहशाश्वतादिकृतान्।

कोशान्निरीचय निपुणं धन्वन्तरिनिर्मितं निघण्टुञ्च ॥

३. तथा निघण्टाश्वुनिधेरनन्ताद् गृह्णाम्यहं किञ्चिदिहैकदेशम्।

४. उपक्रम-पद्य, १, गुह्यस्यादि वर्ग, १; गणद्रव्यावली ६।१६

५. ६।१२०-१२१;

६. १।२२७-२२८; ७।१३१-१३२

७. ६।२१-२२

८. १।३०-३१

१८ द्र० च०

(२७४)

प्रचलित हुए। 'भ्लेच्छ'^१ और 'यवन'^२ शब्द संभवतः इन्हीं के लिए व्यवहृत हुआ है।

४. पारद के संस्कारों^३ का वर्णन रसशास्त्र की विकसित अवस्था का बोधक है जो लगभग १३ वीं शती में थी। तत्कालीन प्रमुख ग्रन्थ रसरत्नसमुच्चय के कुछ पद्य^४ इसमें मिलते भी हैं।

रसरत्नसमुच्चय का काल १२५० ई० है अतः १३वीं शती के अन्त के पूर्व धन्वन्तरिनिघण्टु को नहीं रख सकते।

संप्रति जो धन्वन्तरिनिघण्टु प्रचलित है उसमें द्रव्यावलि नामक ग्रन्थ भी मिला हुआ है। वस्तुतः आद्य भाग द्रव्यावलि ही है जैसा कि उपक्रम एवं उपसंहार के पद्यों से स्पष्ट होता है।^५ सातों वर्गों की औषधियों की गणना कर चुकने पर ग्रन्थकार ने कहा कि अब द्रव्यों का पर्यायिकथन से वर्णन करेंगे किन्तु ऐसा न होकर पुनः धन्वन्तरि की वन्दना के पश्चात् द्रव्यों के गुणकर्म का निरूपण होने लगता है। इस सहसा क्रमभंग से पता चलता है कि द्रव्यावलि नामक मूल ग्रन्थ का उद्देश्य पर्यायशैली में द्रव्यवर्णन का था न कि गुणकर्मशैली से। इससे भिन्न इतर ग्रन्थ द्रव्यों के गुणकर्म का विवरण था। धन्वन्तरिनिघण्टु इन दोनों ग्रन्थों का संयुक्त रूप है जिसमें संभवतः पर्याय तो हैं द्रव्यावलि के और गुणकर्म हैं इतर ग्रन्थ के। यह संभव है कि इतर ग्रन्थ की संज्ञा धन्वन्तरिनिघण्टु ही हो जो गुणकर्म-वर्णन के कारण प्रमुख होकर द्रव्यावलि को अपने में समाविष्ट किये हैं। यदि पूरा ग्रन्थ एक होता तो पुनः बीच में नमस्कारात्मक मंगल की भी आवश्यकता न होती। ऐसा भी स्पष्ट होता है कि द्रव्यावलि पूर्ववर्ती रचना है और धन्वन्तरिनिघण्टु परवर्ती।

१. ४।६६; ६।९, ४०, ९७

२. ४।७१

३. ६।३७-३९; ३।१०९-११३

४. ६।१, ५

५. द्रव्यावलिं विना वैद्यास्ते वैद्याः हास्यभाजनम् ।

द्रव्यावल्यभिधानानां तृतीयमपि लोचनम् ॥

द्रव्यावलिनिविष्टानां द्रव्याणां नामनिर्णयम् ।

लोकप्रसिद्धं वक्ष्यामि यथागमपरिस्फुटम् ॥ १५-१६

'शतत्रयं च द्रव्याणां त्रिसप्तत्यधिकोत्तरम् ।

हिताय वैद्यविदुषां द्रव्यावल्यां प्रकाशितम् ॥ उपक्रम ७।४

द्रव्यावलि की पांडुलिपियाँ मिथिला शोधसंस्थान, दरभंगा में है।

(२७५)

आभ्यन्तर साक्ष्य में जो तथ्य ऊपर दिये गये हैं उनमें कोई भी द्रव्यावलि में नहीं मिलता। यह सम्भव है कि क्षीरस्वामी ने द्रव्यावलि भाग को दृष्टि में रखकर लिखा हो क्योंकि अमरकोष में पर्यायों का ही प्रसंग था, गुणकर्म का नहीं। अरुणदत्त के काल तक धन्वन्तरिनिघण्टु का रूप पूर्ण हो चुका होगा यद्यपि कुछ तथ्य बाद में भी समाविष्ट हुये। यशद का प्रसंग इसी प्रकार का है। यशद द्रव्यतः 'खर्परसत्त्व', रीतिहेतु आदि शब्दों के द्वारा ज्ञात था तथापि 'यशद' शब्द फारसी 'जस्त' का संस्कृत रूपान्तर है जो सर्वप्रथम आढमल्ल (१४वीं शती) की टीका में मिलता है। उसके पूर्व किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। भावप्रकाश (१६वीं शती) के पूर्व उसे सप्तधातुओं में भी स्थान नहीं मिला। यदि यशद का उल्लेख करनेवाला प्रथम ग्रन्थ धन्वन्तरिनिघण्टु को ही मानें तब भी इसे १३वीं शती से पूर्व रखना कठिन है।

इस प्रकार आद्य भाग और उत्तर भाग दोनों को मिलाकर देखने से धन्वन्तरिनिघण्टु का काल १०वीं से १३वीं शती होता है।

जैसा पहले कहा गया है, धन्वन्तरि इस ग्रन्थ के कर्त्ता नहीं हैं। पूना की अनेक पाण्डुलिपियों में इसका कर्त्ता स्थानेश्वरनिवासी कृष्णभोगिक का पुत्र महेन्द्रभोगिक लिखा है।^१ सम्भव है, ग्रन्थ को वर्तमान रूप इसी ने दिया हो।

धन्वन्तरिनिघण्टु की विषयवस्तु सात वर्गों में विभाजित है—

- | | |
|---------------|---------------------------|
| १. गुडूच्यादि | २. शतपुष्पादि |
| ३. चन्दनादि | ४. करवीरादि |
| ५. आम्रादि | ६. सुवर्णादि |
| | ७. मिश्रकादि ^२ |

इन्दुनिघण्टु—क्षीरस्वामी (११वीं शती) ने इन्दुनिघण्टु के अनेक उद्धरण दिये हैं*

‘कृष्णभोगिकपुत्रेण स्थानेश्वरनिवासिना।

महेन्द्रभोगिकेनेयं कृता द्रव्यावली शुभा ॥’

१. Descriptive Catalogue of Sanskrit Mss., B, O. R. I., Vol. XVI, Pt. I, Serials 105-111
२. देखें—P. V. Sharma : The date of Dhanwantari Nighantu, I. J. H. S., Vol. 5, No. 2. 1970, PP, 364,370
- ❧ १. उदुम्बरस्तु यज्ञांगः सुचक्षुः श्वेतवस्त्रकलः ।
हेमदुग्धः कृमिफलः क्षीरवृक्षः सकाञ्चनः ॥
२. तुंगः पुष्पकसंज्ञः स्यात् पुंनामा रक्तकेशरः ।
पुंनागः पुरुषाङ्गश्च केषांचित् पद्मकेशरः ॥

(२७६)

जिससे प्रतीत होता है कि यह उस काल में प्रचलित निघण्टु रहा होगा । अष्टांगसंग्रह

३. त्रिष्वर्थेषु नादेयी तर्कारी जलेवतसी भूमिजम्बूश्च ।
चतुर्ष्वर्थेषु अचीवः समुद्रलवणं नीली महानिम्बः सौभाग्यनक्ष ॥
४. रोधः कषायकृद् वज्रश्विलको मधुपुष्पकः ।
ब्रणौषधं कालहीनो हिमपुष्पोऽस्त्रिभेषजम् ॥
उत्सादनो घनत्वक्कस्तुरः शवरपादपः ।
रोधः शाबरकः श्वेतस्वगतीसारभेषजम् ॥
द्वितीयः पट्टिकारोधो बृहत्पत्रस्तिरीटकः ।
उत्तालकस्तिलकश्च पद्मी लाक्षाप्रसादनः ॥
५. शेलुः श्लेष्मातकः शीतो वसन्तकुसुमस्तथा ।
उहालकः कुर्वुरटः शेलुको भूतवृचकः ॥
पिच्छिलः क्षापितः शेलुस्तथासद्बीजकुत्सितः । लेखबाटो बहुवारः—
६. ककुभस्त्वर्जुनः पार्थो नदीसर्जो धनंजयः ।
अश्रीफलश्चित्रयोगी वीरो वीरान्तकस्तथा ॥
स्यर्थे-इन्द्रदुः कुटजोऽर्जुनश्च ।
७. वन्दनी पुष्पशोभना । गंधप्रियंगुः कारम्भालता, गौरवर्णमेदिनी ॥
८. आहार्यं बहुवीर्यं च तुमुलं च विभेदकम् ।
९. अग्निमन्थोऽग्निमथनस्तर्कार्यरणिको जयः ।
अरणिः कणिका सैव तपनो वैजयन्तिकः ॥
१०. संज्ञेया हेमनामभिः
११. स्निग्धच्छदा मधुश्रेणी पृथुत्वग्रसवाहिनी ।
रवश्रेणी मधुमती मुकुंगी द्विजमेखला ॥
आलोलनी योगवहा मोरटा च मधुस्रवा ।
सुपोषिता स्निग्धपर्णी गोकर्णी सा मधूलिका ॥
पीलुपर्णी कर्मकरी प्रमथा मधुमतीति च ।
१२. ऋषमप्रोक्ता स्वयंगुसा कपिकच्छूश्च कण्डूरा ।
आत्मगुसा दुरालम्भा जंगलिर्द्रुभिग्रहा ॥
अभ्यङ्गा वृषभी गुसा कण्डूरा शूकशिविका ।
कपिरोमफला चैव समाना प्रावृषायणी ॥
ज्ञेया जांगलिका चैव साजहा प्रावृषायणी ।
१३. ब्राह्मरीतिस्तथा स्पृक्षा भार्गी च ब्राह्मणी मता ।
१४. चिकसा कालमेषी तु कालमेषी च जिर्गिका ।
रक्ता भाडीरिका चेति—
१५. पिप्पली तण्डुलफला वैदेही कृष्णतण्डुला ।
१६. कोलवलं बदरीपत्राचयया उक्तम् ।

(२७७)

तथा अष्टांगहृदय का टीकाकार इंदु इससे भिन्न व्यक्ति हैं क्योंकि हेमाद्रि (१३वीं शती) के पूर्व किसी ने उसे उद्धृत नहीं किया । शिवकोष में भी इन्बुनिघण्टु के तीन उद्धरण मिलते हैं^१ अतः १७वीं शती में यह उपलब्ध रहा होगा । सम्प्रति इसका कोई पता नहीं चलता ।

चन्द्रनन्दननिघण्टु—यह क्षीरस्वामी (११वीं शती) द्वारा उद्धृत* होने के कारण उसके पूर्व का है । संभवतः अष्टांगहृदय के व्याख्याकार चन्द्रनन्दन की ही यह रचना है ।

१७. स्पृष्टका माला पंकमुष्टिर्नीला देवी लतागुरुः ।
देवपुत्री च लंकोपी शीता पंकजमुष्टिका ॥
स्नग्माहता कोटिवर्षा निर्माख्याशावधूः स्मृता ।
१८. कर्कशाख्यः करंजः स्यात् स काष्ठिपश्यः पटोलकः ।
१९. चक्रमर्दः स्मृतश्चकी प्रपुन्नाढश्च नामतः ।
एकरेतो ददुहरो मेघाह्नैदगजश्च सः ।
२०. अवदत्तं रणप्रियम् ।
२१. त्रिपुटेतीन्दुः (एला)
२२. बदरी स्निग्धपत्रा च राष्ट्रवृद्धिकरी तथा ।
फलं तस्याः स्मृतं कोलं कोकिलं फेनिलं कुहम् ॥
लोळं सूचमफलं तत्तु ज्ञेयं कर्कन्धु कन्दुकम् ।
स्वादुः कटुः सिंचितिका तच्च कोलं फलं मतम् ॥
कोलिफलत्वात् कोलिकमिति सभ्यः पाठः, कोकिलमिति तु वैष्णवः ।
१. पूतीकरञ्जः सुमनास्तथा कलहनाशन इतीन्दुः—शिवकोष, पूना संस्करण (१९५२), पृ० १६४ । शेष दो क्षीरस्वामी द्वारा निर्दिष्ट उद्धरणों में से ही हैं ।
१. अभिमन्योऽभिमथनस्तर्कारी वैजयन्तिका ।
वह्निमन्योऽरणिः केतुर्जयः पादकमन्थनः ॥
तर्कार्या वैजयन्ती च वह्निनिर्मथनी जया ।
अरणिका जयन्ती च बिजया च जयावहा ॥
२. कुर्यंस्तरेणिवरुणी कुमार्यलिकुलप्रिया ।
३. 'स्यर्थे सहा सुदृगपर्णी बला तरणी च'
४. चव्या कोला च चविका श्रेयसी गजपिप्पली ।
यवना कोलवरुली तु चव्यं कुञ्जरपिप्पली ॥
५. बला भद्रौदनी हृषा तथा वाट्यालकः स्मृतः ।
६. चपडा घनहरी चौरौ चोरपुष्पा च तरुकरौ ।
तथा निशाचरौ च स्यात् केशिनी ग्रन्थिकेश्यपि ॥

(२७८)

चन्द्रनिघण्टु—क्षीरस्वामी (११वीं शती) ने चन्द्र* और चन्द्रनन्दन दोनों निघण्टुओं के पृथक् उद्धरण किये हैं जिससे ये दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं। ११वीं शती में उद्धृत होने के कारण यह उसके पूर्व का ही है।

निमिनिघण्टु—क्षीरस्वामी (११वीं शती) ने निमि के कुछ वचन उद्धृत किये हैं जिनके आधार पर अनुमान होता है कि निमि का भी कोई निघण्टु था।

हरमेखलानिघण्टु—यह क्षीरस्वामी (११वीं शती) द्वारा उद्धृत है* अतः उसके पूर्व १०वीं शती का है। निश्चलकर और शिवदाससेन ने भी इसे उद्धृत किया है। यह त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित हुआ था।

द्रव्यगुणसंग्रह—यह चक्रपाणिदत्त (११वीं शती) की द्रव्यगुणसम्बन्धी कृति है। इसमें आहारद्रव्यों का प्रतिपादन मुख्यतः किया गया है। चक्रपाणिदत्त ने अनेक

* १. पलाशः किशुकः पर्णो यज्ञियो रक्तपुष्पकः ।

चारश्रेष्ठो वातपोथो ब्रह्मवृक्षः समिद्वरः ॥

२. वेतसो विदुलो नम्रो वञ्जुलो दार्धपत्रकः ।

नादेयी गंधपत्रश्च जलौकाः समृतस्तथा ॥

नदीकूलप्रियश्चान्यः सुशीतो घनपुष्पकः ।

जलजातस्तोयकामो विदुलो जलवेतसः ॥

मिचुलो वेतसादन्यो वचयते स्थलवेतसः ।

३. अरिष्टस्तु सुमंगलयः कृष्णबीजोऽर्थसाधनः ।

रचाबीजः शीतफेनः फेनिलो गर्भपातनः ॥

४. बदरी गोपघोष्ठा च घोष्ठा घुण्टाथ कोकिला ।

स्निग्धच्छदा कोलफला राष्ट्रवृद्धिकरी तथा ॥

५. अमिलका चुक्रिका चुक्रा सारुला शुक्लाथ शुक्तिका ।

अमिलका चामिलका चिञ्च्रा तित्तिदीकं च तित्तिदी ॥

६. रोहितको रोचनकः प्लीहघ्नो रक्तपुष्पकः ।

रक्तघ्नो रोहितो रक्तो रोही ढाडिमपुष्पकः ॥

७. शिवाव्यथा पूतनेति ।

१. 'पाटली कृष्णवृन्तेति निमिः'—भाग २. ११० (त्रिवेन्द्रम संस्करण)

'माक्षिकं तैलवर्णं स्याद् घृतवर्णं तु पौत्तिकम् ।

आमरं तु भवेच्छुक्लं चैद्रं तु कपिलं भवेत् ॥—बही पृ० २४२

२. अमरकोष, क्षीरस्वामी-व्याख्यासहित, पूना संस्करण, १९४१, पृ० १०१

(२७९)

तन्त्रों का सार लेकर इसमें संकलित किया है।^१ इसकी विषयवस्तु १५ वर्गों में विभाजित है यथा—धान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, लवणादिवर्ग, फलवर्ग, पानीयवर्ग, क्षीरवर्ग, तैलवर्ग, इक्ष्वादिवर्ग, मद्यादिवर्ग, कृतान्नवर्ग, भक्ष्यवर्ग, आहारविधि, अनुपान-विधि, मिश्रक । धान्यवर्ग के प्रारम्भ में रसगुणवीर्यविपाक के लक्षण दिये हैं।^२

अरुणदत्तनिघण्टु—वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि (पृ० २७७) में अरुणदत्त के अनुसार रसोन के गुणकर्म किये हैं।^३ इससे स्पष्ट है कि अरुणदत्त का कोई निघण्टु भी था जिसमें द्रव्यों के गुणकर्म वर्णित थे। यह अरुणदत्त कोशकार था या अष्टांग-हृदय का व्याख्याकार यह कहना कठिन है। यदि गणरत्नमहोदधि का रचनाकाल ११४० ई० स्वीकृत किया गया तो यह निघण्टु अवश्य ही १०वीं या ११वीं शती का होगा। अधिक सम्भावना है कि कोशकार अरुण ने ही आयुर्वेद का भी कोई निघण्टु लिखा हो जैसे हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि के अतिरिक्त निघण्टुशेष की रचना की।

वाष्पचन्द्रनिघण्टु—वोपदेव ने सिद्धमन्त्र की प्रकाशव्याख्या में वाष्पचन्द्रकृत निघण्टु के अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं।^४ इससे पता चलता है कि व्याख्याकार के

१. तन्त्राणां सारमाकृत्य द्रव्याणां गुणसंग्रहः । भिषजासुपकाराय रचितश्चक्रपाणिना ॥

२. द्रव्यगुणसंग्रह के दो प्रकाशन उपलब्ध हैं—एक पं० उवालाप्रसादमिश्रकृत भाषाटीकासहित गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई से प्रकाशित (१९२५), और दूसरा कलकत्ता से प्रकाशित।

चक्रपाणिदत्त का परिचय एवं कालसंबन्धी 'विचार मेरे 'आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास' (पृ० २१०) में देखें।

३. 'रसोनः रिनग्धश्चोष्णश्च लशुनः कटुको गुरुः ।'

अरुणदत्ताभिप्रायेणैते दर्शिताः ।—गणरत्नमहोदधि, पृ० २७७

४. अश्लिकाकन्दः—'अश्लिका स्वर्षपविटपा सुकुमाराश्लनालिका । प्रायेण कामरूपादौ तत्कन्दश्चाशौ हितः ॥ इति वाष्पचन्द्रोक्तः ।

'शमठं काण्ठीरभेदः—यदाह वाष्पचन्द्रः—'हरितो द्विविधः प्रोक्तः काण्ठीरस्तएव-दर्शभिः । कटुकः कच्छदेशादौ भक्षयन्स्वाममेव तु । द्वितीयस्तृकोद्भूतः शमठ इति गीयते ॥'

'गृञ्जनः पलांडुभेदः, तथा च वाष्पचन्द्रः—'गन्धाकृतिरसैस्तुषो अन्तस्तु पलांडुना । दीर्घनालाग्रपत्राद् भिद्यतेऽसौ पलांडुतः ॥

(२८०)

साय-साय वाष्पचन्द्र निघण्टुकार भी थे। वाष्पचन्द्र का काल १२वीं शती है (देखें 'आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास', पृ० २१३) ।

निघण्टुशेष—यह जैन आचार्य हेमचन्द्र की रचना है।^१ यह पर्यायशैली पर आधारित निघण्टुग्रन्थ है। इसमें छः काण्ड हैं—वृक्षकाण्ड, गुल्मकाण्ड, लताकाण्ड, शाककाण्ड, तृणकाण्ड और धान्यकाण्ड। हेमचन्द्र का काल १२ वीं शती है। इसके अतिरिक्त, अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह और देशीनाममाला उनकी रचनायें हैं। श्वाक्ष, पुत्रजीव, चाणक्यमूलक, यादनाल आदि का वर्णन द्रष्टव्य है।

सोढलनिघण्टु

यह अभी तक अप्रकाशित है।^२ इसकी एक पांडुलिपि^३ में 'गुणसंग्रह' और दूसरी^४ में 'नामसंग्रह' नाम है। संभवतः ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों मिलकर 'नामगुणसंग्रह' सोढलनिघण्टु का पूर्णरूप हो।^५

सोढल रायकवालवंशीय भास्कर के पुत्र और गुजरात के निवासी थे। इनके पुत्र शार्ङ्गदेव संगीतरत्नाकर के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। सोढल आयुर्वेद के अतिरिक्त, साहित्य, व्याकरण और ज्योतिष के प्रौढ विद्वान तथा एक सुकवि थे। प्रारंभिक मंगलाचरण से वह सूर्यभक्त प्रतीत होते हैं।

विषयवस्तु—सोढलनिघण्टु ने धन्वन्तरिनिघण्टु का अनुसरण किया है। द्रव्यावलि प्रायः समान—ही हैं, लक्ष्मणादि वर्ग सोढलनिघण्टु में विशिष्ट है। इसमें निर्म्मांकित २७ वर्ग हैं—

१. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित (१९६८)। इसमें बृहत्समगणि की टीका भी है। टीका में धन्वन्तरिनिघण्टु, इन्दुनिघण्टु, मदनपाठ, चन्द्रनन्दन, चन्द्र, चामुंड, चोपदेश आदि के उद्धरण हैं।
२. बड़ौदा प्राच्य शोधसंस्थान द्वारा प्रकाशनाधीन। इसका सम्पादन प्रस्तुत लेखक ने किया है।
३. पा. सं. ३४९११८८०-८१, अंडारकर संस्थान, पूना; छपिकाळ १४१२ ई०
४. पा. सं. ९२७१८८४-८७, " " " " १९५५ ई०
५. नामगुणसारसंग्रह की पांडुलिपियां यत्र तत्र मिलती हैं—देखें. पा० सं० ९१५। १८८४-८७, पूना। पुष्पिकाओं में इसका नाम कहीं नामसंग्रह और कहीं नाम-गुणसंग्रह मिलता है—'इति नामगुणसंग्रहाभिधाने गुडूच्यादिः प्रथमो वर्गः समाप्तः', 'निघण्टुसारसर्वश्वे धन्वन्तरिमतोद्द्युते। चन्दनादिरयं वर्गस्तृतीयो नामसंग्रहे ॥

(२८१)

१. गुह्य्यादि	१०. क्षीर	१९. मूत्र
२. शतपुष्पादि	११. दधि	२०. शूकधान्य
३. चन्दनादि	१२. तक्र	२१. क्षणी
४. करवीरादि	१३. नवनीत	२२. तृणधान्य
५. आम्रादि	१४. घृत	२३. शिम्बाधान्य
६. सुवर्णादि	१५. तैल	२४. कृतान्न
७. लक्ष्मणादि	१६. मधु	२५. अनुपान
८. पानीयादि	१९. इक्षु	२६. मांस
९. पानीय	१८. मद्य	२७. मिश्रकाध्याय

इसके बाद अष्टांगहृदय आदि के आधार पर रसगुणवीर्यविपाक आदि का वर्णन है ।

द्रव्यों के प्रमुख गुणकर्म व्यावहारिक आधार पर दिये गये हैं । अधिकांश द्रव्यों का गुणकर्म एक ही पंक्ति में कह दिया गया है यथा 'वासकः क्षयकासघ्नो रक्तपित्तकफापहः' । इस प्रकार सूत्ररूप में यह चिकित्सकों के लिए अतीव उपयोगी है । द्रव्यों के प्रकारभेदों का भी निरूपण किया गया है यथा कर्पूरत्रितय, पाठाद्वय, खदिरद्वय आदि । चन्दन आठ प्रकार का कहा गया है । अरलु, मेथिका, तवक्षीर, श्वेतमरिच, पारसीकयवानी, वेतसाम्ल, बोल, कुन्दुरु, सिल्हक, कंकुष्ठ, धतूर, विषतिन्दुक, तुवरक, गृञ्जन, वाताम, खर्जूर, मानक, कुमारी, बन्बूली आदि द्रव्य महत्त्वपूर्ण हैं । धातुओं में यशद का वर्णन नहीं है ।

काल—धन्वन्तरिनिघण्टु (१० वीं शती) का अनुसरण करने के कारण इसका काल उसके बाद का ही है । शार्ङ्गधर (१३ वीं शती) और मदनपाल (१४वीं शती) ने सोढल का अनुसरण किया है । शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में जो परिचय दिया है वह इसके कालनिर्णय में सर्वाधिक सहायक है । उसमें सोढल का सम्पर्क देवगिरि के यादव राजाओं—भिल्लम, जैत्र और सिघण—इन तीनों से बतलाया गया है । सिघण के नाम से दो योग भी गदनिग्रह में दिये गये हैं । संभव है, लेखक ने स्वयं बना कर राजा के सम्मान में उसका नाम रख दिया हो । यह स्मरणीय है कि सिघण एक उदार विद्याप्रेमी और आयुर्वेदभक्त था जिसके आसपास चिकित्सकों का एक विशाल वर्ग विद्यमान था । सोढल सम्भवतः इस समाज का शिरोमणि था । इस प्रकार सोढल के जीवन का अधिकांश भाग १२ वीं शती में बीता और सिघण के राज्यकाल (१२१२-१२४७ ई०) में उसका देहावसान हुआ । यह स्मरणीय है कि

१. और देखें चतुर्थ अध्याय में गदनिग्रह का प्रकरण (पृ० २८८)

(२८२)

सोढल के पिता भास्कर, सिद्धमन्त्रकर्ता केशव के आयुर्वेद-गुरु थे। अतः सोढल और केशव प्रायः समकालीन ही थे। (देखें 'आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास' पृ० २९१-२९३) ।

संभवतः सोढलनिघण्टु की रचना गदनिग्रह के पूर्व हुई क्योंकि गदनिग्रह में अहिफेन और भंगा आदि का प्रयोग है किन्तु निघण्टु में उसका वर्णन नहीं है। यह भी संभव है कि मुसलमानों के संपर्क से हाल ही में इन द्रव्यों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ हो और तब तक इन द्रव्यों के गुणकर्म पूर्णतः निर्धारित न हुये हों ।

माधवद्रव्यगुण^२—कई पाटुलिपियों में इसका नाम 'भावस्वभाववाद'^३ भी दिया है किन्तु पुष्पिका में 'माधव-द्रव्यगुण' है। माधव अनेक हैं जिनकी चर्चा अन्यत्र की गई है। द्रव्यगुण के रचयिता माधव रग्विनिश्चयकार तथा पर्यायरत्नमालाकार दोनों से भिन्न हैं। यह माधवकवि^४ संभवतः द्रव्यगुणकर्ता पुरुषोत्तम के पिता तथा श्रीकण्ठदत्त के पोत्र थे। यह वंशपरम्परा इस प्रकार है—

श्रीकण्ठदत्त (विजयरक्षित-शिष्य)

↓
चक्रदत्त

↓
माधव

↓
पुरुषोत्तम

काल—शिवकोष (१७वीं शती), शिवदाससेन (१५वीं शती), आढमल्ल (१४वीं शती) तथा वोपदेव ने सिद्धमन्त्र की प्रकाश-व्याख्या (१३वीं शती) में

१. विशेष विवरण के लिए देखें—P. V. Sharma : Nigthanṭu of Sodhala, A. B. O. R. I. Vol, LII., poona, 1972

२. यह ग्रन्थ प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित होकर चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १९७३ ई० में प्रकाशित हुआ है।

३. उपक्रमपद्य इस प्रकार है :—

‘रसवीर्यविपाकाद्यैः सिद्धः सद्रवैद्यपूजितः ।

भावस्वभाववादोऽयमार्घः संहियते मया ॥

४. सुश्रुतचरकपराशरवाग्भट्टहरिचन्द्रभेदवैदेहैः ।

हारीताघैरपरैरुक्तं यद् यन् महामुनिभिः ॥

आकृत्य सर्वशास्त्रायुपयुक्तसमस्तवस्तुगुणदोषः ।

माधवकविना रचितः सुखहेतोः सर्वसंखानाम् ॥—उपसंहारपद्य

(२८३)

माधवद्रव्यगुण को उद्धृत किया है। चक्रपाणि (११वीं शती) ने इसे उद्धृत नहीं किया है तथा माधव ने सोढल (१२वीं शती) का अनुसरण किया है।^१ टोडरानन्द (१६वीं शती) ने द्रव्यगुण-प्रकरण में समस्त माधवद्रव्यगुण को समाहित कर लिया है केवल लेखक का नाम हटा दिया है। अतः इसका काल १२५० ई० के लगभग निर्धारित किया गया है।

चिपयवस्तु—माधव-द्रव्यगुण में २९ वर्ग हैं जिनमें प्रथम (विविधोषधिवर्ग) और अन्तिम (प्रकीर्णवर्ग) सबसे बड़े हैं ग्रन्थ में कुल लगभग ९०० श्लोक हैं। इसमें जयपाल, विजया तथा अहिर्मेन का वर्णन है।

सिद्धमन्त्र—जैसे किसी सिद्ध मन्त्र का उच्चारण करते ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है वैसे ही इसके अभ्यास से यथेष्ट ओषधियाँ समक्ष उपस्थित हो जाती हैं और चिकित्सा में सफलता प्राप्त होती है। सिद्ध मन्त्र अल्पाक्षर होने पर भी प्रभूत फल देनेवाला होता है वैसे ही यह ग्रन्थ लघुकाय होने पर भी द्रव्यों का ज्ञान शीघ्र कराता है।^२

इस ग्रन्थ के कर्त्ता वैद्याचार्य केशव महादेव के पुत्र और प्रसिद्ध विद्वान वैद्य वोपदेव के पिता हैं। यह वरदा नदी के तटपर स्थित वेदपद नगर के निवासी थे जो दण्डक क्षेत्र के राजा सिंहराज (सिधण) की राजधानी थी। केशव सिंहराज के राजवैद्य थे। आयुर्वेद की शिक्षा इन्होंने भास्कर से प्राप्त की थी।^३ भास्कर शार्ङ्गदेव के पितामह और सोढल के पिता थे।

काल—सिधण का काल १२०० ई० से १२४७ ई० है, इस प्रकार केशव का काल १३वीं शती का पूर्वार्ध होगा। यह इस तथ्य से भी संपुष्ट होता है कि इनके पुत्र वोपदेव महादेव (१२६०-१२७१ ई०) और रामचन्द्र (१२७१-१३०९ ई०) के प्रधानामात्य हेमाद्रि के समकालीन थे।

१. विशेष विवरण के लिए देखें उपर्युक्त ग्रन्थ की भूमिका।

२. ऐनोच्चारणमात्रेण पुनः स्फुरति भेषजम्।

सोऽयं चिकित्सकप्रीत्यै सिद्धमन्त्रः प्रकाशयते ॥

ग्रन्थः संग्रह्यतेऽस्यस्यः सिद्धमन्त्राह्वयो मया।

वैद्याः सुखेन द्राग् द्रव्यशक्तितत्त्वं विदन्तिविति ॥

मदनपाल के 'अतिलघु' निघण्टु का अभिप्रायः सम्भवतः इसी से है।

३. लेभे जन्म महादेवादायुर्वेदं च भास्करात्।

संमानं सिंहराजादयः केशवः कारकोऽस्य सः ॥—उपसंहारपद्य

(२८४)

विषयवस्तु—सिद्धमन्त्र^१ का विषय दोषप्रभाव के अनुसार आठ वर्गों में व्यवस्थित है :—

१. वातघ्न वर्ग
२. पित्तघ्न वर्ग
३. कफघ्न वर्ग
४. वातपित्तघ्न वर्ग
५. कफवातघ्न वर्ग
६. कफपित्तघ्न वर्ग
७. दोषघ्न वर्ग
८. दोषल वर्ग

दोषों की अंशांशकल्पना के अनुसार उन पर^२ द्रव्यों के प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए ५७ वर्ग निर्धारित किये गये हैं। एक 'उदासीन' वर्ग भी रखा गया है यथा वातोदासीन, पित्तोदासीन, कफोदासीन। वातोदासीन द्रव्य न वातघ्न है और न वातकर है। जिन द्रव्यों के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है उसके समाधान में भी इसी मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया गया है।

विषयवस्तु की स्थापना का आधार नितान्त मौलिक है। सामान्यतः रसगुण-वीर्यविपाक के आधार पर द्रव्यों के दोषप्रभाव की व्याख्या की जाती है किन्तु इस ग्रन्थ में विपरीत शैली अपनाई गई है—यहाँ दोषप्रभाव का वर्णन किया गया है और उसके आधार पर रसगुणवीर्यविपाक की कल्पना का निर्देश किया गया है।

निदानपञ्चक जैसे माधवनिदान का महत्त्वपूर्ण है वैसे ही नवश्लोकी (प्रारम्भिक नौ-श्लोकों) में मौलिक सिद्धान्तों का विवरण है। मधुकोशव्याख्या के समान इस स्थलपर बोपदेवकृत प्रकाशव्याख्या भी मननीय है।

वाताम, मृगलेण्डिक, शुकनाश, मांसरोहा, फेर्कास, हिस्पत्थ, मेथिका आदि द्रव्य अवलोकनीय हैं।

१. यह ग्रन्थ १८९७ ई० में वैद्य शंकरदाजी शास्त्री पदे द्वारा संपादित होकर ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ था। उसकी फोटो कापी प्रस्तुत लेखक ने इण्डिया आफिस. लन्दन से प्राप्त की। अब यह पुनः प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित होकर बोपदेवकृत प्रकाशव्याख्या के साथ चौखम्बा अमर भारती, वाराणसी से प्रकाशित हो रहा है।

(२८५)

प्रकाशव्याख्या—केशवपुत्र वोपदेव ने सिद्धमन्त्र पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश-व्याख्या लिखी है ।^१

हृदयदीपक—यह वैद्याचार्य केशव के पुत्र वोपदेव की रचना है । वह तत्स्थानीय धनेश्वर के शिष्य थे ।^२ वोपदेव देवगिरि के यादव राजा महादेव (१२६०-१२७१) के पण्डित थे और उसके प्रधानामात्य हेमाद्रि के धनिष्ठ एवं समानार्ह सखा थे । वोपदेव न हेमाद्रि की तुष्टि के लिए 'हरिलीला' तथा उसके जीवनचरित की रचना की तो हेमाद्रि ने भी वोपदेव के ग्रन्थों—हरिलीला और मुक्ताफल—पर टीका लिखी । इस प्रकार दोनों ने सखाधर्म अच्छी तरह निभाया । वोपदेव संभवतः हेमाद्रि से आयु में बड़े थे ।

वोपदेव आयुर्वेद के अतिरिक्त, ज्योतिष, साहित्य और धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित थे । आयुर्वेद में उनकी रचनायें निम्नांकित हैं—

१. शतश्लोकी चन्द्रकलाव्याख्यासहित
२. हृदयदीपकनिघण्टु
३. सिद्धमन्त्र की प्रकाशव्याख्या
४. शार्ङ्गधरसंहिता पर गूढार्थदीपिका व्याख्या^३

विषयवस्तु—यह ग्रन्थ हृदय (अष्टांगहृदय) में पठित द्रव्यों पर प्रकाश डालने के लिए बनाया गया है अतएव इसकी संज्ञा 'हृदयदीपक' है । यह शुद्ध पर्यायशैली

१. देखें—P. V. Sharma : Son's Commentary on Father's Work. J. R. I. M., Vol. VI, No. 3, 1971,

२. हृदयदीपक, शतश्लोका तथा सिद्धमन्त्रव्याख्या में ग्रन्थकार ने अपना परिचय दिया है । सरस्वताभवन, वाराणसी को पाण्डुलिपि (सं० ४५१०५) में संचेप में सुन्दर परिचय दिया है :—

विद्वद्धनेश्वरच्छात्रो भिषक्केशधनन्दनः । वोपदेवश्चकारेदं विप्रो वेदपद्मरूपदम्”
उनकी माता का नाम आरोग्य (लक्ष्मी) था और पिता को वह वैद्यनाथ (वैद्याचार्य ?) कहते थे—“आरोग्यवैद्यनाथभ्यां नमः सखादिसदमने । मातापितृभ्यां दातृभ्यामायुः सुखहितामितम् ॥—प्रकाशव्याख्या । हृदयदीपक के मंगलाचरण में भी 'श्रीवैद्यनाथ' से अङ्गुष्ठा अपने पिता का ही स्मरण किया है ।

३. Weber's Catalogue of Berlin, 1853 (Jolly)

अन्य रचनाओं के लिए देखें—

प्रियव्रत शर्मा : वोपदेवरचित हृदयदीपकः, भूमिका पृ २,

J. R. I. M., Vol. '3, No. 2, 1969

(२८६)

पर है, इसमें द्रव्यों के गुणकर्म नहीं हैं। यह आठ वर्गों में विभाजित है—

- | | |
|------------------|-----------------|
| १. चतुष्पाद वर्ग | ५. द्विनाम वर्ग |
| २. त्रिपाद वर्ग | ६. एकनाम वर्ग |
| ३. द्विपाद वर्ग | ७. नानार्थ वर्ग |
| ४. एकपाद वर्ग | ८. मिश्रक वर्ग |

अनेक पुस्तकालयों में उपलब्ध इसकी पाण्डुलिपियों की अत्यधिक संख्या से प्रतीत होता है कि यह उस समय का एक लोकप्रिय ग्रन्थ था^१।

काल—यादव राजा महादेव (१२६०-१२७१ ई०) का राजपण्डित होने के कारण वोपदेव का काल १३वीं शती का उत्तरार्ध है।

सिद्धमन्त्र की प्रकाश-व्याख्या में अष्टांगनिघण्टु, चक्रपाणि और डल्हन के वचनों को अनाम्ना उद्धृत करने के अतिरिक्त, निम्नांकित आचार्यों को उद्धृत किया है—

- | | |
|------------------|--------------------|
| १. चरक | १०. माधव |
| २. सुश्रुत | ११. वाष्पचन्द्र |
| ३. अष्टांगसंग्रह | १२. असंकर |
| ४. वाग्भट | १३. सूदशास्त्र |
| ५. अष्टांगहृदय | १४. नल |
| ६. हरिश्चन्द्र | १५. रुद्रट |
| ७. खारनादि | १६. कार्तिकेयपुराण |
| ८. जेज्जट | १७. राघव |
| ९. हारीत | १८. अमर |

वाष्पचन्द्र के अनेक द्रव्य-सम्बन्धी^२ श्लोक उद्धृत किये हैं जिससे पता चलता है कि वाष्पचन्द्र का कोई निघण्टु भी उस समय प्रचलित था।

आयुर्वेदमहोदधि (सुषेणवैद्यक)—यह वस्तुतः द्रव्यगुण का ही ग्रन्थ है। यह अन्नपानविधि^३ के नाम से भी प्रसिद्ध है क्योंकि आहारद्रव्यों का ही इसमें विशेष वर्णन है। जलवर्ग, दुग्धवर्ग आदि के सामान्य वर्णन के अतिरिक्त, जलाधिवास, ताम्बूलविधि, अनुलेपनवर्ग, वस्त्रवर्ग, मुखवास, धूप, वाजीकरण का विशिष्ट

१. वोपदेवकृत हृदयवोपक चौकुरबा अमरभारती, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हो रहा है।

२. नश्वा घनवन्तरि देवं गणाध्यक्षं दिवौकसाम्।

अन्नपानविधि वचये समस्तमुनिसंमतम् ॥

यह ग्रन्थ रविदत्तवैद्यकृत भाषाटीकासहित गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, वरम्बई से १९४० ई० में प्रकाशित है।

(२८७)

विवरण है। इससे स्पष्ट है कि किसी राजवैद्य द्वारा राजा के प्रीत्यर्थ^१ यह लिखा गया। ऋतुहरीतकी के समान मातुलुंग का विधान दिया है^२।

पिण्डखर्जूर, सुवर्णकदली आदि का वर्णन है तथा शिखरिणी (रसाला) बनाने की अनेक विधियाँ हैं। वाजीकरण में धतूर का प्रयोग है किन्तु अफीम का नहीं। पूना की एक पाण्डुलिपि (सं० २३) में सिंहचूर्ण का उल्लेख है इससे ११वीं शती के बाद का यह ग्रन्थ है। इसकी एक पाण्डुलिपि^३ सं० १७३१ (१६८२ ई०) की है। कैयदेवनिघण्टु ने इसके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। इसके कुछ पद्य मदनपाल निघण्टु में भी मिलते हैं। दीपचन्दवाचककृत लंघनपथ्यनिर्णय तथा हंसराज-निदान में सुषेण का नाम आया है। इस प्रकार इसका काल १४ वीं शती का पूर्वार्ध है।

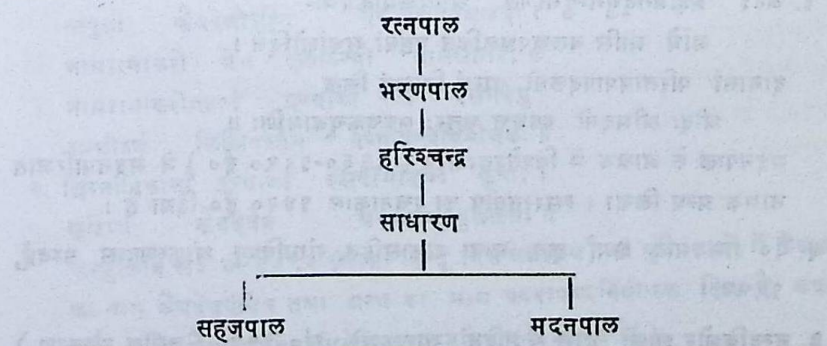
इसके कर्त्ता का नाम कहीं केवल सुषेण, कहीं सुषेणदेव और कहीं सुषेणपण्डित दिया है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एक निघण्टु की पाण्डुलिपि (सं० बी० २०२४) है जो सुषेणकृत प्रतीत होता है। इसमें अहिर्नेन तथा अन्नक आदि का वर्णन है, यशद नहीं है। संभवतः सुषेण ने अन्नपानविधि के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का वर्णन किसी अन्य निघण्टु में किया हो।

सुषेणवैद्यक पर दामोदरकृत आरोग्यचिन्तामणि व्याख्या है। यह दामोदर विदर्भवासी तथा विष्णुभट्ट का पुत्र था।

मदनविनोद

यह मदनपालनिघण्टु के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कर्त्ता मदनपाल काष्ठा नगर के टीका (या टाका) वंश के राजा थे। ग्रन्थ के अन्त में उनकी वंशावली इस प्रकार दी गई है—



१. 'जलाधिवासः पृथिवीश्वराणाम्'—जलवर्ग, ८५

२. फलवर्ग, ८

३. उदयपुर,

(२८८)

रसरत्नदीप (का० हि० वि०, सी ३७७३) के कर्त्ता रामराज ने निम्नांकित प्रकार से दी है—हरिश्चन्द्र→ साधारण ↓

↓ ↓ ↓
 लक्षणसिंह सहजपाल मदनपाल

काल—इस ग्रन्थ के कालनिर्णय में कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थ रचनाकाल दे दिया है। यह ग्रंथ सं० १४३१ (१३७४ ई०) माघ शुक्ल षष्ठी, सोमवार को पूर्ण हुआ।^१

विषयवस्तु—यह निघण्टु अभयादि, शुष्ठादि, कर्पूरादि, सुवर्णादि, वटादि, द्राक्षादि, शाक, द्रव, मधुर, धान्य, कृतान्न, मांस और मिश्रक इन १३ वर्गों में विभाजित है। इसमें अहिफेन का वर्णन है किन्तु यशद नहीं है। बम्बई वाले संस्करण^२ में गलती से किसी ने यशद का वर्णन प्रक्षिप्त कर दिया है। मैंने लगभग एक दर्जन पाण्डुलिपियों का परीक्षण किया, किसी में यशद नहीं मिला। वाराणसी वाले संस्करण^३ में भी नहीं है। इसके अतिरिक्त भंगा, कंकुष्ठ, जयपाल, पारसीकयवानी, चौहार, मार्जारी, सिन्दूरी, सिलेमानी, खर्जूर, खर्बुज, अमृतफल, बादाम, अंजीर, मधुकर्कटी, गूज, यावनाल, कुण्डलिका आदि द्रव्य द्रष्टव्य हैं।

प्रारम्भ में लिखा है कि कुछ निघण्टु अतिलघु, कुछ महान्, कुछ दुर्गम नामक, और कुछ द्रव्यगुण से रहित थे। अतः लेखक ने नातिलघु, नातिविपुल, ह्यातनाम सहित तथा द्रव्यगुणसमन्वित यह ग्रन्थ लिखा।

१. अट्टे ब्रह्मजगद्युगेन्दुगणिते श्रीविक्रमार्कप्रभो-

महि मासि वल्लभललिते पष्ठ्यां सुधांशोर्दिने।

दानानां परितापपापदलनो ग्रन्थं निघण्टुं किल

श्रीदः श्रीमदनो व्यधत्त चतुरः सच्चक्रचूडामणिः ॥

मदनपाल के आश्रय में विश्वेश्वरभट्ट (१३६०-१५९० ई०) ने मदनपारिजात नामक ग्रन्थ लिखा। रसरत्नदीप का रचनाकाल १४२० ई० दिया है।

२. पं० रामप्रसाद शर्मा कृत भाषा टीकासहित, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास बम्बई, १९५४।

३. नन्दकिशोर शास्त्री द्वारा संपादित, वाराणसी, सं० १९९० (तृतीय संस्करण) इसका १२ वां संस्करण इनके अतिरिक्त, शक्तिधरशुक्ल कृत अनुवाद के साथ नन्दकिशोर प्रेस, लखनऊ से १९१७ में निकला।

(२८९)

कैयदेवनिघण्टु

इस ग्रन्थ का नाम पथ्यापथ्यविबोधक है । इसके कर्ता कैयदेव पण्डित भारद्वाजगोत्रीय पद्मनाभ के पीत्र तथा सारङ्ग या शार्ङ्ग के पुत्र थे जैसा कि उन्होंने स्वयं ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है । इस ग्रन्थ के अतिरिक्त नामरत्नाकर नामक ग्रन्थ उन्होंने लिखा था जिसमें संभवतः वस्तुओं के पर्यायमात्र होंगे । उन्हींके गुणकर्म के विवरण के लिए इस ग्रन्थ की रचना की ।^१ ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में भी इस बात का संकेत है ।^२

काल गोडे ने इसका काल १४५० ई० के पूर्व निर्धारित किया है । इसका प्रमुख आधार यह है कि राघवभट्ट ने शारदातिलक (लक्ष्मणदेशिकेन्द्रकृत) की टीका में कैयदेवनिघण्टु को उद्धृत किया है । राघवभट्ट ने उपर्युक्त ग्रन्थ पर पदार्थादर्शव्याख्या काशी में १४९३ ई० में लिखी । अतः कैयदेव १४५० ई० के बाद के नहीं हो सकते ।^३ किन्तु अब यह विचारना है कि उसके पूर्व की सीमा क्या होगी ? अफीम, भाँग, यशद का ग्रहण यद्यपि चिकित्साग्रन्थों में १२वीं शती में ही हो गया था किन्तु निघण्टुओं में १३वीं शती के पूर्व नहीं आया । मदनपालनिघण्टु (१३७४ ई०) में अफीम और भाँग दोनों का वर्णन है किन्तु कैयदेवनिघण्टु में

१. भारद्वाजपवित्रगोत्रतिलकः श्रीपद्मनाभोऽभवत्,
वैद्यव्याकृतिनाटकागमकथालंकारपारंगतः ॥
तत्पुत्रो गुणभूषितः समभवत् सारङ्गनामा द्विजो,
येन प्राणिगणेशदेवद्वैतगोऽसौ सर्वविद्यालयः ॥
तत्पुत्रः कैयदेवोऽस्ति वैद्यविद्याविशारदः ।
नामरत्नाकरो येन कृतोऽन्यो नामसागरः ॥
नामरत्नाकरोक्तानां द्रव्याणां च रसादिषु ।
ग्रन्थोऽयं लिखितस्तेन पथ्यापथ्यविबोधकः ॥
२. छिन्नादिकानां द्रव्याणां रसवीर्यादयः कृताः ।
सूरिणा कैयदेवेन यथाशास्त्रानुसारतः ॥
पाण्डुलिपि सं० बी २०९२ (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) की पुष्पिकाओं में लेखक का नाम कैयदेवपंडित तथा ग्रन्थ का नाम पथ्यापथ्यविबोधक दिया है यथा 'इति श्रीवैद्यकैयदेवपंडितरचिते पथ्यापथ्यविबोधके मांसवर्गः' ।
३. P. K. Gode : Kaiyadeva and a Medical or Botanical Glossary ascribed to him, A. B. O. R. I., Vol XIX, (1938-39), pp. 188-190

१६ द्र० च०

(२९०)

अफीम का वर्णन नहीं है। भाँग का वर्णन भी प्रारम्भिक रूप में है क्योंकि वह धान्यवर्ग (शणरूप में) तथा ओषधिवर्ग दोनों में है। यह ज्ञातव्य है कि भाँग का प्रारम्भिक प्रयोग सुत्रों के लिए होता था और बाद में मादक द्रव्य के रूप में। शीतलिका, सोमरोग आदि रोग १२वीं शती के गदनिग्रह, वंगसेन आदि ग्रन्थों में मिलते हैं इसके पूर्व नहीं मिलते। कैयदेवनिघण्टु के विहारवर्ग में इन दोनों का उल्लेख है। अतः यह १२वीं शती के बाद का ही है। मदनपालनिघण्टु से इसके वर्णन मिलते-जुलते हैं। यद्यपि इसमें अहिफेन नहीं है तथापि इसमें पीतकरवीर का वर्णन है जो अवश्य ही बाद का है। मदनपालनिघण्टु में करवीरद्वय में श्वेत और रक्त दो ही का वर्णन है। धन्वन्तरिनिघण्टु में भी ऐसा ही है। अतः कैयदेव-निघण्टु को मदनपालनिघण्टु के बाद ही रखना चाहिए। इस प्रकार इसका काल १५वीं शती (लगभग १४२५ ई०) ठहरता है।

कैयदेव गुजरात के निवासी प्रतीत होते हैं। इन्होंने झूले (आन्दोलिका श्रमहरा) का वर्णन लिखा है। गुजराती लोग झूले के प्रेमी हैं। तिलपर्णी, वेल्लन्तर आदि द्रव्य तथा द्रव्यों के कुछ नाम भी उसी तरह के हैं।

विषयवस्तु—कैयदेवनिघण्टु की विषयवस्तु ८ वर्गों में व्यवस्थित है यथा—ओषधिवर्ग, धातुवर्ग, धान्यवर्ग, द्रववर्ग, पक्वान्नवर्ग, मांसवर्ग, विहारवर्ग और मिश्रकवर्ग। १९२८ ई० में आचार्य सुरेन्द्रमोहन ने विवेचनात्मक टिप्पणी के साथ इसका प्रथम भाग मेहरचन्द लक्ष्मणदास लाहौर से प्रकाशित कराया था जिसमें केवल ओषधिवर्ग है। इसके संपादन में उन्होंने तीन पाण्डुलिपियों का आधार लिया था। बम्बई की पाण्डुलिपि के संबंध में वह लिखते हैं कि वह सर्वोत्तम और सम्पूर्ण था किन्तु वह कहाँ तक था यह पता नहीं। मेरे देखने में अभी तक जो पाण्डुलिपियाँ आई हैं उनमें अन्तिमवर्ग (नानार्थवर्ग) उपलब्ध नहीं हो सका है। आचार्य जी का संकल्प द्वितीय भाग में इसे पूर्ण कर देने का था किन्तु यह पूरा न हो सका।

ओषधिवर्ग में मधुकर्कटी, पिण्डखर्जूर, कण्टकरंज, बन्बूल, सिन्दूरी, मार्कण्डी आदि का वर्णन है। गृन्जन से गाजर तथा पलाण्डुभेद दोनों का ग्रहण किया गया है। बालचतुष्टय, कस्तूरी आदि के प्रकरण भावप्रकाश से मिलते-जुलते हैं। संभवतः

१. पाण्डुलिपि संख्या बी २०९२ तथा बी ३०९१, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय। दोनों का लिपिकाक क्रमशः १५७१ सं० और १७८५ सं० है। इसके अतिरिक्त, सरस्वतीभट्टन, वाराणसी की पाण्डुलिपि सं० १।१५७।८७०६३।

(२९१)

भावमिश्र ने कैयदेवनिघण्टु का अनुसरण किया। महानिम्ब से बकायन का ग्रहण किया है। अम्लवेतस का एक पर्याय 'शाखाम्ल' है जिससे प्रतीत होता है कि उस समय अम्लवेतस के नाम पर रेवन्दचीनी की शाखावत् डंठलें प्रचलित हो गई थीं।

आधुनिक काल

भावप्रकाशनिघण्टु

भावप्रकाश का निघण्टुभाग सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इसका प्रभाव पिछले चार सौ वर्षों से अभी तक असुण्य बना हुआ है। इसने अनेक लोकोपयोगी देशी-विदेशी द्रव्योंको एक साथ मिलाकर निघण्टु को व्यावहारिक रूप दिया। इसका उदार एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण ही इसकी सफलता का कारण है।

इसके रचयिता लटकनमिश्रतनय भावमिश्र हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन्होंने विष्णुपद की वन्दना की है। इससे प्रतीत होता है कि वह मगध में गया के निवासी थे जहाँ विष्णुपद का मन्दिर अभी भी विख्यात है। कदली के चम्पक, स्वर्ण आदि जो भेद उन्होंने किये हैं वह बिहार में हाजीपुर के क्षेत्र में होते हैं। इससे भी उनका बिहार प्रान्त में निवास सूचित होता है।^१ क्षेत्रीय नाम भी बिहार के दिये हैं।

मदनपाल ने भावमिश्र के लिए पथ प्रशस्त कर दिया था। उसका अनुसरण करते हुए इन्होंने आकारकरम, द्वीपान्तरवचा (चोपचीनी), पुदीना, छोहाड़ा, कलम्बक, चन्द्रशूर, कुलिंजन, गंधकोकिला, चर्मकारालुक^२ मखान्त^३, कुमुदबीज^४ आदि विशिष्ट द्रव्यों का वर्णन किया है। यशद का सप्तधातुओं में वर्णन किया है।

इसका काल १६वीं शती (उत्तरार्ध) निर्धारित किया गया है। भावमिश्र मुगलसम्राट् अकबर के समकालीन या कुछ ही बाद हुये होंगे।

१. देखें, आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० १८७-१८५

२. प्रायः समकालीन जड़गीर ने लिखा है :—'इब्राहिम खान ने बिहार से ४९ हाथी और कुछ सोनाकेला मेरे लिए भेजे। मैंने ऐसे स्वादिष्ट केले पहले कभी नहीं खाये थे। वे अंगुलि के बराबर हैं किन्तु अत्यन्त मधुर और सुगन्धि'।

—तुज्जु-प-जड़गीरी, पृ० ३९७-३९८

३. सुधनी के नाम से बिहार में प्रचलित है।

४. मखाना बिहार के निरहुत क्षेत्र में होता है।

५. कुमुदबीज का प्रयोग 'भैंस का लाव' के नाम से उज्जैन के बाद पश्चिम में बिहार के वैद्य देते थे।

आर्द्रत-पु-अनघरी में मखाना और कछमरुत का उल्लेख है (पृ० ७०, ८७)।

(२९२)

निघण्टुभाग निम्नांकित २३ वर्गों में विभाजित है—

१. हरीतक्यादि	९. शाकवर्ग	१७. घृतवर्ग
२. कर्पूरादि	१०. मांसवर्ग	१८. मूत्रवर्ग
३. गुडूच्यादि	११. कृतान्तवर्ग	१९. तैलवर्ग
४. पुष्पवर्ग	१२. वारिवर्ग	२०. सन्धानवर्ग
५. वटादि	१३. दुग्धवर्ग	२१. मधुवर्ग
६. आम्रादि	१४. दधिवर्ग	२२. इक्षुवर्ग
७. धात्वादि	१५. तक्रवर्ग	२३. अनेकार्थनामवर्ग
८. धान्यवर्ग	१६. नवनीतवर्ग	

निघण्टुभाग पर शिवशर्मा, विश्वनाथद्विवेदी (१९४१), कृष्णचन्द्रचुनेकर (चतुर्थ सं० १९६९) आदि की टीकायें हैं। चुनेकर की टीका सम्प्रति लोकप्रिय है। इसमें बानस्पतिक विवरण विस्तृत एवं स्पष्ट है। कृष्णचन्द्र चुनेकर काशी के प्रसिद्ध वेद्य स्व० पं० श्रीनिवासशास्त्री के सुपुत्र हैं और सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में द्रव्यगुण के अध्यापक हैं। बानस्पतिक अनुसंधान-दर्शिका (चौखम्बा, १९६९) उनकी अन्य रचना है। 'ग्लासरी' के निर्माण में भी यह बलवन्त सिंह के सहयोगी हैं।

राजनिघण्टु

इसका नाम निघण्टुराज या अभिधानचूड़ामणि भी है। काश्मीरी नरहरि पण्डित ने इसकी रचना की है। यह काश्मीर की आद्यवंशीय आचार्यपरम्परा में प्रसूत श्री ईश्वरसूरि के पुत्र थे। यह शैव तथा सभी शास्त्रों में पारंगत थे। ग्रन्थ के प्रारंभ में गणेश, शंकर, सरस्वती आदि की वन्दना कर अश्विनी, आत्रेय, धन्वन्तरि, चरक, सुश्रुत आदि आयुर्वेदाचार्यों का स्मरण किया है। कर्नाटक, महाराष्ट्र, आन्ध्र, लाट आदि भाषाओं का प्रयोग किया है जिससे प्रतीत होता है कि यह उन प्रदेशों में चिरकाल तक रहे होंगे या वहाँ यात्रायें की होंगी।

काल—ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की प्रस्तावना में स्वयं लिखा है कि उसने धन्वन्तरि, मदन, हलायुध, विश्वप्रकाश, अमरकोश, शेष (त्रिकाण्डशेष), राजकोश आदि निघण्टुओं एवं कोशों को देखकर इसकी रचना की है। विशेषतः धन्वन्तरिनिघण्टु का आधार लिया है^१। मदनपालनिघण्टु का रचनाकाल १३७४ ई० है अतः राजनिघण्टु

१. यह सूचना ग्रन्थ के उपक्रम-पद्यों तथा पुष्पिकाओं से मिलती है।

२. धन्वन्तरीयमदनादिहलायुधादीन् विश्वप्रकाशमरकोशसौधराजौ।

आलोच्य लोकविदितैश्च विचिन्त्य शब्दान् द्रव्याभिधानगणसंग्रह एव सृष्टः ॥

(२९३)

का काल १४वीं के बाद ही होगा। इसे भावप्रकाश के पूर्व रखना चाहिए या पश्चात् यह विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भावप्रकाश के कुछ बाद ही होगा इसके निम्नांकित कारण हैं—

१. भावप्रकाश ने करवीर के श्वेत और रक्त दो ही भेद किये हैं, किन्तु राज-निघण्टु में पीतकरवीर का भी वर्णन किया है जो बाद में इस देश में बाहर से आया। आईन-ए-अकबरी (पृ० ८२) में श्वेत और रक्त दो ही करवीरों का उल्लेख है। बाबरनामा (पृ० ५९३-५१४) में भी यही है। तुजुक-ए-जहाँगीरी (भाग १, पृ० ९७) में कनेर के फूलों का जो वर्णन है उससे प्रतीत होता है कि उस काल में पीतकरवीर का प्रवेश हो गया था। यह स्मरणीय है कि तब तक युरोपीय जन इस देश में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

२. कर्पूरतैल, तैलपिपीलिका, कालाञ्जनो (कृष्णबीज), कामवृद्धि, सर्वक्षार आदि राजनिघण्टु के द्रव्य भावप्रकाश में नहीं हैं।

३. कुलञ्जन का स्पष्ट उल्लेख है जब कि भावप्रकाश में महाभरी वचा करके दिया है।

४. राजनिघण्टु में झण्डू (गेंदा फूल) का वर्णन है जो भावप्रकाश में नहीं है। यह विदेशी पुष्प १६ वीं शती के अन्त में भारत में आया। इसका उल्लेख आईन-ए-अकबरी में नहीं है।

इस प्रकार राजनिघण्टु का काल १७ वीं शती ठहरता है।

धन्वन्तरिनिघण्टु सहित इसका प्रकाशन आनन्दाश्रम, पूना से हुआ है (१९२५)। कलकत्ता से इसका स्वतंत्र संस्करण भी निकला है (द्वि० सं०, १९३३)।

विषयवस्तु—प्रस्तुत निघण्टु में नामों पर विशेष रूप से विचार किया गया है जिसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा क्षेत्रीय नामों को दृष्टि में रखा गया है। नामों के विषय में कहा है कि ये रूढ़ि, प्रभाव, देश्योक्ति, आकृति, उपमा, वीर्य तथा उत्पत्तिस्थान इन सात आधारों पर निर्धारित होते हैं। इसमें अनूपादि, भूम्यादि, गुडूच्यादि, शताह्वादि, पर्पटादि, पिप्पल्यादि, मूलकादि, शाल्मल्यादि, प्रभद्रादि, करवीरादि, आम्रादि, चन्दनादि, सुवर्णादि, पानीयादि, क्षीरादि, शाल्यादि, मांस, मनुष्यादि, सिंहादि, रोगादि, सत्त्वादि, मिश्रकादि, एकार्थादि इन २३ वर्गों में विषय-वस्तु व्यवस्थित है।

आयुः श्रुतीनामनु अपकारकं धन्वन्तरिग्रन्थवतानुसारकम् ।

आचक्ष्महे लघुगलघयधारकं नामोच्चयं सर्वज्ञापहारकम् ॥

(२९४)

भूमि के विभाग वर्णानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा महाभूतानुसार पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य और आन्तरिक्ष ये पांच किये गये हैं। विभिन्न वर्णों की भूमि में उत्पन्न ओषधियाँ उन्हीं वर्णों के रोगियों को दी जानी चाहिए ऐसा उल्लेख है। स्थावरद्रव्यों के पांच विभाग किये गये हैं—वनस्पति, वानस्पत्य, क्षुप, वल्ली और ओषधि। पुंस्त्री-नपुंसक भेद से ये तीन प्रकार के होते हैं जिनका प्रयोग रोगी के लिंगानुसार करना चाहिए। यों पुंलिंग द्रव्य सभी में प्रयोज्य होता है। वनस्पतियों में चेतना तथा पाञ्चभौतिकता की सिद्धि सयुक्तिक की गई है। लिंगिनी, सोमवल्ली, कैवर्तिका, कट्वी, अमृतस्रवा, धूम्रपत्रा, रुदन्ती, हस्तिशुण्डी, दुग्धफेनी, क्षण्डू, कुलञ्जन, मायाफल, कारस्कर आदि का वर्णन द्रष्टव्य है। राजनिघण्टुकार ने द्रव्यगुण को अष्टांग में समाविष्ट ही नहीं किया अपितु आद्य स्थान दिया। इससे द्रव्यगुण के उत्कर्ष का बोध होता है।

वैद्यावतंस

कविराज लोलिम्बराज द्वारा विरचित यह लघु निघण्टुग्रन्थ^२ है जिनमें प्रसिद्ध आहारद्रव्यों का ७ वर्गों में संक्षिप्त सरस वर्णन है।

इसमें निम्नांकित वर्ग हैं :—

- | | | |
|--------------|----------------|--------------|
| १. फलवर्ग | २. पत्रशाकवर्ग | ५. धान्यवर्ग |
| २. फलशाकवर्ग | ४. कन्दशाकवर्ग | ६. मांसवर्ग |
| | | ७. दुग्धवर्ग |

पत्रशाकों में अश्वबला का वर्णन किया है। कुल ५७ श्लोकों में ग्रन्थ पूर्ण है। लोलिम्बराज दिवाकरभट्ट के पुत्र थे तथा पूना जिले में जुन्नार नामक स्थान के निवासी थे। किसी सूबेदार की कन्या मुरासा से इनका विवाह हुआ था।

लोलिम्बराज का काल १७वीं शती का प्रथम चरण है।

द्रव्यगुणशतक

द्रव्यगुणशतक या द्रव्यगुणशतश्लोकी योगतरंगिणीकर्त्ता त्रिमल्लभट्ट की प्रसिद्ध रचना है। इसमें मुख्यतः आहारद्रव्यों का वर्णन है। प्रथम मंगल-श्लोक में शिव-पार्वती और गणेश की वन्दना की गई है। दूसरे श्लोक में छः

१. द्रव्याभिधानगदनिश्चयकायसौख्यं, शरयादिभूतविषनिग्रहबालवैद्यम् ।

विद्याद् रसायनवरं हृद्देहहेतुमायुःश्रुतेर्द्विचतुरङ्गभिदाह शम्भुः ॥ २०।४२
द्रव्यगुण, निदान, कायचिकित्सा, शल्य, शाळाक्य, भूतविद्या, अगदतंत्र, कौमार-
भृत्य ये आयुर्वेद के आठ अङ्ग हैं।

२. यह ब्रह्मानन्दमित्राठीकृत हिन्दीव्याख्यासहित मोतीलाल बनारसीदास, बाराणसी द्वारा १९६७ में प्रकाशित है।

(२९५)

रसों का दोषों पर प्रभाव वर्णित है। शेष श्लोकों का विभाजन इस प्रकार है :—

	श्लोकसंख्या
१. जलवर्ग	३-१०
२. दुग्धवर्ग	११-२१
३. धान्यवर्ग	२२-२६
४. मांसवर्ग	२७-३८
५. शाकवर्ग	३९-४९
६. इक्षु-मधुवर्ग	५०-५२
७. तैलवर्ग	५३-५५
८. फलवर्ग	५६-६७
९. शुण्ठ्यादिवर्ग	६८-७३
१०. कृतान्नवर्ग	७४-८९
११. संधानवर्ग	९०
१२. मद्यवर्ग	९१
१३. अभ्यंगादिवर्ग	९२
१४. ताम्बूलादिवर्ग	९३-९५
१५. सुवर्णादिवर्ग	९६-१००

एक उपसंहारपद्य है। इस प्रकार कुल १०२ पद्यों में ग्रंथ पूर्ण हुआ है।

सुवर्णादिवर्ग में धातुओं के प्रकरण में सुवर्ण, रजत, ताम्र, वंग, धातुक और लोह हैं, नाग और यशद नहीं हैं। दुग्ध-प्रकरण में गो, महिषी और अजा इन्हीं तीन का उल्लेख है जिससे इनके दुग्ध का ही प्रचलन सूचित होता है। अन्य वर्णनों में मदनपालनिघण्टु का अनुसरण किया गया है। गाजर के लिए गूब्जन से पृथक् गर्जर शब्द दिया गया है। खाद्यान्नों के कुछ नये शब्द मिलते हैं यथा पुष्पवटी (फुलोड़ी), कचवती (कचोड़ी), जलवलिवलय (जलेबी) आदि। जलेबी के लिए अधिकांश ग्रन्थकारों ने कुण्डलिनी शब्द दिया है।^१

त्रिमल्लभट्ट काशीवासी तैलंगब्राह्मण सिगणभट्ट के पोत्र थे। आयुर्वेद के अतिरिक्त आप अनेक शास्त्रों के विद्वान तथा उत्तम कवि थे।^२

१. देखें—P. V. Sharma : Trimalla Bhatta : His Date and works with special Reference to his Materia Medica in one hundred Verses, I. J. H. S., Vol. 6, No. 1, 1971

२. द्रव्यगुणज्ञतक का संस्करण खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से सं० १९५३ में शालिग्रामवैश्यकृत भाषाटीकासहित प्रकाशित है।

(२९६)

शिवकोष के कर्ता शिवदत्त के पुत्र कृष्णदत्त ने द्रव्यगुणशतक पर द्रव्यदीपिका व्याख्या लिखी है ।

शिवकोष

यह शिवदत्तमिश्र की रचना है जो पर्यायशैली पर आधारित है । पण्डित शिवदत्तमिश्र कर्पूरीय (कपूरिया) कुल के अवतंस थे । यह आयुर्वेद के विद्वानों का कुल था । इनके पिता का नाम चतुर्भुज था जो स्वयं आयुर्वेद तथा अनेक शास्त्रों में पारंगत थे । पण्डित शिवदत्तमिश्र ने अपने पिता से ही आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की थी । इसका निर्देश उन्होंने अपनी एक रचना 'संज्ञासमुच्चय' में की है—

संज्ञासमुच्चयममुं लघुवाग्भटादिग्रन्थप्रकाशनपरं विषमस्थलेषु ।

तातादधीतविधिवद्वरवैद्यविद्यः चक्रे चतुर्भुजसुतः शिवदत्तमिश्रः ॥

इसी प्रकार दूसरी रचना 'शिवकोष' के अन्तिम पद्य तथा शिवकोष-व्याख्या की पुष्पिका में भी इसका उल्लेख किया गया । आफ्रेकट ने अपनी प्रसिद्ध विवरणिका में चतुर्भुजमिश्र के नाम पर रसकल्पद्रुम नामक ग्रन्थ तथा गोविन्द भगवत्पाद विरचित रसहृदय की व्याख्या का उल्लेख किया है । स्टीन की कश्मीर-सूची के अनुसार चतुर्भुज ने संवत् १७०५ (१६४९ ई०) में रसकल्पद्रुम की रचना की । जहाँ तक रसहृदय की व्याख्या का प्रश्न है, यह कुरलवंशीय महेश मिश्र के पुत्र चतुर्भुज मिश्र द्वारा रचित है अतः यह कहना कठिन है कि यह वही चतुर्भुज हैं क्योंकि उन्होंने अपने को कर्पूरीयकुलीय लिखा है । रसहृदयतन्त्र का संस्करण जो मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित हुआ है (१९२७ ई०) उसमें चतुर्भुज मिश्र द्वारा रचित मुग्धावबोधिनी व्याख्या भी सम्मिलित है । इसकी भूमिका में त्र्यम्बकनाथ गुरुनाथ काले ने लिखा है—

'रसहृदयटीकाकारः श्रीचतुर्भुजमिश्रः खण्डेवालब्राह्मणजातीयः कुरलसंज्ञककुलोत्पन्नः, हरिहरमिश्रस्य पौत्रः, महेशमिश्रस्य च पुत्र आसीदिति तेन ग्रंथारम्भ एवोक्तादात्मवृत्तान्ताप्रतीयते । खण्डेवालब्राह्मणानां वसतिः जयपुर-सोकर-बीकानेर-प्रभृतिषु स्थलेषु विशेषत उपलभ्यते, अतश्चतुर्भुजमिश्रोऽपि तेषामन्यतमस्थलनिवासो भवेदित्यनुमीयते ।'

इस प्रकार कुल, पितृपरम्परा तथा देश की भिन्नता के कारण यह कोई अन्य चतुर्भुज प्रतीत होते हैं ।

जैसा कि कहा गया है, पं० शिवदत्त मिश्र पं० चतुर्भुज मिश्र के पुत्र थे । उन्होंने अपने पिता से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था यह उनकी विभिन्न रचनाओं में प्रदत्त सूचनाओं से ज्ञात होता है । इनकी तीन रचनाओं का पता चलता है—

(२९७)

संज्ञासमुच्चय—यह निदान, चिकित्सा तथा द्रव्यगुणसम्बन्धी विषम स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए लिखा गया है। आफ्रेक्ट ने इसका उल्लेख किया है। राजेन्द्रलाल मित्र ने अपनी संस्कृत पांडुलिपियों की सूची में इसकी एक पाण्डुलिपि का उल्लेख किया है जिसका लिपिकाल शक १६४१ (१७१९ ई०) है।

शिवकोष—यह आयुर्वेदीय निघण्टु का ग्रन्थ है जो ५४० श्लोकों में पूर्ण है। इसमें औषध-द्रव्यों के पर्याय-पदों का अकारादिक्रम से वर्णन है। लेखक ने इसे नानार्थौषधकोष कहा है। यह तत्कालीन अनेक कोषों का आधार लेकर लिखा गया है जिनमें मुख्य हैं—शब्दार्णव, अजय, अमर, वोपालित, सिंह, मेदिनी, विश्व, हारावली, हलायुध, शाश्वत, हेम तथा त्रिकाण्डशेष।

‘शब्दार्णवाजयामरवोपालितसिंहमेदिनीविश्वान् ।

हारावलीहलायुधशाश्वतहेमत्रिकाण्डशेषाश्च ॥

प्रीत्यै विविच्य भिषजो विविधौषधनामसंहितामस्य ।

नानार्थौषधकोशो विरच्यते लिंगभेदेन ॥’

लेखक ने शिवकोष के अन्त में इसका रचनाकाल शक १५९९ (१६७७ ई०) दिया है।

‘नवग्रहतिथिप्राप्ते हायने हालभूभुजः ।

चक्रे चातुर्भुजिः कोषं शिवदत्तः शिवाभिधम् ॥’

ग्रंथ की पुष्पिका में ग्रंथकार तथा उसके कुल का निर्देश है—

‘इति कर्पूरीयशिवदत्तकृतः शिवकोषः पूर्णः ।’

यह ग्रंथ श्री आर० जी० हर्षे द्वारा सम्पादित तथा डेक्कन कालेज पूना से प्रकाशित है (१९५२) जो पूना तथा आक्सफार्ड की दो पाण्डुलिपियों पर आधारित है।

शिवप्रकाश (शिवकोष-व्याख्या)—लेखक ने यह व्याख्या अपने कोष के विशदीकरण के लिए लिखी है। इसमें शताधिक कोशों, टीकाओं तथा ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं जिससे लेखक के व्यापक पाण्डित्य का तो पता चलता ही है, उसके काल तथा तत्कालीन आचार्यों के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। इन उद्धृत रचनाओं तथा आचार्यों में इन्दु, कैयदेव, केशव, गुणरत्नमाला, डल्हण, धन्वन्तरि, वोपदेव, मदनविनोद, रसरत्नसमुच्चय, राजनिघण्टु, रामाश्रम, लोलम्बराज और हेमाद्रि प्रमुख हैं। व्याख्या के प्रारम्भिक पद्य में यह कहा गया है कि वाग्भट के ग्रंथों, टीकाओं तथा कोषों का मनन कर यह व्याख्या लिखी गयी है। संज्ञासमुच्चय में भी वाग्भट का संकेत है। इससे उस काल में वाग्भट विशेषतः स्वल्पवाग्भट

(२९८)

(अष्टांगहृदय) की लोकप्रियता का पता चलता है। व्याख्या के अन्त में पुष्पिका है—‘इति श्रीकूर्वीयचतुर्भुजात्मजशिवदत्तकृतः शिवप्रकाशः पूर्णः ।’

उपर्युक्त ग्रन्थों की जो पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हैं उनमें संज्ञासमुच्चय की पाण्डुलिपि प्राचीनतम है। इस आधार पर यह ग्रन्थ उनकी आद्य रचना मानी जाता है।

शिवदत्तमिश्र काशीनिवासी थे। कवीन्द्राचार्य सरस्वती की प्रशस्ति करनेवाले काशीस्थ पण्डितों में इनका भी नाम है। ये प्रशस्तियाँ कवन्द्रिचन्द्रोदय नामक ग्रंथ में संगृहीत हैं जो पूना से १९३९ में प्रकाशित हुआ है। कवीन्द्राचार्य ने मुगल बादशाह शाहजहाँ (१६२८-१६५८ ई०) से अनुरोध कर काशी में यात्री-कर को निरस्त करने में सफलता प्राप्त की थी।

शिवकोष की रचना का काल १६७७ ई० लेखक ने स्वयं लिखा है। डाक्टर पी० के० गोडे शिवदत्त मिश्र का काल १६२५-१७०० ई० मानते हैं। शिवकोष की व्याख्या में लेखक ने ‘रामाश्रमाः’ शब्द से अमरकोश की व्याख्या-मुद्रा के रचयिता तथा भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुजीदीक्षित को उद्धृत किया है। भानुजीदीक्षित का काल १६००-१६५० ई० है। अतः शिवदत्तमिश्र उसके परवर्ती सिद्ध होते हैं। इन सब तथ्यों से भी प्रतीत होता है कि शिवदत्त मिश्र कवीन्द्राचार्य के कनीय समकालीन हों और उनकी प्रशस्ति में सम्मिलित हुए हों।’

कृष्णदत्त मिश्र

पण्डित कृष्णदत्त मिश्र, पण्डित शिवदत्त मिश्र के पुत्र थे। इन्होंने त्रिमल्लभट्ट-विरचित द्रव्यगुणशतश्लोकी (द्रव्यगुणशतक) पर द्रव्यदीपिका नामक टीका की है। यह स्मरणीय है कि त्रिमल्लभट्ट काशीवासी तैलंग ब्राह्मण थे। अतः काशीस्थ पण्डित कृष्णदत्तमिश्र द्वारा इसकी टीका की रचना अत्यन्त स्वाभाविक है। संभव है, कुछ विद्या का भी सम्बन्ध हो। प्रो० एच० डी वेलंकर त्रिमल्लभट्ट का काल १३८३-१४४९ ई० मानते हैं किन्तु अन्तरंग साक्ष्यों के आधार पर इसका काल सत्रहवीं शताब्दी ठहरता है। पण्डित कृष्णदत्त ने अपनी व्याख्या का प्रारम्भ और अन्त क्रमशः इस प्रकार किया है—

त्रिमल्लभट्टरचितो यो द्रव्यगुणसंग्रहः ।

कृष्णदत्तेन तट्टीका क्रियते द्रव्यदीपिका ।

विश्ववन्दितचतुर्भुजतातावाप्तविद्यशिवदत्तसुतस्य ।

कृष्णदत्तकृतिनः कृतिरेषा, जायतामखिललोकहिताय ।

-
१. P. K. Gode : Karpuriya Sivadatta and his medical treatises,
Poona Orientalist, Vol. VII, Nos. 1-2

(२९९)

पण्डित कृष्णदत्त ने अपनी व्याख्या में द्रव्यगुण के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। द्रव्यस्थित पाँच धर्मों—रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव का उल्लेख करते हुए उन्होंने इनका संक्षिप्त एवं साधु लक्षण दिया है यथा 'रसनेन्द्रियग्राह्यो रसः। द्रव्याश्रयो गुणः, कायग्निकाजो विशिष्टो गुणो वीर्यम्, जठराग्निद्रव्यपाकोत्तरभावी रसो विपाकः, द्रव्यस्यात्मा प्रभावः।' विवेचन के प्रसंग में लेखक ने निम्नांकित आचार्यों तथा रचनाओं को उद्धृत किया है—

अग्निवेशशस्त्र, अधिधानचूडामणि, अमर, अरुणदत्त, कैयदेव, खारणादि, गयदास, चक्रपाणि, चरक, जैज्जट, डल्हण, त्रिकाण्डशेष, त्रिविक्रम, त्रिशतीटीका, धन्वन्तरिनिघण्टु, निघण्टु, नैरुक्त, ब्रह्मदेव, भावमिश्र, माधवकार (द्रव्यगुण), मिताक्षरा, मुनि, मेदिनी, लोचन, वाग्भट, वाग्भटीय संग्रहबोध, वाप्यचन्द्र, व्याडि, शब्दार्णव, संग्रह, संग्रहबोध, सारसंग्रह, सिद्धमन्त्रप्रकाश, सिंह, सुश्रुत, हारीत, हेमाद्रि। इनमें अग्निवेशशस्त्र, अरुणदत्त, खारणादि, गयदास, चरक, त्रिविक्रम, त्रिशतीटीका, नैरुक्त, ब्रह्मदेव, मुनि, वाग्भटीयसंग्रहबोध, सारसंग्रह तथा हारीत शिवदत्तकी अपेक्षा इसमें अधिक है।

द्रव्यों का वर्णन भी कृष्णदत्त ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

१—गोधूम (गेहूँ) तीन प्रकार का बताया गया है—महागोधूम, मधूली और नन्दीमुखी।

२—मुद्ग (मूँग) दो प्रकार का है—क्षेत्रमुद्ग और वनमुद्ग।

३—मसूर दो प्रकार का है—कृष्ण और पाण्डुर, कृष्णवर्ण को मसूर तथा पाण्डुवर्ण को मंगल्य कहा है।

४—कलाय दो प्रकार का कहा गया है—त्रिपुट और वर्तुल। त्रिपुट खण्डजनक है।

५—शण दो प्रकार का है—शण और पटशण।

६—कोद्रव दो प्रकार का है—कोद्रव और वनकोद्रव। वनकोद्रव को ही उद्दालक या यावनाल (ज्वार) कहते हैं।

७—श्यामाक त्रिविध कहा है—तोयश्यामाक, उब्द्रश्यामाक और हस्ति-श्यामाक।

८—द्राक्षा तीन प्रकार की है—मधुर, मधुराम्ल और अम्ल।

९—दाडिम तीन प्रकार का है—मधुर, मधुराम्ल और अम्ल।

(३००)

१०—लवण आठ प्रकार का कहा गया है—सैधव, सोवर्चल, बिड, सामुद्र, ओझिद, कृष्ण, रोमक, पांशुज ।

पाठ का निर्णय अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के आधार पर किया है यथा 'अना-र्षोऽयं पाठः जेज्जटोपेक्षितत्वात्' । प्राचीन आचार्यों के आपातविरोध के परिहार का भी यत्र-तत्र प्रयत्न किया है, किन्तु युक्तियाँ हृदयग्राही नहीं हैं । यथा शालि के वाग्भटोक्त मधुरपाक तथा सुश्रुतोक्त कटुपाक के विरोध का परिहार करते हुए लिखा कि रस के समान इसमें अविरोध है । जिस प्रकार एक द्रव्य में अनेक रस स्थित होते हैं, उसी प्रकार अनेक विपाक भी हो सकते हैं क्योंकि विपाक वस्तुतः रसविशेष ही है, किन्तु ऐसा मानने से अनवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जायगी । यही युक्ति तिल के प्रसंग में भी दी गयी है । मधु के गुण के विषय में एक रोचक शास्त्रार्थ दिया गया है । चरक मधु को गुरु एवं सुश्रुत लघु मानते हैं । इसका समाधान यह किया गया है कि चरक ने केवल गुण की दृष्टि से विचार किया है, जब कि सुश्रुत ने पाक की दृष्टि से भी देखा है । सुश्रुत के मत में जो देर से पचता है, मूत्र-पुरीष के उत्सर्ग में सहायक होता है तथा कफ की वृद्धि करता है वह गुरु है । इसके विपरीत, जो शीघ्र पच जाय, मूत्र-पुरीषका विबन्ध करे और वात की वृद्धि करे वह लघु है । कुछ लोग पुराण और नवीन की दृष्टि से इसका परिहार करते हैं यथा चरक ने मधु का सामान्य गुण गुरु बतलाया जब कि सुश्रुत ने मधु की पुराणता को ध्यान में रखते हुए उसे लघु कहा । इसी प्रकार अतसी को वाग्भट ने कफकरी तथा खारणादि ने कफहरी लिखा है । लेखक ने इसका परिहार विषयभेद से किया है और इसके लिए सुश्रुत का भी आधार किया है । बदर (बैर) को वाग्भट ने भेदन तथा खारणादि ने ग्राही लिखा है इसका समाधान यह किया गया है कि बैर का ताजा पका फल ग्राही तथा सूखा फल सर होता है ।

द्रव्यों के परिचय के सम्बन्ध में अनवधानता एवं भ्रान्ति मध्यकाल से ही चली आ रही है जो सर्वविदित है : उत्कृष्ट (१२ वीं शती) के काल में अनेक द्रव्य सन्दिग्ध हो गये थे यह उनके उद्धरणों से ज्ञात होता है । पण्डित कृष्णदत्त भी इसके अपवाद नहीं थे । इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा । तुवरी (तोरी) एक प्रसिद्ध तैलयोनि द्रव्य है । इसे तुवरक समझकर इन्होंने परिचय दिया है—'पश्चिमार्णवतीरजो वृक्षः' ।

पण्डित कृष्णदत्त आयुर्वेद के अतिरिक्त व्याकरण के भी प्रौढ पण्डित थे । यह स्थान-स्थान पर प्रकृति-प्रत्यय, समास आदि का निरूपण करने से पता चलता है । एक स्थल पर परिभाषेन्दुशेखर की एक परिभाषा भी दी गयी है—'तैलशब्देन

(१०१)

तिलोद्भवः स्नेह एव मुख्यत्वेन गृह्यते नतु पत्रकांडादि, गीणमुख्ययोः मुख्ये कार्य-संप्रत्यय इति न्यायात् ।' यह साहित्यशास्त्र में भी निष्णात एक उच्चकोटि के कवि थे । ग्रन्थ में आये छन्दों का भी विवेचन इन्होंने किया है ।

'लाभपुर' शब्द संभवतः लाहौर के लिए है । जांबण आदि शब्द भी पंजाबी शैली के हैं । कपूरिया परिवार सारस्वत ब्राह्मणों का है जो पंजाब में अधिकांश होते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डित कृष्णदत्त का पंजाब से घनिष्ठ सम्बन्ध था ।

राजवल्लभनिघण्टु

यह राजवल्लभ वैद्य द्वारा निमित्त तथा नारायणदास द्वारा प्रतिसंस्कृत है ।^१ यह छः परिच्छेदों में विभाजित है यथा—प्राभातिक, पोर्वाह्निक, मध्याह्निक, अपराह्निक, निशाभव और औषधीय । स्पष्टतः यह दिनचर्या में व्यवहृत होने वाले द्रव्यों के गुणकर्मों को प्रमुखता देता है

राजवल्लभ का काल स्पष्ट नहीं है किन्तु इसने मदनपालनिघण्टु^२ तथा भाव-प्रकाश^३ के पद्यों को उद्धृत किया है अतः १७ वीं शती के पूर्व का नहीं हो सकता इसके प्रतिसंस्कर्ता नारायणदास का काल १७६० ई० कहा जाता है ।^४ इस प्रकार वर्तमान ग्रन्थ १८ वीं शती का है ।

शालिग्रामवैद्यकृत टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सं० १९५२ में तथा रामप्रसादवैद्यकृत टीका के साथ सं० १९६८ में प्रकाशित हुआ ।

हिकमतप्रकाश

यह नृसिंहदेवात्मज वालकृष्ण के पुत्र महादेव की विचित्र रचना है जिसमें उन्होंने फारसी हिकमत (यूनानी) को संस्कृत छन्दों में बाँध कर उपस्थित किया है ।^१ इसमें तीन खण्ड हैं । प्रथम खण्ड में दोष, वीर्य, मूत्रपरीक्षा, नाडीपरीक्षा आदि का वर्णन है । द्वितीय खण्ड में वर्णानुक्रम से द्रव्यों के गुणकर्म और प्रयोग वर्णित हैं । तृतीय खण्ड में औषधयोग हैं । यह ग्रन्थ सं० १८३० (१७७३ ई०) में पूर्ण

१. राजवल्लभवैद्येन निर्मितो राजवल्लभः ।

द्रव्याणां गुणख्यातिस्वाद् भिषजां हि सुखावहः ।।

और देखें उमेशचन्द्रगुप्तकृत वैद्यकशब्दसिन्धु श्री भूमिका ।

२. हरीतकी की निरुक्ति आदि ।

३. षड्विध शाक आदि ।

४. वैद्यकशब्दसिन्धु, भूमिका ।

५. नृसिंहदेवात्मजवालकृष्णदेवात्मभूभेषजकर्मदत्तः ।

देवो महादेव उदारकीर्त्यै हिकमतप्रकाशं तनुते विचित्रम् ।

(३०२)

हुआ ।^१ खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से यह सं० १९७० में प्रकाशित हुआ है ।
मीत्तिककृत वैद्यमुक्तावली में हिकमतप्रकाश तथा हिकमतप्रदीप दोनों के उद्धरण हैं ।

निघण्टुरत्नाकर

विष्णु वासुदेव गोडबोलेकृत तथा पं० कृष्णशास्त्री नवरे द्वारा संपादित यह ग्रन्थ १९३६ ई० में दो खण्डों में निर्णयसागर, बम्बई से प्रकाशित हुआ । मूल ग्रन्थ सं० १८६७ ई० में प्रकाशित हुआ था । संस्कृत पद्यों का मराठी भाषान्तर भी है । इसके प्रारम्भिक गुणदोष-प्रकरण में (१९४ पृ० तक) द्रव्यगुण का वर्णन है । इसके बाद शारीर, अष्टस्थानपरीक्षा, मान-परिभाषा, रसशास्त्र, अर्कप्रकाश, अजीर्ण-मन्जरी आदि हैं । द्वितीय खण्ड में निदान-चिकित्सा है ।

इसमें अकरकरा, अमरुद, अंजीर, पीतकरवीर, काजूतक, कुलञ्जन, कंकुष्ठ (मुर्दासिंग), अग्निजार, तुवरक, तमाखु, कर्पूरतैल, पुदीना, मखाना, रक्तरंगा (मेहदी), रसकर्पूर, रुन्ती, सीताफल, सर्वक्षार, नवसादर आदि का वर्णन है ।

निघण्टुसंग्रह

इसके रचयिता रघुनाथजी इन्द्रजी उर्फ कतोभट्ट हैं । इनके पितामह पुरारि पोरबन्दर में रहते थे किन्तु पिता इन्द्रजी जूनागढ़ चले आये । इन्द्रजी के यह मध्यम पुत्र थे । कनिष्ठ पुत्र प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता भगवानलाल इन्द्रजी थे । ये प्रश्नोरा नागर ब्राह्मण थे जो आयुर्वेद और भागवत पुराण के विद्वान् माने जाते थे ।

निघण्टुसंग्रह की रचना १९ मार्च १८९३ को पूर्ण हुई । इसमें कुल ६०७ द्रव्यों का वर्णन है जिनमें ५७८ ओद्भिद द्रव्य हैं और शेष जान्तव और खनिज हैं । इस

१. वियदवृहद्भालुकरीन्दुसंख्ये श्रीविक्रमादित्यनृपेन्द्रवर्षे ।

पूतिं तपः कृष्णशिवे हरौ च यातोऽद्भुतो वैद्यकसारबन्धः ॥

‘इति चिकित्सानिबन्धे पारसीप्रतिविम्बो हिकमतप्रकाशाभिधानो ग्रन्थः संपूर्णः ।’

२. लेखक ने ग्रन्थ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

आसीद्देवज्ञचूडामणिरमृतसरस्यंदिस्सूक्तिप्रणेता ।

मीमांसापूर्वभागे निपुणतरमतिः श्रीसुरारिद्विजाग्रथः ॥

श्रीमत्सौदामपुर्यां विरचितवसतिः तस्य पुत्रास्त्रयोऽस्मिन् ।

लोके ख्याता बभूवुः हरिचरणरताः शास्त्रनैपुण्यभाजः ॥

इन्द्रजित् गगकश्रेष्ठे ज्येष्ठस्तस्याभवत् सुतः ।

यो जीर्गदुर्गे न्यवसन्नागरैः सततादृतः ॥

ज्येष्ठस्तस्यात्मजोऽभूत् फणिभणित्पटुः पाठशालाधिकारी ।

वेदान्तार्थैकनिष्ठः सकृद्गृहदयो वत्सलः शिष्यवर्गे ।

पुत्रे तु स्वानुरूपे गृहधुरमखिलां संनिवेश्यातिहर्षात् ।

निश्चिन्तो निर्विशेषं शमसुखमनिशं सेवमानो बभूव ॥

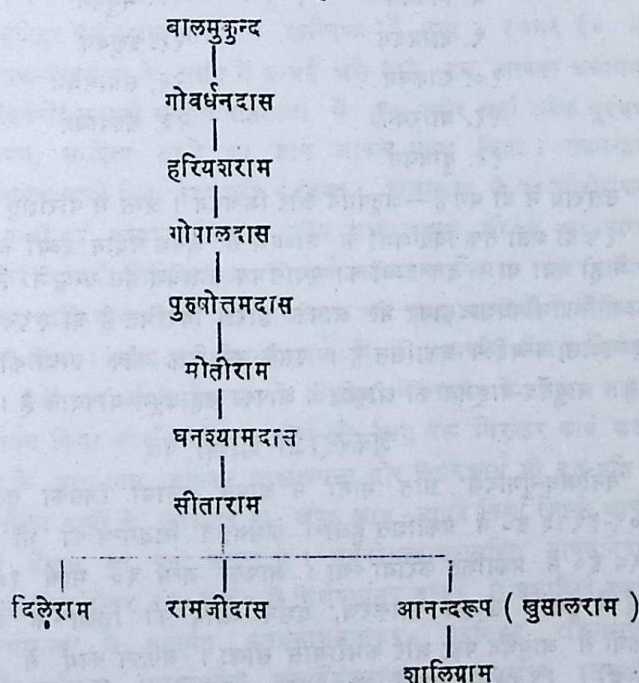
(३०३)

निघण्टु में अनेक नवीन द्रव्यों का समावेश किया गया है। सम्प्रति यह अत्युपयोगी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश) के लाला शालिग्रामवैश्य द्वारा विरचित शालिग्राम-निघण्टुभूषण खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई द्वारा प्रकाशित बृहन्निघण्टुरत्नाकर का ७-८ वाँ भाग है। यह ग्रन्थ १८९६ ई० में पूर्ण हुआ। इस प्रकार १९वीं शती का यह अन्तिम निघण्टु है। चूँकि २०वीं शती में अभी तक प्राचीन शैली पर कोई निघण्टु लिखा नहीं गया अतः अभी भी इसीको लोग अन्तिम निघण्टु मानते हैं।

शालिग्रामनिघण्टु

ग्रन्थकार ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है—



कनिष्ठस्तम्भः लज्जनि यशःपूरितधरो ।
 यूरोपियैर्विद्वन्सन्निभिरपि मान्यो गुणनिधिः ॥
 प्रसिद्धोऽस्मिन्नास्ता जगति भगवत्काल इति यः ।
 चिरन्ता.....भवत् पंडितवरः ॥
 मध्यमस्तस्य तनुजो रघुनाथाभिधः सुधीः ।
 निघण्टुसंग्रहो येन रचितो विदुषां मुदे ॥

(३०४)

यह ग्रंथ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो खण्डों में विभक्त है। पूर्वार्ध में निम्नांकित २३ वर्ग हैं—

१. कर्पूरादि	१३. दधिवर्ग
२. हरीतक्यादि	१४. तक्रवर्ग
३. गुह्य्यादि	१५. नवनीतवर्ग
४. पुष्पवर्ग	१६. घृतवर्ग
५. फलवर्ग	१७. मूत्रवर्ग
६. वटादि	१८. तैलवर्ग
७. धातूपधातु	१९. अर्कवर्ग
८. विषवर्ग	२०. मधुवर्ग
९. धान्यवर्ग	२१. इक्षुवर्ग
१०. शाकवर्ग	२२. संधानवर्ग
११. वारिवर्ग	२३. संख्यावर्ग
१२. दुग्धवर्ग	

उत्तरार्ध में दो वर्ग हैं—अनूपादि और मिश्रवर्ग। अन्त में परिशिष्ट भाग है।

१९ वीं शती तक विदेशियों के माध्यम से अनेक नवीन द्रव्यों का प्रचलन इस देश में हो गया था। इन द्रव्यों का यथासंभव समावेश इस ग्रन्थ में किया गया है।

शालिग्रामीषधशब्दसागर भी आपके द्वारा विरचित है जो १९२५ में खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों की टीका आपने की है। आयुर्वेद-वाङ्मय की श्रीवृद्धि में आपका महत्वपूर्ण योगदान है।

शंकरदाजी शास्त्री पदे

‘वनीषधि-गुणादर्श’ सात भागों में आपने बनाया जिसका तृतीय संस्करण १९०९-१९१३ ई० में प्रकाशित हुआ। केशवकृत सिद्धमन्त्र का भी संपादन कर १८९८ ई० में प्रकाशित कराया था। आपका जन्म ३० मार्च १८६७ ई० को बम्बई में हुआ। संस्कृत व्याकरण, दर्शन आदि की शिक्षा के बाद भानुवैद्य कुलकर्णी से आयुर्वेद पढ़ा और कर्माभ्यास सीखा। संगठन कार्य में आपकी बड़ी लगन थी। १९०७ में आपने नि० भा० वैद्यसम्मेलन की स्थापना नासिक में की। फिर १९०९ में प्रयाग आकर पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल को भार सौंप कर स्वर्गस्थ हो गये। सं० १९६६ रामनवमी को आपका स्वर्गवास हुआ। सङ्गठन के अतिरिक्त, आयुर्वेद की शिक्षा के लिए आप विद्यालय का संचालन भी करते थे। बम्बई में वैद्य प्रभुराम जी के सहयोग से एक आयुर्वेद विद्यालय स्थापित कराया। पुनः नासिक में एक विद्यालय स्थापित कर उसका संचालनभार पं० लक्ष्मणराव फणशीकर को सौंपा।

(३०५)

आयुर्वेदप्रचार के निमित्त राजवैद्य, आर्यभिक्ष, सद्वैद्यकोस्तुभ आदि पत्र चलाये । आयुर्वेद के अतिरिक्त, सनातनधर्म, राष्ट्रभाषा और जनसेवा के कार्यों में भी आपकी रुचि थी । नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन और विद्यापीठ आपका सर्वोत्तम स्मारक है । इनके शिष्य आयुर्वेदपञ्चानन पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल (१८७९-१९६७) का निघण्टुशिरोमणि सुधानिधि प्रेस प्रयाग से १९१४ में निकला ।

आचार्य यादवजी त्रिकमजी

आचार्य जी का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा सं० १९३८ (१८८१ ई०) को पोरबन्दर में हुआ । आपके पिता वैद्य त्रिकम जी मोरधन जी थे और माता माणक बाई थी । आपका प्रारम्भिक अध्ययन पोरबन्दर की राजकीय संस्कृत पाठशाला में पं० हरिहर कालिदास शास्त्री के सान्निध्य में हुआ । १८८१ ई० में आपके पिता वैद्यक-व्यवसाय के प्रसंग में बम्बई चले आये तब आपका अध्ययन बम्बई के श्री देवकणे नानजी संस्कृत पाठशाला में हुआ और वहाँ अनेक धुरंधर विद्वानों से व्याकरण, साहित्य आदि का ज्ञान आपने प्राप्त किया । तदनन्तर आयुर्वेद का अध्ययन अपने पिता के चरणों में किया । राजस्थान के पं० गौरीशंकर शास्त्री से आर्य ग्रन्थों का अध्ययन किया । हकीम रामनारायण जी से उर्दू भाषा का ज्ञान प्राप्त कर यूनानी चिकित्सा का भी पूर्ण अध्ययन किया । इस सन्दर्भ में मराठी, बंगला आदि भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त कर तत्तद् भाषाओं में लिपिबद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया । आप जब अठारह वर्ष के थे, आपके पिता दिवंगत हो गये । २-३ वर्षों तक अपने पितृव्य के संरक्षण में रहने के बाद आपने कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया और तब से ७५ वर्ष की आयु तक निरन्तर कार्य करते रहे । चिकित्सा के साथ-साथ आपका शास्त्राभ्यास और लेखनकार्य भी द्रुत गति से बढ़ने लगा । प्राचीन ग्रन्थों के पुनरुद्धार का अपूर्व कार्य आपने किया जिससे आपके अध्यवसाय एवं वैदुष्य का पता चलता है । मधुकोषव्याख्यासहित माधवनिदान आपके द्वारा संपादित होकर १९०१ ई० में निर्णयसागर बम्बई से प्रकाशित हुआ । 'आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत रसप्रकाशसुधाकर, गदनिग्रह, राजमार्तण्ड, नाडीपरीक्षा, वैद्यमनोरमा, धारापद्धति, आयुर्वेदप्रकाश, रसायनखण्ड, रसपद्धति, लोहसर्वस्व, रससार, रससंकेतकलिका, रसकामधेनु, क्षेमकुतूहल प्रकाशित किया । चरकसंहिता और मुश्रुतसंहिता का संपादन कर निर्णयसागर, बम्बई से प्रकाशित कराया जो अद्यावधि सर्वोत्तम संस्करण है ।

अनेक आयुर्वेदीय पाण्डुलिपियों का संकलन आपने किया था जिनमें कुछ

२० द्र० च०

(३०६)

का प्रकाशन आपने किया और कुछ अन्य प्रकाशकों और विद्वानों को प्रकाशनार्थ दिये।

डा० वामन गणेश देसाई द्वारा विरचित मराठी भाषा के ग्रंथों-औषधिसंग्रह और भारतीय रसशास्त्र—को स्वयं प्रकाशित किया। शशिभूषणसेन विरचित कर्मज्ञेय तथा गणनाथसेनकृत प्रत्यक्षशारीर का गुजराती अनुवाद प्रकाशित कराया।

द्रव्यगुण के क्षेत्र में आपकी निम्नांकित कृतियां हैं:

१. द्रव्यगुणविज्ञान (पूर्वार्ध) —वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, तृ० सं०, १९५३

२. द्रव्यगुणविज्ञान (उत्तरार्ध, प्रथम खण्ड)—निर्णयसागर, द्वि० सं० १९४७

३. " " (" द्वितीय खण्ड) " " १६५०

आचार्य यादवजी ने आधुनिक युग में द्रव्यगुण को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।¹

इसके अतिरिक्त, आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान (खंड १-२, १९५४-५६) तथा रसामृतम्, (१९५१) आपकी उल्लेखनीय रचनायें हैं।

आचार्यजी ने संभाषापरिषदों के माध्यम से आयुर्वेद की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि को वैज्ञानिक धरातल पर बोधगम्य बनाने का स्तुत्य प्रयास किया। इसका द्वितीय अधिवेशन हरिद्वार में २०-२७ मई १९५३ ई० में आपकी अध्यक्षता में हुआ जिसमें द्रव्यगुण के मौलिक सिद्धान्तों पर विचार हुआ^२।

कविराज बिरजाचरण गुप्त

इनकी प्रसिद्ध रचना वनोपेधिदर्पण है। यह ग्रन्थ कूचविहार के राजा के संरक्षण में लिखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि लेखक राजा द्वारा सम्मानित थे। वनोपेधिदर्पण का प्रथम भाग १९०८ ई० तथा द्वितीय भाग १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी प्रस्तावना कलकत्ता के विद्वयात कविराज विजयरत्न सेन ने लिखी है। अकारादिक्रम से अ से द तक प्रथम भाग में तथा शेष द्वितीय भाग में है। प्रथम भाग में इसके अतिरिक्त १ से ५४ पृष्ठ तक वैद्यकग्रन्थों का विवरण तथा उसके बाद ६४ पृष्ठों तक निघण्टुओं का विवरण दिया है। इसमें

१. विशेषण विवरण के लिये देखें—यादवस्मृति-ग्रन्थ, वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, १९६१

२. इसका पूर्ण विवरण देखें—सचित्र आयुर्वेद, जुलाई-अगस्त, १९५३

इस परिषद् के लिए स्वीकृत निबन्धों का एक संग्रह-ग्रन्थ भी गौपनाथ आयुर्गेद-
अभन की ओर से प्रकाशित है (१९५३) ।

(३०७)

महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री है। द्वितीय भाग में पारिभाषिक शब्दों के लक्षण तथा रसवीर्यविपाकादि का स्पष्टीकरण प्रारंभ के २४ पृष्ठों में है। द्रव्यों के संस्कृत नाम, बंगला नाम तथा कूचविहार के नाम दिये गये हैं। द्रव्यों के लैटिन नाम तथा रोगानुसारिणी सूची भी है। परिशिष्ट में अनानास, ईषद्गोल, ओलटकंबल, कीफी, कालादाना, गञ्जा, गण्डगात्र, चा, ताम्रकूट (तम्बाकू), पपीता, पेयारा, मेंहदी, लंकामरिच आदि द्रव्यों का वर्णन किया है। लंकामरिच और गन्धाबिरोजा के सम्बन्ध में आत्रेयसंहिता के उद्धरण हैं। संभवतः ये श्लोक लेखक द्वारा रचित हैं। चोपचीनी के सम्बन्ध में शिवनिघण्टु का यह श्लोक उद्धृत है—

अश्वगंधासमं पत्रमोषधिः ग्रन्थिसंयुता ।

वर्णतः पाटलाभा च दृढा च मधुरा रसे ॥

इसके अतिरिक्त, लेखक ने निघण्टुसंग्रह, वैद्यामृत, निघण्टुरत्नाकर तथा आयुर्वेद-विज्ञान को उद्धृत किया है।

जयकृष्ण इन्द्रजी ठाकर

इनका जन्म कच्छ के एक गिरनावा ब्राह्मण परिवार में हुआ। डा० सखाराम अर्जुन से उन्होंने वनस्पतिशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। क्रमशः वह इस शास्त्र के कुशल वेत्ता हो गये और जब कभी कोई विदेशी किसी वनस्पतिवेत्ता की तलाश में होता तो यही बुलाये जाते। उन्होंने इस प्रकार अनेक विदेशी विद्वानों की सहायता की जिनकी सिफारिश पर वह पोर्बन्दर वनविभाग के संरक्षक (कम्प्लेण्टर) हो गये। 'इण्डियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स' के रचयिता श्रीकीर्तिकर को भी इनसे प्रयुक्त सहायता इस कार्य में मिली थी जिसके कारण वह इन्हें गुरुवत् मानने लगे थे। वैद्य बापालाल ने भी उनके पास महीनों रहकर वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त किया। निरन्तर साहचर्य से उनमें ऐसी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि विकसित हो गई थी कि केवल काच की सहायता से ही वनस्पतियों की पहचान कर लेते थे। देशभर के लोग संदिग्ध वनस्पतियों की पहचान के लिए उनके पास पहुँचते थे।

उनकी दो प्रसिद्ध रचनायें गुजराती में हैं—

१. वनस्पतिशास्त्र (वरडा डंगरानी जड़ीबुटीओ) (१९१० ई०)

२. कच्छसंस्थाननी जड़ीबुटीओ (१९२६ ई०)

वैद्य बापालाल ग० शाह

गुजरात के पंचमहाल जिले में सणसोली गाँव में ता० १७-१-१८९६ के दिन श्री बापालाल भाई का जन्म हुआ। भड़ौच से लगभग चार मील दूर श्रावेश्वर नामक

(१०८)

गाँव में एक धर्मार्थ आयुर्वेदिक औषधालय में वैद्य के रूप में श्री अमृतलाल प्राणशंकर पट्टणी नाम के एक पारंगत वैद्य कार्य करते थे। बापालालजी ने आयुर्वेद का अध्ययन उनसे किया।

बिरजाचरण गुप्त का 'वनोषधिदर्पण' नामक बंगला भाषा में लिखा निघण्टु गुरुजी ने इन्हें पढ़ाना शुरू किया। बापालाल भाई कुछ दिनों में ही बंगला भाषा सीख गये और भलीभाँति बंगला समझने लगे। उसी समय से इनको आवश्यक प्रतीत हुआ कि गुजराती भाषा में भी ऐसा समृद्ध निघण्टु होना चाहिए। अमृतलाल भाई (गुरुजी) को वनस्पतियों का उत्तम परिचय था। संदिग्ध द्रव्य-सम्बन्धी ऊहापोह वे गुजरात के वैद्यक मासिक पत्रों में समय-समय पर लेखों द्वारा किया करते थे। बापालाल भाई पर इन संस्कारों की गहरी छाप पड़ी। आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थ भी वे गुरुजी के पास से सीखते थे। इस प्रकार बापालाल भाई ने आयुर्वेद-वाङ्मय एवं संस्कृत-साहित्य दोनों में ही श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शन प्राप्त किया।

श्री बापालाल भाई गुजरात के प्रखर वनस्पति-शास्त्री जयकृष्ण इन्द्रजी के पास अन्य वनस्पतियों के ज्ञान के लिए पोरबन्दर गये। पोरबन्दर में श्री जयकृष्ण भाई के साथ आप आस-पास के पर्वतों एवं जंगलों में खूब घूमे। इस परिभ्रमण में उन्होंने अनेक नवीन वनस्पतियों का परिचय प्राप्त किया। और यहीं उन्होंने 'वनस्पतिशास्त्र' का श्रीगणेश किया।

१९४६ में आप भड़ौच छोड़ कर सूरत आ गये और प्राचार्य के रूप में वहाँ आयुर्वेद महाविद्यालय का प्रारंभ किया जो आपके निर्देशन में क्रमशः विकसित होकर गुजरात का एक प्रमुख आयुर्वेद संस्थान बना।

श्री बापालाल भाई बम्बई राज्य की आयुर्वेद फैकल्टी के और बोर्ड के सभ्य रूप में नियुक्त थे। राज्य सरकार तथा केन्द्र सरकार की अनेक समितियों तथा कमेटियों के चेयरमैन के रूप में आप कार्य करते रहे।

आपने अपने संपादकत्व में 'भिषक् भारती' नामक मासिक पत्र १०-११ वर्षों तक चलाया भारत के वैद्यकीय मासिक पत्रों में जिसका स्थान उच्चतर रहा।

वनस्पतिपरिचय एवं संदिग्ध-औषधनिर्णय के क्षेत्र में आपका योगदान ऐतिहासिक रहा है। आप भारत सरकार द्वारा नियुक्त संदिग्धद्रव्य-निर्णयसमिति के अध्यक्ष रहे हैं। गुजरात आयुर्वेदमण्डल के भी आप अध्यक्ष रह चुके हैं।

(३०९)

आपकी निम्नांकित रचनायें प्रकाशित हैं:—

१. निघण्टु आदर्श (पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध)

प्रथम संस्करण (१९२८)

द्वितीय संस्करण (संशोधित एवं परिवर्धित) (१९६६)

पूर्वार्ध (हिन्दी) चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी द्वारा प्रकाशित (१९६८)

२. बृद्धत्रयीनी वनस्पतियों (वैद्यमंडल, अहमदाबाद, १९३१)

३. दिनचर्या

४. धरगथु वैद्यक

५. अभिनव कामशास्त्र

६. संस्कृत साहित्य मा वनस्पतियों (१९५३)

७. भारतीय रसशास्त्र

८. वनस्पति-वर्णन प्रवेश

९. गुजरात नी वनस्पतियों

१०. आयुर्वेद-व्याख्यानमाला

११. आयुर्वेद-विहंगावलोकन

१२. आयुर्वेद-वैज्ञानिक विचारणा

१३. खोराकनां तत्त्वो

१४. आपणो खोराक

१५. आयुर्वेद-पाठावली

१६. दिनचर्या (समाजशिक्षण तरफयी)

१७. दम

१८. मधुप्रमेह

१९. मानवी आरोग्य

२०. द्रव्यगुणशास्त्र

२१. नस्यचिकित्सा

२२. चरक नो स्वाध्याय, भाग १ (प्राच्यविद्यामन्दिर, बड़ौदा, (१९७३))

आपकी अध्यक्षता में बम्बई सरकार ने प्रामाणिक औषधियों के सम्बन्ध में एक समिति नियुक्त की थी। उसके प्रतिवेदन में आपने महत्त्वपूर्ण सामग्री दी है जो द्रव्यगुण के अध्येताओं के लिए अवलोकनीय है।^१

१. Report of the Committee for Standard and genuine Ayurvedic Herbs and Drugs, 1955

(३१०)

‘कन्ट्रोवर्शियल ड्रग्स इन इण्डियन मेडिसिन’ लेखमाला आयुर्वेद अनुसन्धान-पत्रिका (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो चुका है ।

आप १९२१ से ही लिखते आ रहे हैं और यदि आपके समस्त लेखों को कोई एकत्र कर सके तो उनकी संख्या एक सहस्र से कुछ ही कम होगी ।

अभी भी ८० वर्ष की आयु में आप अपने जीवन का एक-एक क्षण स्वाध्याय और लेखन में लगा रहे हैं ।

बैद्य बापालाल द्रव्यगुण की गुजरात-परंपरा के देदीप्यमान रत्न हैं जिन्होंने आयुर्वेदीय औषधि-शास्त्र को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त किया ।

गंगाधर शास्त्री गुणे

पं० गंगाधर गोपाल शास्त्री गुणे अहमदनगर आयुर्वेदाश्रम फार्मैसी के संचालक, आयुर्वेदमहाविद्यालय के अध्यक्ष तथा ‘भिशग्विलास’ पत्र के संपादक थे । आप निखिल भारतवर्षीय नैद्यसम्मेलन के २७ वें अधिवेशन (नागपुर) के अध्यक्ष हुये थे ।

आपके द्वारा विरचित ‘आयुर्वेदीय औषधिगुणधर्मशास्त्र (१-४ खण्ड) मराठी-भाषा में अहमदनगर से प्रकाशित हुआ है । कुछ खण्डों का हिन्दी अनुवाद भी हुआ है । द्रव्यगुण का यह एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है ।

पुरुषोत्तम शास्त्री हिलेंकर—‘आयुर्वेदीय औषधिविज्ञान’ आपकी प्रसिद्ध रचना है ।

पु० वि० धामणकर—आपकी रचना ‘आयुर्वेदीय औषधिसंशोधन’ आयुर्वेद सेवासंघ, नासिक से प्रकाशित हुआ है (१९५१, पंचम संस्करण) ।

हिरामणिजी मोतीरामजी जंगले—आपके द्वारा विरचित ‘सचित्र वनस्पति-गुणादर्श’ के दो भाग बाघली (महाराष्ट्र) से प्रकाशित हुये हैं ।

आचार्य सुरेन्द्रमोहन—आप दयानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय, लाहौर के प्राचार्य थे । आपने कैयदेवनिघण्टु का सम्पादन कर विवेचनात्मक हिन्दी टीका के साथ उसे प्रकाशित किया । आपकी इच्छा दो खण्डों में उसे पूरा करने की थी किन्तु औषधिवर्ग तक एक ही खण्ड प्रकाशित हो सका । तथापि भूमिका एवं टीका में जो मौलिक विचार तथा द्रव्यों के सम्बन्ध में जो विमर्श आपने दिया है उससे आपके नेदुष्य का बोध होता है ।

१. J. R. I. M., Vol. V, No. 1, Vi, No 1-2, VII, No 1-3. IX. No. 2, X. No. 3, 4

(३११)

चन्द्रराज भण्डारी—आपने बड़े परिश्रम से 'वनोषधिचन्द्रोदय' नामक विशाल ग्रन्थ को दस भागों में पूरा किया जिसमें द्रव्यों के संबंध अनेक आवश्यक जानकारी संकलित है।

शंकरनिघण्टु—जबलपुर के गेद्यराज हरप्रसाद गोड़ के पुत्र शंकरदत्त गोड़ की यह रचना वनोषधिभंडार, जबलपुर में १९३५ में प्रकाशित हुई है। इसमें अनेक यूनानी द्रव्यों का भी वर्णन है। प्रथम और द्वितीय भागों में द्रव्यों का विवरण तथा तृतीय भाग में शोधन-मारण, आसव-अरिष्ट, माजून-मुरब्बा आदि कल्पों का वर्णन है।

अभिनव निघण्टु—यह दत्तरामचीवेकृत अभिनव निघण्टुग्रन्थ है।

आयुर्वेदचिन्तामणि—मुखानन्दमिश्रात्मज बलदेवप्रसादमिश्रकृत यह निघण्टु-ग्रन्थ गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई से १९३७ ई० में प्रकाशित हुआ। यह मुख्यतः भावप्रकाश पर आधारित है। उसमें आतृष्य (शरीफा) और बहुनेत्र (अनानास) का भी वर्णन है।

शिवदत्तनिघण्टु—इस निघण्टु के कुछ श्लोक वनस्पतिपरिचय-सम्बन्धी यत्र-तत्र उद्धृत मिलते हैं।

रूपलाल वैश्य

आप छपरा (बिहार) के निवासी थे और रेलवे में क्लर्क की नौकरी करते थे। बदल कर वाराणसी आये और इंगलिशिया लाइनमें रहने लगे। वहीं उनका बूटीप्रचारक कार्यालय था। नौकरी के अतिरिक्त सारा समय आप वनोषधि-अन्वेषण और उसका विवरण लिखने में लगाते थे। लाहौर से प्रकाशित 'बूटीदर्पण' पत्र के आप स० संपादक भी थे। गेद्यसम्मेलन के मंच से जो वनोषधियों पर संभाषा होती थी उसमें भी आप सक्रिय भाग लेते थे। आपकी रचना 'सन्दिग्ध बूटी चित्रावली' (लाहौर, १९२७) से पता चलता है कि आपने वनोषधियों पर जो 'रूपनिघण्टु' नाम से रचना की थी उसकी पाण्डुलिपि काशी नागरी प्रचारिणी सभा को प्रकाशनार्थ दे दी थी। इसका कुछ अंश सभा से १९३४ में प्रकाशित हुआ। पुनः १९४० में आपका 'अभिनव बूटीदर्पण' दो भागों में चौखम्बा से प्रकाशित हुआ।

आपकी उपर्युक्त रचना से पता चलता है कि पं० ठाकुरदत्त शर्मा (अमृतधारा, लाहौर) साल में एक बार वनोषधियान्त्रा करते थे और अपने पत्र देशोपकारक में

१. भानपुरा (इन्दौर स्टेट) द्वारा प्रकाशित। इसका द्वितीय संस्करण, १९४५-४६ ई० में प्रकाशित हुआ।

(३१२)

उसका विवरण प्रकाशित करते थे। वास्तविक मूर्वी पर सर्वप्रथम इन्होंने ही प्रकाश डाला था इनके अतिरिक्त, चन्द्रशेखरधर मिश्र^१ (चम्पारन, बिहार), महन्त सुखरामदास,^२ (रतलाम निवासी) प्रभृति वनोषधियों के अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे।

पं० भगीरथ स्वामी

स्वामीजी आयुर्वेदमहामहोपाध्याय कहे जाते थे। सन्दिग्धनिर्णय (वनोषधशास्त्र) आपकी महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें द्रव्यों का विवेचन कर सप्रमाण सन्दिग्धता-निवारण का प्रयास किया गया है। इस क्षेत्र में यह ऐतिहासिक कार्य है। ग्रन्थ में अनेक चित्र भी दिये गये हैं। यह कलकत्ता से १९३६ ई० में प्रकाशित हुआ था। 'आत्मसर्वस्व' भी आपकी रचना है (कलकत्ता, सं० १९८६)।

ग्रन्थ में जो परिचय दिया है उसके अनुसार इनके पिता हनुमान और गुरु नृसिंह, जयदेव आदि थे।^३ स्वामी जी ने अनेक प्रदेशों का भ्रमण कर वनोषधियों का प्रत्यक्ष ज्ञान किया था और निघण्टुओं का भी सूक्ष्म अध्ययन किया था। आप्तोपदेश और प्रत्यक्ष का अद्भुत संयोग आपके गेदुष्य की विशेषता थी।

भगीरथ स्वामी का जन्म सं० १९३३ में जयपुर जिले के मामोद ग्राम में हुआ। कानपुर में आपका अध्ययन हुआ। कलकत्ते के विशुद्धानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय में अध्यापक और बागला अस्पताल में प्रधान चिकित्सक अनेक वर्षों तक रहे।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त, लघु आयुर्वेदविज्ञान तथा सिद्धोषधमणिमाला भी आपने लिखी।

कविराज विश्वनाथ द्विवेदी

आपका जन्म बलिया जनपद के ओझवलिया ग्राम में सन् १९१० ई० में एक ब्राह्मणपरिवार में हुआ। आप के पिता पं० राजकिशोर द्विवेदी थे। आप की प्रादम्भिक शिक्षा समीप के प्राइमरी स्कूल में हुई। बाद में आप काशी चले आए और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आपने आयुर्वेदशास्त्राचार्य उपाधि प्राप्त की।

आपका कार्यक्षेत्र सर्वप्रथम ललित हरि आयुर्वेद महाविद्यालय पीलीभीत के प्रधानाचार्य पद से आरम्भ हुआ जहाँ बीस वर्षों तक आपने कार्य किया।

१. 'गूलरगुणविकास' के रचयिता।

२. 'बूटीप्रचार' के रचयिता।

३. हेरम्बं निजपितरं हनुमन्तं श्रीगुरुं नृसिंहम्।

धन्वन्तरिं तथान्यान् जयदेवादीन् गुरुन् नमस्कृत्य॥

(११३)

उत्तर प्रदेश-शासन ने जब लखनऊ विश्वविद्यालय के किंग जार्ज मेडिकल कालेज में आयुर्वेद के पाठ्यक्रम का श्रीगणेश १९५२ ई० में किया, तब आप उसमें प्रविष्ट हुये। पुनः राजकीय आयुर्वेद कालेज बनने पर उसके उपप्राचार्य, तत्सम्बन्धित आतुरालय के उपाधीक्षक एवं कायचिकित्सा के प्राध्यापक पदों पर कार्य किया। इसके साथ ही राजकीय आयुर्वेद औषधि-निर्माणशाला अधीक्षक पद पर भी कार्य किया।

तदनन्तर स्नातकोत्तर आयुर्वेद शिक्षणकेन्द्र जामनगर (गुजरात) में द्रव्यगुण के प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुये और बाद में निदेशक भी रहे। १९६८ में आप वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय में आयुर्वेदविभाग के अध्यक्ष हुये और पाँच वर्षों तक इस पद पर रहे। भारत सरकार द्वारा गठित संदिग्धद्रव्य-निर्णयसमिति के आप सदस्य थे। भारतीय चिकित्सापरिषद् उत्तरप्रदेश के आप अध्यक्ष भी रहे हैं।

आपकी निम्नांकित रचनायें हैं—

- (१) त्रिदोषालोक
- (२) गेद्यसहचर
- (३) वेदों में जीवाणुवाद (अंग्रेजी)
- (४) तैलसंग्रह
- (५) अभिनव नेत्ररोगविज्ञान
- (६) प्रत्यक्ष औषधिनिर्माण
- (७) क्रियात्मक औषधिपरिचयविज्ञान (चौखम्बा, १९६६)
- (८) आयुर्वेद की औषधियाँ और उनका वर्गीकरण (जामनगर, १९६६)
- (९) हरीतक्यादि निघण्टु की हिन्दी व्याख्या (मोतीलाल बनारसीदास, १९४१)
- (१०) नाडी-विज्ञान
- (११) औषधिविज्ञानशास्त्र (गेद्यनाथ प्रकाशन, १९७०)

ठाकुर बलवन्त सिंह

ठाकुर साहब का जन्म जोनपुर जिला (उत्तर प्रदेश) के ग्राम सखोई में एक अश्रिय परिवार में १ जुलाई १९०३ को हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से वनस्पति विज्ञान में एम० एससी० की उपाधि प्राप्त की। इसी विश्वविद्यालय में आयुर्वेदिक कालेज में आप वनस्पतिविज्ञान के व्याख्याता के रूप में नियुक्त हुए और निरन्तर कार्य किया। अब सेवा से विश्राम लेकर स्वाध्याय एवं चिन्तन-लेखन कर रहे हैं।

प्रारंभ से ही आपका ध्यान आयुर्वेद की सन्दिग्ध वनस्पतियों की ओर आकृष्ट हुआ। इसके लिये एक ओर आपने बृहत्त्रयी तथा निघण्टुओं का गंभीर मनन किया और दूसरी ओर देश के अनेक पर्वतीय एवं जंगल प्रदेशों का भ्रमण कर वनस्पतियों

(३१४)

से साक्षात् संपर्क स्थापित किया तथा उनके स्थानिक नाम, प्रयोग आदि की जानकारी प्राप्त की। इस आधार पर आपने अनेक संदिग्ध द्रव्यों का निर्णय किया है। इस प्रकार विगत चालीस वर्षों में आपने भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में जाकर वनोषधियों का प्रत्यक्ष सम्पर्क किया और उन्हें प्रकाश में लाने में सफलता प्राप्त की।

रचनायें—हिमालयप्रदेश की यात्राओं में जिन वनोषधियों का परिचय विशेष रूप से उपलब्ध हुआ उन्हें क्रमबद्ध कर आपने 'वनोषधिदर्शिका' का रूप दिया जो आयुर्वेदिक कालेज का० हि० वि० के छात्रसंघ द्वारा १९४७ में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार 'विहार की वनस्पतियाँ' (श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, १९५५) में विहार के छोटा नागपुर तथा जमुई के अन्य प्रदेशों में उपलब्ध वनस्पतियों का विवरण दिया गया है। 'प्रारम्भिक उद्भिद्शास्त्र' (चौखम्बा, वाराणसी, १९४९) नामक एक पुस्तक आपने आयुर्वेद कालेज के छात्रों के लिए लिखी है जिन्हें वनस्पतिविज्ञान का ज्ञान अपेक्षित है। यह अत्यन्त लोकप्रिय हुई और इसके अनेक संस्करण निकल चुके। इसके अतिरिक्त, दर्जनों महत्वपूर्ण शोध-लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी अभिनव सद्यः प्रकाशित रचना है 'ग्लॉसरी ऑफ वेजिटेबुल ड्रग्स इन बृहत्त्रयी' (चौखम्बा वाराणसी, १९७२) जिसमें आपके अब तक के विचारों का सार संगृहीत है।

अनेक वनस्पतियों पर आपने मौलिक विचार दिये हैं फिर भी रास्ना, मूर्वा, तिलक, तिल्वक, प्रियंगु, मयूरशिखा, नागदन्ती, मांसरोहिणी, विष्णुकन्द, सैरेयक, अर्जक, वेतस, केबुक, क्रमुक, वसुक आदि पर आपके विचार अत्यन्त ही मौलिक हैं। इस प्रकार सन्दिग्ध द्रव्यों के क्षेत्र में आपका योगदान ऐतिहासिक रहा है।

द्रव्यगुणविज्ञान

प्रस्तुत लेखक द्वारा विरचित द्रव्यगुणविज्ञान दो खण्डों में (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५, १९५६) प्रकाशित हुआ। १९६८-६९ में इसका द्वितीय संस्करण निकला और अब तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मौलिक सिद्धान्तों की विशद विवेचना के साथ-साथ द्रव्यों के गुणकर्म की वैज्ञानिक शैली पर व्यवस्थित करने का श्रेय इसी कृति को है। सम्प्रति देश और विदेश के आयुर्वेद महाविद्यालयों में यह लोकप्रिय पाठ्यग्रन्थ है। इसका चतुर्थ भाग छप रहा है और पञ्चम भाग भी निकलने वाला है।

अन्तर् भाई वैद्य

आप श्री वल्लभराम विश्वनाथ वैद्य के अनुज हैं। 'वनस्पति-परिचय' नामक आपका ग्रन्थ बम्बई से १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें एक-एक पृष्ठ में एक

(३१५)

वनस्पति का सचित्र वर्णन गुणकर्म, प्रयोग आदि के साथ किया गया है। इस प्रकार इसमें कुछ २१५ ओषधियों का विवरण है।

ठाकुर दलजीत सिंह

आपका जन्म ११ जुलाई सन् १९०३ ई० तहसील चुनार, जिला मीरजापुरान्तर्गत रायपुरी ग्राम के एक जमींदार परिवार में हुआ। आप श्री महावीरप्रसाद जी के ज्येष्ठ सुपुत्र हैं।

वैद्यराज हकीम दलजोतसिंह आयुर्वेद एवं यूनानी वैद्यक के ज्ञाता और हिन्दी के सुलेखक हैं। संस्कृत और हिन्दी के साथ-साथ अरबी-फारसी के भी आप ज्ञाता हैं। अतएव यूनानी ग्रन्थों को हिन्दी में आपने प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया है।

आपकी रचनाओं में यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान (१९४९) तथा यूनानी द्रव्यगुणादर्श भाग १-२ (१९७२-७४) प्रसिद्ध हैं।

कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री

उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जिले के सदरपुर गाँव में जमींदार श्री चौधरी रूपचन्दजी तथा लेखादेवी के पुत्र के रूप में आपका जन्म ४-४-१९१४ को हुआ।

पञ्जाब विश्वविद्यालय से तथा श्रीमद्दयानन्द आयुर्वेद विद्यालय, लाहौर से 'वैद्य-वाचस्पति' प्रथम श्रेणी में प्रथम पद प्राप्त कर उत्तीर्ण किया। १९३६ में निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ से आयुर्वेदाचार्य प्रथम श्रेणी में समग्र भारत में प्रथम पद प्राप्त कर सुवर्ण पदक तथा प्रथम पारितोषिक प्राप्त किया। बम्बई आने पर यहाँ की उस समय की मेडिकल काउन्सिल (अब समाप्त) से एल० एम० पी० (४ वर्ष का कोर्स) उत्तीर्ण की।

दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज लाहौर में अध्यापन करने के बाद श्रीरामविलासपोद्दार आयुर्वेदिक कालेज में द्रव्यगुणविभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद पर वर्षों कार्य कर १९७१ में सेवानिवृत्त हुये। आप उक्त संस्था के आचार्य भी रह चुके हैं।

आपकी निम्नांकित प्रमुख रचनायें हैं—

(१) सचित्र लघु द्रव्यगुणादर्श (द्वि० सं० १९५७)

(२) सचित्र उद्भिद्शास्त्र (आधुनिक वनस्पतिविज्ञान)

(३१६)

(३) त्रायमाण-विनिश्चय

(४) मूर्वाणिर्णय

(५) बृहद् द्रव्यगुणादर्श (आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी लखनऊ से प्रकाश्यमान)

(६) आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास

रामेश बेदी

अपने जीवन का बड़ा अंश दुर्लभ यात्राओं में लगा कर बेदीजी ने वनस्पतियों को अत्यन्त निकट से देखा और उनसे साहचर्य स्थापित किया। एकल द्रव्यों पर आपकी दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। भूटान सरकार के आमंत्रण पर आपने वहाँ जाकर भूटान की वनस्पतियों का संकलन किया है, आप हाल में ही स्वास्थ्य-मंत्रालय में वरिष्ठ अनुसन्धान पदाधिकारी पद से सेवानिवृत्त हुये हैं। आपका 'बेदी-वनस्पतिकोष' आयुर्वेद विकास में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा है।

ग्राम्यौषधि

वनौषधियों के अतिरिक्त गांवों के आसपास पाई जानेवाली लोकोपयोगी औषधियों पर भी प्रभूत वाङ्मय का सृजन हुआ है। घरों में प्रचलित द्रव्यों के औषधीय प्रयोग भी लिखे गये हैं। इसी क्रम में अनेक 'शतकों' तथा 'बूटीदर्णों'^१ की रचना हुई। गुरुकुल कांगड़ी के वेद्य रामनाथ ने वनौषधिशतक (तृतीय संस्करण, १९७३), गृहद्रव्य-चिकित्साविज्ञान (१९६९) आदि अनेक उपयोगी ग्रन्थों का प्रणयन किया है। (गायघाट, पटनासिटी) के गोस्वामी शंकरगिरि ने जंगलों की अनेक वर्षों बिहार तक निरन्तर यात्रायें कर वनौषधियों का अच्छा अध्ययन एवं संकलन किया है यद्यपि इनकी कोई रचना प्रकाशित न हो सकी। कृष्णगोपाल औषधालय, अजमेर द्वारा प्रकाशित 'गांवों में औषधरत्न' इस दिशा में उत्तम प्रकाशन है।

१. अञ्जीर (आत्माराम, दिल्ली), मिर्च (१९५०), त्रिफला (१९५१), तुलसी (१९५५), तुवरक और चालमोगरा (१९५६), पेठा (१९५८) अशोक (१९५९) सर्पगन्धा, सोंठ, तोरी (१९६१), पलाश (१९६२), लशुन-प्याज (१९६३), नारियल (१९६४), खैर (१९६६) प्रभृति।

२. रामलगन पाण्डेकृत 'बृहद् बूटीप्रचार' (ठाकुर प्रसाद, बनारस), हरिनारायण-शर्माकृत 'बृहद् बूटीप्रचार' (भार्गव पुस्तकालय, बनारस, १९३९) आदि।

(३१७)

कल्प-ग्रन्थ

निघण्टुओं के अतिरिक्त, एक-एक औषधि पर भी विवरणात्मक वाङ्मय का सृजन हुआ। इनमें कल्पग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें एक-एक द्रव्य का परिचय तथा प्रयोग दिये गये हैं। विशेषतः रसायन के रूप में इन औषधियों का प्रयोग है, कुछ तान्त्रिक प्रयोग भी हैं। मध्यकाल में अधिकांश ऐसे ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

१. औषधकल्पसमूह (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता)
२. औषधिकल्प (पूना, काशी)
३. औषधिकल्पलतिका (आनन्दाश्रम)
४. औषधिवाड
५. कल्पभूषण (राघवन)
६. कल्पचिन्तामणि (पूना)
७. कल्पद्रुमसारसंग्रह-जयरामगिरिकृत (के० आ० प० ३६५)
८. कल्पनासागर (आनन्दाश्रम)
९. कल्पलता (मद्रास)
१०. कल्परत्न (बड़ौदा)
११. कल्पार्णव (राघवन)
१२. कल्पसागर (जम्मू)
१३. कल्पसंग्रह (पूना)
१४. कल्पसार (त्रिवेन्द्रम)
१५. कल्पसिन्धु (राघवन)
१६. कल्पवल्ली („)
१७. नानाविधौषधकल्प (के० आ० प० ४९१)
१८. बृहत् भेषजकल्प („ १६६)
१९. भेषजकल्प—भरद्वाजकृत („ १४४)
२०. भेषजकल्पसंग्रह („ १४५)
२१. भेषजकल्पसंग्रह व्याख्या—वैकटेशकृत (के० आ० प० १४६)
२२. भेषजकल्पसारसंग्रह (के० आ० प० १४७)

(३१८)

कल्पसंग्रहों के अतिरिक्त, एकल ओषधियों के कल्प पर भी ग्रन्थ लिखे गये।
यथा—

१. करंजककल्प (त्रिवेन्द्रम्)
२. कृष्णधतूरकल्प (के० आ० प० ३९९)
३. गुग्गुलुकल्प (शार्ङ्गधर की गूढार्थदीपिका में उद्धृत, खण्ड २, ७।५६-६९)
४. ज्योतिष्मतीकल्प (के० आ० प० ३५६)
५. मण्डूकब्राह्मीकल्प (,, ४३९)
६. मदस्नुहीरसायन—पूज्यपादमुनिकृत (के० आ० प० ४२३)
७. मुण्डीकल्पादयः (के० आ० प० ४५२)
८. रुदन्तीकल्प (,, ७११)
९. विजयाकल्प (,, ९९६)
१०. श्वेतार्ककल्प (,, ८०२)

एक-एक द्रव्य पर स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी गईं। श्री रमेश बेदी ने दर्जनों ऐसी पुस्तकें लिखी हैं। श्यामसुन्दर रसायनशाला, वाराणसी से भी उमेदीलाल वैश्य तथा केदारनाथ पाठक द्वारा विरचित ऐसी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। गणपति सिंह वर्मा, रामसनेही दीक्षित और अमोलचन्द्र शुक्ल ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। पं० चन्द्रशेखरधर शर्मा (चम्पारन, बिहार) द्वारा रचित गूलरगुण-विकास अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसका १५वां संस्करण चौखम्बा द्वारा १९६५ में प्रकाशित हुआ। हाल ही में आचार्य ब्रह्मदत्त शर्मा द्वारा रचित 'तुलसी' ग्रन्थ डार, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ है (१९७५)।

पत्रिकाओं के विशेषांक

आयुर्वेदीय पत्रिकाओं ने समय-समय पर वनोषधि-विशेषांक प्रकाशित किये हैं जिनमें ओषधियों के सम्बन्ध में उपयोगी सूचनार्यें संकलित हैं। इस सम्बन्ध में धन्वन्तरि के वनोषधि-विशेषांक (१९६७, १९६९, १९७१) अवलोकनीय हैं। इसका एक और सन्दिग्ध वनोषधि-विशेषांक १९७५ में प्रकाशित हुआ है।

द्रव्यगुण के अन्य ग्रन्थ

द्रव्यगुण के अधिकांश ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं, अनेक पाण्डुलिपियों के रूप में पुस्तकालयों में बन्द हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो बहुत पहले प्रकाशित हुये थे किन्तु पुनः लुप्त हो गये।

(३१९)

हाल में निम्नांकित नवीन पुस्तकें प्रकाश में आई हैं—

१. महौषध-निघण्टु —आर्यदास कुमारसिंहकृत (चौखम्बा, १९७१)
२. अभिनव वनौषधि-चन्द्रिका—बनवारीलाल मिश्र एणं रामभरोसी मिश्रकृत,
(जयपुर, १९६९)
३. द्रव्यपरीक्षा—बनवारीलालमिश्रकृत (जयपुर, १९७१)
४. द्रव्यगुणहस्तामलक— „ (जयपुर, १९७६)
५. आयुर्वेदीय द्रव्यगुणविज्ञान —शिवकुमारव्यासकृत (दिल्ली, १९६४)

द्रव्यगुण के अन्य ग्रन्थों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

१. अभिधानचन्द्रिका—भीमसेन
२. अभिधानरत्नमाला (षड्सनिघण्टु)—(मद्रास, १८८१, १९२८, १९३९)
३. अभिधानमंजरी—भिषगाचार्य (१९५२)
४. अगस्त्यनिघण्टु —अगस्त्य
५. अकारादिनिघण्टु (धन्वन्तरिनिघण्टु)—अमृतनन्दिन
६. अष्टाङ्गहृदय-द्रव्यविज्ञान
७. अथर्वनिघण्टु
८. औम्निद्रव्यनामगुणविमर्श
९. औषधगुणपाठ
१०. औषधनामावली—गोवर्धन
११. „ —वैद्य विजयशंकर
१२. औषधनिघण्टु
१३. औषधिकोष
१४. औषधिनाममाला (लघुनिघण्टु)—व्यास केशवराम (इण्डियन ड्रग रिसर्च
एसोसियेशन, पूना, १९६२)
१५. आयुर्वेदोक्तद्रव्यगुणविज्ञानम्—भोलानाथ मुखोपाध्याय
१६. आयुर्वेदीय द्रव्याभिधान—के० बी० लाल सेनगुप्त (कलकत्ता, १८७५)
१७. भैषज्यगुणार्णव —पूज्यपाद
१८. भैषज्यविज्ञान—ईशानचन्द्र विशारद (कलकत्ता)
१९. भेषजनाममाला (द्रव्यनिर्णयनिघण्टु)
२०. भेषजरहस्य
२१. भेषजसर्वस्व
२२. भोग्यद्रव्यगुणविषय

(३२०)

२३. भोजराजनिघण्टु
२४. त्रिकित्साभिधान—गन्ध उपाध्याय
२५. दक्षिणामूर्तिनिघण्टु
२६. दिव्योषधिप्रकाश
२७. दिव्योषधिवर्णन
२८. द्रव्यचिह्न
२९. द्रव्यदशार्थनिरूपण
३०. द्रव्यगुण—पुरुषोत्तम, माधवपुत्र, चक्रदत्तपीत्र
३१. द्रव्यगुण—नारायणदास
३२. द्रव्यगुण—गोपाल
३३. द्रव्यगुणादर्शनिघण्टु
३४. द्रव्यगुणाधिराज
३५. द्रव्यगुणकल्पवल्ली
३६. द्रव्यगुणाकर—हरिशाणसेन
३७. द्रव्यगुणपाठ
३८. द्रव्यगुणसंकलन
३९. द्रव्यगुणविमर्श
४०. द्रव्यगुणमुक्तावली
४१. द्रव्यमुक्तावली
४२. द्रव्यनामगुणकथन
४३. द्रव्यनामनिर्णय
४४. द्रव्यनिश्चयसारसंग्रह
४५. द्रव्यपदार्थप्रतिनिधि
४६. द्रव्यपरीक्षा
४७. द्रव्यप्रकाश
४८. द्रव्यरत्नाकर—मुद्गल
४९. द्रव्यरत्नावली
५०. द्रव्यसंग्रह
५१. द्रव्यसारसंग्रह
५२. द्रव्यवैशेषिक
५३. द्रव्यावली—माधव (महादेव ?)

(१११)

५४. द्रव्यावली (द्रव्यकोष)—चन्द्र
 ५५. एकाक्षरनिघण्टु—सदाचार्य
 ५६. „ —माधव
 ५७. एकाक्षरी निघण्टु—कृष्णारमज प्रीतिकर
 ५८. गन्धशास्त्रनिघण्टु—पृथ्वीसिंह
 ५९. गुणचन्द्रिका—घनश्याम सूरि
 ६०. गुणचिन्तामणि
 ६१. गुणादर्श
 ६२. गुणज्ञाननिघण्टु
 ६३. गुणार्त्तनिर्देश
 ६४. गुणनिघण्टु
 ६५. गुणपटल
 ६६. गुणपाठ
 ६७. गुणरत्नाकर—व्रजभूषण
 ६८. गुणयोगप्रकाश
 ६९. हनुमन्निघण्टु
 ७०. इन्द्रकोश (राजेन्द्रकोश)—प्रभाकरमुत रामचन्द्र गोड़ाधीश इन्द्रसिंह के
 आदेश से रचित
 ७१. इन्द्रनिघण्टु
 ७२. कोशकल्पतरु—नारायणमुत विश्वनाथ वैद्य (१६२९-७६)
 ७३. मुक्तावली—कालीप्रसन्न बिट् (कलकत्ता, १८९१)
 ७४. नाममालाशब्दसंकेतकलिका—धन्वन्तरि
 ७५. नामसंग्रहनिघण्टु
 ७६. निघण्टुप्रकाश—जोशी वैद्य बापू गंगाधर
 ७७. निघण्टुसमय—धनंजय
 ७८. निघण्टुसारसंग्रह—राधाकृष्ण
 ७९. निघण्टुसार—रघुनायक
 ८०. „ अशोकमहा
 ८१. निर्णयनिघण्टु—वैद्यनाथ
 ८२. ओषधिकोश
 ८३. पञ्चवाग्निघण्टुसार

२१ द्र० च०

(३२२)

८४. पर्यायमञ्जरी
८५. पर्यायमुक्तावली—हरिचरणसेन (J. B. R. S. Patna, 1947)
८६. पर्यायार्णव—नीलकण्ठ मिश्र
८७. रसनिघण्टु—कोदण्डराजसुत माधव
८८. रसमूलिकानिघण्टु—बाहट
८९. रत्नमाला—गोवर्धन
९०. शब्दचन्द्रिका—चक्रपाणि
९१. शब्दप्रदीप—सुरपाल
९२. शब्दरत्नप्रदीप—कल्याणमल्ल
९३. शब्दसंग्रहनिघण्टु—अगस्त्य
९४. शाकनिघण्टु—सीताराम शास्त्री
९५. संज्ञासमुच्चय—शिवदत्त मिश्र
९६. सरस्वतीनिघण्टु—शाश्वत
९७. शतौषधानि
९८. शेषराजनिघण्टु
९९. सिद्धौषधनिघण्टु
१००. सूर्यरायान्धनिघण्टु
१०१. ताम्बूलमञ्जरी
१०२. उपवनविनोद—शार्ङ्गधर
१०३. „ —मलयसूरि
१०४. उपवनविनोदकौतुक—कवीन्द्राचार्य
१०५. वैद्यकगुणसार
१०६. वैद्यकोश—दाऊजी
१०७. वैद्यकनिघण्टुविशेष
१०८. वैद्यामृत—मोरेश्वर भट्ट, माणिक्यभट्टात्मज (१५४७ ई०)
१०९. वैद्यनिघण्टुसार—छिक्कन पंडित
११०. बामननिघण्टु—बामन
१११. वस्तुगुणागुण
११२. वस्तुगुणकल्पवल्ली
११३. वस्तुगुणनिर्णय
११४. वृक्षायुर्विज्ञान
११५. वृक्षायुर्वेद

(३२३)

हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओं में निम्नांकित ग्रन्थ अवलोकनीय हैं :—

१. निघण्टुशिरोमणि—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल—सुधानिधि प्रेस, इलाहाबाद, (१९१४)
२. द्रव्यसंग्रहविज्ञान— " — "
३. गुणपरिज्ञान— " — "
४. प्राणिज औषधि " — "
५. निघण्टुकल्पद्रुम—मुदर्शनलाल त्रिवेदी—भार्गव पुस्तकालय, बनारस
(तृ० सं० १९५८)
६. औषधगुणधर्म विज्ञान—हरिहरणानन्द
७. गुणपरिज्ञान—मोहनलाल गटोचा
८. लघु द्रव्यगुणादर्श—चन्द्रशेखर गोपालजी ठक्कर
९. निघण्टुविज्ञान—जगन्नाथ शर्मा
१०. औषधिविज्ञान—धर्मदत्त
११. द्रव्यकल्पद्रुम (उड़िया)—ब्रजबन्धु त्रिपाठी
१२. औषधाकार—धनजी शाह
१३. द्रव्यगुणविज्ञान—रविशंकर पुरोहित
१४. जंगलनी जड़ी बूटी (गु०) वैद्यशास्त्री श्यामलदास गोर
१५. वनीषधिप्रकाश—वासुदेवशास्त्री वापट

आयुर्वेदेतर वाङ्मय में द्रव्यगुण

आयुर्वेद के अतिरिक्त अन्य वाङ्मय में भी द्रव्यगुण की प्रचुर एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। दर्शनों में द्रव्य-गुण-कर्म के सैद्धान्तिक पक्ष का विमर्श किया गया है। वनस्पतियाँ प्रकृति की रमणीयता में सहयोगिनी हैं अतः रमणीयार्थ-प्रतिपादक काव्य में वनस्पतियों का वर्णन स्वाभाविक है। इससे तत्कालीन वानस्पतिक अवधारणाओं का पता चरुता है। कोशों के वनीषधिवर्ग में द्रव्यों के पर्यायरूप में वर्णन मिलते हैं।

वेदों के अतिरिक्त, पुराणों, स्मृतियों, बौद्ध वाङ्मय (त्रिपिटक, जातक आदि), जैन ग्रन्थ, रामायण और महाभारत में भी द्रव्यगुण की महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित

(३२४)

है। विशेषज्ञ विद्वानों ने विभिन्न पक्षों पर कार्य कर प्रकाशन किये हैं उनका अवलोकन करना चाहिए।^१

वैद्येतर विद्वानों द्वारा विरचित ग्रन्थ

१. भारतीय वनौषधि—कलकत्ता वानस्पतिक उद्यान के अधीक्षक डा० कालीपद विश्वास की यह रचना है। इसमें ६७२ वानस्पतिक द्रव्यों का विवरण प्रयोगसहित दिया है। सभी वनस्पतियों के रेखाचित्र भी दिये हैं यह इस पुस्तक की बड़ी विशेषता है। यह ग्रन्थ कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित है (१९५०)।

२. इण्डियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स—कीर्तिकर एवं वसु द्वारा निर्मित यह बृहत्काय ग्रन्थ भारतीय औषधियों के लिए एक प्रामाणिक आकर-ग्रन्थ है^२। प्रायः सभी औषधियों के चित्र भी दिये गये हैं।

३. इकोनोमिक बाटनी ऑफ इण्डिया—इसके रचयिता भीमचन्द्र चटर्जी, प्रोफेसर, इन्जीनियरिंग कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जड़ी-बूटियों में बड़ी रुचि रखते थे। उपर्युक्त ग्रन्थ के निर्माण में भी आपका योगदान था।^३

४. इण्डियन मेडिरिया मेडिका—के० एम० नादकर्णी द्वारा विरचित यह ग्रन्थ इस क्षेत्र में लोकप्रिय रहा है। इसका तीसरा संस्करण १९५४ में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ^४। इसमें वानस्पतिक, जान्तव एवं खनिज सभी प्रकार की औषधियों का विस्तृत विवरण है। उनके प्रयोगों का भी वर्णन विस्तार से है।

१. इस सम्बन्ध में देखें—

बापालाल : संस्कृत साहित्य में वनस्पति (गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९५३)

प्रियव्रत शर्मा : अमरकोष का वनौषधिवर्ग, सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर, १९७४

Jyotirmitra : Medicinal Plants of the Ramayana of Valmiki, Nagarjuna, Feb, 1969.

P. V. Sharma : Indian Medicine in the Classical Age, Section II (Chowkhamba, 1972)

B. C. Law : Ancient Indian Flora (Indian Culture, Vol XV, Nos. 1-4, July 1948—June 1949)

२. K. R. Kirtikar and B. D. Basu : Vol I-IV, Allahabad, (1st ed. 1918, 2nd ed. 1933)

३. रूपलाल नैश्य : सन्दिग्ध बूटी चित्रावली, भाग १, पृ० ५६

४. ए० के० नादकर्णी द्वारा सम्पादित तथा पापुलर बुक डिपो एवं धूतपापेश्वर, पनवेल, बम्बई द्वारा प्रकाशित। अब इसका पुनर्मुद्रण हुआ है।

(३२५)

४ इण्डिजिनस ड्रग्स ऑफ इण्डिया^१—कर्नल रामनाथ चोपड़ा ने भारतीय ओषधियों का परीक्षण कर उनका विवरण इस ग्रंथ में दिया है। इस दिशा में अपने दंग का यह प्रथम प्रयास होने पर भी भावी कार्यकर्ताओं के लिए पथप्रदर्शक हुआ।

प्रायजनस प्लाण्ट्स ऑफ इण्डिया भी आपकी महत्वपूर्ण रचना है। इसके अतिरिक्त, अन्य सहयोगियों के साथ आपने 'ग्लॉसरी ऑफ इण्डियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स' की रचना की। इसका सप्लिमेंट भी प्रकाशित हो चुका है^२।

इनके अतिरिक्त, निम्नांकित रचनायें भारतीय ओषधियों के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण हैं—

Sakharam Arjun : Bombay Drugs (Bombay 1879)

U. C. Dutt : Materia Medica of the Hindus (2nd ed. 1922)

R. N. Khoury : Materia Medica of India and their therapeutics.

Kanailal De : Indigenous drugs of India

Ainslie : Materia Medica of Hindustan (1813)

Roxburgh : Flora Indica (1874)

Dymock & Gadgil : The Vegetable Materia Medica of the Hindus.

Dymock et al : Pharmacographia Indica (1883)

Moodeen Sherrieff : Supplement of Pharmacopoea Medica

Idem : Materia Medica

George watt : Dictionary of Economic Products of India, (1908)

K. C. Bose : Pharmacopoea Indica (1932)

H. V. Savnur : A Handbook of Ayurvedic Materia Medica (Belgaon, 1950)

स्वतन्त्र भारत में सी० एस० आई० आर० द्वारा प्रकाशित 'वेल्थ ऑफ इण्डिया' एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है। इसके ९ खण्ड निकल चुके, १० वां अन्तिम खण्ड प्रकाशनाधीन है।

१. कलकत्ता, १९३३

२. Chopra, Badhwar & Ghosh : I. C. A. R. 1949

३. Chopra, Nayar & Chopra—C. S. I. R., 1956

४. Chopra, Chopra & Varma : Delhi, 1969

(३२६)

वनौषधि-सर्वेक्षण

भारतीय वनौषधियों का सर्वेक्षण कर अनेक विवरणात्मक ग्रंथ (फ्लोरा) प्रस्तुत हुये । युरोपीय विद्वानों ने यह ऐतिहासिक कार्य किया । रॉक्सबर्ग तथा वालिच का 'फ्लोरा इण्डिका' प्रारम्भिक रचनाओं में महत्वपूर्ण है । हूकर का 'फ्लोरा आफ ब्रिटिश इण्डिया' अभी भी प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है । प्रादेशिक स्तर पर भी ऐसे ग्रंथ लिखे गये जिनमें हेन्स, डथी, काम्बोजालाल, कुक, ब्राण्डिस, माहेश्वरी आदि की रचनायें उल्लेखनीय हैं । ठाकुर बलवन्तसिंह ने हिमालयप्रदेश की वनस्पतियों के लिए 'वनौषधिदर्शिका' तथा छोटा नागपुर और जमुई क्षेत्रों के लिए 'बिहार की वनस्पतियाँ' (१९५५) की रचना की । वैद्य मायाराम उनियाल ने उत्तराखण्ड की वनस्पतियों पर उत्तम कार्य किया है । भारतीय वनस्पतियों के अध्ययन-सर्वेक्षण में बोटानिकल सर्वे आफ इण्डिया विशेषतः फादर सन्तापो का योगदान ऐतिहासिक रहा है ।

कुछ वर्षों से भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसंधान परिषद् के तत्त्वावधान में विभिन्न प्रदेशों में वनस्पति-सर्वेक्षण के लिए केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिनमें प्रादेशिक स्तर पर कार्य हो रहा है ।

भैषज्योद्यान एवं संग्रहालय

वनस्पतियों का सर्वेक्षण-कार्य प्रारम्भ होने पर भैषज्योद्यानों एवं संग्रहालयों की स्थापना होने लगी । कलकत्ता का वानस्पतिक उद्यान प्राचीन है जहाँ अंगरेजों ने देश-विदेश से पौधे लाकर लगाये । राक्सबर्ग, वालिच आदि विश्वविख्यात वनस्पति-विद् उसके अधीक्षकपद को अलंकृत कर चुके हैं^१ । लखनऊ का राष्ट्रीय वानस्पतिक उद्यान भी उल्लेखनीय है । इस दिशा में सिम्पो (Cimpo) नामक संस्था ध्यान दे रही है । ओषधियों की दृष्टि से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदीय भैषज्योद्यान अवलोकनीय है । देहरादून का उद्यान और संग्रहालय तो विख्यात है ही ।

१. विशेष विवरण के लिए देखें—प्रस्तावना, पृ० १३-१९, वैद्य बापालालकृत निघण्टु-आदर्श (चौखम्बा, १९६८)

२. इस शती के प्रथम चरण में कलकत्ता के कई कविराजों ने वनौषधिवाटिका लगा रखी थी । रूपलाल वैश्य ने कविराज हेमचन्द्रदेव और हेमचन्द्र मित्र, काशीपुर कृषिशाला का निर्देश किया है । (सन्दिग्ध बूटीचित्रावली, पृ० ७, २४)

(३२७)

शोधकार्य

जबसे अंगरेजी राज स्थापित हुआ तभी से इस देश के विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी का प्रयास यूरोपीय विद्वान करने लगे। मेडिकल कालेज स्थापित होने पर उनमें पहले फार्माकोलोजी की पढ़ाई मेडिसिन विभाग के ही अन्तर्गत होती थी किन्तु बाद में भारतीय ओषधियों में अनुसन्धान की दृष्टि से यह विभाग स्वतंत्र कर दिया गया। इसी परम्परा में चोपड़ा, मुखर्जी, बोस, गुजराल आदि विद्वानों ने कार्य किया। स्वतन्त्रता के बाद यह कार्य तेजी से बढ़ा और प्रायः सभी मेडिकल कालेजों में भारतीय ओषधियों पर अनुसन्धान कार्य होने लगा। इस निमित्त स्वतन्त्र शोध-संस्थान भी स्थापित हुये यथा लखनऊ का केन्द्रीय भेषज शोधसंस्थान। इण्डियन कौंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च तथा भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसन्धानपरिषद् स्थापित होने पर इस कार्य में और प्रगति आयी। इस प्रकार शताधिक ओषधियों पर कार्य हुआ और उनके सम्बन्ध में शोधपत्र एवं मोनोग्राफ प्रकाशित हुये।^१

भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसन्धान-परिषद् द्वारा कुछ संयुक्त द्रव्य-अनुसन्धान कार्यक्रम भी संचालित हो रहे हैं जिनमें द्रव्यों के वानस्पतिक, रासायनिक, गुणकर्मात्मक तथा आतुरीय इन सभी दृष्टियों से अध्ययन होते हैं। इसके अतिरिक्त, अन्य अनुसन्धान इकाइयों में भी कार्य हो रहा है। इस अनुसन्धान-परिषद् के द्वारा तथ्यिल कुमारकृष्णकृत एक विशाल 'आयुर्वेदीय ओषधिनिघण्टु' (१९६६) प्रकाशित हुआ है। पीतकरवीर पर एक मोनोग्राफ (अरोड़ा एवं रंगस्वामी, १९७२) प्रकाशित हुआ है। के० नारायण ऐयर एवं उनके सहयोगियों द्वारा प्रस्तुत 'आयुर्वेदीय ओषधियों का परिचयविज्ञान' क्रमबद्ध रूप में ९ खंडों में प्रकाशित हुआ है (केरल विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम, १९५१-१९६६) जिसमें ९२ द्रव्यों का सचित्र विवरण है। यह वनस्पतियों के रूपज्ञान के सम्बन्ध में अत्युपयोगी प्रकाशन है। वनस्पति-परिचयविज्ञान के क्षेत्र में हुए कार्यों का विवरण मेहरा, भटनागर एवं हण्डा ने अपने लेख 'रिसर्च इन फार्माकोगनोसी इन इण्डिया' में दिया है (पंजाब विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका (एन० एस०), भाग २०, अंक ३-४, पृ० २६१-३३७, सितम्बर, १९७०)।

१. आर० बी० अरोड़ा का जटामांसी पर उल्लेखनीय कार्य हुआ है।

देखें—Nardostachys Jatamamsi—A Chemical, Pharmacological and Clinical appraisal (I. C. M. R., 1965)

(३२८)

जामनगर में केन्द्रीय आयुर्वेदीय शोध संस्थान की स्थापना से आयुर्वेदीय द्रव्यों के सम्बन्ध में अनुसंधान का जो श्रीगणेश हुआ वह वाराणसी के स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान द्वारा विकसित एवं उपबृंहित हुआ। इन संस्थाओं द्वारा ओषधियों के सम्बन्ध में अनेक शोधपत्र तथा शताधिक शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं। इसी प्रकार डा० एन० हनुमन्त राव के निर्देशन में विजयवाड़ा (आंध्र प्रदेश) का 'अकेडमी आफ आयुर्वेद' प्रशंसनीय कार्य कर रहा है।

स्वतन्त्र संस्थाओं में इण्डियन ड्रग रिसर्च एसोसियेशन, पूना का नाम उल्लेखनीय है जहाँ डा० जी० एस० पेण्डसे के नेतृत्व में कार्य हो रहा है और चित्रक, बाकुची (१९६३) आदि पर अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन भी हुए हैं। वाग्भटीय ओषधियों की संदर्भसूची भी यहाँ से प्रकाशित हुई है।

कृष्णचन्द्र चुनेकर की 'वानस्पतिक अनुसंधानदर्शिका' (चौखम्बा, १९६९) में इन शोधकार्यों का विवरण उत्तम रीति से संकलित है।

भेषजकल्पना

द्रव्यों का इस रूप में प्रस्तुतीकरण जिससे वे अपना कर्म करने में समर्थ हों कल्पना कहलाती है। भेषजकल्पना का प्राचीन स्वरूप कषाय है। 'कषाय' शब्द वस्तुतः खींचने (Extraction) के अर्थ में है। जिसमें द्रव्य का कार्यकर अंश खिंचकर चला आवे वह कषाय है। ऋग्वेद में सोम के स्वरस एवं अभिषव कल्पों का विशद वर्णन है। इससे स्पष्ट है अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीय भेषज्य-कल्पना का विकसित रूप दृष्टिगत होता है। चरक (सू० ४) में पञ्चविध कषाय-कल्पनाओं का वर्णन है।^१ ये ही मौलिक कल्पनायें हैं, इन्हीं से क्रमशः अन्य कल्पनाओं का विकास हुआ है। काथ और कल्क से ही तैल-घृत सिद्ध किये जाते हैं जिनमें स्नेह-विलेय कार्यकर अंश विशेष रूप से आ जाते हैं और स्नेह का अपना

१. Godbole, Pendse & Bedeker : Glossary of Vegetable Drugs in Vagbhata, I. D. R. A., Poona, 1966.

Kamat & Mahajan : Medicinal Plants in Dhanwantariya Nighantu (I. D. R. A., Poona, 1972)

२. भस्मातक के प्रसंग में चरक ने क्षीर, क्षौद्र, तैल, गुड, यूष, घृत, पल्ल, सक्तु, लवण, तर्पण कल्पनाओं का विधान किया है (च. चि. १।२।१३-१६)। कक्षस्थान में वर्तिका, उत्कारिका, मोदक, लेह, रागषाढक, शङ्कुली, पूष, सुरा, पानक, गन्धयोग आदि अनेकविध कल्पनाओं का विधान किया गया है।

(३२९)

कर्म तो होता ही है। आसव-अरिष्ट भी हिम एवं काय के रूपान्तर हैं। काय अधिक दिनों तक रह नहीं सकता। अभिषवक्रिया द्वारा मद्य बनने से काय का सुरक्षण होता है; मद्य-विलेय कार्यकारी सत्व इसमें आ जाते हैं तथा मद्य की योगवाहिता से औषध के कर्म में उत्कर्ष आ जाता है। चूर्ण और कल्क से क्रमशः एक ओर वटक और गुटिका का और दूसरी ओर अवलेह-योदक-पाक का विकास हुआ।

सुश्रुतसंहिता में अनेक कल्पों का वर्णन है जिससे स्पष्ट है कि उस काल तक भेषजकल्पना का पर्याप्त विकास हो चुका था। एक रोग (कुष्ठाधिकार) में ही सुश्रुत ने मन्थ, अरिष्ट, आसव, सुरा, अवलेह, चूर्णक्रिया, अयस्कृति, सार, स्वरस कल्पनाओं का वर्णन किया है और यह संकेत दिया है कि इस आधार पर सहस्रों कल्पनाओं की कल्पना की जा सकती है।^१ इनके अतिरिक्त, मसी, तैल, घृत, लेप, वस्ति आदि विविध कल्पनाओं का प्रयोग किया गया है। क्षारकल्पना का विशद वर्णन मिलता है।^२ अष्टांगसंग्रह^३ में स्नेह, स्वेद, वस्ति, नस्य, धूमपान, गण्डूष, प्रतिसारण, मुबालेप, मूर्धतैल, शिरोवस्ति, आश्च्योतन, अञ्जन, तर्पण, पुटपाक^४ आदि विविध कल्पनाओं का विधान है। भेषजकल्पाध्याय में कषाय-कल्पना, स्नेहपाक आदि का वर्णन किया है।^५

कल्पानुसार योगों का वर्गीकरण एवं वर्णन प्राचीन काल से चला आ रहा है। नावनीतक में सर्वप्रथम यह शैली दृष्टिगत होती है। इसके बाद चन्द्रट, सोढल, शार्ङ्गधर आदि आचार्यों ने इसे विकसित किया। मध्यकाल में सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना हुई मुसलमानों से सम्पर्क जिसके माध्यम से कुछ नवीन कल्पनाओं का समावेश आयुर्वेद में हुआ। इनमें 'अर्क-कल्पना' महत्त्वपूर्ण है जिसके द्वारा उड़नशील तैलों का निष्कासन किया जाने लगा और इस विधि से अन्य द्रव्यों का भी अर्क निकाला जाने लगा। मद्य भी इस विधि से खींचा जाने लगा। सोढल (१२वीं शती) ने सर्वप्रथम अर्क-कल्पना का विधान किया है।^६ इसके बाद इसका प्रयोग तेजी से

१. सुरामन्थासवारिष्टांलेहांश्चूर्णान्ययस्कृतीः ।

सहस्रशोऽपि कुर्वीत बीजेनानेन बुद्धिमान् ॥ सु० चि० १०।१४

२. सु० सू० ११

३. अ० सं० सू० १५-२३

४. पुटपाकविधि से वनस्पतियों का स्वरस निकालने का विधान सुश्रुत (उ० ४०।७७-७९) में भी है ।

५. वही, क० ८, अ० ह० ६

६. प्रयोगखण्ड, खर्जूरसाव (निष्कासयेद्वर्कमतो यथावद् दत्त्वा जलंचोपरि यन्त्रकस्य) (श्लो० २७२)

बड़ा और इस पर अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये। मद्य भी इस विधि से निकाला जाता था जो तीक्ष्ण होता था, लोक में इसके लिए 'अरक' शब्द प्रचलित था।^१ यूनानी मलहम भी 'मलहर' के रूप में आयुर्वेदीय बन गया।

द्रव्य को तीक्ष्ण करने के लिए भावना देने का विधान है।^२ किसी योग में तीक्ष्णता या मन्दता करने के लिए संयोग, विश्लेष, काल, संस्कार और युक्ति का अवलम्बन करने का विधान किया गया है।^३

सुरा में किसी द्रव्य को अभिषुत कर उसका सुराविलेय सत्त्व निकालने की विधि चरक के दृढ़बलकृत अंश में है।^४ सम्भवतः गुप्तकाल में यह विधि प्रचलित थी।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के सुराध्यक्ष-प्रकरण में अनेक प्रकार की सुराओं का वर्णन है। रोगों में प्रयुक्त होनेवाले मद्यविकार को अरिष्ट कहा है।^५ इस प्रकार 'आसव' शब्द मद्यसामान्य का वाचक हुआ। आसव-अरिष्ट में यह भेद ध्यान देने योग्य है। मध्यकाल में जब आसव-अरिष्ट दोनों रोगों में प्रयुक्त होने लगे तब उनका भेदक लक्षण भी बदल गया। जो औषध के क्वाथ से बनाया जाय वह अरिष्ट और जो अपक्व औषध से सिद्ध हो वह आसव^६ कहलाया। सम्प्रति यही लक्षण प्रचलित है।

आहारकल्पना

औषधकल्पना के अतिरिक्त, अनेकविध आहारकल्पों का भी वर्णन है। दूध, पेया, यवागू, विलेपी, ओदन, कृशरा प्रभृति कल्प व्याधियों में पथ्य के रूप में बहुशः प्रयुक्त हुए हैं।

औषधयोग

एकल द्रव्यों की तुलना में औषधयोगों की संख्या अत्यधिक है। भैषज्यकल्पना के विकास के साथ-साथ इन योगों की संख्या भी बढ़ती गई और इसी ने आगे चलकर पेटेण्ट का रूप धारण किया।

१. बर्नियर : पृ० २५३

'शौण्डिक' (मद्यविक्रयी) में 'शुण्डा' शब्द सम्भवतः मद्यपातनार्थ प्रयुक्त शुण्डाकार यन्त्र (भभका) का बोधक है। अमरकोष में 'शौण्डिक' शब्द आया है।

२. च० क० १२।५१-५२

३. वही, ५२-५३

४. च० क० २।८

५. चिकित्सकप्रमाणाः प्रत्येकशो विकाराणामरिष्टाः—अर्थ० २।२५।१४

६. शार्ङ्ग० मध्य० १।२

(३३१)

योगों का नामकरण प्रायः प्रमुख द्रव्य के आधार पर होता है यथा चित्रकादि गुटिका । रोगों के अनुसार भी नामकरण किया गया है यथा शूलवज्रिणी, विषम-ज्वरान्तक आदि । कहीं-कहीं गुणधर्म के अनुसार नाम है यथा कामेश्वर, मृतसंजीवनी आदि और कहीं योग के आविष्कर्ता देवी-देवता या ऋषि के नाम पर हैं यथा भास्करलवण, काङ्कायनमोदक आदि । धर्म का प्रभाव भी इस पर पड़ा है, सिंहनाद-गुग्गुलु, तारामंडूर आदि नाम स्पष्टतः बौद्धतन्त्र से प्रभावित हैं ।

योगों का इतिहास अपने आप में एक रोचक विषय है । स्थायित्व की दृष्टि से इन्हें तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१. ऐसे योग जो सहस्राब्दियों से अद्यावधि अधुण रूप से चले आ रहे हैं यथा च्यवनप्राश ।

२. ऐसे योग जो बीच-बीच में आते हैं और लुप्त हो जाते हैं । समन्वितय गुटिका गुप्त एवं उत्तरगुप्त काल में अत्यन्त प्रचलित योग था जिसका उल्लेख चीनी यात्री इत्सिंग (७वीं शती) ने भी किया है किन्तु सम्प्रति इसका प्रचार नहीं है ।

३. कुछ ऐसे योग जो मध्यकाल या आधुनिक काल में प्रविष्ट हुये यथा चोपचीनी-पाक, आकारकरभादि वटी, अहिफेनासव, मृतसंजीवनी सुरा आदि ।

किसी एक योग को उसके उद्भव से लेकर वर्तमान स्वरूप तक देखें तो उसके उतार-चढ़ाव का पता चल जाता है । कभी कोई द्रव्य उसमें से निकाल दिया जाता है और कभी कुछ द्रव्य और मिला दिये जाते हैं । इस प्रकार उसके अनेक योग बन जाते हैं । प्रत्येक योग स्थितिविशेष में उपादेय होता है । रास्नापञ्चक, रास्नासप्तक, महारास्नादि प्रभृति योग इसी प्रकार बने । हिंमवृष्टि चूर्ण ऐसे भाग्यशाली कुछ ही योग होंगे जो हजारों वर्ष बाद भी अधुण रूप से अपना स्थान बनाये हैं ।

परिभाषा

भेषजकल्पना-सम्बन्धी तकनीकी बातों के स्पष्टीकरण के लिए परिभाषाओं का निर्माण किया गया यथा यदि वनस्पति के अङ्ग का उल्लेख न हो तो क्या लेना, शुष्क और आद्र द्रव्यों का अनुपात, द्रवपदार्थों का योग किस प्रकार किया जाय इत्यादि बातों का विचार इसमें किया गया है । इस विषय पर अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये ।

मान

अमरकोष (२।१।८५) में यौतव, द्रव्य और पाय्य इन तीन प्रकार के मानों का उल्लेख है । तुला, अंगुलि और प्रस्थ से क्रमशः भार, दैर्घ्य और आयतन का मान

(३३२)

किया जाता था (मानं तुलाङ्गुलिप्रस्थैः—अमर०, वही) । इस प्रकार इन्हें तुलमान, अंगुलिमान तथा प्रस्थमान^३ भी कहा जाता है । अमरकोष में इन तीनों का विवरण मिलता है । काशिका (५।१।१९) में इनके लिए क्रमशः उन्मान, प्रमाण और परिमाण शब्द हैं । मान का मानकीकरण संभवतः प्राङ् मौर्यकाल में पाटलिपुत्र के राजा नन्द ने किया^४ । कोटिल्य अर्थशास्त्र (२।१९२) मनुस्मृति (८।१३२-१३७), याज्ञवल्क्य-स्मृति (आचार ३६२-३६५), बृहत्संहिता (अ० ५८, ६८, ८०) आदि में मान का विवरण मिलता है । आयुर्वेदीय ग्रन्थों में चरक, (क० अ० १२), सुश्रुत (चि० ३१), वाग्भट, (अ० ह० ९६) और शार्ङ्गधर (पूर्व० १) में मान-प्रकरण अवलोकनीय है । सुहृद् राजतन्त्र में अर्थव्यवस्था एवं वाणिज्य को सुचारु रूप से सञ्चालित करने के लिए मान का मानकीकरण आवश्यक होता है । अतः मौर्यकाल, गुप्तकाल, मुगलकाल तथा ब्रिटिशकाल में मान की सुचारु व्यवस्था की गई । मगध में प्रचलित या मगध-साम्राज्य द्वारा मान्य मान मागध और कलिंग में प्रचलित मान कालिंग कहलाता था । कालिंग मान से मागध मान श्रेष्ठ कहा गया है । सम्भवतः इसका कारण कलिंग पर मगध का आधिपत्य है जो अशोक की कलिंगविजय के बाद स्थापित हुआ ।

राज्य द्वारा निर्धारित मान के अनुसार व्यवहार न करने तथा ठीक से न तोलने पर वणिक् दण्ड का भागी होता था ।^५ छः छः मास पर मान का पुनः परीक्षण करने का विधान था ।^६

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ काल बाद तुलमान तथा प्रस्थमान परस्पर मिलकर एक हो गये जिसके कारण इनका भेद प्रायः समाप्त हो गया और प्रस्थ आदि शब्द भी तोल के ही वाचक बन गये ।

१. आदिवासियों में अभी भी प्रस्थमान से व्यवहार होता है । तुलमान प्राचीनकाल में कर्ष-पल, मध्यकाल में सेर-छँटाक और अब ग्राम-किलो में परिणत हो गया । अंगुलिमान बाद में इञ्च-फीट और अब मीटर हुआ । इसी प्रकार प्रस्थमान भी क्रमशः घन-इञ्च, घनसेण्टीमीटर में विकसित हुआ ।

२. नन्दोपक्रमणानि मानानि—काशिका, २।४।२०; ६।२।१४

देखें—मेरा 'इंडियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज, पृ० ४१

३. याज्ञवल्क्य० व्यवहाराध्याय, २४०

४. मनु० ८।४०३

(३३३)

भेषजागार

कच्ची ओषधियों तथा सिद्ध ओषधों को सम्यक् रूप से सुरक्षित रखने के लिए उत्तम भेषजागार होना चाहिए क्योंकि यदि ओषधियाँ जल, कीट आदि से दूषित हो जायें तो उनकी तीक्ष्णता कम हो जाती है^१ ।

भेषजागार, पूरव या उत्तर मुख का होना चाहिए । इसमें अधिक वायु का प्रवेश न हो किन्तु पर्याप्त वायुसंचार होता रहे । उसकी सफाई कर उसमें पूजन, धूपन आदि नित्य होना चाहिए । उसकी बनावट ऐसी हो जहाँ अग्नि, जल, सीलन, धुआँ, धूल, चूहे तथा अन्य चोपाये न आ सकें । वह सभी ऋतुओं के लिए अनुकूल हो ।

वहाँ फलक, शिख्य और शंकु पर्याप्त होने चाहिए जिन पर पैलों और भाण्डों में ढँक कर ओषधें रक्खी जा सकें^२ ।

भेषजकल्पना के उपकरण

भेषज-निर्माण में मुख्यतः ताम्र, लोह और मिट्टी के पात्र व्यवहृत होते रहे हैं । प्राचीन काल में व्यवहृत इन उपकरणों का उल्लेख मिलता है यथा खत्व, शिला, मुशल-उदुखल, चलनी, तुला, शुक्ति, कटाई, संधानयन्त्र, गुण्डापात्र आदि । भेषज-संग्रहण के लिए थैले, षडे, हाथीदांत, शृङ्ग आदि के पात्र विहित हैं^३ । ऋग्वेद में सोमाभिषव-प्रकरण में त्रिकद्रुक यन्त्र का वर्णन अवलोकनीय है ।

निर्माणशाला एवं फार्मेशियाँ

प्राचीन काल में वैद्य अपने रोगियों के लिए स्वयं ओषध बनाता था और उसे अभिमंत्रित कर प्रयोग करता था जिससे उसमें अधिकतम शक्ति रहे । राजाओं के रुग्ण होने पर विशेषतः आत्ययिक स्थिति में राजभवन में वैद्य ओषधनिर्माण की व्यवस्था करता था । राजा प्रभाकरवर्धन की अत्यधिक रुग्णता की स्थिति में ओषध-निर्माण राजभवन के एक खण्ड में हो रहा था^४ । संपन्न वैद्य अपने भवन के ही एक खण्ड में ओषधनिर्माणशाला रखते होंगे तथा वहाँ कुछ ओषधियाँ भी लगाते होंगे । आतुरालयों तथा ओषधालयों से संलग्न निर्माणशाला भी होगी । चरक ने आतुरालय

१. च० क० १२।५७-५८

२. च० क० १।११, सु० सू० ३७।१३; ३८।७३

३. देखें—जी० पी० श्रीवास्तव : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फार्मेशी, पृ० १६७-१७७

४. विविधौषधिद्रव्यद्रवगन्धगर्भमुक्तथतां क्वाथानां सर्पिषां तैलानां च प्रपच्य-मानानां गन्धमाजिघ्नन्वाप तृतीयं कचयान्तरम्—हर्षचरित, पृ० २१६

(३३४)

का जो वर्णन दिया है उससे भी यही प्रतीत होता है। औषधपेषक औषधियों को कूटते-पीसते थे।

निर्माणशाला के स्वरूप का अनुमान भेषजागार के विवरण से ही होता है, इसका स्वतन्त्र वर्णन नहीं मिलता। रसतन्त्र के ग्रन्थों में रसशाला का विशद वर्णन किया गया है।

आधुनिक काल में अंगरेजी फार्मेशियों की शैली पर अंगरेजों के केन्द्र—कलकत्ता, बम्बई जैसे नगरों में आयुर्वेदिक फार्मेशियाँ भी स्थापित हुईं जिनका काम औषध बना कर विक्रय करना हुआ। इस प्रकार चिकित्सकों से पृथक् इनका वर्ग बना। इस व्यवसाय में लाभ देखकर अनेक रसायनशास्त्री, पूँजीपति तथा वैद्य इस क्षेत्र में आये और क्रमशः सारे देश में उनका जाल बिछ गया। इससे अनेक वैद्य भी प्रभावित हुये किन्तु अभी भी अच्छे चिकित्सक स्वयं औषध-निर्माण ही श्रेयस्कर समझते हैं।

पूर्वी क्षेत्र में ढाका और कलकत्ता में अनेक फार्मेशियों का उदय हुआ। ढाका का शक्ति औषधालय, साधना औषधालय तथा ढाका आयुर्वेदीय फार्मैसी प्रमुख हैं। कलकत्ता में डाबर (डा० एस० के बर्मन) तथा श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन का क्रमशः १८३३ और १९१८ में प्रादुर्भाव हुआ जो सम्प्रति आयुर्वेदीय फार्मेशियों में अग्रगण्य हैं। पश्चिमी अञ्चल में पनवेल (बम्बई) का धूतपापेश्वर, गुजरात की झंडु फार्मैसी तथा ऊंझा फार्मैसी प्रसिद्ध रही है। मथुरा के हरिदास वैद्य की सुखसंचारक कम्पनी एक समय में बहुत लोकप्रिय थी। वैद्य ठाकुरदत्त शर्मा (लाहीर) अमृतधारा के कारण विख्यात हुये। इस प्रकार से छोटी-बड़ी अनेक फार्मेशियों का उदय १९वीं शती के आसपास हुआ। शिक्षणसंस्थाओं ने भी फार्मेशियाँ चलायीं जिनमें गुरुकुल कांगड़ी और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की फार्मैसी प्रमुख हैं। कुछ फार्मेशियाँ सहकारिता के आधार पर भी संचालित हुईं। इनमें मद्रास का 'इंडियन मेडिकल प्रैक्टिशनर्स कोऑपरेटिव फार्मैसी ऐण्ड स्टोर्स लिमिटेड' प्रमुख है जिसकी शाखायें दक्षिण भारत के प्रायः सभी नगरों में हैं। इसके द्वारा एक योगसंग्रह (वैद्ययोगरत्नावलि) १९६८ में प्रकाशित हुआ है।

जैसे-जैसे आयुर्वेदीय औषधियों के गुणधर्म एवं उपयोगिता का ज्ञान आधुनिक वैज्ञानिकों को होता गया वैसे वैसे उनका प्रचार भी आधुनिक जगत में बढ़ने लगा। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय^१ द्वारा १९०० ई० में संस्थापित बंगाल केमिकल ऐण्ड

-
१. आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय का जन्म २ अगस्त १८६१ ई० को जिला खुलना (अब बंगला देश) में हुआ था। देश-विदेश में अध्ययन के बाद प्रेसिडेन्सी कालेज कलकत्ता में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुये। उन्होंने 'हिस्ट्री ऑफ

(३३५)

फार्मस्युटिकल वक्सों से अनेक आयुर्वेदीय औषधियों के सत्त्व तथा योग प्रस्तुत किये गये जिनका प्रयोग डाक्टरों वर्ग में प्रचलित हुआ। इसी शैली से हिमालय ड्रग्स, चरक फार्मस्युटिकल्स, अलेम्बिक आदि फार्मसियों आधुनिक रूप में आयुर्वेदीय योग प्रस्तुत कर रही हैं जो देश-विदेश में प्रसारित हो रहे हैं।

औषधिविक्रय

पहले यह बतलाया जा चुका है कि भारत के व्यापार-वाणिज्य में औषधियों का प्रमुख स्थान रहा है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारतीय औषधियाँ स्थल और जल मार्ग से विदेशों में जाती रही हैं तथा बाहर से इस देश में आती रही हैं। देश बड़ा होने तथा जलवायु, भूमि आदि की विभिन्नता के कारण सर्वत्र सब औषधियाँ नहीं उगतीं अतः एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में इनका यातायात भी होता रहा। यह सब व्यापारियों के माध्यम से होता रहा है। औषधियों के उद्भवस्थान में उन्हें एकत्रित कर बड़ी मण्डियों में भेजा जाता था जहाँ से देश-विदेश में उसका प्रसार होता था। उत्तरभारत में कुछ, रेवन्दचीनी, जटामांसी आदि तथा दक्षिण भारत में चन्दन, पिप्पली, मरिच, शुण्ठी, जातीफल, दालचीनी आदि औषधियों के केन्द्र प्रमुख थे। हर्षचरित में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलका है।^१

धर्मशास्त्र में औषधिविक्रय निन्द्य माना गया है, चिकित्सक का अन्न पूयसहस्र कहा गया है।^२ मध्यकाल में वैद्य रोगी के निमित्त प्रस्तुत कच्ची औषधियों तथा निमित्त औषधों का एक नियत अंश अपने लिए रखने लगा जिसे रुद्रभाग और धन्वन्तरिभाग की संज्ञा दी गई। किन्तु चरक के कथन^३ से संकेत मिलता है कि उस काल में भी कुछ लोग चिकित्सा के लिए शुल्क लेते थे और सम्भवतः औषध का भी विक्रय करते थे। किन्तु प्राचीनकाल में 'पण्यभेषज' से कच्ची औषधियों का ही ग्रहण होता था, बनी औषधियाँ आजकल की तरह बाजारों में नहीं बिकती थीं; वैद्य

हिन्दू केमिस्ट्री' की रचना की जिसका प्रथम और द्वितीय खण्ड क्रमशः १९०२ और १९०८ में प्रकाशित हुये। वह इंडियन केमिकल सोसाइटी के संस्थापक थे जिसकी स्थापना १९२४ में हुई। १६ जून, १९४४ को उनका स्वर्गवास हुआ।

—P. Ray : History of Chemistry in Ancient and Medieval India, Indian Chemical Society, Calcutta, 1956

१. भेषजसामग्रीलंघादनव्यग्रसमग्रव्यवहारिणि—हर्षचरित, पृ० २६७

२. पूयं चिकित्सकस्यान्नम्—मनु० ४।२२०

३. कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्—च० चि० १।४।५९

(३३६)

अपने रोगियों के लिए औषध की व्यवस्था करता था या आतुरालयों में प्रयोगार्थ औषध बनती थी ।

अधिक लाभ के लिए वणिक् औषधियों में मिलावट भी करते थे तथा उनके स्थान पर अन्य नकली द्रव्यों को तद्रूप बनाकर व्यवहार भी करते थे । याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा व्याख्या में इसके कुछ उदाहरण दिये गये हैं यथा मिट्टी में मल्लिकासुगंध मिश्रित कर सुगन्धामलक बनाना, लोहे को वर्णान्तरकरण से रजत बनाना, बिल्वकाष्ठ में चन्दनगंध मिलाकर चन्दन कहना । लवंग आदि में भी ऐसा किया जाता था । कस्तूरी आदि भी कृत्रिम बनाकर बेची जाती थी । इन सबके लिए दण्ड का विधान था ।^१

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा के दुर्ग का वर्णन करते हुए लिखा है कि पण्यभेषज का आगार पश्चिमोत्तर भाग में होना चाहिए । औषधद्रव्य का समावेश कुप्यवर्ग में किया गया है । इनका संग्रह पर्याप्त मात्रा में किया जाता था तथा बीच-बीच में पुरानी औषधियों को हटाकर उनके स्थान पर नई रख दी जाती थीं । पण्यभेषज तथा गन्धद्रव्यों के व्यापार पर शुल्क लगता था ।^२ आर्द्र औषधि तथा गन्धद्रव्य बेचना ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध था । मिताक्षरा व्याख्या में लिखा है कि यह निषेध ताजी औषधियों के लिए है, सूखी के लिए नहीं^३ इससे स्पष्ट है कि विज्ञानेश्वर (११-१२वीं शती) के काल में ब्राह्मण भी औषधियों का व्यापार करते थे ।

वायुपुराण में उल्लेख है कि औषधियों का व्यापार त्रेतायुग में प्रारम्भ हुआ ।^४ गुप्तकाल तक यह व्यापार पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया था इसका संकेत बृहत्संहिता के विभिन्न प्रकरणों से भी मिलता है ।

भेषजसंहिता (फार्माकोपिया)

ब्रिटिश शासन में आधुनिक चिकित्सा के क्षेत्र में भारत ब्रिटिश फार्माकोपिया को ही आदर्श मानने लगा । भारत के स्वाधीन होने पर इण्डियन फार्माकोपिया अस्तित्व में आया । इसके पूर्व १९४६ में भारत सरकार ने एक 'इण्डियन फार्मा-

१. याज्ञवल्क्य० व्यवहाराध्याय, २४५-२४७

२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २।४।३, २।१७।२-१४; २।२०।४; २।१५।२७-२८; २।२२।९; ५।२।८-१० ।

३. याज्ञवल्क्य० प्रायश्चित्ताध्याय, ३६-३९ ।

४. प्रादुर्भावश्च त्रेतायां वार्त्तायामौषधस्य तु ।

तेनौषधेन वर्त्तन्ते प्रजास्त्रेतायुगे तदा ॥—वायु० ८।१२८

(३३७)

कोपियल लिष्ट' प्रकाशित की थी जिसमें उपयोगी द्रव्यों की सूची थी। यह वस्तुतः ब्रिटिश फार्माकोपिया के पूरक रूप में था। स्वाधीनता के बाद १९४८ में भारत सरकार ने इण्डियन फार्माकोपिया कमिटी गठित की और तदनुसार १९५५ में इण्डियन फार्माकोपिया प्रस्तुत एवं प्रकाशित हुआ। इसका पूरक अंश १९६० में प्रकाशित हुआ। फार्माकोपिया का संशोधन कर उसका द्वितीय संस्करण १९६६ में प्रकाशित हुआ।^१ कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें अनेक आयुर्वेदीय ओषधियों का समावेश किया गया है।

आयुर्वेदीय भेषजसंहिता के लिए चोपड़ा समिति ने सिफारिश की थी। तदनुसार यत्र-तत्र राज्यों में फार्माकोपिया कमिटी गठित कर कार्य किया गया। कुछ राज्यों (गुजरात, आन्ध्र आदि) ने इसे प्रकाशित भी किया किन्तु केन्द्रीय स्तर पर यह बाद में लिया गया। स्वास्थ्य-मंत्रालय भारत सरकार के अन्तर्गत एक आयुर्वेदिक फार्माकोपिया कमिटी १९६२ में गठित की गई जिसके आधीन अनेक उपसमितियाँ बना कर कार्य प्रारम्भ किया गया। १९७२ में इसका पुनः संघटन हुआ। अभी संहिता प्रस्तुत नहीं हो सकी है किन्तु योगसंग्रह (फार्मुलरी) का कुछ रूप आया है जो निकट भविष्य में प्रकाशित होने की आशा है। द्रव्यों एवं योगों के मानकीकरण के लिए अनेक केन्द्र स्थापित हुये हैं जो केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-अनुसंधान परिषद् के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं। प्रारम्भिक फार्माकोपियल लिष्ट के सहकारी प्रकाशन के रूप में बी० मुकर्जी, निदेशक, केन्द्रीय-भेषज-अनुसंधान संस्थान लखनऊ, द्वारा विरचित 'इण्डियन फार्मास्युटिकल कोडेक्स उल्लेखनीय रचना है। इसका प्रथम भाग आयुर्वेदीय ओषधियों पर प्रकाशित हुआ (सी० एस० आइ० आर०, १९५३)। इसी शैली पर रामसुशील सिंह ने वनौषधि-निर्देशिका लिखी (हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ १९६९)। अत्रिदेव गुप्त की भैषज्यसंहिता भी है (हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६५)।

राजनियन्त्रण

ओषधियों की शुद्धता तथा विक्रय पर प्राचीन काल से नियन्त्रण रहा है, इसका उल्लेख किया जा चुका है। स्मृतियों में भेषजसंबन्धी अपराधों के लिए दण्डविधान भी है।

आधुनिक काल में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत जब भारत में अंगरेजी दवाओं की खपत बढ़ी और ओषधों की शुद्धता एवं मानक ओषधों की आपूर्ति का प्रश्न उठा

१. फार्माकोपिया ऑफ इण्डिया, १९६६, प्रस्तावना, पृ० ९

(३३८)

तब भारत सरकार ने १९३० में ड्रग्स इनफ़ॉरमरी कमिटी का गठन डा० रामनाथ चोपड़ा की अध्यक्षता में किया। इसका प्रतिवेदन १९३१ में प्रकाशित हो गया। भारत में फार्मसी के नये युग का श्रीगणेश यहीं से होता है। इसीके बाद भारत के विभिन्न स्थानों में फार्मसी का शिक्षण प्रारम्भ हुआ। १९३२ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में डा० महादेवलाल शर्मा के नेतृत्व में इसकी स्थापना हुई। डा० शर्मा भारत में फार्मसी के शिक्षण एवं संघटन के जनक कहे जाते हैं।

यद्यपि प्वायजन्स ऐक्ट १९११, ओपियम ऐक्ट १८७८ तथा ड्रैग्जरस ड्रग्स ऐक्ट १९३० ये तथापि इससे पूरा काम नहीं हो पाता था अतः १९४० में ड्रग्स ऐक्ट पारित किया गया। १९४५ में ड्रग्स रूल्स प्रकाशित हुये। भोर कमिटी की संस्तुति के अनुसार १९४८ में फार्मसी ऐक्ट पारित हुआ जिसके अन्तर्गत फार्मसी कॉन्सिल आफ इण्डिया १९४९ में गठित हुई। इस ऐक्ट में यह प्रावधान है कि राज्यों में भी फार्मसी कॉन्सिल बने और फार्मसी के शिक्षण-सम्बन्धी निर्णय भी निर्धारित हों।^१

आधुनिक भेषजकल्पना के लिए यह सब होने पर भी आयुर्वेदीय भेषजकल्पना को नियन्त्रित करने के लिए अभी तक कोई व्यवस्था नहीं हुई है। न तो कच्ची औषधियों के क्रय-विक्रय पर कोई नियन्त्रण है और न सिद्ध औषधों पर। १९६४ में ड्रग्स ऐण्ड कीस्मेटिक्स ऐक्ट का जो संशोधित रूप बना उसमें आयुर्वेदिक एवं यूनानी द्रव्यों का भी समावेश किया गया (अध्याय ४ ए)। इसके अन्तर्गत एक आयुर्वेदिक एवं यूनानी ड्रग्स टेक्निकल ऐडवाइजरी बोर्ड गठित है जो प्राविधिक विषयों पर भारत सरकार तथा राज्य सरकारों को परामर्श देता है।^२ आशा है, निकट भविष्य में इसका ठोस रूप आवेगा।

शिक्षण एवं अनुसन्धान

आयुर्वेदीय भेषजकल्पना के शिक्षण के लिए भारत में एक ही कालेज राजपीपला (गुजरात) में है। यों यह विषय आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में ही अन्तर्भूत है, उसमें भी इसे रसशास्त्र का अङ्गभूत ही बना दिया गया है, इसे स्वतन्त्र रूप प्राप्त नहीं है। स्नातकोत्तर शिक्षणकेन्द्रों में इस विषय पर कुछ अनुसन्धान कार्य भी हो रहा है। अब इसके विधिवत् शिक्षण के लिए केन्द्रीय स्तर पर पाठ्यक्रम बन रहा है।

अनेक राज्य सरकारों ने औषधिवितरकों के लिए पाठ्यक्रम प्रचलित किया है।

१. Mithal : A Text book of Forensic Pharmacy (1968), Ch.1, P.5-11
२. प्रस्तुतलेखक भी इसका सदस्य रह चुका है।

(३१९)

भैषज्यकल्पना का वाङ्मय

संहिताओं के तथ्यों में पारम्परिक विचारों को मिलाकर भैषज्यकल्पना के ग्रन्थ लिखे गये । वस्तुतः यह वाङ्मय आधुनिक काल में ही प्रस्तुत हुआ । इन ग्रन्थों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

१. द्रव्यगुणविज्ञान (उत्तरार्ध, प्रथम खण्ड)—आचार्य यादवजी (निर्णयसागर बम्बई, १९४७)
 २. द्रव्यगुणविज्ञान (प्रथम भाग, कल्पखण्ड)—प्रियव्रत शर्मा (चौखम्बा, वाराणसी, १९६८, द्वि० सं०)
 ३. भैषज्यकल्पना—अग्निदेव गुप्त (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००८)
 ४. भैषज्यकल्पनाविज्ञान—अवधविहारी अग्निहोत्री (चौखम्बा, वाराणसी, १९५९)
 ५. औषधनिर्माण—ए० मण्डके, (सुमति प्रकाशन, पूना, १९६७)
 ६. वनस्पतिकल्प—वही (१९६९)
 ७. प्रत्यक्ष औषधनिर्माण—विश्वनाथ द्विवेदी (सं० २००६)
- भैषज्यकल्पना के विशिष्ट अङ्गों पर भी ग्रन्थ निर्मित हुये यथा—

कषायकल्पना—

१. पञ्चविधकषायकल्पनाविज्ञान—अवधविहारी अग्निहोत्री (चौखम्बा, वाराणसी, १९५७)
२. कषायमणिमाला—आर्यदाससुकुमार सिंहकृत (चौखम्बा, १९७०)
३. कषायशतक—वाग्भट आत्रेयी (के० आ० प० ४०८)
४. कषायादिपाकविधि—(राघवन्, पा०)
५. कषायचूर्णमात्रायोग (" ")

आसव-अरिष्ट

१. आसवारिष्टसंग्रह—जगदीशप्रसाद गर्ग (मुरादाबाद, १९२९)
२. आसवारिष्टसंग्रह—पक्षधर झा (चौखम्बा, वाराणसी, १९६२)
३. आसव-अरिष्ट—सत्यदेव विद्यालंकार
४. बृहत् आसवारिष्टसंग्रह—देवीसिंह
५. " " —कृष्णप्रसाद त्रिवेदी
६. आसवविज्ञान—हरिहरणानन्द

(३४०)

अर्क

१. अर्कप्रकाश^१—रावण (वेंकटेश्वर, बम्बई, १९५६, मवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९३५, मथुरा. १९३०, गोपालाचार्य, मद्रास, १९१४)
२. अर्कप्रकाश—व्यासपंडित (जम्मू, पा०)

क्षार

१. क्षारनिर्माणविज्ञान—हरिहरणानन्द (पंजाब आयुर्वेदिक फार्मसी, अमृत-सर १९२७)

तैल

१. तैलसंग्रह—विश्वनाथ द्विवेदी

पाक

१. औषधपाकावली (जम्मू, पा०)
२. पाकदर्पण—नल (चौखम्बा, वाराणसी १९१५)
३. पाकाधिकरण (बड़ोदा, पा०)
४. पाकाधिकार (,, ,,)
५. पाकमार्तण्ड (पूना, पा०)
६. पाकार्णव (,, ,,)
७. पाकशास्त्र—बिन्दु (पूना, पा०)
८. पाकप्रदीप—रविदत्तवैद्य (खेमराज, बम्बई, १९२४)
९. पाकविधि—दिवाकरचन्द्र (नेपाल, पा०)
१०. पाकावली—माधव उपाध्याय
११. सूपशास्त्र—भीमसेन (मद्रास, पा०)
१२. भोजनकुतूहल—रघुनाथसूरि (बड़ोदा, पा०)
१३. क्षेमकुतूहल—क्षेमशर्मा (आयुर्वेदीयग्रन्थमाला, १९२०)
१४. पाकप्रदीप—रविदत्त (खेमराज, बम्बई, १९२०)
१५. बृ० पाकसंग्रह—कृष्णप्रसादत्रिवेदी (अलीगढ़, १९५०)

मान

१. कर्पादिपरिमाणम्—केशवसुत गोविन्दकृत

१. इसमें यशद का उल्लेख है तथा शंखद्रावकविहित पारद का प्रयोग फिरंगरोग में है अतः इसका काल १६वीं शती है ।

(३४१)

परिभाषा

१. परिभाषा—नारायणदास (राजेन्द्रलाल मिश्र, पा०)
२. आयुर्वेदीय परिभाषा (वं०) (बरहमपुर, १८६९)
३. वैद्यकपरिभाषाप्रदीप—गोविन्दसेन (कलकत्ता, १९०६; गंगाविष्णु श्रीकृष्ण-
दास, बम्बई, १९३३)
४. परिभाषा-प्रबन्ध—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल (चौखम्बा, १९५५)
५. आयुर्वेदीय परिभाषा
६. नवपरिभाषा—उपेन्द्रनाथदास

सिद्धयोगसंग्रह^१

१. रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह, भाग १, २ (कालेड़ा, अजमेर, ८ वां संस्करण,
१९५६)
२. सिद्धभेषजसंग्रह—युगलकिशोर गुप्त (चौखम्बा, वाराणसी, १९५३)
३. राजकीय औषधियोगसंग्रह—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी (चौखम्बा, १९५०)
४. सिद्धभेषजमञ्जूषा—जयदेव शास्त्री (रामपुर, १९३२)

५. भारतभेषज्यरत्नाकर—ऊँक्षा आयुर्वेदिक फार्मैसी के संचालक रसवैद्य श्रीनगीनलाल छगनलाल शाह ने इस बृहत् ग्रन्थ का संकलन किया है। इसमें अकारादि क्रम से वानस्पतिक एवं रसयोग संगृहीत हैं जिनकी कुलसंख्या ९५९७ है। ग्रन्थ पाँच भागों में पूर्ण हुआ है। आरोग्यदर्पण के सम्पादक वैद्य गोपीनाथ गुप्त ने इसकी भावप्रकाशिका हिन्दी टीका की है। १९२४ ई० में प्रथम भाग तथा १९३७ ई० में पञ्चम भाग इस प्रकार १३ वर्षों के अनवरत परिश्रम से यह विशाल ग्रन्थ पूरा हो सका। ग्रन्थ के प्रारम्भ में रोगानुसारिणी सूची भी दी हुई है जिससे यह ग्रन्थ वैद्यसमाज के लिए अत्युपयोगी बन गया है।

६. श्रीशरभेन्द्रवैद्यरत्नाली—(तब्जोर, १९६२)

७. सहस्रयोग

अन्तिम दोनों ग्रन्थ दक्षिणभारत में प्रचलित हैं।



-
१. योग-ग्रन्थों के विस्तृत विवरण के लिए देखें—आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास,
पृ० २८२-३०३

सन्दर्भ-सूची

- अग्रवाल, वासुदेवशरण : कादम्बरी-एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्बा, वाराणसी, १९५८
- बही : हर्षचरित-सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६४ (द्वि० सं०)
- बही : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, चौखम्बा, वाराणसी, १९६३
- अत्रिदेव : आयुर्वेद का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९५४
- बही : आयुर्वेद का बृहत् इतिहास, लखनऊ, १९६०
- उपाध्याय, भगवतशरण : कालिदास का भारत, १-२ भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९६३-६४ (तृ० सं०)
- कश्यप : काश्यपसंहिता, चौखम्बा, वाराणसी, १९५३
- गुप्त बिरजाचरण : वनौषधिदर्पण, भाग १-२, कलकत्ता, १९०८-९
- चक्रपाणिदत्त : चरकसंहिता-व्याख्या (आयुर्वेददीपिका), निर्णयसागर, बम्बई, १९४१ (तृ० सं०)
- बही : सुश्रुतसंहिता-व्याख्या (भानुमती) स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर, १९३९
- चट्टोपाध्याय, प्रभाकर : आयुर्वेद का इतिहास, आयुर्वेद विकास, जनवरी, १९६५
- चतुर्वेदी, सीताराम : कालिदास-ग्रन्थावली, अलीगढ़, सं० २०१९ (तृ० सं०)
- ठाकर, जयकृष्ण इन्द्रजी : बनस्पतिशास्त्र, पोरबन्दर, १९१०
- ढव्हाण : सुश्रुतसंहिता-व्याख्या (निबन्धसंग्रह) निर्णयसागर, बम्बई, १९१६
- दीपङ्कर : कौटिल्यकालीन भारत, १९६८
- देसाई, वामन गणेश : औषधिसंग्रह, बम्बई, १९२७
- द्विवेदी, विश्वनाथ : आयुर्वेद की औषधियाँ व उनका वर्गीकरण, जामनगर, १९६६
- बही : औषधिविज्ञान शास्त्र, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, नागपुर, १९७०
- धर्मदत्त : औषधिविज्ञान, भाग १-२, इटावा, १९३४-१९३८
- : नेपालराजकीयवीरपुस्तकालयस्थ पुस्तकानां बृहत्सूचीपत्रम् , आयुर्वेदविषयकः पंचमो भागः, सं० २०२१
- पतञ्जलि : महाभाष्य, १-६ खण्ड, गुरुकुल प्रज्जर, १९६१-६२
- पदे, शंकरदाजी शास्त्री : वनौषधिगुणादर्श (म०), भाग १-६, पूना, १९०९-१३ (द्वि० तृ० सं०)
- पुरुषोत्तम : त्रिकाण्डशेष, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९१६
- बाणभट्ट : कादम्बरी, चौखम्बा, १९६१ (द्वि० सं०)
- बही : हर्षचरित, बही, १९६४ (द्वि० सं०)

(३४४)

- बापालाल वैद्य : निघण्टु आदर्श (गु०), भाग १-२, लेखक द्वारा प्रकाशित, १९२७-२८
- वही : निघण्टु आदर्श, भाग १ (हिन्दी), चौखम्बा, १९६८
- वही : संस्कृत साहित्य में वनस्पतियों (गु०) अहमदाबाद, १९५२
- वही : निघण्टुसंग्रह, स्वाध्याय, भाग ८, अंक १
- अह्म, श्रीकृष्णराम शास्त्री : सिद्धभेषजमणिमाला, जयपुर, (पंचम सं०)
- अण्डारी, चन्द्रराज : वनौषधिचन्द्रोदय, भाग १-१०, भानपुरा (इन्दौर), १९३८-४४
- आनुजी दीक्षित : रामाश्रमी (व्याख्यासुधा) व्याख्या, अमरकोष, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०
- आचमिश्र : आचप्रकाश, कृष्णचन्द्रचुनेकरकृत टीकासहित, चौखम्बा, १९६९ (च० सं०)
- वही : वही, श्रीगिरिजादयालु शुक्लसंपादित, चौखम्बा, वाराणसी, १९५९
- महेन्द्रभोगिक : धन्वन्तरिनिघण्टु, रागनिघण्टुसहित आनन्दाश्रम, पूना, (द्वि० सं०)
- महेश्वर सूरि : विश्वप्रकाश, चौखम्बा, वाराणसी, १९६१ (द्वि० सं०)
- मोतीचन्द्र : सार्थबाह, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५३
- वही : चतुर्भाषी, बम्बई, १९५९
- याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताररासहित), चौखम्बा, वाराणसी, १९६७
- चादवजी त्रिकमजी : द्रव्यगुणविज्ञानम्, भाग २, बम्बई, १९५०
- राजशेखर : काव्यमीमांसा, चौखम्बा, वाराणसी, १९५९ (द्वि० सं०)
- बन्धुघटीय सर्वानन्द : अमरकोषोद्धाटन व्याख्या, त्रिवेन्द्रम्, १९१४
- बर्चमान : गणरत्नमहोदधि, मोतीलाल बनारसीदाम, दिल्ली, १९६३
- बागमट : अष्टांगसंग्रह (अत्रिदेवकृत टीका सहित) प्रथम भाग, निर्णयसागर बम्बई, १९५१
- वही : अष्टांगहृदय (सर्वाङ्गसुन्दरा व्याख्यासहित) विजयरत्नसेन संपादित, कलकत्ता, १८८६
- वही : अष्टांगहृदय (अरुणदत्त-हेमाद्रिकृतव्याख्यासहित) निर्णयसागर, बम्बई, १९२५
- वही : अष्टांगहृदय (टीकात्रयसहित), बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९२८
- चात्स्यायन : कामसूत्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९६४
- बामन, जयादिस्थ : काशिका, चौखम्बा १९५२ (तृ० सं०)
- वैद्य रामनारायण (सं०) : यादवस्मृति-ग्रन्थ, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, कलकत्ता, सं० २०१८
- वैश्य, रूपलाल : अभिनव वृटीदर्पण, चौखम्बा, भाग १-२, १९४०
- वही : शालिग्राम-निघण्टुभूषण, खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई, १९५३
- शर्मा, दिनेशचन्द्र : वेदों में द्रव्यगुणशास्त्र, जामनगर, १९६८-६९
- शर्मा, प्रियव्रत : द्रव्यगुण विज्ञान, भाग १-३, चौखम्बा, वाराणसी, १९५५-५६
- वही : आयुर्वेद की कुछ प्राचीन पुस्तकें, चौखम्बा, वाराणसी, १९६२
- वही : बागमट-विवेचन, चौखम्बा, वाराणसी, १९६८

(३४५)

- वही (सं०) : हृदयदीपक, J. R. I. M. Vol. 3, No. 2, १९६९
 वही : चरकचिन्तन, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०
 वही : आयुर्वेद का चाङ्गमय, J. R. I. M, Vol. 4, No. 3, १९७१
 वही (सं०) : माधव-द्रव्यगुण, चौखम्बा, वाराणसी, १९७३
 शर्मा, हेमराज : उपोद्धात, काश्यपसंहिता, चौखम्बा, वाराणसी, १९५३
 शार्ङ्गदेव : संगीतरत्नाकर, भाग १, अडियार पुस्तकालय, मद्रास, १९४३
 शार्ङ्गधर : शार्ङ्गधरसंहिता (दीपिका-गूढार्थदीपिका व्याख्यासहित) निर्णयसागर, बम्बई,
 १९३१ (द्वि० सं०)
 शास्त्री, महेन्द्रकुमार : आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९४८
 शास्त्री, रामगोपाल : वेदों में आयुर्वेद, दिल्ली, १९५६
 सिंह, प्रताप (सं०) : आयुर्वेदमहामण्डल-रजतजयन्तीग्रन्थ, भाग १-२, पूना,
 १९३५-३६
 सुश्रुत : सुश्रुतसंहिता, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९३३ (द्वि० सं०)
 सेनगुप्त, चिनोदलाल : आयुर्वेदविज्ञानम् भाग १-२, कलकत्ता, १८८७
 हेमचन्द्र : निषण्डशेष, अहमदाबाद, १९६८
 Amarakosa with commentaries of Ksiraswami and Sarvananda
 Trivandrum Sanskrit Series, 1915-17.
 Banerjee S. C. : Kālidāsa-Koṣa, Chowkhamba, Varanasi, 1968.
 B. C. Law Volume, Pt. II-II, Calcutta, 1945-46.
 Bernier, Francois : Travels in the Mogul Empire (A. D. 1656-1668),
 Beveridge, A. S. : Baburnāmā (Eng. Tr.) Delhi, 1970 (Rep.)
 Blockmann, H. : The Ain-e-Akbari (Eng. Tr.), Delhi, 1965 (2nd ed.)
 Bloommfield, M. (ed.) : The kausika Sutra of Atharvaveda, New
 Haven, 1889; Motilal Banarsidass, 1972.
 Candolle, A. D. : Origin of Cultivated Plants, New York, 1959 (Rep.)
 Chakravarty, Chandra : A Comparatiue Hindu Materia Medica,
 Calcutta, 1923.
 Idem : A Note on Ayurvedic Nighantus, Nagarjuna,
 June, 1966.
 Chaudhary, B. : Vegetables, National Book Trust, New Delhi, 1967.
 Chaudhary, Tarapada (ed.) : Paryāyaratnamālā, Patna University
 Journal, Vol. II. 1946.
 A Check-list of Sanskrit Medical Manuscripts in India, C. C. R. I.
 M. & H., New Delhi, 1972.

(३४६)

- Chopra, R. N. et al. : Indigenous Drugs of India, Calcutta, 1958.
(2nd ed.)
- Danverse, F. C. : The Portuguese in India, London, 1874.
- Das Gupta, S. N. : A History of Indian Philosophy, Vol. 11,
Cambridge, 1961.
Descriptive Catalogue of Manuscripts in the
Government Manuscripts Library, Vol. XVI, Part-I,
B. O. R. I., Poona, 1939.
A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts,
Vol. XII, Saraswati Bhavan, Varanasi, 1965.
A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts
in Govt. Oriental Manuscripts Library, Madras,
Vol. XXIII.
A descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in
Saraswati Mahal Library, Tanjore, Vol. XVI,
Srirangam, 1933.
- Dutt, U. C. : The Materia Medical of the Hindus, Calcutta, 1922,
(2nd ed.)
- Dwarkanath, C. : Use of Opium and Cannabis in the traditional
systems of Medicine in India, Bulletin on Narcotics,
Vol. XVII, No. 1. W. H. O. Geneva, Jan.-March,
1965.
- Gibb, H. A. R. : The Travels of Ibn-Batuta (A. D. 1325-1354),
Cambridge, 1971.
- Idem : Kaiyadeva and a Medical or Botanical Glossary
Ascribed to Him-Before A. D. 1450, A. B. O. R. I.,
Poona, Vol. XIX, 1938-39.
- Idem : Studies in Indian Cultural History, Vol. I,
Hoshiarpur 1971.
- Goodman, L. S. & Gillman A. : The pharmacological basis of Thera-
peutics, New York, 1970 (4th ed.)
- Harshe, R. G. (ed.) : The Sivakoṣa of Sivadatta Misra, Poona,
1952,
- Jolly, Julius : Indian Medicine (Translated in English by C. G.
Kashikar), Poona, 1951.

(१४०)

- Law. B. C. : Ancient Indian Flora, Indian Culture, Vol. XV, Nos. 1-4, July 1948—June 1949.
- Macdonell, A. A. & Keith, A. B. : Vedic Index of Names and subjects, Motilal Banarasi Das, 1958.
- Majumdar, G. P. : Vanaspati, Calcutta University, 1927.
- Idem : Vedic Plants, B. C. Law Vol., Pt. I, P. 645-666.
- Patkar, M. M. : Introduction, Sāradyākhyā Nāmamālā, Poona, 1851.
- Pharmacopoea of India, Delhi, 1966. (2nd ed.)
- Raghavan, V. : New Catalogus Catalogorum, Vol. I-V, Madras University, 1968-69.
- The Rauwolfia story, CIBA Pharma, Bombay, 1945.
- Ray, H. C. : The Dynastic History of Northern India, Vol. II, Delhi, 1973. (2nd ed.)
- Ray, P. : History of Chemistry in Ancient and Medieval India, Calcutta, 1956.
- Ray. P. & Gupta, H. N. : Caraka Samhita (A scientific synopsis), New Delhi, 1965.
- Report of the Committee to Assess and evaluate the Present status of Ayurvedic system of Medicine, Ministry of Health, Govt. of India, 1958.
- Report of the Meeting of the Panel on Ayurveda, Planning Commission, Govt. of India, 1960.
- Rogers, Alexander : Tuzuk-i-Jehangiri (Eng. Tr.), Vol. I & II, Delhi, 1968 (2nd ed.)
- Sharma, H. D. & Sardesai : Introduction, Amarakosa (with ksirawami's Commentary) Oriental Book Agency, Poona, 1941.
- Idem : Indian Medicine in the Classical Age, Chowkhamba, Varanasi, 1972.
- Idem : The Nighantu of Sodhala, A. B. O. R. I., Vol. LII, Poona, 1972.
- Idem : The Astanga Nighantu of Acarya Vahata, Madras, 1973.
- Sharma, Ramawatar : Introduction, Kalpadrukosa, Vol. I, Baroda, 1928.

(३४८)

- Shastri, Ajayamitra : India As seen in the Bṛhat Samhitā of Varahamihira, Motilal Banarasidas, 1969.
- Shastri, Shama : Kautilya's Arthashastra, Mysore, 1960 (6th ed.)
- Shrivastava, G. P. : History of Indian Pharmacy, Vol. I, Calcutta, 1954. (2nd ed.)
- Singh, -B. & Chunekar, K. C. : Glossary of Vegetable Drugs in Bṛhatrayi, Chowkhamba, Varanasi. 1972.
- Singh, Ranjit : Fruits, National Book Trust. New Delhi, 1969.
- Sinhjee, Bhagavat : A Short History of Aryan Medical Science, New York, 1896, Gondal, 1957 (2nd ed.)
- Sodhala : Guna Samgraha, Ms., B. O. R. I., poona.
- The Travels of Marco Polo (1255-1295), Orion Press, New York.
- Tripathi, R. S. : Descriptive Catalogue of Manuscripts in Libraries of Banaras Hindu University, B. H. U. Varanasi, 1971.
- dem : Bṛhat Samhita, ed. Subrahmanyam Shastri & Ramkrishna Bhat, Mysore, 1946.
- Wealth of India, C. S. I. R., Vol. I-Ix, New Delhi, 1948-1972
- Watt, George : Dictionary of Economic Products of India, London, 1889-1893, Rep. Delhi, 1972.
- Yazdani, G. : The Early History of the Deccan, Pts. VII-XI, London, 1560.



शुद्धिपत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
११	प्रतिचीन	प्रतीचीन
१३	दन्धधावन	दन्तधावन
१४	मलपातक	भल्लातक
३७	सलु	सक्तु
४५	आरम्बध	आरग्वध
५१	कुष्ठ	कुष्ठ-
६९	'ताई' और 'ताल' के बीच में 'ताष्टी' रखें ।	
७३	मूषिकेविषनाशन	मूषिकविषनाशन
७७	अघद्विष्टा	अघद्विष्टा
८०	यद्य	यह
८१	महाभाष्य	महाभाष्य (६।१।९; ८।२।२५)
८७	परवित्क	पर्णवल्क
१०१	पुष्पाभिषेक	पुष्पाभिषेक
१०५	वा (ब ला	वा (ब) ला
१११	अथर्ववेद	अथर्ववेद
११२	मधुभाष्या	मधुकाव्या
॥	विलय	विजय
१२२	चोर	चारे
१२६	लघुकण्टवारिका	लघुकण्टकारिका
१३४	ऊपर	ऊपर
॥	वीरणितूल	वीरणेतूल
१५२	श्यामाकताण्डुल	श्यामाकतण्डुल
१५८	त्रिवर्णसर्षप	त्रिवर्णसर्षप
१७२	अघद्विष्टा	अघद्विष्टा
२१९	पञ्चमहाभूतों	पञ्चमहाभूतों
२३२	बृहत्त्रयी	बृहत्त्रयी
२३३	अहिर्केन	अहिर्केन
२८६	द्रव्यसंबन्धी ^२	द्रव्यसंबन्धी
२४५	मधुपण्ठी	मधुपण्ठी
३०३	'शालिग्रामनिधण्डु' शीर्षक पंक्ति २ के बाद रखें ।	

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

अनुक्रमणिका-१

द्रव्य

अ

अंगूर २५४
 अंजीर २५२
 अन्धकरणी ७
 अन्धपुष्पिका ७, १६८
 अंशुमती १२
 अकण्टक वृक्ष १७०
 अकरकशा २३२
 अकर्ण ३
 अक्ष ३, १०४
 अगारु ४
 अगारुत्रितय ४
 अग्निजार २६५
 अघद्विष्टा ४, ७७
 अचल ६६
 अष्टिद्वपन्न ४
 अजमोदा २३२
 अजशृङ्गी ५, ७१
 अजिनफला ५
 अजिर ५
 अजीता ५
 अणु ५
 अतस ५
 अतसी ५, ३८
 अतिबला ६
 अतियव २६३
 अतिविद्धभेषजी ६, ९०
 अहष्टदहनी ६
 अधःपुष्पिका ७२
 अधःपुष्प ६

अध्य (ध्या) ण्डा ६

अनन्ता ७
 अनवर २६५
 अनानास २५३
 अनार २५४
 अनुलेपन १७०
 अपरका ७
 अपराजित गण ७
 अपराजिता ७, २३१
 अपस्कम्भ ७
 अपाघ ८
 अपामार्ग ८
 अपामार्गतण्डुल ९
 अपामार्गत्रयोदशी ११
 अपामार्गप्रसून ११
 अपामार्ग चीरुध ९
 अपामार्गहोम १०
 अपाष्ट ११
 अफूक २३३
 अफ्यून २३३
 अभय गण १७०
 अभया ११
 अभिरोहद ११
 अभिषुक् २५६
 अभीर्घर्त ११
 अभिखाता १२, १११
 अमन्त्रि १२
 अमरबेल १२
 अमरुद २५३, २५४, २५५
 अमरुफल २५३

(३५२)

अमला १२
 अमूला १२
 अमृत १२
 अमृततृण १२
 अमृतफल २५३, २५५
 अमृतभेषज १३८
 अम्बर ३६५
 अम्ल १७०
 अम्लिका १२
 अयाजिक काष्ठ १७०
 अरदु १२
 अरहु १२
 अरुणिका १३
 अरुणी १३
 अरदु १३
 अरु १३
 अरु १३
 अरु १३
 अरुदण्ड १३
 अराटकी ५, १३
 अरिमेद १३
 अरिष्ट १३
 अरुन्धती १३; १४९, १५९
 अरुंकर १४
 अरुन्नाण १४
 अर्क १५
 अर्ककोशी १५
 अर्कधाना १५
 अर्कपर्ण १५
 अर्कपुष्प १५
 अर्कमणि १६
 अर्कमूल १६
 अर्कसमुद्गा १५
 अर्काष्टीला १६
 अर्जक १५५
 अर्जुन १७, ४०, ६६, १२८, २२१
 अर्जुनपाकी १९
 अलसन्द २६३

अलसान्द्र २६३
 अलसाला १९
 अलाका १९
 अलाबु २५८
 अलाबुक १९
 अलाबू १९
 अल्लूक २५९
 अवका १९
 अवघ्नी २०
 अवालिस २०
 अशोक २०
 अश्मन्तक २०, २१
 अश्मयोक्त २१
 अश्मला २१
 अश्वगन्धा २०, २१
 अश्वत्थ २१, ९१
 अश्वबला २५८
 अश्ववार २३
 अशवावती २४
 असन २४
 असिक्ती २४, ६९
 असिपत्र २४
 असुकस्थान ३०
 अस्तृत २४
 अस्पगोल २३४
 अहिच्छत्रक २४
 अहिफेन २३१, २३३

आ

आकल्लक २३२
 आकारकरभ २३१, २३२
 आकाशफेन २४
 आकुलकरा २३२
 आकृतिलोष्ठ २४
 आखु २४
 आघाट २५

(३५३)

आजाद दरख्त २४५

आज्ञन २५

आटरुष २७

आहू २५३

आण्डीक २७

आदार २७, ९६

आदिश्यगण १५९, १७०

आदिश्यमण्डक १२२

आफतावी ३५२

आमल (क) २८

आमलकी १२

आम्ब २८

आम्न २८

आयती २९

आयुष्यगण १७०

आरग्वध २१, ४५, १०४

आरुक् २५३

आर्द्रक २८, २९

आल १९

आल (क) २९

आलु २४५

आलु २५९

आलुबुखारा २५४

आवय १५६

आवय (यु) २९

आषाढा ७७

आसुरी २९, १३५

आसुरीकल्प ४, ३०

आज्ञावमेषज ३०

आह्न ३०, ८९

इ

इक्षु ३०, ५१

इक्षु (पुष्प) ३०

इक्षुकाण्ड ३०

इक्षुपर्ण ३०

इक्षिद ३०

इक्षुद (दी) ३१

२३ द्र० च०

इज्जल ३१

इट ३१

इड ३१

इत्कट ४१

इन्दुक १००

इन्द्रयव ३७, ८९

इन्द्रवल्ली ३१

इन्द्रवारुणी ३१, ५३

इन्द्रवारुणीमेद ४६

इन्द्रवृत्त ३१

इन्द्राच ३१

इन्द्राणी ३१

इरिका ३२

इर्य ३२

इषीका ३२

इसबगोल २३३

ई

ईर्ष्यामेषज ३२

ईश्वरबोल २३४

ईषद्गोल २३४

उ

उग्रगन्धा २३७

उग्रौषधि ३२, १४०

उच्छटा २३४

उच्छिन्नपर्ण १४०

उच्छुष्मा ३२, ४२

उच्छुष्माकल्प ३२

उदंगन २३४

उत्तम तीरुध १२२

उत्तानपर्णा ३२, ८९

उत्पल ३३

उत्सक्तमेषज ३३

उदुम्बर ३३, ३९, ९३, ९६, १०२, ११५

उदुम्बरप्रसून ३३

उदुम्बरमणि ३३

उदुम्बरशालादु ३३

उदुम्बल ३३

(३५४)

उदोजस ३७
 उद्दालक ३७
 उद्ययन्ती ३७
 उद्भाव २५६
 उपवाक (का) ३७
 उपोदकी ३७
 उपोलव ३७
 उमा ३७
 उर्बाह (क) ३८
 उल ३८
 उलप ३८
 उशना ३८
 उशाना ३८
 उशीर ३९
 उत्तुरक २४१

ऊ

ऊतीक ३९, ९६
 ऊर्जयन्ती ३९
 ऊर्जावान् ३९
 ऊर्ध्वफल ३९
 ऊषणा ३९

ऋ

ऋतजात ३९
 ऋतपर्ण ३९
 ऋतफल ३९
 ऋतावरी ३९, १४३
 ऋद्धि ३९
 ऋचम ३९

ए

एकक्रीतक ३९
 एकपुष्पा ४०
 एरका (क) ४०
 एरण्ड ४०, ६९
 एरण्डचिर्भट २५६
 एरिबेन्थस २६१

एर्बाह ४०
 एलचीफल २५८
 एला ४०
 एलापर्णी २३७
 ओ
 ओजोमानी ४०
 ओषधिगण १७०
 औ
 औच ४०
 औक्षगन्धि ४०

क

ककुच ४०
 ककुभ ४०
 कक्षतु ४०
 कंक ४०
 कंकत १३२
 कंकतदन्ती ४१
 कङ्गोल २३४
 कङ्गु १०१
 कञ्चुरा ४१
 कटभ ४१
 कटुकपत्रा ३०
 कटुका ३०
 कठगूलर २५३
 कङ्घिन्दु ४१
 कंट ४१
 कंटकारिका ४१
 कंटकारी ४१
 कंटकी ४१
 कंटकी (वृक्ष) ४१, १७०
 कण्टक ४१
 कण्डू २५२
 कण्वजम्बनी ९८
 कदम्ब ४१
 कदर ४१
 कदल (ली) ४१
 कनकक ४१

(३५५)

कंदली ४२
 कपिकच्छू ३२
 कपितैल २४१
 कपित्थक ४२
 कम्प ४२
 कमल ४२, ९५
 कं पिण्डक ४२
 कंबला ४२
 कंबू ४३
 करञ्ज ४३
 करवीर ४३, २३४
 करीर ४३, ५४
 कर्कटकश ४४
 कर्कटिका (क) ४४
 कर्कन्धु ४४, ५६
 कर्करिक ४४
 कर्करी ४४
 कर्ण ४५
 कर्णिकार ४५
 कर्पास ४५
 कर्पूर ४५, २३४
 कर्पूरक ६६
 कर्पूरत्रितय २३५
 कर्पूरनिर्यास २३४
 कर्मरङ्ग २५४
 कर्शाफ ४५
 कलञ्ज ४५
 कलम्बक २३५
 कलम्बा २३५
 कलाय ४५, ३६२
 कलि ३
 कलिहारी १२
 कश्क २४१
 कश्मलि ४५
 कश्वाणी १३९
 कवल ४४, ४५
 कवे २६४

कशेरुक ४५
 कषाय १७१
 कसाग्नु ४६
 कस्तुरिका शाक ३८
 कस्तूरिका ३८
 कस्तूरी २६, २६४
 काउण्टेस पाउडर २५०
 काककवली ४६
 काकजंघा ४६
 काकपीलु २३५
 काकमाची ४६, ६८, ८२
 काकम्बीर ४६
 काकातनी ४६
 काकिणी ४६
 काकुत्था ४६
 काकोदुम्बरिका २५३
 काचकपुष्पी ४६
 काचमादनी ६०
 काजू २५४
 काजूतक २५४
 काञ्चनार ४६
 काण्डपुष्पा ४६
 काण्डीर ४७
 कांदाविष ४७
 कापोती ४७
 कॉफी २६४
 काफे २६४
 कांपील ४२, ४७
 कारस्कर ४७, २३५
 कारीरी ४३
 कार्पास ४५
 कार्मुक ५५
 कार्प्पर्य ४७
 कार्प्य ४८
 कालक्रीतक ४८
 काला ४८
 कालाञ्जनिका २३७

(३५६)

कालाञ्जनी २३७	कुलिञ्जन २३६
कालिङ्ग २५५	कुसमाष ५०
कालिन्द् २५५	कुवल ४४, ५०
कालेयक २३५	कुश ५०
काश २३, ४८	कुशर ५१
काशीफल २५९	कुषुम्भ ५१
काश्मीरज २३७	कुष्ठ ५१, ८०
काश्मीरजन्मा. २३७	कुष्ठकेतु २४९
किंशुक ४८, १४६	कुष्ठवेरी २४१
किंशुलुक ४८	कुसुम्भ ५१, ११५
किरि ४८	कुस्तुम्बुरु ५२
किलासनाशन ४९	कूदी ५२
किलासमेवज ४९	कूमाण्ड ५३
किशमिश २५४, २५६	कृत्यधनी ५३
कोटमारिणी २४२	कृत्यागण १७१
कीबामारी २४२	कृत्यादूषण ७
कुकरौंधा २३५	कृत्यादूषि ६६
कुकुन्दर ४९	कृमुक ५३, ५५
कुकुस ४९	कृष्णक ५३
कुंकुम ४९, २३७	कृष्णचणक ५३, ६४
कुचला २३५	कृष्णबीज २३७
कुटक ४९	कृष्णल ५३
कुटज ४९	कृष्णा ५३, ८२
कुटी ५२	कृष्णाजाजी ५३
कुट्ट २६१	कृसर ५३
कुदी ५२	केर (रा) ५४
कुद्रीची ४९	केरापर्णी ५४
कुंद ४९	केव ५४
कुन्दर २४९	केशदंढणी ५४
कुपीलुं २३५	केशर २३७
कुमारी २३६	केशवर्धनी ५४
कुमारी (ह्य.) ४९	केशानी ५४
कुमुद २७, ४९	केशी ५४
कुरण्ट (क) ४९	कैवस २६०
कुरर ४९	कैवेज २६०
कुलञ्जन २३६	कोद्रव ५४
कुलस्थ ५०, ६०	कोबी २६०
	कोल ४४, ५५
	कोविदार ५५

(३५७)

कोशकारी ५५
 कोशबिला ५५
 कोशातकी ५५
 कोहड़ा २५९
 कौवीराल ५५
 कौहक ५५
 क्याम्बू ५५
 क्रकोष्मा ५५
 क्रमुक ५३, ५५, २४३
 क्रमुकवृक्ष ७
 क्रिओस २६१
 क्लीतक ५६, २४५
 क्लीबकरणी ४४, ५६
 क्वल ४४, ५६
 क्वक ५६
 क्षिप्तभेषजी ५६, ९१
 क्षीरचम्पक २३८
 क्षीरिणी ५७
 क्षीरीवृक्ष १०१, १७१
 क्षुद्रमुष्टि २३५
 क्षुमा ५७
 क्षुम्प ५७
 क्षेत्रियनाशनी ५७
 ख
 खट्वाशी २६६
 खड (डा) ५७
 खण्डिका ३६२
 खदिर १३, ५७, ९३, ३३१
 खदिरसार मणि ६०
 खर्जूर ६०, २५४
 खर्जूरीविशेष २५५
 खर्परसख २७५
 खर्वुज २५४
 खलकुल ६०
 खलतुलपर्णी ६०
 खलव ६१
 खलआन २३६

खुरासानी अजवायन २४२
 खुर्मा २५५
 खेसारी २६२
 ग
 गण्डगात्र २५८
 गन्धद्रव्य १७१
 गन्धप्रियङ्गु २४३
 गन्धमार्जारवीर्य २६६
 गन्धवृक्ष ६१
 गन्धौषधि ६१
 गभीका ६१
 गर्मुत् ६१
 गर्हा ६१
 गलङ्गल २३६
 गलावण ६१
 गवादनी ६१
 गवीधुक ६१
 गवीधुका ७१
 गवेधुक ६१
 गवेधुका ६१
 गहुला २४३
 गाजर २५९, २६०
 गिरिमालक १०५
 गुच्छौषपुष्प २४६
 गुञ्जा २३४
 गुहूची १२, ४०, ६२
 गुन्द्र ६३, २४४
 गुलब्बास २५१
 गुलाचीन २३८
 गुलाब २५१
 गुल्गुलु ६२
 गुल्गुलगन्धि ६२
 गुवाक ६३, २४३
 गुञ्जन ६३, २६०
 गुञ्जर २६०
 गोंदा २५२
 गोधूम ६३

(३५८)

गोधूमव्याधि २९

गोभी २६०

गौरसर्षप ६३, ९०

गौलगुलव ६२

ग्रन्थिक २४७

ग्रन्थिगोभी २६०

ग्र ६३

घ

घुणजम्बनी ७३

घृताची ६३

च

चक्रमर्दक ६४

चक्राङ्किता ६४

चणक ५३, ६१, ६४, २६१

चतुरश्रुल ६४

चतुष्कोण वनस्पति ६४

चनसुर २३८

चन्दन ६४

चन्द्रशूर २३८

चम्पक ६४, २५२

चव्य २३८

चातनगण १७१

चान्दनमणि ६४

चाय २६४

चिति (ति) ६५

चित्रक ६५

चित्रपर्णी ६५

चिलगोजा २५५

चीनक २३५, २६२

चीनी कुलञ्जन २३७

चीपुद्गु ६४, ६५, १४९

चुपुणीका ६५, ८२

चेतन्ती ६५

चोपचीनी २३१, २३८

चौहार २३८

च्युकाकणी ६५

ज

जाम्बिड ६५, १३४

जतु ६६

जपा ६६, २५२

जमालगोटा २३८

जम्बीर (ल) ६६

जम्बू ६६

जयन्ती ६६

जयपाल २३८

जस्मे हयात २४२

जतिल ६६, ७०

जर्दालु २५४

जवादि २६६

जलाषमेषज ६६

जस्त २७५

जाती ६६

जातीखक २३९

जातीफल ६७, २३९

जातीरस २४४

जायफल २३९

जाय्य ६७

जाबा कुलञ्जन २३७

जावित्री २३९

जीवन्त ६७

जीवन्ती १४

जीबला १३, १४, ६७, १५९

जीबी ६८

जीव्यलाका ६८

जेसुइट बार्क २५०

ज्येष्ठीमधु ६८

ज्येष्ठीमधुक ११२

ज्वार २६२

छ

छत्राक ६५

छोटा कुलञ्जन २३६

छोहारा २५५

(३३५९)

ट
 टङ्क २५५
 टमाटर २६०
 ड
 डिण्डवा २६१
 डुकुस २५९
 डुण्डुम ८५
 त
 तक्मनाशनगण १७१
 तगर ६८
 तण्डुलीयक ६८
 तमाखु २३१, २३५, २३९
 तमाल ६८
 तरवृज २५४, २५५
 तरुणक ६८
 तरुणी २५१
 तलाशा (शा) ६८
 तबचीर २६२
 तवराजशर्करा २४७
 तस्तुष ६९
 ताजझङ्ग ६९
 ताबुव ६९
 ताम्बूल ६९, २४०
 ताम्र ३३
 तार्छ (च) ६९
 ताल ६९, २४०
 तालीश ६८
 तालीस ६९
 तिखुर २६२
 तिनिश ६९, ७२
 तिन्तिडीक
 तिन्दुक ६९
 तिमिरक २४, ६९
 तिर ७१
 तिल ६९
 तिलक ७१, १६६
 तिलपिञ्ज ७०

तिलपिशित ७१
 तिलौदन ७१
 तिषवक ७१
 तिषवका ७१
 तीचणतैल ७१
 तीचणववश ७१
 तीचणशुङ्गी ५, ७१
 तीव्रदारु ७२
 तुल्म हरपंदान २३८
 तुम्र ७२
 तुङ्ग ७२
 तुन्यु ७२
 तुम्बर ७२
 तुम्बरवण्ड ७२
 तुम्बुरु ७२
 तुरखीनी २४७
 तुरुष्क २३१, २४०
 तुरुष्का २४२
 तुलसी ७२, २३५
 तुवरक २४१
 तुर्यन्ती ७२
 वृण ७२
 वृणजात ३८
 वृष ७२
 वृष्टा (ष्टिका) ७३
 वृष्टाघ (ष्र) ७३
 वृष्टिका १०५
 तेजन ७३
 तेजनी ७३
 तौदी ७३
 तौविलिका ७३
 त्रपुस ७४
 त्रायमाण ७४
 त्रायमाणा १४, ७४
 त्रिकण्टक ७४
 त्रिपुर २६२
 त्रिफला १७१

(३६)

त्रिमधुर १७१
 त्रिवर्णसर्प १५८
 त्रिवृत् ७४
 त्रिवृता ७४
 त्रिवृन्मणि २४
 त्रिसङ्ख्या १५४
 त्रुटि ७४

द

दण्डन ११
 दक्षिण ७५
 दन्ती २३९
 दन्दचीनी २३९
 दर्भ ३०, ३२, ७५, ७७, १४०, १६०
 दर्भस्तम्ब ७६
 दशपत्रा ७६
 दशवृक्ष ७६, १७१
 दाडिम ७६
 दाह ७६

दाहपत्रा ७७

दारुहरिद्रा ७७

दिप्तीषधि ७७

दिविधुषक ७७

दिग्य भेषज १२२

दुःस्वप्ननाशन गण १७१

दुर्नाम ७७

दुरण्यवन ७६, ७७, १४०

दूर्वा ८, ७७

दन्धु ७८

देवजाता वीक्ष्

देवजूता ३२, ८९

देवदाह ४६, ७८, ९३, ९६, ९७

देवपाली २४९

देवमुनि ७८

देवी ७८, ८२

द्वन्ती २३८

द्राक्षा ७८

द्रुघण ७८

द्रुघणमणि ७८

द्रुघ्नी ७८

द्रुक २४५

द्रुकी २४५

द्रुक्का २४५

द्वीपान्तरवचा २३८

घ

घत्तूर ४१, २४१

घन्वन ७८

घव ७९

घातकी ७९

घात्री ७९

धान्य १७१

धुत्तूर ७९

धूपतृण ७९

धूम्रपत्रा २४२

न

नकली कलम्बा २३५

नख २६५

नखरञ्जक २४६

नखरञ्जनी ७९

नड (ल) ७९

नद्यमार ५१, ८०

नद्य ८०

नद्यारिष ८०

नद्याय ५१

नद्यारिष १४, ५१

नद्यारिषा ७९

नराची ८०

नरिष्ठा ८०

नलद ८०, ८१

नलदी ८१

नलिन ८१

नाकुली ८१

नागकेशर ८१

नागरङ्ग २५६

(३६१)

नागवल्ली ६९, २४०
 नानाबीज १७१
 नानारोगभेषज ८१
 नानावृक्ष १७२
 नानावृक्षीय ३३
 नाभ २८, ८१
 नारङ्ग ८१, २५६
 नारिकेल ८१, २५५
 नारिकेलोदक २५५
 नारगील २५५
 नासपाती २५३, २५४, २५५
 नालिङ्ग ८१
 निचुदार ८१, १२३
 नितम्बी ४६, ८२
 निम्ब ८२
 निर्गुण्डी ८२
 निष्पाव ६१, ८२
 नीचदारु ८१
 नीचैः शास्त्र १००
 नीप ८२
 नीलागलखाला ८२
 नीलिका ८२
 नीलिनी १५५
 नीली २४, ५३, ८२, १५१
 नीलोत्पल ८२, ९५
 नीवार ८३
 नीविभार्य ८३, १०३
 नीवी १५७
 नेवजा २५५
 न्यग्रोध ८३
 न्यस्तिका ८४, १३९

प

पक्क कर्पूर २३४
 पञ्चवक्त्रकल ८४
 पटेरक ५४, ८४
 पत्त ८४

पत्रगोभी २६०
 पथरचूर २४२
 पथ्या ८४
 पथ ८४
 पथक ८५
 पथकन्द १०७
 पथचारिणी २५२
 पथनाल ८४
 पथपत्र ८५
 पथ्याच ३
 पनस ८५
 पनसवन ८५
 पपाया २५६
 पपीता २३१, २५६
 परशु ८५
 पराचीन ८५
 परायती ८५
 परारिका ८५
 परिधिवृक्ष १०२
 परिवृक्षा ७३
 परिष्याध ८५
 परुषक ८५
 परुषवार ८६
 परुषाह्न ८६
 पर्ण ८६, ८७, २४०
 पर्णकषाय ८७
 पर्णकृच्छ्र ८४, १०८, १३९
 पर्णधि ८७
 पर्णफला ७
 पर्णफलिनी ७
 पर्णबीज २४२
 पर्णयवानी २४२
 पर्णवस्त्र ८७
 पर्पट ८७
 पर्वतनिम्ब २४५
 पर्वतभेषज ८७
 पला ८७

(३६२)

पलाण्डु ८७, ११७
 पलाश १३, ८८
 पलाशवृक्ष ८६
 पलितंकरणी ८९
 पवाकस्ति ८९
 पाकदूर्वा ८९
 पाकवलि ८९
 पागल की जड़ी २४९
 पाटली ८९
 पाटा ८९
 पाठा ३२, ६७, ७४, ७९, ८९, १६०
 पान २४०
 पारसीक यवानी २३१, २४२
 पारिभद्रिका ९०
 पालक २६०
 पालङ्की २६०
 पालङ्क्य २६०
 पालाक्य ९०
 पालेवत ९०
 पाषिका ३८, ९०
 पाशीमूष ९०
 पाषाणभेद २४२
 पिङ्ग ९१, १०१, १०३
 पिण्डक २४१
 पिण्डखर्जूर २५५
 पिण्डखर्जूरिका २५५
 पिण्डफला ९०
 पिण्डालुक ९१
 पिण्डीतक ९१
 पिषती ९२
 पिचुक ९१
 पिचुमन्द ९०
 पिपरमिष्ट
 पिप्परी १०२
 पिप्पल २३, ९१
 पिप्पली ३८, ९१, १३१
 पिप्पलीमूल ९२

पिप्पल्यादि शान्तिगण १७२
 पियाङ्ग १०१
 पिस्ता २५६
 पीतकरवीर २३४
 पीतकूष्माण्ड २५९
 पीतमूली २४७
 पीतचन्दन २२५
 पीतसर्षप १०३
 पीतुदार ९२
 पीला ९३
 पीलु ९३
 पीलुमती ९३
 पुण्डरीक ५४, ९४
 पुण्डरीकवन ९४
 पुत्रजीवक ९४
 पुत्रजीवकाक्ष ३
 पुदीना २४३
 पुनर्नवा ९४
 पुष्पाग ९४
 पुरुषभेषज ९४
 पुष्कर ९५
 पुष्करतन्तु ९५
 पुष्करदण्ड ९५
 पुष्करपर्ण ९५
 पुष्कला ९६
 पुष्पगोभी २६०
 पुष्पा ९७
 पुष्याभिषेक १०१, १०४
 पूग ९६, २४३
 पूतद्रु ९६
 पूति २६६
 पूतिघास २६६ (कु०)
 पूतिरज्जु ९६
 पूतीक २७, ३९, ९६, १६५
 पूतुदार ९६, ९७
 पूतुदारमणि ९७
 पूतुद्रु ९६

(३६३)

पूयवृक्षफल १३
 पृश्निपर्णी १२, ९८, १५९, १६०
 पृषातक ९८
 पेरु २५३
 पेरु का चमत्कार २५१
 पेरुबियन बार्क २५०
 पैट्ट ९९
 पोटेटो २५९, २६१
 पोथिका १२
 पोदीनक २४३
 प्रतिसर ११, ९९, १६६
 प्रतीचीनफल ८, ११, ९९
 प्रतोद ९९
 प्रतोदाग्रमणि ९९
 प्रमोथ ९९
 प्रथक्पुष्पा ९९
 प्रपौण्डरीक २४५
 प्रबन्धिनी ९९
 प्रमन्द (नी) ९९
 प्रवाल २६६
 प्रसारणी ५४
 प्राक्पुष्पा १००
 प्राचीन (कण्टक) १००
 प्रान्त १००
 प्रान्तपुष्पा १००
 प्रायश्चित्ति १००
 प्रियङ्गु १००, १०२, २३१
 प्रियाल १०१
 प्रेणी १०१
 प्लक्ष १०१
 प्लक्षोदुम्बर १०२
 फ
 फलवती १०१, ५०२
 फलवृक्ष १०२
 फलिनी १०१
 फलोत्तम २८, ९६, १७२
 फल्गु २५३

फाल्गुन १८, १०३, १०४, १५३
 ब
 बंद्गण २६०
 बकुल १०३
 बज १०३
 बटाटा २५९, २६१
 बटाटास २५९, २६१
 बदा कुलजन २३६
 बदर ४४, १०३
 बवरी १०३
 बधक १०४
 बन भजवायन २३५
 बन्धूक १०४
 बन्धुजीवक १०४
 बन्धूल १०८, २४३
 बभ्रु ३, १०४, १३९
 बभ्रुतूल १८, १०३, १०४
 बर्बर २४४
 बर्वरी २४४
 बर्वरीत्रितय २४४
 बर्बुर २४४
 बला १४, १०४
 बलासनाशिनी १०४
 बलासमेधज १०४
 बलवज १०४
 बहुप (पु) त्रिका १०५
 बहुला २४०
 बाणापर्णी ७३, १३३, १३४
 बादरमणि १०४
 बादाम २५६
 बादंगान २६०
 बादंगान २६०
 बाधक १०५
 बा (ब) ला १०५
 बाहिका १०५
 बाह्लीक २५१, २३७
 बिभीतक ३, १०६

(३६४)

बिभीदक १०६	भूम्याहुस्य २४९
बिम्ब १०६	भूर्ज ११०
बिम्बी १०६	भूस्तृण ११०
बिम्ब १०६	भृङ्गरक ११०
बिस १०७	भृङ्गराज १९, ११०, १२४, १५१, १५५
बिही २५७	भैषज्यगण ४, ९२, १७२
बीजपूर २५७	म
बुर्बुर १०८	मक्का २६३
बृहती १०८	मङ्गल्य १११
बृहत्कण्टकारिका १०८	मचकचातनी १११
बृहत्पलाशा १४३	मञ्जिष्ठा १११
बृहद्दूर्वा १०८	मण्डूकपर्णी १११
बैगन २६०	मण्डूकी १११
बैस्वमणि १०७	मदन १११
बोल २४४	मदनफल १११, ११५
ब्रह्मवृक्ष १०८	मदनी १००
ब्रह्मसुवर्चला १०८	मदयन्तिका २४६
ब्राह्मी १०८	मदयन्ती १११
भङ्ग १०८, ११०, २४८	मदावती १११
भङ्गा १०८, ११०, २४८	मदुघ ११२
भचुण्ड १०९	मधुक ११२, ११३
भण्डी १०९	मधुकमणि ११२
भद्र १०९	मधुकर्कटी २५७
भद्रदारुणा १०९	मधुघ ११२
भद्रमुञ्ज १०९	मधुजाता ११३
भद्रमुस्त १०९	मधुदुघ ११२
भद्रोदुम्बरी २५३	मधुमती ११३
भङ्गातक १४, १०९	मधुयष्टिका ११३
भङ्ग्य १०९	मधुयष्टी २४४
भङ्गफला ११०	मधुला ३९, ११३
भङ्गास ११०	मधूक ११४
भार्य १५७	मधूकवृक्ष ११२
भिण्डा २६०	मधूलक ११४
भिण्डी २६०	मधुकोटा ११३
मीमसेनी कर्पूर १३४	मध्वष्टीला ११४
भू ११०	मन्दिरपुष्प २७८
भूमिपाशक ११०	मन्धुक ११४

(३६५)

मयूरशिखा ११४
 मरिच ११४
 मर्कटतिन्दुक २३५
 मलयकर्पूर २३४
 मलयू २५३
 मला ११४
 मल्लिका ११४
 मशकजम्बनी ११३, ११४
 मसुरिया जिनोर २६२
 मसूय ११४
 मसूर ११५
 मसूस्य ११५
 मस्तगी २४५
 महाकाय २६३
 महादेवी ११५
 महानिम्ब २४५
 महाबला ११५
 महाब्रीहि ११५, १३८
 महाभरी वचा २३७
 महारजन ११५
 महावृक्ष ११५
 महौषध ११५, २४९
 माङ्गलिक फल १०७
 माचिका २४६
 माचिका २४६
 माजू २४५
 माजूफल २४५
 मातुलानी २४८
 मातुलुङ्ग ११५
 मादानक ११५
 मांसी ११६
 मायाफल २४६
 मार्कण्डिका २४९
 मार्कण्डीय २४९
 मालती ११६
 माष ११६
 माषपर्णी ११७

माषिका १०५
 मिरिका ११७
 मिश्रधान्य १७२
 मुकुन्दक ११७
 मुकूलक २५६
 मुक्ता २६६
 मुक्तिका ११७
 मुञ्ज १५, १०५, १०९, ११७
 मुतव ११९
 मुद्र ११९
 मुनक्का २५४
 मुरब्बा २४७
 मुलाली ११९
 मुसल ११९
 मुस्ता ११९
 मूँगाफली २६१
 मूर्वा १२०, २४९
 मूलक १२०
 मूलशत १२०
 मूलोदक ६८, १२०
 मृणाली ११९
 मृद्वीका १२०
 मेढिका २५९
 मेढिकाई २५८
 मेतिका १२०
 मेदाविशेष २४८
 मेथिका १२३
 मेघशृङ्गी १२०
 मेंहदी २४६
 मोचक १२०
 मोहनप्रकरण ५

य

यज्ञवृक्ष २२, ३३, ५७, ८८, १३२, १७१
 यव १२०
 यवक १२२
 यवगोधूमवल्ली २९

(३६६)

यवमणि १२२
 यवस १२२
 यवानीविशेष २३८, २४२
 यवाष १२३
 यवासशर्करा २४७
 यवासा २४७
 यशद् २७५
 यशस्य ७, १७२
 यष्टिमधुक ११२
 यावन २४१
 यावनाल २६२
 यावनी २४२
 युकेलिप्टस २४७
 यूप्य १०६
 यूप्य वृक्ष १२५, १७२

र

रङ्गकुष्ठक २४७
 रक्तचन्दन १२३
 रक्तलशुन ४५
 रक्तलशुनक ४२
 रक्तशालि १२३
 रक्तसर्षप १५८
 रक्तिका ४६
 रक्षोघ्न ७
 रजनी १२०, १२३
 रज्जुदाल १२३
 रथबन्धुर १२४
 रस २४४
 रसकर्म १००
 रसभरी २५७
 राजक्षपणी १२४
 राजपर्णी १२४
 राजबदर २५६
 राजमाष १२४, २६३
 राजवृक्ष १२४
 राजवृक्षपर्णी १२४
 राजिका ३०, १२४

रात्रुक्षिया सपेण्डिता २४९

रामठ १२४, २५१

रामबाँस २४७

रामा १२४

रास्ना १२५, २३७

रीतिहेतु २७५

रुद्राक्ष ३

रूप १२४

रूमी मस्तगी २४५

रेचक २३९

रेवतिका २४७

रेवन्दचीनी २४७

रेण्य १२५

रोगस्थान ३०

रोपणाका १२५

रोहिणी १२५

रोहितक १२५

रोहिषवृण ५७

रौद्रगण १७२

रौहिण १२५

ल

लकुच १२६

लक्ष्मणा ९८, १२६

लघुकण्टकारिका १२६

लवङ्ग १२६, २४७

लवली २५७

लशुन १२६

लाक्षा १३, ६४, ७९, ८७, १०१, १०९,

१२५, १२६, २२३

लाक्षोदक १२७

लिङ्गा १२७

लिबुजा १२७

लियाङ्ग-कियाङ्ग २३६

लीची २५८

लोकाट २५८

लोकेशी ३०, १२७

(३६७)

लोध १२७	वातीकृतमेषजी ९१, १३१, १६१
लोध्र १२७	वानस्पत्य-चतुष्टय ८४
लोमशबिडाल २६६	वार्ताकु १३१
लोहिततूल १८, १२८	वालदुच्छ १३१
लोहितवृष १२८	वासा १२८, १३२, १३५
वंश १२९	वास्तूक १३२
वंशलोचन २६२	विकङ्कत (तिका) १३२
वकुल १२८	विजया २४८
वङ्ग १२८	विडङ्ग १३३
वचा १२८	वितन्त्री १३३
वज्रुल १२८	विदारी १३३
वट ८३, १२८	विबाध ५७, १३३
वटकणिका ८४	विभीतक १०६, १३३
वत्सनाभ १४७	विभीतक (क) १३३
वधक १२८	विभीदक १०६
वन्दना १२८	विलायती अरारोट २६२
वन्य तिल ६६	विश्लिष्टमेषज (ज) १३३
वपा १२८	विश्वमेषज ५१, ६६
वरण १२९	विश्वरूप १३३
वराटक २६७	विश्वमेषजी १३३
वराण १३१	विश्वामित्रवृण १३३
वत्सनाभ २४८	विषतिन्दुक २३५
वर्चस्य ७	विषदूषण १३३
वर्चस्यगण १७२	विषदूषणी १४, १३३
वर्षवृद्धा २४४	विषमुष्टि २३५, २४५
वर्षाभू १३१	विषा १३३
वर्षाहू १३१	विषाणका १३१, १३३
वर्षाह्वा १३१	विषाणा १३३, १६०
वलीक १३१	विषातकी ७३, १३४
वल्मी १३१	विषासहि १५९
वसुक १३१	विष्कन्धदूषण ६६, १३४
वाघातक १३१	विष्णुकान्ता १३४
वाण (गा) पर्णी १०५	विस्त्रंसिका १३४
वाताम २५६	बिहल १३४
वार्तिगन २६०	वीरण ३८, १३४
वातीकृतनासनी १३१	वीरिण १३५
	वीरोदीक १३५

(३६८)

वीर्यावती १४
 वृद्धपुत्री ३७, १३५
 वृश्चिकजम्भन १३५
 वृष १३५
 वृषातकी ७३
 वृष्ण्यावती १३५
 वेणु १३५
 वेणुदार्भूष १३६
 वेणुयव १३६
 वेतस १३६
 वेत्र १३७
 वेदतृण १३७
 वेष्टन १३७
 व्यक्कशा १३७
 व्याघ्रदन्ती १३७
 व्याघ्रनख २६६
 व्याघ्रपत्रक १३८
 व्याघ्री १३७
 व्याधिघात १०५, १३८
 व्याधिघातकदण्ड १०५
 व्यालक १३८
 व्रीहि १३८
 श
 शङ्खपुष्पी ८४, १०४, १३९, १५०, १५५,
 १६०, १६२
 शंशप १४९
 शकरकन्द २५९, २६१
 शण १०९, १३९, २४८
 शणफला १४०
 शतकाण्ड ७६, १४०
 शतपत्र १४०
 शतपत्रा १४०
 शतपत्री २५१
 शतपर्व १६१
 शतपर्वा १४०
 शतपुष्पा १४०
 शतमूला ७७, १४०

शतवार १४१
 शतशाख १४१
 शतांकुरा ७७, १४१
 शतातृण १४१
 शतावरी १४१
 शतिङ्ग १४१
 शपथयोपनी ७७
 शफक १४१
 शमक १४२
 शमका १४२
 शमी १३, ३९, १४२
 शमीपत्रिका १४४
 शमुक १४४
 शम्बूक २६७
 शम्बाक १४४
 शर १४४
 शरपुंखा ७३, १०५
 शर्मवर्मगण १७३
 शलाज्जाला १४६
 शलमलि १४६
 शल्लकी २४९
 शाक १४७
 शाकलमणि ३४
 शाकवर्ग १७३
 शाखिमूल २५०
 शाण्डदूर्वा ८९, १३९, १४७
 शात् १४७
 शान्त १७३
 शान्तवृक्ष १३
 शाश्वतिका १४७
 शारीरघातु २६७
 शारीरमल २६७
 शार्ङ्गविष १४७
 शाल १४७
 शालातृण १४८
 शालमणि १४७
 शालि १४८

(३६९)

शालक १४८
 शा (श) कवलि १४७
 शाह-आलू २५४
 शिमु १४८
 शिखण्डी १४८
 शितीवार
 शिम्बल १४६, १४८
 शिशपा १४८
 शिरीष १४९ २२१
 शीर्षपर्णी १५०
 शिलाची (दी) १४९
 शिलारस २४१
 शीतपाकी १४९
 शीतबीज २३४
 शीतबुध्न १४९
 शीनिका १४९
 शीपाल (ला) १४९
 शीपुद्गु १४९
 शीय १५०
 शुक्ति २६६, २६७
 शुक्लपुष्प १३९, १५०
 शुक्लपुष्पा १५०
 शुक्लशात् १५०
 शुण्ठी (ठणी) १५०
 शूकतृण १५०
 शृङ्गवेर १५०
 शृङ्गाटक ७२, १४२, १५०
 शृङ्गी १५०
 शोफहर्षणी ४२, १५०
 शोफालिका १५१
 शोलु १५१
 शोवाल १५१
 शौलेय १५१
 शोवाल १९, १५१
 शोचि १५१
 शोष्यन्ती १५१
 शमशानवृक्ष १५१

२४ द्र० च०

श्यामपर्णी २६४
 श्यामबीज २३७
 श्यामा १५१, २३७
 श्यामाक १५१
 श्यामाकतण्डुल १५२
 श्येनहृत १५२
 श्योनाक १३
 श्रीकृच्छ्र २८
 श्रीपर्ण १५२
 श्रीफल १५२
 श्रीवेष्टक १५२
 श्रेष्ठ वीरुध १५८
 श्लेष्मातक ३, १२३, १५२
 श्वदंष्ट्रा १५३
 श्वेतक १५३
 श्वेतगिरिकर्णिका १५३
 श्वेतचन्दन १५३
 श्वेतपाकी १५३
 श्वेतपुष्पी वृहती १०८
 श्वेतफला १५३
 श्वेतवृन्ताक १५३
 श्वेतसर्षप १०३
 श्वेता १५३
 ष
 षष्टिक १५३
 स
 सकलकन्द २६१
 सचा १५३
 सचीन १५४
 सतीन २६२
 सदंपुष्पा १५४, १६०
 सदंपुष्पी १५४
 सदंफला १५४
 सदापुष्पा २५४
 सदाभद्रा १५५
 सनाय २४९

(३७०)

सनायकी २४९	सहदेवी १३, १४, ६९, १५९
सप्तधान्य १७३	सहमान १४०, १५९
सप्तवर्ण १५५	सहमाना १४, ७७, ८९, ९८ १५९
सप्तपर्णी १५५	सहस्य १६१
सप्तमधु १२२	सहस्रकाण्ड ७६, १४०, १६०, १६१
सप्तमुक्त ११७	सहस्रकाण्डा ७७
सप्तभेषज १५५	सहस्रचक्षु १३३, १५४, १६०
समुष्पला १३९, १५५	सहस्रपर्ण ७६, १४०, १६०
संवननी १३९, २५५	सहस्रपर्णी ८४, १३९, १६०
संस्कन्दा १५५	सहस्रवक्त्र १६०
सरल १५५	सहस्रवीर्य ६६, ७६
सरूपङ्करणी १५१, १५५	सहस्रवीर्या ७७, १६०
सर्ज १५५	सहस्रा २५२
सर्जक १५५	सहस्रातृण १६०
सर्जरस १५६	सहस्वती १४, ३२, ९०, ९८, १६०
सर्पगन्धा २४९	सहस्वान् ६६
सर्पसुगन्धा १५६, २४९	सहा १६१
सर्पगन्ध १७३	सहीयसी ९०
सर्वतृण १७३	साइसर २६१
सर्वबीज १७३	सावूदाना २६३
सर्वरस १७३	सारिवा १६१
सर्वरोगभेषज्य ८९	साल १६१
सर्वसुरभि १७३	साव्रस्क १६१
सर्वौषधि १३९	सितीवार १६१
सर्वौषधि (धि) १७४	सिद्धार्थक १६१
सर्षप २९, ८३, ७३, १३४, १५६	सिद्धेश्वर १६१
सर्षपकाण्डमणि २९	सिद्धार्थक (का) १६१
सर्षपकाण्डमणिबन्धन १५८	सिद्धेश्वर १६१
सर्षपतैल १५८	सिनकोना २५०
सर्षतैलाभ्यङ्ग १५८	सिन्दूरी २५०
सर्षपशाक १५८	सिपुन १६१
सल्लकी १५८	सिम्बिका २५८
सवंशा १५८	सिपदान २३८
सत्यमञ्जरी ८२, १४६	सिंही १६१
सह १५८	सिलिन्द्र १६२
सहदेव १५८	सिलाची १४, १४९
सहदेवा १५८	सिलुत्कक १६२

(३७१)

सिवहक २४१
 सीताफल २५८
 सीवला १६२
 सीलोन कलम्बा २३५
 सुगंधितेजन १६२
 सुगन्धिवीज १७४
 सुगन्धा २३७
 सुनिषण्णक १६२
 सुभगंकरणी ८४, १३९, १६२
 सुभगा ३२, ८९, १४३, १५९
 सुमङ्गला १६२
 सुरसा १६३
 सुर (सुकर) बालक १६२
 सुरेश्वरी ३०, १६३
 सुलक्ष्मणा १६३
 सुवर्चला १६३
 सुवर्णपुष्पी १६३
 सुषिर १६३
 सूर्यमुखी २५२
 सेव २५४, २५८
 सैण्टोनिन २३८
 सैर्य १६३
 सोम १८, २७, ५१, ९७, ९९, १००, १०३
 १०८, १४२, १५२; १५३, १६३,
 २३०, २५०
 सोमावती १६५
 सोयाबीन २६३
 सौम्यवृक्ष १७४
 सौवर्चल ११, १६५
 सौवीर २५६
 स्तन्य २६७
 स्थगर १६५
 स्थलकमल २५२
 स्थूलङ्करणी १६५
 स्थूलग्रंथि २३७
 स्पन्दन १६५
 स्पृष्टा १६५

स्फूर्जक १६५
 स्यन्दन १६६
 स्योनाक १६६
 स्रक् १६७
 स्रक्त्रय १६६
 स्राक्त्रय ९९
 स्नेकपर्ण १३७
 स्वर्णपत्री २४९
 स्वधा १६७
 स्वधिति १६७
 ह
 हजार २५२
 हपुषा १६८
 हरफारेचदी २५७
 हरिचन्दन १६८
 हरिणी १६८
 हरितपुष्पा १६८
 हरितभेषज १६८
 हरितशाकवर्ण १५५
 हरिद्र १६९
 हरिद्रा १२३, २२३, १६८
 हरिफल २५७
 हरिमन्थ २६१
 हारिद्रव १६९
 हालिम २३८
 हिङ्गु १६९, २५०
 हिना २४६
 हिन्ताल २४०
 हिमावली २४७
 हिरण्यपर्ण ३९, १६९
 हिरण्यपर्णा १६९
 हिरण्यपुष्पी १६९
 हिरण्यमूल १७०
 हिस्परथ २५८
 हृद्वात्री २४७
 हेरुका १७०
 ह्रादिका १७०

अनुक्रमिका-२

Latin and English Names

A

- | | |
|--|---|
| Abelmoschus esculentus (L.)
moench 260 | Aloe sp. 236 |
| Abies webbiana Linn. 191 | Aloe vera Tourn ex Linn. 188 |
| Abrus precatorius Linn. 188 | Alpinia galanga Willd. 236 |
| Abutilon indicum (Linn) SW.
183 | Alpinia officinarum Hance. 236 |
| Acacia arabica Willd. 194, 243 | Alstonia scholaris R. Br. 198 |
| Acacia catechu Willd. 189 | Alternanthera sessilis (Linn)
R. Br. 193 |
| Acacia leucophloea Willd. 184 | Amaranthus spinosus Linn. 190 |
| Acacia suma. 13 | Ambergris. 265 |
| Acacia suma Buch. Ham. 187 | Anacardium occidentale Linn.
254 |
| Achyranthes aspera Linn. 183,
194 | Anacyclus pyrethrum DC. 232 |
| Aconitum sp. 188 | Ananas sativus Linn. 253 |
| Aconitum chasmanthum stapf.
ex Holmes 248 | Anogeissus latifolia Wall. 192 |
| Acorus calamus Linn. 197 | Anona squamosa. 258 |
| Adhatoda vasica Nees. 185 | Anthocephalus cadamba Miq.
187 |
| Adina cordifolia 169 | Apium graveolens Linn. 232 |
| Adina cordifolia Benth &
Hook. f. 199 | Aquilaria agallocha Roxb. 183 |
| Aegle marmelos Corr. 194 | Arachis hypogaea Linn. 261 |
| Agaricus campestris Linn. 184 | Areca catechu Linn. 189, 243 |
| Agave. 247 | Aristolochia bracteata Retz.
242 |
| Ailanthus excelsa Roxb. 184,
245 | Aristolochia indica Linn. 192 |
| Albizia lebbeck Benth. 198 | Artemisia maritima Linn. 238 |
| Albizia procera (Roxb) Benth.
187 | Artocarpus heterophyllus Lam.
193 |
| Alhagi camelorum Fisch. 196 | Artocarpus lakoocha Roxb. 196 |
| Allium cepa Linn. 193 | Asparagus racemosus Willd.
197 |
| Allium sativum Linn. 196 | Avena orientalis schreber. 263 |
| | Averrhoa carambola Linn. 254 |
| | Azadirachta indica A. juss. 192 |

(३७३)

- B**
- Bacopa monnieri* (Linn)
Pennell. 195
- Balanites aegyptiaca* (Linn)
Delile. 185
- Baliospermum montanum*
Muell-Arg. 239
- Balsamodendron myrrha* Nees
244
- Bambusa arundinacea* Willd.
197
- Barleria prionitis* Linn. 188
- Barringtonia acutangula* (Linn)
Gaertn. 185
- Basella cordifolia* 97
- Basella rubra* Linn. 186
- Batatas*. 259
- Bauhinia malabarica* Roxb. 184
- Bauhinia variegata* Linn. 188
- Benincasa cerifera* Sav. 189
- Berberis aristata* DC. 191
- Bergenia ligulata* (Wall.) Engl.
184
- Betula utilis* D. Don. 195
- Bixa orellana* Linn. 250
- B. juncea* Linn. 185
- Blumea lacera* DC. 188
- B. nigra* Linn. 185
- Boerhaavia diffusa* Linn. 194
- Bombax ceiba* Linn. 198
- Borassus flabellifer* Linn. 191,
240
- Boswellia serrata* Roxb. 199, 249
- Brassica campestris* Var. sarson
Prain. 185
- Brassica oleracea* Linn. 260
- Bryonopsis laciniosa* Linn. 197
- Bryophyllum calycinum* salisb.
242
- Buchanania lanzan* Spreng. 194
- Butea monosperma* (Lam)
Kuntze. 193
- C**
- Caesalpinia bonducella*. 97
- Calamus tenuis* Roxb. 197
- Callicarpa macrophylla* Vahl.
194
- Calophyllum inophyllum* Linn.
194
- Calotropis gigantia* (Linn)
R. Br. ex Ait. 194
- Calotropis procera* (Ait)
R. Br. 184
- Cannabis sativa* 140, 195, 248
- Capparis aphylla* Roth. 187
- Carica papaya* Linn. 256
- Carthamus tinctorius* Linn. 189
- Cassia angustifolia* Vahl. 249
- Cassia fistula* Linn. 185
- Cassia tora* Linn 190
- Cassytha filiformis* Linn. 184
- Cedrus deodara* (Roxb) Loud.
191
- Celosea argentea* Linn. 198
- Centella asiatica* (Linn) Urban.
195
- Centipeda minima* (Linn) A.
Br. et Aschers. 189
- Chenopodium album* Linn. 197
- Cicca acida* (Linn) Merrill.
196, 257
- Cicer arietinum* Linn. 190, 261
- Cinchona succirubra* Pavon.
250
- Cinnamomum camphora* Nees
& Eberm. 188, 234
- Cissampelos pariera* Linn. 186

(३७४)

<i>Citrulus coloyntsis</i> Schrad. 189	<i>Curcuma longa</i> Linn. 196
<i>Citrulus vulgaris</i> schrad. 255	<i>C. verrucosa</i> Linn. 197
<i>Citrus decumana</i> Linn. 257	<i>Cydonia vulgaris</i> Pers. 257
<i>Citrus limon</i> (Linn) Burm. f. 190	<i>Cymbopogon martini</i> (Roxb) Wats. 185
<i>Citrus medica</i> Linn. 195	<i>Cymbopogon</i> sp. 192
<i>Citrus reticulata</i> Blanc. 192, 256	<i>Cynodon dactylon</i> (Linn) Pers. 191
<i>Civet</i> 266	<i>Cyperus rotundus</i> Linn. 193
<i>Cleome viscosa</i> Linn. 183	D
<i>Clerodendrum phlomidis</i> Linn. f. 184	<i>Dalbergia sissoo</i> Roxb. 198
<i>Clitorea ternatea</i> Linn. 183	<i>Datura stramonium</i> Linn. 187
<i>Coccinia indica</i> W. & A. 194	<i>Datura metel</i> Linn. 241
<i>Cocos nucifera</i> Linn. 192, 255	<i>Daucus carota</i> Var. <i>sativa</i> DC. 259
<i>Coffea arabica</i> Linn. 264	<i>Delphinium zalil</i> Aitch & Hemsl. 199
<i>Coix lachryma-jobi</i> Linn. 189	<i>Desmodium gagicum</i> DC. 199
<i>Coleus aromaticus</i> Benth. 242	<i>Desmostachya bipinnata</i> Stapf. 191
<i>Colosanthus indica</i> . 13	<i>Dichrostachya cineria</i> W. & A. 197
<i>Commiphora mukul</i> (Hook ex Stocks) Engl. 189	<i>Dillenia indica</i> Linn. 195
<i>Convolvulus pluricaulis</i> Chois. 193	<i>Dioscorea</i> sp. 193
<i>Cordia myxa</i> Roxb. 198	<i>Dioscorea</i> sp. 195
<i>Coriandrum sativum</i> Linn. 189	<i>Diospyros embryopteris</i> Pers. 191
<i>Coscinium fenestratum</i> (Gaertn) Colbr. 235	<i>Dolichos biflorus</i> Linn. 188
<i>Crataeva nurvala</i> Buch-Ham. 197	<i>Dolichos lablab</i> Linn. 189
<i>Crinum</i> sp. 187	<i>Dolichos soja</i> Linn. 263
<i>Crocus sativus</i> Linn. 188, 237	<i>Dryobalanops camphora</i> Colbr. 234
<i>Crotalaria</i> 140	E
<i>Crotalaria juncea</i> Linn. 197	<i>Echinochloa frumentacea</i> Linn. 198
<i>Croton tiglium</i> Linn. 238	<i>Eclipta alba</i> Hassk. 195
<i>Cucumis sativus</i> Linn. 191	<i>Elephantopus scaber</i> Linn. 195
<i>Cucumis utilissimus</i> Roxb. 186	<i>Elettaria cardamomum</i> Maton. 186
<i>Cucumis melo</i> Linn. 254	
<i>Cucurbita maxima</i> Dulhesne 259	
<i>Curcuma angustifolia</i> Roxb. 262	

(३७५)

- Embelia ribes* Burm. f. 197
Emblica officinalis Gaertn. 183
Eribenthos 261
Eriobotrya japonica Lindl. 258
Erythrina indica Lam. 193
Eupatorium ayapana Vent.
F
Fagonia cretica Linn. 186
Fagopyrum esculentum
Moench. 261
Feronia limonia (Linn)
Swingle. 187
Ferula foetida Regel. 196, 250
Ficus bengalensis Linn 192
Ficus carica Linn. 252
Ficus glomerata Linn. 196
Ficus lacor Buch-Ham. 194
Ficus religiosa Linn. 184
Flacourtia indica Merr. 197
Foeniculum vulgare Mill. 197
Fumaria indica Pugsley. 193
G
Garcinia morella Desr. 191
Gentiana kurroo Royle. 191
Glycyrrhiza glabra Linn. 195
244
Gmelina arborea Linn. 188
Gossypium herbaceum Linn.
187
Grewia asiatica Linn. 193
Grewia tiliaefolia Vahl. 192
Gymnema sylvestre 134
Gymnema sylvestre R. Br. 196
Gynandropsis pentaphylla DC.
183
H
Habenaria sp. 186
Hardwickia binata Roxb. 185
Helianthus annuus Linn. 252
Helix aspera 265
Hemidesmus indicus R. Br. 199
Hibiscus cancellatus Roxb. 193
Hibiscus ficulnens Linn. 261
Hibiscus mutabilis Linn. 252
Hibiscus rosa-sinensis Linn.
190, 252
Hordeum vulgare Linn. 196
Hordess sorghum Linn. 262
Hydnocarpus wightiana Blume.
251
Hygroryza aristata Nees. 192
Hyoscyamus niger Linn. 242
I
Imperata arundinacea. 34
Imperata cylindrica Beauv. 191
Indigofera tinctoria Linn. 192
Ipomoea batatas Poir. 261
Ipomoea hederacea Linn Jaca.
237
Ipomoea reniformis Chois. 185
J
Jasminum grandiflorum Linn.
190
Jasminum multiflorum Andr.
188
Jasminum sambac Ait. 195
Jasminum sp. 196
Jateorhiza palmata Miers. 235
Juniperus communis Linn. 199
K
Krios. 261
L
Laccifer lacca (Kerr). 196
Lagenaria siceraria Standl. 258
Lagenaria vulgaris Ser. 184
Lagerstroemia parviflora Roxb.
199
Lathyrus sativus Linn. 262

- Lawsonia alba* Lam. 246
Lens culinaris Medic. 195
Lepidium sativum Linn. 238
Leptadenia reticulata W. & A. 190
Linum usitatissimum Linn. 183
Liquidamber orientalis Miller. 241
Liquid storax. 241
Loranthus longiflorus Desr. 197
Luffa acutangula Roxb. 189
Lycopersicum esculentum Mill. 260
M
Madhuca indica J. F. Gmel. 195
Mallotus philippinensis Muell Arg. 187
Mangifera indica Linn. 185
Manna. 247
Manihot utilissima Pohl. 263
Maranta arundinacea Linn. 262
Marsdenia tenacissima W. & A. 196
Marvel of peru 251
Medicago sativa Linn. 258
Mentha piperata Linn. 242
Melia azedarach Linn. 245
Mesua ferrea Linn. 192
Michelia campaka Linn. 190, 252
Microstylis wallichii Lindl. 186
Mimosa suma 143
Mimusops elengi Linn. 194
Mirabilis Jalapa Linn. 251
Moringa pterygosperma Gaertn. 198
Mucuna pruriens DC. 186
Mucuna sp. 183
Musa paradisiaca Linn. 187
Musk 265
Myristica fragrans Houtt. 190, 239
N
Nardostachys jatamansi DC. 193
Nelumbo nucifera Gaertn. 107
Nephelium litchi Camb. 258
Nerium indicum Mill. 187
Nerium odorum Soland. 234
Nicotiana tabacum Linn. 239
Nigella sativa Linn. 189
Nyctanthes arbor-tristis Linn. 198
Nymphoea alba. 27
Nymphaea alba Linn. 188
Nymphoea stellata 95
O
Ocimum basilicum Linn. 244
Ocimum sanctum Linn. 191
Olax scandens Roxb. 196
Ononis arvensis or *spinosa* 110
Oroxylum indicum 13
Oroxylum indicum Vent. 199
Oryza sativa Linn. 197
Ougeinia dalbergioides Benth. 191
P
Panicum miliaceum Linn. 183, 262
Papaver somnifer Linn. 233
Parmelia perlata Ach. 198
Paspalum scrobiculatum Linn. 189
Pentapetes phoenicea Linn. 194
Peristrophe bicalyculata Nees. 188

(३७७)

Phaseolus mungo Linn. 195
Phaseolus radiatus. 61
Phaseolus radiatus Linn. 196
Phoenix dactylifera Linn. 254
Phoenix sylvestris Roxb. 189
Phragmites maxima Blatter &
 Mc Cann. 193
Physalis peruviana Linn. 257
Pinus longifolia Roxb. 190
Piper betle. 240
Piper betle Linn. 191
Piper chaba Hunter. 238
Piper cubeba Linn. f. 234
Pinus gerardiana Wall. 255
Piper longum. 193
Piper nigrum Linn. 195
Pistacia lentiscus Linn. 245
Pistacia integerrima Stew ex
 Brandis. 187
Pistacia vera Linn. 256
Pisum sativum Linn. 188
 Piyaung. 101
Plantago ovata Forsk. 233
Plumeria acutifolia Poir. 238
Plumbago zeylanica Linn. 190
Pollinidium angustifolium
 Comb. Nov. 194
Polytoca barbata. 32
Pongamia pinnata (Linn)
 Merr. 187
 Polato 259, 261
Prosopis spicigera 13, 14, 198
Prunus amygdalus Baill. 256
Prunus mahaleb Linn. 253
Prunus sp. 253
Prunus cerasoides D. Don. 193
Psidium guyava Linn. 253
Pterocarpus marsupium Roxb.

Pterocarpus santalinus Linn.
 f. 196
Punica granatum Linn. 191
Puraria tuberosa DC. 197
Putranjiva roxburghii Wall.
 194
Pyrus communis Linn. 255
Pyrus malus Linn. 258

Q

Quercus infectoria Oliver 245

R

Randia dumetorum Lam. 195
Randia uliginosa DC. 193
Ranunculus sceleratus Linn.
 188
Raphanus sativus Linn. 196
Rauwolfia serpentina. 249
Rauwolfia serpentina Benth ex
 Kurz. 198

S

Rheum emodi Wall. 247
Ricinis communis Linn. 186
Rosa centifolia Linn. 251
Rubia cordifolia Linn. 195
 7*Saccharum munja* Roxb. 198
Saccharum officinarum Linn.
 185
Saccharum sp. 188
Saccharum spontaneum Linn.
 188
Salix caprea Linn. 197
Salvadora persica Linn. 193
Salvadora sp. 194
Santalum album Linn. 190
Sapindus mukorossi Gaertn.
 184
Saraca indica Linn. 194
Saussurea lappa C. B. Clarke.
 189

(३७८)

- Saussurea* sp. 197
Schrebera swietenoides Roxb. 193
Scirpus kyssor Roxb. 188
Semecarpus anacardium Linn. f. 184
Sesamum indicum Linn. 191
Sesbania bispinosa (Jacq) Fawcett & Rendle. 186
Sesbania sesban (Linn) Merr. 190
Shorea robusta Gaertn. 198
Sida cordifolia 14
Sida cordifolia Linn. 194
Sida rhombifolia Linn. 195
Sida sp. 199
Skimmia laureola Sieb & Zucc. ex Walp. 186
Smilax china Linn. 238
Solanum indicum Linn. 194
Solanum melongena Linn. 197
Solanum nigrum Linn. 192
Solanum tuberosum Linn. 259
Solanum xanthocarpum Schrad & Wendle. 187
Solid Storax. 240
Spinach oleracea Linn. 260
S. rhombifolia. 14
Soymida febrifuga A. Juss. 196
Spinacea oleracea Linn. 193
Strychnos nuxvomica Linn. 188, 235
Styrax officinale Linn. 240
Symplocos racemosa Roxb. 197
Syzygium aromaticum (Linn) Merr & M. Perry. 196, 247
Syzygium cumini (Linn) Skeels. 190
T
Tagetes erecta Linn. 252
- Tamarindus indica* Linn. 184
Tecomella undulata (G. Don) Seem. 196
Tectona grandis Linn. f. 198
 Temple flower. 238
Tephrosia purpurea (Linn) Pers. 191
Teramnus labialis Spreng. 195
Terminalia arjuna 66
Terminalia arjuna W. & A. 184
Terminalia belerica Roxb. 183
Terminalia chebula Retz. 199
Thea sinensis Linn. 264
Thevetia nerifolia Juss. 234
Tinospora cordifolia (Willd) Miers. 183
Trapa bispinosa 142
Trapa bispinosa Roxb. 198
Tribulus terrestris Linn. 191
Trichodesma indicum R. Br. 183
Triticum aestivum Linn. 190
Typha angustata Bory and Chaub. 189
Typha elephantina Roxb. 186
U
Uraria picta Desv. 190
V
Valeriana wallichii DC. 190
Vateria indica Linn. 198
Vetiveria zizanioides (Linn) Nash. 186
Vigna cylindrica Skeels. 196
Vigna sinensis Savi. 263
Vitex negundo Linn. 195
Vitis vinifera Linn. 192
W
Wendlandia exerta DC. 191
Withania somnifera Dunal. 184

(३७९)

Woodfordia fruticosa Kurz.	Zey mays Linn. 263
192	Zingiber officinale. 28
Wrightia tomentosa Roem. &	Zingiber officinale Roscoe. 185
Schult. 186	Zizyphus jujuba Lam. 189
Z	Zizyphus nummularia W.H. 187
Zanthoxylum alatum Roxb. 199	Zizyphus vulgaris Linn. 256

- Saussurea* sp. 197
Schrebera swietenoides Roxb. 193
Scirpus kyssor Roxb. 188
Semecarpus anacardium Linn. f. 184
Sesamum indicum Linn. 191
Sesbania bispinosa (Jacq) Fawcett & Rendle. 186
Sesbania sesban (Linn) Merr. 190
Shorea robusta Gaertn. 198
Sida cordifolia 14
Sida cordifolia Linn. 194
Sida rhombifolia Linn. 195
Sida sp. 199
Skimmia laureola Sieb & Zucc. ex Walp. 186
Smilax china Linn. 238
Solanum indicum Linn. 194
Solanum melongena Linn. 197
Solanum nigrum Linn. 192
Solanum tuberosum Linn. 259
Solanum xanthocarpum Schrad & Wendle. 187
Solid *Storax*. 240
Spinach oleracea Linn. 260
S. rhombifolia. 14
Soymida febrifuga A. Juss. 196
Spinacea oleracea Linn. 193
Strychnos nuxvomica Linn. 188, 235
Styrax officinale Linn. 240
Symplocos racemosa Roxb. 197
Syzygium aromaticum (Linn) Merr & M. Perry. 196, 247
Syzygium cumini (Linn) Skeels. 190
T
Tagetes erecta Linn. 252
Tamarindus indica Linn. 184
Tecomella undulata (G. Don) Seem. 196
Tectona grandis Linn. f. 198
 Temple flower. 238
Tephrosia purpurea (Linn) Pers. 191
Teramnus labialis Spreng. 195
Terminalia arjuna 66
Terminalia arjuna W. & A. 184
Terminalia belerica Roxb. 183
Terminalia chebula Retz. 199
Thea sinensis Linn. 264
Thevetia nerifolia Juss. 234
Tinospora cordifolia (Willd) Miers. 183
Trapa bispinosa 142
Trapa bispinosa Roxb. 198
Tribulus terrestris Linn. 191
Trichodesma indicum R. Br. 183
Triticum aestivum Linn. 190
Typha angustata Bory and Chaub. 189
Typha elephantina Roxb. 186
U
Uraria picta Desv. 190
V
Valeriana wallichii DC. 190
Vateria indica Linn. 198
Vetiveria zizanioides (Linn) Nash. 186
Vigna cylindrica Skeels. 196
Vigna sinensis Savi. 263
Vitex negundo Linn. 195
Vitis vinifera Linn. 192
W
Wendlandia exerta DC. 191
Withania somnifera Dunal. 184

(३७९)

Woodfordia fruticosa Kurz.	Zey mays Linn. 263
192	Zingiber officinale. 28
Wrightia tomentosa Roem. &	Zingiber officinale Roscoe. 185
Schult. 186	Zizyphus jujuba Lam. 189
Z	Zizyphus nummularia W.H. 187
Zanthoxylum alatum Roxb. 199	Zizyphus vulgaris Linn. 256

अनुक्रमिका-३

ग्रन्थ

अ

१ अकारादि निघण्टु ३१९
 अगस्त्यनिघण्टु ३१९
 अथर्वनिघण्टु ३१९
 अथर्ववेद १११, २३१
 अभिधानचन्द्रिका ३१९
 अभिधानचूडामणि २९२
 अभिधानमञ्जरी ३१९
 अभिधानरत्नमाला ३१९
 अभिनव कामशास्त्र ३०९
 अभिनवनिघण्टु ३११
 अभिनव नेत्ररोगविज्ञान ३१३
 अभिनव वृटीदर्पण ३११
 अभिनव वनौषधि-चन्द्रिका ३१९
 अरुणदत्तनिघण्टु २७९
 अर्कप्रकाश ३४०
 अष्टाङ्गनिघण्टु २६९
 अष्टाङ्गहृदय-द्रव्यविज्ञान ३१९
 अष्टाङ्गहृदयनिघण्टु २६९
 आर्यसर्वस्व ३१२
 आपणो खोराक ३०९
 आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास ३१६
 आयुर्वेद की औषधियाँ और उनका
 वर्गीकरण ३१३
 आयुर्वेद-चिन्तामणि ३११
 आयुर्वेद-पाठावली ३०९
 आयुर्वेदमहोदधि २८६
 आयुर्वेद-विहङ्गावलोकन ३०९
 आयुर्वेद-वैज्ञानिक विचारणा ३०९
 आयुर्वेद-व्याख्यानमाला ३०९

आयुर्वेदीय औषधिनिघण्टु ३२७
 आयुर्वेदीय औषधिविज्ञान ३१०
 आयुर्वेदीय औषधिगुणधर्मशास्त्र ३१०
 आयुर्वेदीय औषधिसंशोधन ३१०
 आयुर्वेदीय द्रव्यगुणविज्ञान ३१९
 आयुर्वेदीय द्रव्याभिधान ३१९
 आयुर्वेदीय परिभाषा ३४१
 आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान ३०६
 आयुर्वेदोक्तद्रव्यगुणविज्ञानम् ३१९
 आरोग्यचिन्तामणि २८७
 आरोग्यदर्पण ३४१
 आसव-अरिष्ट ३३९
 आसवविज्ञान ३३९
 आसवारिष्टसंग्रह ३३९
 इकोनोमिक वाटनी ऑफ इण्डिया ३२४
 इण्डिजिनस ड्रग्स ऑफ इण्डिया ३२५
 इण्डियन फार्माकोपिया ३३६
 इण्डियन मेडिरिया मेडिका ३२४
 इण्डियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स ३२४
 इन्द्रकोश ३२१
 इन्द्रनिघण्टु २७५, ३२१
 उपवनविनोद ३२२
 उपवनविनोदकौतुक ३२२
 ऋग्वेद २३०
 एकाक्षरनिघण्टु ३२१
 औषधिकोश ३२१
 औद्भिदद्रव्यनामगुणविमर्श ३१९
 औषधकल्पसमूह ३१७
 औषधगुणधर्मविज्ञान ३२३
 औषधगुणपाठ ३१९
 औषधनामावली ३१९

(३८१)

औषधनिघण्टु २१९
 औषधनिर्माण ३३९
 औषधपाकावली ३४०
 औषधाकार ३२३
 औषधिकल्प ३१७
 औषधिकल्पलतिका ३१७
 औषधिकोष ३१९
 औषधिनाममाला ३१९
 औषधिवाड ३१७
 औषधिविज्ञान ३२३
 औषधिविज्ञानशास्त्र ३१३
 औषधिसंग्रह ३०६

क

कच्छसंस्थाननी जड़ीबुटीओ ३०७
 कण्ट्रीवर्षियल ड्रग्स इन इण्डियन
 मेडिसिन ३१०
 करञ्जकल्प ३१८
 कल्पचिन्तामणि ३१७
 कल्पद्रुमसारसंग्रह ३१७
 कल्पनासागर ३१७
 कल्पभूषण ३१७
 कल्परत्न ३१७
 कल्पलता ३१७
 कल्पवल्ली ३१७
 कल्पसंग्रह ३१७
 कल्पसागर ३१७
 कल्पसार ३१७
 कल्पसिन्धु ३१७
 कल्पार्णव ३१७
 कषायादिपाकविधि ३३९
 कृष्णधत्तूरकल्प ३१८
 कोशकल्पतरु ३२१
 कैयदेवनिघण्टु २८९
 कैयदेवनिघण्टु-टीका ३१०
 क्रियात्मक औषधिपरिचयविज्ञान ३१३
 क्वाथमणिमाला ३३९

क्वाथशतक ३३९
 खारनिर्माणविज्ञान ३४०
 खेमकुतूहल ३४०

ख

खोराकना तत्वो ३०९

ग

गदनिग्रह २८२
 गन्धशास्त्रनिघण्टु ३२१
 गोंवों में औषधरत्न ३१६
 गुग्गुलुकल्प ३१८
 गुजरातनी वनस्पतिओ ३०९
 गुणकर्मनिर्देश ३२१
 गुणचन्द्रिका ३२१
 गुणचिन्तामणि ३२१
 गुणज्ञाननिघण्टु ३२१
 गुणनिघण्टु ३२१
 गुणपटल ३२१
 गुणपरिज्ञान ३२३
 गुणपाठ ३२१
 गुणयोगप्रकाश ३२१
 गुणरत्नाकर ३२१
 गुणसंग्रह २८०
 गुणादर्श ३२१
 गूलरगुणविकास ३१८
 गृहद्रव्यचिकित्साविज्ञान ३१६
 ग्राम्यौषधि ३१६
 ग्लॉसरी ऑफ इण्डियन मेडिसिनल
 प्लाण्ट्स ३२५
 ग्लॉसरी ऑफ वेजिटेबुल ड्रग्स इन
 बृहत्त्रयी ३१४
 घ
 घरगन्धु वैद्यक ३०९
 च
 चन्द्रकला-व्याख्या २८५
 चन्द्रनन्दननिघण्टु २७७
 चन्द्रनिघण्टु २७८

(३८२)

चरकनो स्वाध्याय ३०९

चरकसंहिता २३१

चिकित्साभिधान ३२०

ज

जङ्गलनी जड़ीबूटी ३२३

ज्योतिष्मतीकल्प ३१८

त

ताम्बूलमञ्जरी ३२२

तुलसी ३१८

तैलसंग्रह ३१३, ३४०

त्रायमाणविनिश्चय ३१६

त्रिदोषालोक ३१३

द

दक्षिणामूर्तिनिघण्टु ३२०

दम ३०९

दिनचर्या ३०९

द्विष्यौषधिप्रकाश ३२०

द्विष्यौषधिवर्णन ३२०

द्रव्यकल्पद्रुम ३२३

द्रव्यकोष ३२१

द्रव्यगुण ३२०

द्रव्यगुणकल्पवल्ली ३२०

द्रव्यगुणपाठ ३२०

द्रव्यगुणमुक्तावली ३२०

द्रव्यगुणविज्ञान ३०६, ३१४, ३२३

द्रव्यगुणविमर्श ३२०

द्रव्यगुणशतक २९४

द्रव्यगुणशतश्लोकी २९४

द्रव्यगुणशास्त्र ३०९

द्रव्यगुणसङ्कलन ३२०

द्रव्यगुणसंग्रह २७८

द्रव्यगुणहस्तामलक ३१९

द्रव्यगुणाकर ३२०

द्रव्यगुणादर्शनिघण्टु ३२०

द्रव्यगुणाधिराज ३२०

द्रव्यचिह्न ३२०

द्रव्यदशार्थनिरूपण ३२०

द्रव्यदीपिका २९८

द्रव्यनामगुणकथन ३२०

द्रव्यनामनिर्णय ३२०

द्रव्यनिर्णयनिघण्टु ३१९

द्रव्यनिश्चयसारसंग्रह ३२०

द्रव्यपदार्थप्रतिनिधि ३२०

द्रव्यपरीक्षा ३१९, ३२०

द्रव्यप्रकाश ३२०

द्रव्यमुक्तावली ३२०

द्रव्यरत्नाकर ३२०

द्रव्यरत्नावली ३२०

द्रव्यवैशेषिक ३२०

द्रव्यसंग्रह ३२०

द्रव्यसाधसंग्रह ३२०

द्रव्यावलि २७४, ३२०, ३२१

ध

धन्वन्तरि ३२१

धन्वन्तरिनिघण्टु २७२, ३१९

न

नरसिंहभाष्य २६९

नवपरिभाषा ३४१

नस्यचिकित्सा ३०९

नाडीविज्ञान ३१३

नानाविधौषधकल्प ३१७

नामगुणसंग्रह २८०

नाममालाशब्दसङ्केतकलिका ३२१

नामसंग्रह २८०

नामसंग्रहनिघण्टु ३२१

निघण्टु २७२

निघण्टु आदर्श ३०९

निघण्टुकल्पद्रुम ३८३

निघण्टुप्रकाश ३२१

निघण्टुरत्नाकर ३०२

निघण्टुराज २९२

निघण्टुविज्ञान ३२३

(३८३)

निघण्टुशिरोमणि ३०५, ३२३
 निघण्टुशेष २८०
 निघण्टुसंग्रह ३०२
 निघण्टुसमय ३२१
 निघण्टुसार ३२१
 निघण्टुसारसंग्रह ३२१
 निमिनिघण्टु २७८
 निर्णयनिघण्टु ३२१

प

पञ्चविधकषायकल्पनाविज्ञान ३३९
 पञ्चाशन्निघण्टुसार ३२१
 पथ्यापथ्यविवोधक २८९
 परिभाषा ३४१
 परिभाषा-प्रवन्ध ३४१
 पर्यायमञ्जरी ३२२
 पर्यायमुक्तावली ३२२
 पर्यायरत्नमाला २७०
 पर्यायार्णव ३२२
 पाकदर्पण ३४०
 पाकप्रदीप ३४०
 पाकमार्तण्ड ३४०
 पाकविधि ३४०
 पाकशास्त्र ३४०
 पाकाधिकरण ३४०
 पाकाधिकार ३४०
 पाकार्णव ३४०
 पाकावली ३४०
 प्रकाशव्याख्या २८५
 प्रत्यक्ष औषधिनिर्माण ३१३, ३३९
 प्राणिज औषधि ३२३
 प्रारम्भिक उद्भिद्शास्त्र ३१४
 प्वायजनस प्लाण्ट्स ऑफ इण्डिया ३२५

फ

फ्लोरा ऑफ ब्रिटिश इण्डिया ३२६
 फ्लोरा इण्डिका ३२६

ब

बिहार की वनस्पतियाँ ३१४, ३२६

वृद्धीदर्पण ३११
 वृहत् आसवारिष्टसंग्रह ३३९
 वृहद् द्रव्यगुणादर्श ३१६
 वृहत्निघण्टुरत्नाकर ३०३
 वृ० पाकसंग्रह ३४०
 वृहत् भेषजकल्प ३१७
 वेदी-वनस्पतिकोष ३१६
 ब्रिटिश फार्माकोपिया ३३६

भ

भारतसैषज्यरत्नाकर ३४१
 भारतीय रसशास्त्र ३०६, ३०९
 भारतीय वनौषधि ३२४
 भावप्रकाश २३१
 भावप्रकाशनिघण्टु २९१
 भावप्रकाशिका ३४१
 भावस्वभाववाद २८२
 भेषजकल्प ३१७
 भेषजकल्पसंग्रह ३१७
 भेषजकल्पसंग्रहव्याख्या ३१७
 भेषजकल्पसारसंग्रह ३१७
 भेषजनाममाला ३१९
 भेषजरहस्य ३१९
 भेषजसर्वस्व ३१९
 भोग्यद्रव्यगुणविषय ३१९
 भोजनकुतूहल २६३, ३४०
 भोजराजनिघण्टु ३२०
 भैषज्यकल्पना ३३९
 भैषज्यकल्पनाविज्ञान ३३९
 भैषज्यगुणार्णव ३१९
 भैषज्यविज्ञान ३१९

म

मण्डूकब्राह्मीकल्प ३१८
 मदनपालनिघण्टु २८७
 मदनविनोद २८७
 मदनस्नुहीरसायन ३१८
 मधुप्रमेह ३०९
 महौषधनिघण्टु ३१९

(३८४)

माधव-द्रव्यगुण २८२

मानवी आरोग्य ३०९

मुक्ताफल २८५

मुक्तावली ३२१

मुण्डीकरपायः ३१८

मूर्वा-निर्णय ३१६

य

यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान ३१५

यूनानी द्रव्यगुणादर्श ३१५

योगरत्नाकर २३१

र

रत्नमाला ३२२

रसकरपद्रुम २९६

रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह ३४१

रसनिघण्टु ३२२

रसमूलिकानिघण्टु ३२२

रसरत्नसमुच्चय २७४

रसवैशेषिक २६९

रसहृदय-व्याख्या २९६

रसामृतम् ३०६

राजकीय औषधियोग-संग्रह ३४१

राजनिघण्टु २९२

राजवल्लभनिघण्टु ३०१

राजेन्द्रकोश ३२१

रुदन्तीकर ३१८

रूपनिघण्टु ३११

ल

लघु आयुर्वेदविज्ञान ३१५

लघु द्रव्यगुणादर्श ३१५, ३२३

लघु निघण्टु ३१९

व

वनस्पतिकला ३३९

वनस्पति-परिचय ३१४

वनस्पति वर्णन-प्रवेश ३०९

वनस्पतिशास्त्र ३०७

वनौषधि-गुणादर्श ३०४

वनौषधि-चन्द्रोदय ३११

वनौषधिदर्पण ३०६

वनौषधि-दर्शिका ३१४, ३२६

वनौषधि-निदर्शिका ३३७

वनौषधि-प्रकाश ३२३

वनौषधि-विशेषांक ३१८

वनौषधि-शतक ३१६

वस्तुगुणकरपवल्ली ३२२

वस्तुगुणनिर्णय ३२२

वस्तुगुणागुण ३२२

वानस्पतिक अनुसंधानदर्शिका २९२, ३२८

वामननिघण्टु ३२२

वाष्पचन्द्रनिघण्टु २७९

विजयाकल्प ३१८

वृत्तायुर्विज्ञान ३२२

वृत्तायुर्वेद ३२२

वृद्धत्रयीनी वनस्पतिओ ३०९

वृन्दमाधव २३१

वेदों में जीवाणुवाद ३१३

वेत्थ ऑफ इण्डिया ३२५

वैदिक निघण्टु २६८

वैद्यकगुणसार ३२२

वैद्यक निघण्टुविशेष ३२२

वैद्यनिघण्टुसार ३२२

वैद्यक परिभाषाप्रदीप ३४१

वैद्यकोश ३२२

वैद्ययोगरत्नावलि ३३४

वैद्यसहचर ३१३

वैद्यामृत ३२२

वैद्यावतंस २९४

श

शङ्करनिघण्टु ३११

शतश्लोकी २८५

शतौषधानि ३२२

शब्दचन्द्रिका ३२२

शब्दप्रदीप ३२२

शब्दरत्नप्रदीप ३२२

शब्दसंग्रहनिघण्टु ३२२

(३८५)

शाकनिघण्टु ३२२
 शार्ङ्गधरसंहिता गूढार्थदीपिका व्याख्या २८५
 शालिग्रामनिघण्टु २३१, ३०३
 शालिग्रामनिघण्टुमूषण ३०३
 शालिग्रामौषधशब्दसागर ३०४
 शिवदत्तनिघण्टु ३११
 शिवकोष २९६
 शिवकोष-व्याख्या २९७
 शिवप्रकाश २९७
 शेषराजनिघण्टु ३२२
 श्रीशरभेन्द्र वैद्यरत्नावलि ३४१
 श्वेताकर्मकल्प ३१८
 ष
 षड्दसनिघण्टु ३१९
 स
 सङ्गीतरत्नाकर २८०
 संज्ञासमुच्चय २९६, २९७, ३२२
 संस्कृत साहित्यमा वनस्पतिषो ३०९
 संहितोत्तरनिघण्टु २६९
 सचित्र उद्भिद् शास्त्र ३१५
 सचित्र वनस्पति गुणादर्श ३१०
 सन्दिग्धनिर्णय (वनौषधशास्त्र) ३१२
 सन्दिग्ध बूटी चित्रावली ३११
 सरस्वतीनिघण्टु ३२२
 सहस्रयोग ३४१
 सारोत्तरनिघण्टु २७१
 सिद्धमेषजमंजूषा ३४१
 सिद्धमेषजमणिमाला ३६३
 सिद्धमेषजसंग्रह ३४१
 सिद्धमन्त्र २८३
 सिद्धमन्त्र-प्रकाशव्याख्या २८५
 सिद्धयोगसंग्रह ३४१
 सिद्धसार २७१
 सिद्धसारनिघण्टु २७१
 सिद्धसारसंहिता २६९
 सिद्धौषधनिघण्टु ३२२
 सिद्धौषधमणिमाला ३१२

सुषेणवैद्यक २८६
 सुषसास्त्र ३४०
 सूर्यायान्त्रनिघण्टु ३२२
 सोढलनिघण्टु २८०
 ह
 हनुमन्निघण्टु ३२१
 हरमेखलानिघण्टु २७८
 हरिलीला २८५
 हरीतक्यादिनिघण्टु-व्याख्या ३१३
 हिकमतप्रकाश ३०१
 हिकमतप्रदीप ३०२
 हिष्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री ३३४
 हृदयदीपक २८५
 हृदयदीपकनिघण्टु २८५
 A Hand book of Ayurvedic
 Materia Medica 325
 Bombay Drugs 325
 Dictionary of Economic Pro-
 ducts of India 325
 Flora indica 325
 Indigenous Drugs of India 325
 Materia Medica 325
 Meteria Medica of Hindustan.
 325
 Materia Medica of India and
 their Thrapeutics 325
 Materia Medica of the Hindus.
 325
 Pharmacographia indica. 325
 Pharmacopoea indica 325
 Report of the Committee for
 standard and genvine Ayur-
 vedic Herbs and Drugs,
 1925. 309
 Sepplement of Pharmacopoea
 Medica 325
 The Vegetable Materia Medica
 of the Hindus. 325

अनुक्रमणिका-५

विविध

अ

अङ्गुलिमान ३३३

अमृतचारा ३३४

अयस्कृति ३२९

अरक ३३०

अर्क ३४०

अर्क-कल्पना ३२९

अलेग्बिक ३३५

अष्टविध वीर्य २२१

आ

आयुर्वेदिक एवं यूनानी द्रव्य टेकानकल

पेडबायजरी बोर्ड ३३८

आयुर्वेदिक फार्माकोपिया कमिटी ३३७

आयुर्वेदिक फार्मेसिया ३३४

आयुर्वेदीय औषधियों का परिचयविज्ञान
३२७

आयुर्वेदीय मेघजसंहिता ३३७

आसव-अरिष्ट ३२९, ३३९

आहारकल्पना ३३०

इ

इण्डियन केमिकल सोसाइटी ३३५

इण्डियन कौंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च
३२६

इण्डियन द्रव्य रिसर्च एसोसियेशन पूना
३२८

इण्डियन फार्माकोपियल लिस्ट ३३६

इण्डियन फार्माकोपिया ३३७

इण्डियन फार्माकोपिया कमिटी ३३७

इण्डियन फार्मास्युटिकल कोडेक्स ३३७

इण्डियन मेडिकल प्रैक्टिसर्स कोआप-

रेटिव फार्मेसी एण्ड स्टोर्स लिमिटेड

३३४

उ

उदोजस ३७

ऊ

ऊँसा फार्मेसी ३३४

ओ

ओपियम एक्ट ३३८

औ

औषधयोग ३३०

औषधिविक्रय ३३५

क

कर्म २२२

कर्षाद्विपरिमाणम् ३४०

कलायसञ्ज २६२

कषायकल्पना ३३९

कालिङ्गमान ३३२

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय फार्मेसी ३३४

केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा अनुसंधान

परिषद् ३३७

केन्द्रीय मेघज शोधसंस्थान ३२७

चार ३३२

ग

गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी ३३४

च

चरक फार्मास्युटिकल्स ३३५

चूर्णक्रिया ३२९

झ

झण्डू फार्मेसी ३३४

ड

द्रव्य एण्ड कास्मेटिक्स एक्ट ३३८

द्रव्य कक्ष ३३८

द्रव्य इनकायरी कमिटी ३३८

(३८७)

गोबर्धन ३१९, ३२२

गोविन्द सेन ३४१

गौदाधीश इन्द्रसिंह ३२१

घ

घनश्याम सूरि ३२१

च

चक्रपाणि ३२२

चक्रपाणिदत्त २७८

चतुर्भुज २९६

चन्द्रट ३२०, ३२५

चन्द्रनन्दन २७७

चन्द्रराज भण्डारी ३११

चन्द्रशेखर गोपालजी ठाकर ३२३

चन्द्रशेखरधर शर्मा ३१८

चोपड़ा ३२७

छ

छिक्कनपण्डित ३२२

ज

जगदीशप्रसाद गर्ग ३३९

जगन्नाथप्रसाद शुक्ल ३०५, ३२३, ३४१

जगन्नाथ शर्मा ३२३

जयकृष्ण इन्द्रजी ठाकर ३०७

जयदेव शास्त्री ३४१

जयराम गिरि ३१४

जहाँगीर २५४, २५६, २५७

जी० एस० वेण्डसे ३२८

जीन निकोर्ट ऑफ निस्मस २३९

जैन २८१

जोशी बैद्य बापू गङ्गाधर ३२१

ठ

ठाकुरदत्त शर्मा ३३४

ड

डयी ३२६

डाबस्कोरिडस २३३

त

तन्विल कुमारकृष्ण ३२७

त्रिमल्लभट्ट २९४

थ

थियोफ्रेटस २३३

द

दत्तराम चौबे ३११

दलजीत सिंह ३१५

दामोदर २८७

दिवाकर चन्द्र ३४०

दिवाकर भट्ट २९४

ददवल ३३१

देवी सिंह ३३९

ध

धनञ्जय ३२१

धनजीशाह ३२३

धनेश्वर २८५

धर्मदत्त ३२३

न

नगीनलाल छगनलाल झाह

नरसिंह २६९

नरहरिपण्डित २९२

नल ३४०

नागार्जुन २६९

नारायणदास ३०१, ३२०, ३४१

नारायणसुत विश्वनाथबैद्य ३२१

निघण्टुकार २७२

निमि २७८

नीलकण्ठमिश्र ३२२

नूरजहाँ २५१

नृसिंहदेव ३०१

प

पद्मधर झा ३३९

पद्मनाभ २८९

पुरुषोत्तम २८२, ३२०

पुरुषोत्तमशास्त्री हिलेकर ३१०

पु० वि० धामनकर ३१०

पूज्यपाद ३१९

पूज्यपादसुनि ३१८

पृथ्वी सिंह ३२१

पेलिटियर २५०

प्रफुल्लचन्द्र राय ३३४

(३८८)

प्रभाकरसुत रामचन्द्र ३२१

डिनी २३३, २५१

प्लुमियर २४९

व

वनवारीलालमिश्र ३१९

वर्नियर २५४, २६६

वलदेवप्रसाद मिश्र ३११

वलवन्त सिंह ३१३, ३२६

बापालाल ग० शाह ३०७

बालकृष्ण ३०१

बाहट ३२२

विन्दु ३४०

विन्दुसार २५३

विरजाचरण गुप्त ३०६

वी० मुकर्जी ३३७

वोस ३२७

ब्रह्मदत्त शर्मा ३१८

ब्राण्डिस ३२६

भ

भगीरथ स्वामी ३१२

भारद्वाज ३१७

भाब मिश्र २९१

भास्कर २८०

भिन्नम २८१

भिषगाचार्य ३१९

भीमचन्द्र चटर्जी ३२४

भीमसेन ३१९, ३४०

भीलानाथ मुखोपाध्याय ३१९

म

मदनपाल २८७

मलयसूरि ३२२

महादेव २८३, २८५, २८६, ३२०, ३०१

महेन्द्रकुमार शास्त्री ३१५

महेन्द्रभोगिक २७५

माधव २६०, ३२०, ३२१

माधव उपाध्याय ३४०

माधवकवि २८२

माथाराम उनियाल ३२६

मार्को पोलो २५५

माहेश्वरी ३२६

मुखर्जी ३२७

मुद्रल ३२०

मोरेखर मठ ३२२

मोहनलाल गटोचा ३२३

युगलकिशोर गुप्त ३४१

र

रघुनाथ गणेश नवहस्त २६३

रघुनाथजी हन्मजी ३०२

रघुनाथ सूरि ३४०

रघुनाथक ३२१

रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ३४१

रफत हुसेन सिद्दिकी २४९

रविगुप्त २७१

रविदत्त वैद्य ३४०

रविशङ्कर पुरोहित ३२३

रॉक्सबर्ग ३२६

राजवल्हभ वैद्य ३०१

राधाकृष्ण ३२१

रामचन्द्र २८३

रामनाथ चोपड़ा ३२५

रामभरोसी मिश्र ३१९

रामसनेही दीक्षित ३१८

रामसुखील सिंह ३३७

रामेश बेदी ३१६

रावण ३४०

रॉबुल्फ २४९

रूपलाल वैश्य ३११

ल

लटकन मिश्र २९१

लिन हुङ्ग २३३

लिनियस २५०

लोळिम्बराज २९४

व

वाग्भट २३१, २६९

(३८९)

वागभट्ट आत्रेयी ३३९
 वामन ३२२
 वामन गणेश देसाई ३०६
 वालिच ३२६
 वासुदेव शास्त्री बापट ३२३
 वाष्पचन्द्र २७९
 वास्को डि गामा २६५
 वाहटाचार्य २६९
 विजयरत्न सेन ३०६
 विश्वनाथ द्विवेदी २९२, ३१२, ३३९
 विष्णुभट्ट २८७
 विष्णु वासुदेव गोडबोले ३०२
 वेंकटेश ३१७
 वैद्यनाथ ३२१
 वैद्य रामनाथ ३१६
 वैद्य विजयशङ्कर ३१९
 वोपदेव २८३, २८५
 व्यास केशवराम ३१९
 व्यास पण्डित ३४०
 व्रजबन्धु त्रिपाठी ३२३
 राजभूषण ३२१
 रा
 शङ्कर गिरि ३१६
 शङ्करदत्त गौड़ ३११
 शङ्करदाजी शास्त्री पदे ३०४
 शाङ्ग २८९
 शाङ्गदेव २८०
 शाङ्गधर २३१, ३२२, ३२९
 शालिग्राम वैश्य ३०३
 शाश्वत ३२२
 शिवकुमार व्यास ३१९
 शिवदत्त मिश्र ३२२
 शिव शर्मा २९२
 श्यामलदास गौर (वैद्यशास्त्री) ३२३
 श्रीकण्ठदत्त २८२
 श्रीमती झाडूब ३४२

स
 सत्यदेव बिद्यालङ्कार ३३९
 सदाचार्य ३२१
 सलीमुल्लाहा सिद्दिकी २४९
 सारंग २८९
 सिधण २८१, २८३
 सिंहराज २८३
 सीताराम शास्त्री ३२२
 सुदर्शनलाल त्रिवेदी ३२३
 सुरपाल ३२२
 सुषेण २८७
 सुषेणदेव २८७
 सुषेणपण्डित २८७
 सोढल २३१, २८०, ३२९
 ह
 हरिचरण सेन ३२२
 हरिदास घैष ३३४
 हरिशरणानन्द २२३, ३३९
 हरिशान सेन ३२०
 हिरामणिजी मोतीरामजी जङ्गले ३१०
 हुकर ३२६
 हेन्स ३२६
 हेमचन्द्र २८०
 हेमाद्रि २८३, २८५
 Ainsle. 325
 Dymock. 325
 Dymock et al. 325
 Gadgil. 325
 George Watt. 325
 H. V. Savnur. 325
 Kanailal De. 325
 K. C. Bose. 325
 Moodeen Sherrieff. 325
 R. N. Khoury 325
 Roxburgh. 325
 Sakharam Arjun. 325
 U. C. Dutt. 325

अनुक्रमणिका-४

ग्रन्थकार एवं व्यक्ति

अ

अकबर २३३, २५४, २५७, २९१

अगस्त्य ३१९, ३२२

अग्निदेव गुप्त ३३९

अमृत्योकस २५३

अन्तू भाई बेण ३१४

अमृतनम्बिन् ३१९

अमोलचन्द्र शुक्ल ३१८

अरुणदत्त २७९

अवधविहारी अग्निहोत्री ३३९

अशोकमल्ल ३२१

आ

आचार्य यादवजी त्रिकसजी ३०५

आचार्य सुरेन्द्रमोहन ३१०

आढमल्ल २७५

आर० बी० अरोड़ा ३२७

आर्यदास कुमारसिंह ३१९, ३३९

इ

इस्तिग २६४

इन्दु २७७

इन्दुवत्ता २५६

ई

ईशानचन्द्र विशारद ३१९

उ

उदेन्द्रनाथ दास ३४१

उमेदीलाल बैश्य ३१८

ए

एकादरी निघण्टु ३२१

ए० माण्डके ३३९

एन० हनुमन्त राव ३२८

क

कतो भट्ट ३०२

कल्याणमल्ल ३२२

कवीन्द्राचार्य ३२२

काउण्टेस ऑफ सिनकोन २५०

काशीलाल ३२६

कालीपद विश्वास ३२४

कालीप्रसन्न चिट् ३२१

कीर्तिकर एवं बसु ३२४

कुकर ३२६

कृष्णचन्द्र चुनेकर २९२, ३२८

कृष्णदत्त मिश्र २९८

कृष्णप्रसाद त्रिवेदी ३३९, ३४०

कृष्णभोगिक २७५

कृष्णशास्त्री नवरे ३०२

कृष्णास्मज प्रीतिकर ३२१

के० एम० नाडकर्णी ३२४

केदारनाथ पाठक ३१८

के० बी० लाल सेनगुप्त ३१९

केशव २८३, २८५

केशवसुत गोविन्द ३४०

कैयदेव पण्डित २८९

कैवेण्टो २५०

कोदण्डराजसुत माधव ३२२

कीरस्वामी २७५

कैमशर्मा ३४०

ख

खलीफा मामून २५१

ग

गङ्गाधरशास्त्री गुणे ३१०

गणपति सिंह वर्मा ३१८

गन्ध उपाध्याय ३२०

गांसिया डी ओर्टा २३७

गुजराल ३२७

गोपाल ३२०

गोपीनाथ गुप्त ३४१

(३९१)

हाबर (डा० एस० के० बर्मन) ३३४
 हैअरस ड्रम्स ऐक्ट ३३८

ह

हाका भायुर्बैदीय फार्मेसी ३३४

त

तुलामान ३३२

तैल ३४०

त्रिकमुक्त यन्त्र ३३३

द

दाऊजी ३२२

द्रव्यगुण २१९

द्रुव्यमान ३३१

द्रव्यसंग्रहविज्ञान ३२३

द्रव्यों का कालनिर्णय ३३०

द्रव्यों का यातायात २२३

द्विविध धीर्य २२१

ध

धूतपापेश्वर ३३४

न

निर्माणशाला एवं फार्मेसियों ३३३

प

पञ्चमहाभूत २१९

पञ्चविध कषाय-कल्पना ३२८

पण्यमेवज ३३५

परिभाषा ३३१, ३४०

पर्णकृष्ण ३४, १०७

पाक ३४०

पाठ्य मान ३३१

पिटि २६७

पुण्याभिषेक १०१, १११

पेटेण्ट ३३०

प्रभाव २२१

प्रस्थमान ३३२

प्यायजन्स ऐक्ट ३३८

फ

फार्माकोपिया ३३६

फार्सुलरी ३३७

फार्मेसी ऐक्ट ३३८

फार्मेसी कॉमिंसल आफ इण्डिया ३३८

ब

बङ्गाल केमिकल ऐण्ड फार्मास्युटिकल

बक्स ३३४

भ

भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी की

केन्द्रीय अनुसन्धान परिषद् ३२७

भावना ३३०

भेषजकल्पना ३२८

भेषजकल्पना के उपकरण ३३३

भेषजसंग्रहण ३३३

भेषजसंहिता ३३४

भेषजागार ३३३

भैषज्यकल्पना का बाह्यमय ३३९

भैषज्योद्यान एवं संग्रहालय ३२४

म

मलहम ३३०

मलहर ३३०

महादेवलाल नरार्क ३३८

मागध मान ३३२

मान ३३१, ३४०

मूत्रकृष्ण १०८

मौलिक सिद्धान्त २१९

य

योगसंग्रह ३३४, ३३७

योगों का नामकरण ३३१

यौतव मान ३३१

र

रस २२०

रसशाला ३३४

राजनियन्त्रण ३३७

(३९२)

राष्ट्रीय वानस्पतिक उद्यान ३२६
रिसर्च इन फार्माकोसी इन इण्डिया
३२७

व
वनौषधि-सर्वेक्षण ३२६
विपाक २२०
वीर्य २२१
वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन ३३४

श
शक्ति औषधालय ३३४
शक्तिमानवीर्यवाद २२१
शिक्षण एवं अनुसंधान ३३८
शुण्डापात्र ३३३
शोधकार्य ३२७
श्रीकृष्ण १०७

श्रीफलकृष्ण १०७

ष
षड्विधवीर्यवाद २२१

स
संधानपात्र ३३३
साधना औषधालय ३३४
सिम्पो ३२६
सुखसंचारक कम्पनी ३३३
सुरा ३३०
सुराभ्युच्च ३३०

ह
हरिद्रुपर्णी १६९
हरीतकी १६९
हिमालय ड्रग्स ३३५

Vaidyaraj Zanda Bhatji
National Ayurvedic Library
Punjabi Bagh, New Delhi-26
Call No.....
Book No... 003583
Acc No...

हरिदास आयुर्वेद सीरीज

(स्थापित सन् १९९४)

आयुर्वेद-दर्शनम् (Philosophy of Āyurveda).

आचार्यप्रियव्रतशर्मकृतम्। सूत्रात्मकं चतुष्पादं, स्वोपज्ञभाष्यसमेतम्, हिन्दी-आंग्लानुवाद सहितम्।

Kāśyapa-Saṃhitā.

Text with English Translation and Commentary.

By Prof. (Km.) P.V. Tewari

अष्टाङ्गहृदयम्।

श्री हरिनारायणशर्मणावैद्येनकृतया विषमस्थलेषु 'प्रभाष्य' संस्कृतटिप्पण्यासहितम्।

Classical Uses of Medicinal Plants.

Text with English Translation. By P.V. Sharma

Introduction to Kāśyapa-Saṃhitā.

By Prof. (Km.) P.V. Tewari

Puṣpāyurvedaḥ (Flowers in Health and Disease).

By P.V. Sharma

योगचन्द्रिका (Yogachandrikā).

लक्ष्मण पण्डित कृत। डॉ. आशाकुमारी एवं प्रो. (कु.) प्रेमवती तिवारी कृत हिन्दी-आंग्लानुवाद सहित।

Bhela-Saṃhitā.

Text with English Translation, Commentary and a critical study.

By Prof. K. H. Krishnamurthy Edited by Prof. P.V. Sharma

Suśruta-Saṃhitā.

Text with English Translation, Dalhāṇa's Commentary alongwith Critical Notes with 5 Appendices and Index. Prof. P.V. Sharma. (Complete in 3 vol.)

Vol. I Sūtra Sthāna

Vol. II Nidāna, Śārīra and Cikitsā Sthāna

Vol. III Kalpa Sthāna and Uttar Tantra

प्रसूतितन्त्र। (छात्रोपयोगी संस्करण)।

प्रो. (कु.) प्रेमवती तिवारी

Kaumārabhr̥tya (Obstetrics, Gynecology and Pediatrics) In Āyurveda.

(A Bird's eye view) By Prof. P.V. Tewari

षोडशाङ्गहृदयम्।

आचार्यप्रियव्रतशर्मकृतम्। आर्यावृत्तबद्धमायुर्वेदविवरणात्मकम्। स्वोपज्ञहिन्दीव्याख्योपेतम्।

Advances in Ayurvedic Medicine.

Prof. R. H. Singh & Associates. (Complete in 5 Vol.)

Vol. I Diseases of The Kidney

Vol. II Diseases of The Liver

Vol. III Diseases of The Heart

Vol. IV Diseases of The Brain

Vol. V Diseases of The Joints

प्रधान वितरक : चौखम्बा भारती अकादमी, पो. बॉ. १०६५, वाराणसी-२२१००१ (भारत)